कश्मीर और कश्मीरी पंडित

बसने और बिखरने के 1500 साल

अशोक कुमार पांडेय

7,000 प्रतियाँ बिकीं

26 माह में छठा संस्करण

अशोक कुमार पांडेय

कश्मीर के इतिहास और समकाल के विशेषज्ञ के रूप में सशक्त पहचान बन चुके अशोक कुमार पांडेय का जन्म 24 जनवरी, 1975 को पूर्वी उत्तर प्रदेश के मऊ जिले के सुग्गी चौरी गाँव में हुआ। ये गोरखपुर विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में परास्नातक हैं। कविता, कहानी और अन्य कई विधाओं में लेखन के साथ-साथ अनुवाद कार्य भी करते हैं। इनकी पुस्तक 'कश्मीरनामा' विद्वानों और आम पाठकों द्वारा समान रूप से ख़ूब सराही गई है।

ई-मेल : ashokk34@gmail.com

कश्मीर और कश्मीरी पंडित

बसने और बिखरने के डेढ़ हज़ार साल

अशोक कुमार पांडेय

राजकमल पेपरबैक्स में
पहला संस्करण : 5 जनवरी, 2020
छठा संस्करण : 15 मार्च, 2022

राजकमल पेपरबैक्स : उत्कृष्ट साहित्य के जनसुलभ संस्करण

राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002
द्वारा प्रकाशित

शाखाएँ : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, प्रयागराज-211 001
36 ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-700 017
वेबसाइट : www.rajkamalprakashan.com
ई-मेल : info@rajkamalprakashan.com

बी. के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032
द्वारा मुद्रित

मूल्य : ₹399

KASHMIR AUR KASHMIRI PANDIT
History by Ashok Kumar Pandey

ISBN : 978-93-89577-26-6

वेरा और माँ के लिए

क्रम

भूमिका

कश्मीर एक पहेली है तो कश्मीरी पंडित पहेली के भीतर की पहेली। जिसे हम भारत की मुख्यधारा कहते हैं, ख़ास तौर पर हिन्दीभाषी समाज, उसके लिए कश्मीरी पंडित का अर्थ है : नब्बे के दशक में कश्मीर घाटी से विस्थापित हिन्दू या इतिहास में सामान्य ज्ञान की किताबों से *राजतरंगिणी* के लेखक कल्हण या फिर *रस सिद्धान्त* के व्याख्याकार अभिनव गुप्त। इससे अधिक जानने-समझने की कोशिश कम-से-कम हिन्दी समाज में मुझे नहीं दिखी है। यह किताब उस पहेली की कुछ गुत्थियों को इतिहास और वर्तमान के स्रोतों से सुलझाने की एक कोशिश का हिस्सा है।

इस मामले में कश्मीर कम-से-कम दक्षिण एशिया का वह इकलौता इलाक़ा है कि उसका इतिहास मिथकीय कथाओं से लेकर आधुनिक काल तक लिखित रूप में उपलब्ध है। संस्कृत, फ़ारसी, उर्दू और अंग्रेज़ी में कश्मीरी इतिहास पर अकूत सामग्री बिखरी पड़ी है। आधुनिक काल में एक समस्याग्रस्त क्षेत्र होने के कारण सभी पक्षों ने अपने-अपने तरीक़े से लिखा है, इतिहास और वर्तमान को विवेचित किया है, दुनिया भर के विश्वविद्यालयों में शोध हुए हैं और टीवी-अख़बारों की बहसें तो हैं ही। ऐसे में इस विपुल सामग्री से गुज़रते हुए एक सम्यक् दृष्टि से इतिहास और वर्तमान की विवेचना करना किसी भी लेखक के लिए चुनौती ही हो सकती है। वैसे आश्चर्यजनक यह है कि साठ के दशक में आई जियालाल किलाम की किताब के बाद कश्मीरी पंडितों पर अंग्रेज़ी में भी कोई ऐसी किताब नहीं आई जो पूरे कश्मीरी इतिहास में उनकी लोकेशन की विवेचना करे। आज के समय में इस लोकेशन की तलाश और महत्त्वपूर्ण है क्योंकि नब्बे के दशक के विस्थापन के सिलसिले में यह सवाल बेहद महत्त्वपूर्ण होकर उभरता है कि आख़िर ऐसा क्यों हुआ? वह कौन-सी प्रक्रिया थी जिसमें कश्मीरी समाज के भीतर वह अंतर्द्वंद्व बना जिसकी वजह से घाटी में यह घटना घटी? दुर्भाग्य से इस विवेचना की जगह आम तौर पर दो तरह के अतिरेकों से काम चलाया जाता है। पहला यह कि नब्बे से पहले तो सब एकदम ठीक-ठाक था और तत्कालीन राज्यपाल जगमोहन ने मुसलमानों के सफ़ाए की योजना के तहत कश्मीरी पंडितों

को रातोरात कश्मीर से निकलवा दिया। दूसरा अतिरेक यह कि मुसलमानों ने धार्मिक उन्माद के चलते पंडितों को बाहर निकाल दिया। पहला जहाँ कश्मीर से आनेवाले आख्यानों में मुख्य तर्क की तरह इस्तेमाल किया जाता है तो दूसरा विस्थापित पंडितों और दक्षिणपंथी हिन्दू लेखकों के ही नहीं बल्कि धीरे-धीरे भारतीय मध्यवर्ग के सहज बोध का हिस्सा बनता चला गया है। लेकिन, धार्मिक आग्रहों-पूर्वग्रहों को अलग करके देखें तो एक सामान्य-सा इतिहासबोध आपको यह सिखाएगा कि क्षणों में घटनेवाली घटनाएँ अक्सर इतिहास के लम्बे अंतर्द्वंद्वों का हिस्सा होती हैं। इतिहास में किसी 'क्यों' का जवाब अक्सर इकहरा नहीं होता बल्कि उसकी कई-कई परतें और उसके मूल में कई-कई वर्षों तक सतह के नीचे घटीं अन्त:क्रियाएँ होती हैं। मेरी कोशिश कश्मीर की ऐतिहासिक प्रक्रिया में विकसित हुए पंडित-मुस्लिम सम्बन्धों की पड़ताल और ख़ास तौर पर डोगरा काल और कश्मीर के भारत से विलय (accession) के बाद के राजनीतिक-सामाजिक समीकरणों की रोशनी में उस प्रक्रिया की तलाश के क्रम में कश्मीरी इतिहास में पंडितों को लोकेट करने की है और उन अंतर्द्वंद्वों की तलाश की, जिसकी वजह से आधुनिक काल में मानव विस्थापन की कुछ सबसे भयावह घटनाओं में से एक, कश्मीरी पंडितों के विस्थापन की घटना घटी।

इस सन्दर्भ में आश्चर्यजनक यह है कि जहाँ विस्थापित पंडितों के असंख्य आख्यान किताबों से लेकर लेखों और संस्मरणों की शक्ल में यहाँ-वहाँ आसानी से उपलब्ध हैं, वहीं उन पंडितों के बारे में कोई चर्चा नहीं मिलती जो नब्बे के दशक में घाटी से बाहर नहीं गए और आज भी घाटी के विभिन्न क्षेत्रों में रहते हैं। एक बेहद सूक्ष्म अल्पसंख्यक आबादी के रूप में वे अदृश्य हैं। डल, लाल चौक, गुलमर्ग, सोनमर्ग, पहलगाम जैसी जगहें घूमकर आनेवाले पर्यटकों को तो वे नहीं ही नज़र आते, अक्सर गुपकर रोड से बुलवार्ड के बीच कश्मीर तलाश लेनेवाली मुख्यधारा की मीडिया की नज़र भी उन पर नहीं पड़ती। कई बार ऐसा लगता है कि उनका होना एक ख़लल जैसा है दोनों अतिरेकी आख्यानों में, इसीलिए ख़ास तौर पर विस्थापित कश्मीरी पंडितों के यहाँ भी आप उनका ज़िक्र कहीं नहीं पाएँगे। निजी बातचीत में उनका ज़िक्र आने पर अक्सर वे बात टाल जाते हैं। लेकिन वे हैं वहाँ—अपनी तकलीफ़ों, अपने अनुभवों और अपनी उम्मीदों के साथ। कश्मीर यात्राओं के दौरान मैंने अलग-अलग इलाक़ों में रह रहे कश्मीरी पंडितों से बातचीत की है।

इस किताब के लिए मैंने प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों के साथ-साथ संस्मरणों, साहित्य, लोकश्रुतियों जैसे वैकल्पिक स्रोतों का भी इस्तेमाल किया है। इसके अलावा विभिन्न कश्मीर यात्राओं के दौरान मैंने अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमि के लोगों से साक्षात्कार किये हैं और स्थानीय तथा राष्ट्रीय अख़बार

खंगाले हैं। कोशिश केवल राजनीतिक इतिहास लिखने की जगह पंडित परिप्रेक्ष्य में कश्मीर की ऐतिहासिक प्रक्रिया तलाशने और उसकी राजनीतिक-सामाजिक विवेचना प्रस्तुत करने की है। इस रूप में यह किताब जितनी कश्मीरी पंडितों की कहानी है, उतनी ही कश्मीर की भी।

इस किताब के लिए शोध-कार्य में कश्मीर के बाहर और भीतर के मित्रों से मुझे लगातार बहुमूल्य सहयोग मिला है। भाई मोइउद्दीन वानी ने न केवल समय-समय पर किताबें सुझाईं बल्कि कश्मीर यात्राओं के दौरान उनसे हुई लम्बी वार्ताएँ मेरे लिए कश्मीर और भारत के रिश्तों को समझने में बहुत मददगार रहीं। जावेद लगातार साथ रहे, हब्बा कदल, रैनावारी जैसे पंडितों की रिहाइश वाले इलाक़े घुमाते समय उनकी स्मृतियाँ साथ चलती रहीं और उन्होंने अनेक पंडित मित्रों से मुलाक़ात सम्भव की। कुमार वांचू और उनके पुत्र अमित वांचू ने न केवल वहाँ रह रहे कश्मीरी पंडितों के सन्दर्भ में लम्बी बात की बल्कि कश्मीर के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में उनकी सक्रियता मेरे लिए 'कश्मीरियत' को समझने की एक खुली किताब थी। भारत वखलू ने सत्तर के दशक से कश्मीरी राजनीति में सक्रिय रहीं अपनी माँ खेमलता वखलू जी की अब अनुपलब्ध किताब की निजी प्रति जिस उदारता से उपलब्ध कराई, उसके प्रति आभार एक छोटा शब्द है। वरिष्ठ कश्मीरी कवि महाराज कृष्ण सन्तोषी जी ने न केवल कई सम्पर्क उपलब्ध कराए, सोशल मीडिया पर मेरे लिखे पर कुछ ज़रूरी असहमतियाँ दर्ज कराईं बल्कि पिछली किताब पढ़कर जो प्रतिक्रिया दी, वह इस किताब को लिखने में बहुत मददगार साबित हुई।

प्रो. लालबहादुर वर्मा, प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल, प्रो. हरबंश मुखिया, कुलदीप कुमार, प्रो. एस इरफ़ान हबीब, उज्ज्वल भट्टाचार्य सहित अनेक सुधीजनों ने पिछली किताब और समय-समय पर कश्मीर पर लिखे लेखों आदि को पढ़कर जिस तरह हौसला बढ़ाया, उसने इस किताब को लिखने की हिम्मत दी। राजकमल प्रकाशन ने इस किताब के प्रस्ताव को स्वीकार कर प्रकाशन के प्रति निश्चिन्तता दी और सम्पादक मित्र सत्यानन्द निरुपम द्वारा तय की गई डेडलाइंस के उल्लंघनों से जैसे मैंने उनके धैर्य की परीक्षा ली, उसके लिए माफ़ी के साथ आभार भी। अशोक महेश्वरी जी का विशेष आभार कि किताब इतने कम समय में छपकर पाठकों तक पहुँच सकी। सुजाता से पूरी किताब के दौरान चली बहसों में न केवल मार्जिनल पहचानों के दृष्टिकोण से इतिहास को समझने की नई दृष्टि मिलती रही बल्कि अपने पूरे दृष्टिकोण को परिमार्जित करने में भी मदद मिली। यात्राओं के दौरान उन्होंने कश्मीरी महिलाओं से अलग से जो बातचीत की, उसने कई नये पहलू उद्घाटित किये।

देवेश, अभिनव, प्रवीण भाई, अक्षत, प्रियांक, जगन्नाथ, आशीष, नौशाद, दीपक, चन्दन, आदिल सहित आग़ाज़ के सभी साथी हमेशा मेरे लिए बड़ा संबल रहे हैं। अन्त में, लेकिन आख़िरी नहीं, उन पाठकों का आभार जिन्होंने यह भरोसा दिया कि हिन्दी में भी पाठकों की कोई कमी नहीं। मेरी पूरी कोशिश रही है कि उनकी उम्मीदों पर खरा उतर सकूँ।

दिसम्बर, 2019
नई दिल्ली

—अशोक कुमार पांडेय
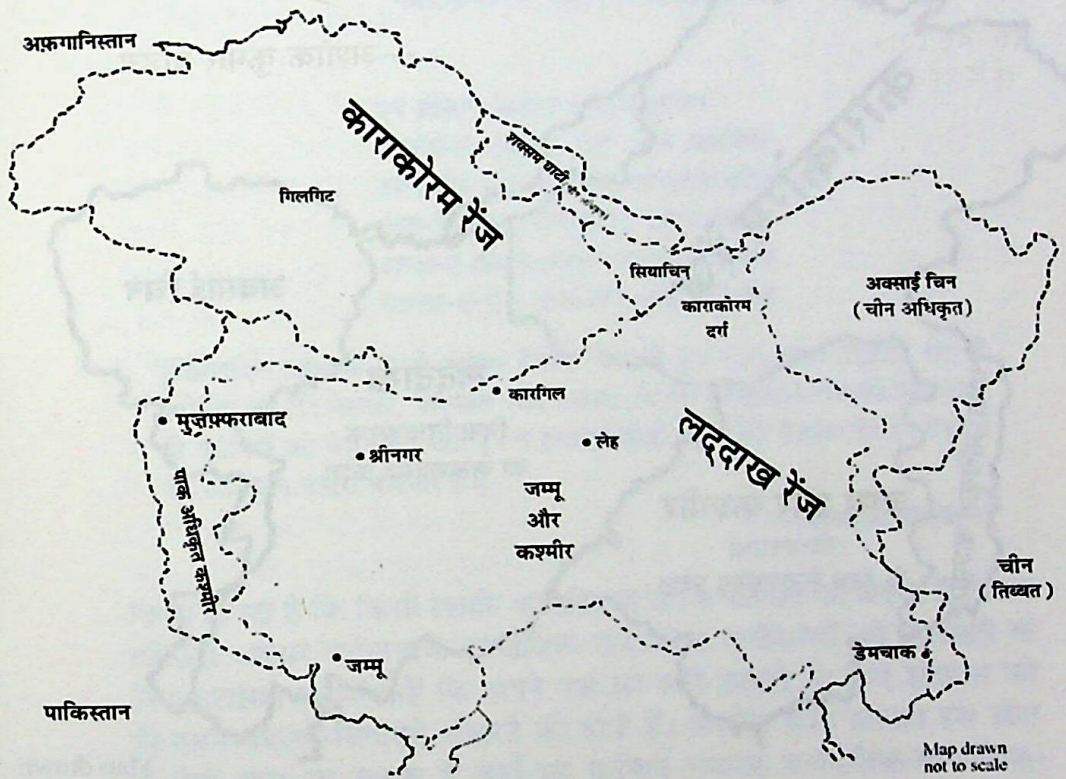
जम्मू और कश्मीर : 1 अक्टूबर, 2019 से पहले
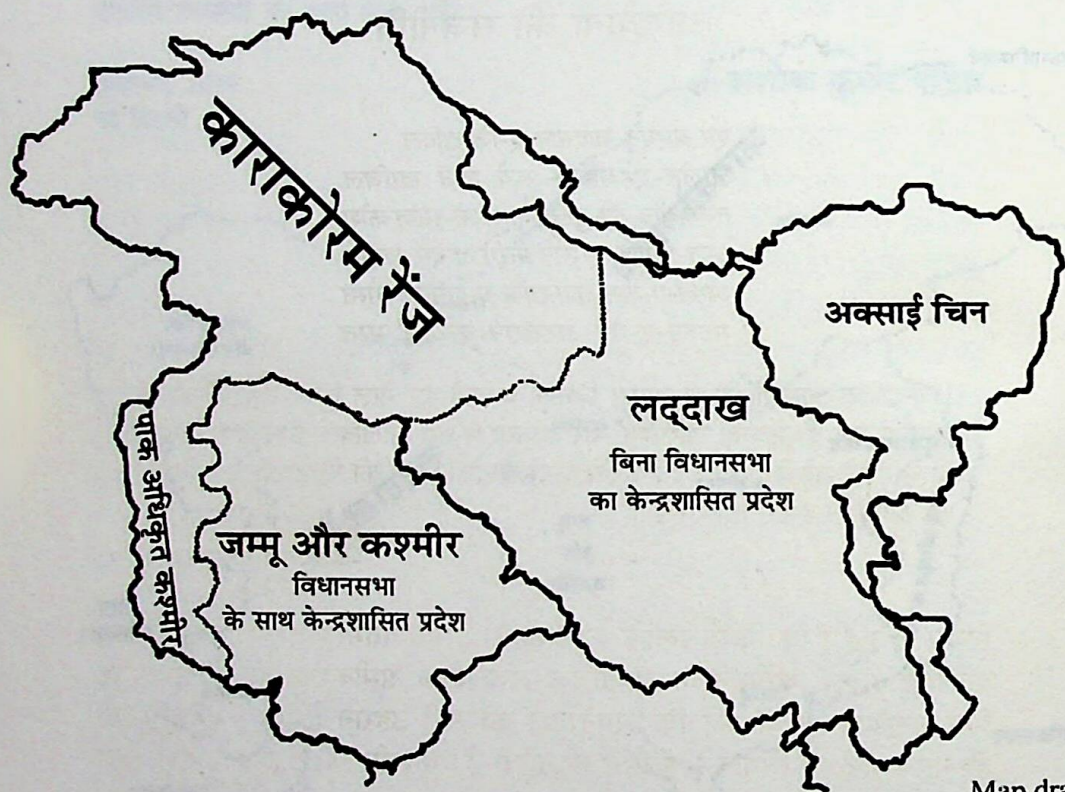
• जम्मू और कश्मीर : 1 अक्टूबर, 2019 के बाद

अध्याय-1

इतिहास के पहले का इतिहास

आख्यानों की राजनीति

एन ब्राह्मन ज़ादगान-ए-ज़िन्दादिल
लालेह-ए-अहमर रूये शान खाजिल
तज़्ब बीन-ओ-पुख्ता कार-ओ-सख़्त कोश
अज़्-निगाह-ए-शान फरंग अन्दार खारोश
अस्ल-ए-शान अज़् ख़ाक-ए-दामनगीर मस्त
मतला-ए-ऐन अख़्तरान कश्मीर मस्त

[ज़िन्दादिल ब्राह्मणों के ये वारिस जिनके चमकते हुए गाल लाल ट्यूलिप को भी शर्मिन्दा कर दें। मेहनती, परिपक्व और उत्कंठा से भरी आँखोंवाले जिनकी एक नज़र ही यूरोपियों को बेचैन कर देती है। वे हमारी विद्रोही धरती की पैदाइश हैं। इन सितारों का आसमान हमारा कश्मीर है।]

—अल्लामा इक़बाल[1]

नियम तो यह है कि किसी इलाक़े का इतिहास उसके वर्तमान को बनाता है लेकिन कोशिशें अक्सर वर्तमान के सामाजिक-राजनीतिक समीकरणों को सुलझाने या फिर उलझाने या यों कहें कि अपने पक्ष को सही ठहराने के लिए इतिहास को ही गढ़ने-बदलने-बिगाड़ने-सँवारने की होती हैं। कश्मीर जैसा इलाक़ा इस खेल से कैसे बचा रह सकता है जहाँ का वर्तमान भयावह राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक अंतर्द्वंद्व से भरा हुआ है? कश्मीरी समाज का एक अंतर्द्वंद्व तो ऊपर दिये अल्लामा इक़बाल के उदाहरण से ही समझा सकता है—इक़बाल की जड़ें कश्मीरी पंडितों के उसी सप्रू परिवार से जुड़ी थीं जिससे सर तेज बहादुर सप्रू थे। अपनी इस विरासत को लेकर उनमें एक स्वाभाविक ग़ुरूर था। लेकिन वही इक़बाल कश्मीरी मुसलमानों की दुर्दशा को लेकर बार-बार व्यथित ही नहीं होते बल्कि 1931 के आन्दोलन में कश्मीरी मुसलमानों के प्रति डोगरा राज के अत्याचार का ज़बर्दस्त प्रतिकार भी करते हैं[2] और कश्मीरी पंडितों का एक हिस्सा उन्हें खलनायक की तरह देखता है।[3]

इस अन्तर्विरोध को समझने का दूसरा रास्ता कश्मीर के जन्म के अलग-अलग मिथकीय आख्यानों से गुज़रता है।

आम तौर पर जो मिथकीय कथा मिलती है, उसका स्रोत है *नीलमत पुराण*। कल्हण ने *राजतरंगिणी* में भी इसी को आधार बनाया है। इस कथा के अनुसार कल्प के आरम्भ से छः मन्वन्तरों* तक वहाँ सतीसर नामक विशाल झील थी जिसमें जलोद्‌भव** नाम का एक राक्षस रहता था जिसने झील के रक्षक नागों को आतंकित किया हुआ था। ब्रह्मा के पौत्र और मारीच के पुत्र कश्यप ऋषि जब हिमालय की तीर्थयात्रा पर आए तो नागों के प्रमुख नील ने उनसे (जो उसके पिता भी थे) जलोद्‌भव के अत्याचारों से मुक्त कराने की प्रार्थना की। कश्यप ऋषि ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश से सहायता माँगी और उन्होंने झील को घेर लिया लेकिन जलोद्‌भव को ब्रह्मा से यह वरदान प्राप्त था कि जब तक वह पानी में है, उसे कोई मार नहीं सकता। तो विष्णु ने सहायता के लिए अनन्त को बुलाया जिसने झील के चारों ओर स्थित पहाड़ में छेद कर दिया और इस तरह सतीसर का सारा पानी बह गया और फिर अपने चक्र से जलोद्‌भव का गला काट दिया। कश्यप ऋषि ने नागों से इस हरी-भरी धरती पर मानवों को भी साथ रहने की अनुमति देने के लिए कहा लेकिन नागों ने मनु के पुत्र मानवों को यहाँ रहने की अनुमति देने से साफ़ इनकार कर दिया। क्रोधित कश्यप ऋषि ने उन्हें पिशाचों के साथ रहने का श्राप दिया। नील के क्षमा माँगने पर उन्होंने अपना श्राप कम कर दिया और कहा कि हर साल छः महीने के लिए पिशाच बालू के समुद्र में चले जाएँगे और इस अवधि में मानव वहाँ रहेंगे। विष्णु ने यह आशीर्वाद दिया कि घाटी में पिशाचों का निवास केवल चार युगों तक ही चलेगा। चार युग बीतने के बाद जब सभी मानव छः महीने के लिए बाहर गए तो एक ब्राह्मण चंद्रदेव उनके साथ नहीं गया। उसने पिशाचों के अत्याचार की शिकायत राजा नील से की और कहा कि मानवों को वहाँ विस्थापन के भय से मुक्त होकर रहने की अनुमति दी जाए। राजा नील ने यह प्रार्थना मानते हुए शर्त रखी कि उन्हें केशव द्वारा दिये सभी निर्देश मानने पड़ेंगे। अगले छः महीने चंद्रदेव नील के साथ महल में रहा और उसने नील से सभी रीति-रिवाज सीखे। जब चैत्र

---

* मन्वन्तर चार युगों के 70 चक्रों के बराबर माना जाता है (चतुर्युगैकसप्तत्या मन्वन्तरमिहोच्यते)। कलयुग में 4 लाख 32 हज़ार वर्ष, द्वापर में इसके दुगुने, त्रेता में इसके तिगुने और सतयुग में इसके चार गुना वर्ष होते हैं। इस तरह एक चक्र में तिरालीस लाख बीस हज़ार वर्ष हुए।

** जलोद्‌भव के जन्म की कहानी भी मजेदार है। जब इन्द्र उस झील के किनारे क्रीड़ा कर रहे थे तो संग्रह नामक दैत्य की नज़र शची पर पड़ी और उसका वीर्यपात हो गया जो झील में गिर गया। इन्द्र और संग्रह में साल भर युद्ध चला जिसमें संग्रह मारा गया। उसके वीर्य से ही झील में एक बालक का जन्म हुआ जिसका नाम जलोद्‌भव रखा गया। उसका लालन-पालन नागों ने ही किया (*नीलमत पुराण*, श्लोक 74-80)।

में मानव लौटे तो उसने मानवों के राजा वीरोदय को पूरी घटना बताई जिसे फिर नील ने सभी रीति-रिवाज सिखाये जिनमें से कुछ वैदिक रीति-रिवाजों के अनुरूप थे और कुछ कश्मीर के लिए अलग से।[4] *नीलमत पुराण* नील द्वारा दी गई यही शिक्षाएँ और उसके द्वारा सुनाया गया 'इतिहास' है। इस क़िस्से का एक रूप दुर्गा के एक अवतार देवी शारिका के 'माहात्म्य' में आता है जहाँ जलोद्भव के अत्याचारों से पीड़ित देवता शिव की पत्नी सती से प्रार्थना करते हैं। उनकी आर्त पुकार सुनकर सती एक पक्षी का वेश धारण करके आती हैं और अपनी चोंच से एक पत्थर वहाँ गिरा देती हैं जहाँ राक्षस रहते हैं। वह पत्थर एक विशाल पर्वत में तब्दील हो जाता है जिससे दबकर राक्षस की मृत्यु हो जाती है। यही पर्वत हरी पर्वत के नाम से जाना जाता है, इस पहाड़ी के शिखर पर उत्तर-पश्चिमी दिशा में देवी शारिका का प्रसिद्ध मन्दिर है और एक विशाल पाषाण स्तम्भ है जिस पर श्रीचक्र बना है।[5]

दूसरी कहानी के लेखक बेदिया-उद-दीन हैं। विल्सन उन्हें शेख़ नूरुद्दीन मानते हैं। इस कहानी के अनुसार आदम सरनदीप से कश्मीर आया और अगले 1110 साल वहाँ मुसलमानों का शासन रहा। उन शासकों की पूरी सूची भी दी गई है। उस शासन का अंत हरिनंद राजा द्वारा मुस्लिम शासक को हराने के साथ हुआ जिसके वंशजों ने प्रलय तक राज्य किया। पानी घटने के बाद वहाँ तुर्किस्तान के एक क़बीले ने राज किया जिसके हज़रत मूसा ने वहाँ के निवासियों को एक ईश्वर की आराधना करनी सिखाई। इस मान्यता के अनुसार, हज़रत मूसा की मृत्यु कश्मीर में हुई थी और उनकी क़ब्र अब भी कश्मीर में है। इस क़िस्से में झील को सुखाने का उपक्रम करनेवाला कश्यप नहीं अपितु काशेफ़ या काशेब नामक एक मुस्लिम जिन था जो सुलेमान का ग़ुलाम था। सुलेमान के कहने पर उसने बारामूला के पहाड़ों से पानी के निकलने की राह बना दी। *नीलमत पुराण* जहाँ पानी के निकलने का कोई स्पष्ट मार्ग नहीं बताता, वहीं इस कथा में बारामूला के पहाड़ का ज़िक्र है।[6]

तीसरी कथा प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग सुनाते हैं। इसके अनुसार, कश्मीर मूलतः एक झील थी जिसमें नाग रहते थे। जब बुद्ध उदयन के कुटिल नाग को वश में करके हवाई मार्ग से (उड़ते हुए) मध्य भारत की तरफ़ जा रहे थे तो कश्मीर के ऊपर से उड़ते हुए उन्होंने अपने शिष्य आनंद से कहा कि 'मेरी मृत्यु के बाद एक अर्हत* मध्यान्तिक यहाँ लोगों को बसाकर एक देश की स्थापना करेगा और फिर इस इलाक़े में बौद्ध धर्म का प्रसार करेगा।' बुद्ध की मृत्यु के 50 वर्ष बाद आनंद के शिष्य मध्यान्तिक ने यह बात सुनी और प्रसन्न हुआ। तब तक वह अर्हत हो

---

* बौद्ध धर्म में अर्हत उसे कहा जाता है जिसने अस्तित्व की यथार्थ प्रकृति का अन्तर्ज्ञान प्राप्त कर लिया हो और जिसे निर्वाण की प्राप्ति हो चुकी हो।

चुका था। बुद्ध के कहे अनुसार वह कश्मीर गया और वहाँ एक जंगल में अपनी पीठ बना ली। उसके चमत्कारों से प्रभावित होकर नागप्रमुख ने उससे उसकी इच्छा पूछी। मध्यान्तिक ने झील में अपने घुटनों भर जगह माँगी, अर्थात इतनी सूखी जगह जिसमें वह समाधि लगा सके। नाग ने उसकी इच्छा मान ली। मध्यान्तिक ने चमत्कार से अपनी देह विशाल कर ली और नाग ने झील का पूरा पानी सुखा दिया। उसके बाद नाग और उसके परिवार को उसने पुरानी झील के उत्तर-पश्चिम में एक छोटी झील में बसा दिया। नाग ने मध्यान्तिक से यहाँ सदा-सर्वदा रहने की प्रार्थना की लेकिन मध्यान्तिक ने कहा कि यह असम्भव है क्योंकि उसे जल्द ही परिनिर्वाण प्राप्त करना है। नाग की अभ्यर्थना पर मध्यान्तिक ने कहा कि 'जब तक यह देश बौद्ध धर्म के असर में रहेगा, यहाँ 500 अर्हत रहेंगे और जब यहाँ बौद्ध धर्म का असर ख़त्म हो जाएगा, यह इलाक़ा फिर से झील बन जाएगा।' इसके बाद उसने अपनी चमत्कारी शक्ति से 500 बौद्ध मठ बना दिये और फिर अपने लोगों की सेवा के लिए विदेशों से ग़ुलाम ले आया। उसके जाने के कुछ समय बाद उन ग़ुलामों ने सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया लेकिन आसपास के राज्य के लोग उन्हें कोई सम्मान नहीं देते और उन्हें ख़रीदा हुआ कहते हैं।[7]

कश्मीर का इतिहास और उसके अनेक पाठ-कुपाठ इन्हीं अंतर्विरोधों से संचालित हैं। मज़ेदार है कि जहाँ पहली कहानी अक्सर उद्धृत की जाती है, बाक़ी दोनों कहानियों का कहीं उल्लेख नहीं होता। आप देखें तो तीनों कहानियाँ अपने-अपने धार्मिक खाँचे में कश्मीर की उत्पति को ढालने की कोशिशें हैं। आप देखेंगे कि पहली कहानी में कश्मीर में मूल निवासी नाग और पिशाचों की जगह वैदिक हिन्दुओं के प्रवेश और फिर वहाँ उनके वर्चस्व के स्पष्ट इशारे हैं। ज़ाहिर है कि यह कथा वैदिक वर्चस्व स्थापित होने के दौर में लिखी गई होगी और ऐसे ही बाक़ी दोनों कथाएँ बौद्ध और इस्लामी वर्चस्व के दौरान।

हालाँकि इन कथाओं का उपसंहार लिखे बिना बात पूरी नहीं होगी, जो विज्ञान के सहारे ही लिखा जा सकता है।

बुर्ज़होम उत्खनन और वैज्ञानिक साक्ष्य

1961 में आरम्भ हुई बुर्ज़होम की खुदाई से प्राप्त चीज़ें कश्मीर के प्रागैतिहासिक काल की सबसे विश्वसनीय जानकारी का स्रोत हैं। टी.एन. ख़ज़ांची कश्मीर में 1960 से 1970 के बीच में भारतीय पुरातत्व सर्वक्षण की उस टीम के निदेशक थे जिसने कश्मीर में बुर्ज़होम में पुरातत्त्व सर्वेक्षण का काम शुरू किया। एम.के. कॉ द्वारा सम्पादित किताब *कश्मीर एंड इट्स पीपल* में वह कश्मीर के प्रागैतिहासिक

युग के बारे में विस्तार से बात करते हैं। वह बताते हैं कि 1935 में येल-कैम्ब्रिज द्वारा कराए गए संयुक्त अध्ययन में एच.डी.ई. टेरा, टी. चार्डिन और टी.टी. पैटरसन ने कश्मीर में 'करेवा फ़ॉर्मेशन' को लेकर रोचक निष्कर्ष निकाले। प्लाइस्टसीन युग (प्रतिनूतन काल, जिसमें चट्टानों का निर्माण हुआ) के आरम्भिक काल में जहाँ हिमालय जैसे पर्वतों का निर्माण हुआ, वहीं कश्मीर में नदियों, झीलों और ग्लेशियरों के आलोड़न से जो संरचनाएँ बनीं, उनमें आधुनिक झेलम के आसपास बने करेवा सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। कश्मीर घाटी का आधे से अधिक हिस्सा इसी करेवा से बना हुआ है। दक्षिण पश्चिम में इसकी चौड़ाई 12.5 किलोमीटर से 25 किलोमीटर तक है और यह शोपियान से बारामूला के बीच लगभग 80 किलोमीटर तक फैला हुआ है। इस अध्ययन में पाया गया कि लाखों वर्ष पहले ग्लेशियरों के निर्माण की प्रक्रिया में इन झीलों का निर्माण और फिर संकुचन हुआ जिससे ये करेवा निर्मित हुए। बाद के दौर में झेलम नदी उभरी और यह लगातार और गहरी होती गई। फलस्वरूप कटाव आदि के कारण झील का पानी बह गया तथा वह स्थान मनुष्यों के रहने योग्य बन गया। बाद के भूगर्भशास्त्रियों की मान्यता है कि वूलर, मानसबल, डल और अंचर जैसी झीलें उसी आदि-झील की अवशेष हैं।[8]

श्रीनगर से कोई आठ किलोमीटर दूर बुर्ज़होम कश्मीर में प्राप्त यह पहला नवपाषाण-युगीन अवशेष है। कश्मीरी में बुर्ज़ का मतलब है भुर्ज या भोजपत्र। बुर्ज़होम यानी भोजपत्रों का गाँव। इस खुदाई में भोजपत्र के अनेक पेड़ों के अवशेष पाए गए हैं जिससे स्पष्ट है कि ये पेड़ यहाँ बहुतायत में रहे होंगे। यह भी पाया गया कि यहाँ के निवासियों को जंगलों और पहाड़ियों से प्रचुर मात्रा में भोजन और जल की सुविधा प्राप्त थी। यहाँ पत्थरों पर शिकार के चित्र भी पाए गए हैं। यह गाँव ऊँचाई पर बसा हुआ था और ऐसा लगता है कि इसी वजह से यह सुरक्षित बचा रहा। इस खुदाई में प्राप्त अवशेषों से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस काल में लोग ज़मीन के नीचे मिट्टी और टहनियों के घर बनाकर रहते थे और दीवारों पर मिट्टी का प्लास्टर होता था जो ठंड और गर्मी से बचाव करने में सहायक था। आटा पीसने की चक्की और हड्डियों तथा पत्थरों के औज़ारों आदि से निष्कर्ष निकलता है कि कश्मीर में पहली मानवीय बस्तियाँ 3000 सहस्राब्दी ईसा-पूर्व से 1000 सहस्राब्दी ईसा-पूर्व पहले बसी थीं। इस काल का मनुज्य भोजन एकत्र करनेवाला तथा शिकारी था। हांगलू (कश्मीरी हिरण) सबसे महत्त्वपूर्ण पशु था, क्योंकि वह न केवल मांस उपलब्ध कराता था बल्कि उसकी हड्डियाँ और सींग भी हथियारों के रूप में उपयोगी थे। नवपाषाण युग की ये बस्तियाँ बुर्ज़होम तक ही सीमित नहीं थीं और आगे इनका अस्तित्व जयादेवी उदर, बिजबेहरा के पास थाजीवोर, गुफ़क्राल, बेगागुंड, दादसर, हरिपारिगोम, ओल्चीबाग, पंज्गोम, पाम्पोर, सेम्पूर और सोम्बर सहित पुलवामा और अनंतनाग ज़िले के कई स्थानों पर भी पाया गया।

लेकिन इन मनुष्यों के धार्मिक विश्वासों को लेकर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सका है। ख़ज़ांची स्पष्ट कहते हैं कि 'इस आरम्भिक काल में किसी संगठित धार्मिक व्यवहार का कोई सबूत नहीं मिलता।' प्राचीन मानवीय बस्तियों में शवों का निराकरण जादू-टोने और धार्मिक विश्वासों का अनुमान लगाने के लिए सबसे मुफ़ीद माध्यम होता है लेकिन यहाँ उस दौर में शवों के निराकरण की कोई नियत व्यवस्था नहीं दिखती। यहाँ शवों के निराकरण की एक स्पष्ट व्यवस्था महापाषाण काल (Megalithic Period) आते-आते मिलती है जिसमें शवों को दफ़नाया जाता है। मनुष्यों के अलावा पशुओं की क़ब्रें मिली हैं जिनमें सबसे प्रमुख है कुत्ते। पुरातत्वविदों का निष्कर्ष है कि कुत्तों को उनके मालिकों के साथ ही घर के अहाते में दफ़नाया जाता था। ख़ज़ांची प्रतिष्ठित पुरातत्त्वविद् प्रो. एल्चिन के हवाले से बताते हैं कि 'कुत्ता ऊपरी अमू नदी के शिल्का गुफ़ा संस्कृति में लगभग दैवी पशु था और अभी हाल तक इस क्षेत्र के गिल्यक, उल्ची और गोल्दी लोगों में मालिकों के शवों के साथ उनके कुत्तों को दफ़न किये जाने की परम्परा थी। उस समय के कश्मीरी लोगों का सांस्कृतिक सम्पर्क चीन और रूस की सीमाओं पर बहनेवाली इस नदी के किनारे रहनेवाले प्रागैतिहासिक मनुष्यों से होना सहज ही है। हालाँकि बाद में पूर्व हड़प्पा और हड़प्पा काल के निवासियों से इनके सम्पर्क के पर्याप्त साक्ष्य भी मिलते हैं। इस पर बहुत विस्तार से बात करना तो विषयांतर होगा लेकिन इन वैज्ञानिक खोजों ने जैसाकि ख़ज़ांची कहते हैं, 'कश्मीर के मिथकीय जनक कश्यप को भ्रामक सिद्ध कर दिया'[9] ज़ाहिर है, काशेफ़ तथा मध्यान्तिक को भी।

मज़ेदार यह है कि आख्यानों के खेल में विज्ञान के इस हस्तक्षेप को अक्सर नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है।

कश्मीर में नाग प्रजाति : कौन थे? थे या नहीं थे?

मिथकीय कथाओं के एक अन्य महत्त्वपूर्ण पात्र 'नाग' पर बात किये बिना बात पूरी नहीं होगी। ख़ज़ांची नागों को प्राचीन भारत में रहनेवाले अनार्य क़बीले कहते हैं।[10] मिथकों में नागों की उपस्थिति, उनकी रहस्यात्मकता और भारत जैसे देश में उनकी अनेक प्रजातियों की उपस्थिति, आकार तथा मारक क्षमता के कारण सहज है। अन्य जानवरों के विपरीत साँपों को वश में करना आसान नहीं रहा होगा और सर्पदंश से होनेवाली मृत्यु ने उनके प्रति एक विशिष्ट भय पैदा किया ही होगा। उनका पूजा-पाठ और कुछ क़बीलों का टोटेम बन जाना ही नहीं बल्कि उसे चमत्कारों से जोड़ना स्वाभाविक ही रहा होगा ।

भारत में नागदेवता और नागवंश का ज़िक्र कश्मीर तक सीमित नहीं है। महाभारत के आदिपर्व में नागों की उत्पत्ति को लेकर एक रोचक कथा है जिसके

अनुसार नाग कद्रू के पुत्र हैं जबकि उसकी बहन विनता के दो पुत्र हैं—अरुण, जो सूर्य का सारथि है और गरुड़, जिससे नागों की शत्रुता से हम परिचित हैं। कद्रू और विनता, दोनों ही दक्ष प्रजापति की कन्या थीं और उनका विवाह कश्यप ऋषि से हुआ था। ऋग्वेद में तो नागों का ज़िक्र नहीं मिलता लेकिन यजुर्वेद और अथर्ववेद में नागों का ज़िक्र है। प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में भी नागों का वर्णन ख़ूब मिलता है। छोटानागपुर का पूर्व राजपरिवार अपनी उत्पत्ति पुंडरीक नामक नाग से मानता है जिसने एक ब्राह्मण का रूप धारण करके बनारस के एक गुरु से ज्ञान हासिल किया और उस गुरुपुत्री पार्वती से ब्याह किया। उन दोनों से जन्मा बालक कालान्तर में नागपुर का राजा बना। ऐसी ही कथा मणिपुर के राजपरिवार के बारे में भी है। बस्तर का राज-परिवार भी स्वयं को नागवंशी मानता था तो बंगाल में कायस्थों की उत्पत्ति वासुकि नाग से मानी जाती है। दक्षिण भारत में प्रतिस्थान के राजा शालिवाहन को नाग अनन्त का पुत्र माना जाता है तो कोरमंडल के पल्लव वंश के प्रथम राजा का जन्म एक चोल राजा की नागवंशी रानी से माना जाता है।[11]

कश्मीर में *नीलमत पुराण* को लगभग सभी इतिहासकारों द्वारा महत्त्वपूर्ण स्रोत की तरह स्वीकार करने की वजह से यह सहज था कि प्राचीन काल में नागों की उपस्थिति को आमतौर पर स्वीकार किया जाता है। कल्हण ने *राजतरंगिणी* में न केवल *नीलमत पुराण* को एक स्रोत की तरह इस्तेमाल किया है बल्कि उनके यहाँ नागों का ज़िक्र बार-बार आया है। कार्कोट वंश (जिसके प्रसिद्ध राजा ललितादित्य की कश्मीर के इतिहास में बहुत प्रतिष्ठा है) की उत्पत्ति भी नागवंश से जोड़ी जाती है। वेरनाग, विचरनाग, अनंतनाग और ऐसी अनेक जगहों के नामों के पीछे नागों से जुड़ी कथाएँ हैं। असर यह कि अबुल फ़ज़ल की *आईन-ए-अकबरी* और जहाँगीर के संस्मरणों में भी नागों से जुड़ी कथाएँ विस्तार से देखी जा सकती हैं।[12] नाग इस तरह कश्मीर की लोकस्मृति का हिस्सा बनते चले गए, जैसाकि विजेल कहते हैं, कल्हण अपने पाठकों के समक्ष नागों को वैसे ही प्रस्तुत करते हैं, जैसे वे कश्मीर के लोगों की स्मृति में थे।[13] वाल्टर लॉरेंस भी कश्मीर के मिथकीय इतिहास में नागों और जलधाराओं की उपस्थिति को रेखांकित करते हुए बताते हैं कि गाँव के लोगों के बीच बैठकर नागों की ख़ूबसूरत और रोचक कहानियाँ सुनी जा सकती हैं।[14]

लेकिन मिथकों के पार इस तथ्य की पड़ताल ज़रूरी है कि क्या नाग वास्तव में कश्मीर के प्राचीन इतिहास का हिस्सा थे या फिर बाद में लिखे ग्रंथों में इसे शामिल कर दिया गया? ख़ालिद बशीर अहमद अनेकानेक उद्धरणों से यह साबित करने का प्रयास करते हैं कि कश्मीर में नागों की उपस्थिति का कोई प्रामाणिक साक्ष्य नहीं मिला है। बुर्ज़होम और गुफक्राल की ख़ुदाई में ऐसे कोई भित्तिचित्र या अन्य साक्ष्य नहीं मिले हैं तो दक्षिण कश्मीर के बिजबेहरा के पास सेम्थान की खुदाई में जहाँ बारहवीं सदी के विष्णु की मूर्ति के अवशेष सहित कई महत्त्वपूर्ण अवशेष

मिले हैं, नागों से जुड़ी कोई भी चीज़ नहीं पाई गई है जबकि इसी काल में देश के दूसरे हिस्सों में नागों के मन्दिर तथा अन्य साक्ष्य मिले हैं। बशीर की मान्यता है कि *नीलमत पुराण* के लिखे जाने का दौर वह है जब कश्मीर में बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षीण हो चुका था और शैव धर्म की प्रतिष्ठा हो रही थी। बौद्ध विहारों को तोड़ा जा रहा था और मन्दिरों में तब्दील किया जा रहा था। वह बारामूला में पाँचवीं सदी की एक बुद्ध प्रतिमा को शिव की मूर्ति में बदले जाने सहित ऐसी कई घटनाओं का हवाला देते हैं। ज़ाहिर है, इस दौर में कश्मीर के आरम्भिक इतिहास में हिन्दू धर्म का प्रभाव स्थापित करने के लिए ज़रूरी था कि उसे पुनर्निर्मित किया जाए। नीलमत पुराण इसी कोशिश का हिस्सा था। इसे लोकभाषा कश्मीरी में नहीं बल्कि संस्कृत में लिखा गया था जो वैदिक ब्राह्मणों की भाषा थी। इसी काल में जलाशयों, पहाड़ों, स्थानों के नाम हिन्दू मान्यताओं के अनुसार रखा गया।[15] कल्हण के यहाँ भी बौद्ध धर्म और स्थानीय भाषा को लेकर तिरस्कार बार-बार दिखता है।

लेकिन बशीर और कश्मीर में नागों की उपस्थिति से इनकार करनेवाले अन्य विद्वानों के अगर यह तर्क मान लिए जाएँ तो ह्वेनसांग की कथा में नागों की उपस्थिति को कैसे विवेचित किया जा सकता है? *नीलमत पुराण* के लिखे जाने की अवधि छठी से आठवीं शताब्दी के बीच मानी जाती है[16] जबकि ह्वेनसांग भी इसी काल में (635 ईस्वी में) भारत आया था। ज़ाहिर है, यह क़िस्सा उसने या तो चीन में सुना होगा या कश्मीर में उपस्थित बौद्धों से। इसलिए बशीर की बात से सहमत हो भी जाया जाए तो भी ऐसा लगता है कि कश्मीर में नागों को लेकर जनश्रुतियाँ उससे पहले से उपस्थित रही होंगी। *नीलमत पुराण* की कथा में वर्णित छः-छः महीनों के आने-जाने के आधार पर ख़ज़ांची की मान्यता है कि नाग और पिशाच घुमंतू प्रजातियाँ थीं जो मौसम के अनुसार घाटी में आया-जाया करती थीं। पिशाच यहाँ जाड़ों में आया करते थे और गर्मियों में नाग रहा करते थे जो जाड़ों में अपेक्षाकृत गर्म जगहों पर चले जाया करते थे। दोनों के बीच संघर्ष चलता रहता था लेकिन कालांतर में उनके बीच समझौता हो गया। वह इस संदर्भ में कश्मीर में जाड़ों के आरम्भ में खिचड़ी अमावस्या और गड़ा बाटा (जिसमें मछलियाँ चढ़ाई जाती हैं) और जाड़ों के बीतने पर पिशाच प्रयाण पर्व मनाये जाने का ज़िक्र करते हैं। वह नागों को कश्मीर का मूलनिवासी मानते हैं जबकि पिशाचों को मध्य एशिया का।[17]

बहुत सम्भव है कि नाग और पिशाचों से बाद में आये आर्यों का संघर्ष हुआ हो और नागों के साथ सहअस्तित्व की कोई राह निकली हो और फिर अंततः आर्य संस्कृति में उनका विलीनीकरण कर लिया गया हो! आम मान्यता है कि आर्यों की एक शाखा ओक्जस (वर्तमान में तज़ाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, तुर्कमेनिस्तान और उज़्बेकिस्तान से बहने वाली अमू दरिया) और जैक्सेरेट्स (वर्तमान में किर्गिस्तान के त्यान शान पर्वत से निकल कर दक्षिण कज़ाकिस्तान से होकर अराल नदी में

मिलने वाली सिर दरिया) की ओर जाते हुए अपने-अपने साथियों से अलग होकर कश्मीर में बस गई थी[18] लेकिन ख़ज़ांची कश्मीर के संदर्भ में 'आर्य' पद को एक 'मिसनॉमर' कहते हैं। उनकी मान्यता है कि कश्मीर में आर्यों की उपस्थिति के कोई साक्ष्य नहीं मिले हैं।[19]

यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना भी ज़रूरी है कि कश्मीर का ज़िक्र वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। ऋग्वेद में मरुद्वार्ध नामक एक नदी का ज़िक्र आता है जिसे कश्मीर में उत्तर से दक्षिण की ओर बहनेवाली मरुवर्द्वान नामक नदी से जोड़ा जाता है लेकिन इस पर पर्याप्त आशंका व्यक्त की गई है। अर्थर्वसंहिता में कुछ उत्तरी क़बीलों, जैसे बह्लिका, मह्व्रसा, गांधारी और मुजावत का ज़िक्र आता है लेकिन कश्मीर में इनके रहने का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि ये क़बीले ग़ैर-आर्य क्षेत्रों के थे। ब्राह्मणों और पुराणों में भी जिन क़बीलों का ज़िक्र मिलता है (गांधार, केकाय, मद्र और अम्बष्ट), उनके भी कश्मीर में रहने के कोई साक्ष्य नहीं मिलते। जो पहला ज़िक्र कश्मीर का संस्कृत साहित्य में आता है, वह पाणिनि के व्याकरण और उस पर लिखी पतंजलि की टीका में है जिनका समय ईसा-पूर्व छठी से चौथी शताब्दी के बीच माना जाता है। महाभारत में कश्मीर का ज़िक्र कई जगह है, लेकिन विदेशी स्रोतों में कश्मीर का ज़िक्र काफी पहले से दिखाई देता है। 500 ईसा-पूर्व ग्रीक भूगोलविद् हेकेटस ने 'कास्पाइरोस' नामक एक शहर का ज़िक्र किया है जिसे आम तौर पर कश्मीर माना जाता है, हेरोडोटस (484-431 ईसा-पूर्व) ने भी उसी शहर का ज़िक्र 'कास्पेटाइरोस' के नाम से किया है। ग्रीक भूगोलविद् क्लेडिअस पोलेमी (150 ईसा-पूर्व) ने बताया है कि कास्पेरिया राज्य की राजधानी कास्पेरा थी।[20] ये सारे संदर्भ बताते हैं कि पश्चिमी जगत कश्मीर से परिचित था। इस आधार पर ओक्जस के आर्यों के कश्मीर में पहले प्रवेशवाली थियरी को सही माना जा सकता है।

ऐसे में उपलब्ध तथ्यों से कोई अन्तिम निष्कर्ष तो निकालना सम्भव नहीं लेकिन जब और जैसे भी वैदिक धर्म ने यहाँ प्रवेश किया, मूल-निवासियों से उनका संघर्ष यहाँ जाति-व्यवस्था में रूपायित हुआ। यहाँ यह ग़ौरतलब है कि कल्हण अपने ग्रंथ में जिन नाग राजाओं की बात करते हैं, वे महाभारत में वर्णित मिथकीय कथाओं से इस रूप में अलग हैं कि उनमें किसी तरह की चमत्कार की शक्ति नहीं दिखती, न ही वे आधे साँप और आधे मनुष्य हैं। उनका कार्य-व्यवहार एकदम आम मनुष्यों की तरह है। विजेल टिप्पणी करते हैं : 'ऐसा लगता है कि वे अपने विषैले दाँतों का इस्तेमाल करना भूल चुके थे।[21]

इस सम्बन्ध में हम यहाँ कश्मीर घाटी के सबसे नज़दीक स्थित पश्चिम हिमालय के नाग मन्दिरों और जम्मू के पास भद्रवाह के नाग मन्दिर को देख सकते हैं। विजेल बताते हैं कि ये देवता अक्सर स्थानीय देवताओं की तरह हैं और इनकी पूजा एक गाँव या एक इलाक़े तक सीमित है। इन मन्दिरों की संरचना बेहद साधारण

है और ये आम तौर पर देवदार के घने जंगलों के बीच और गाँव के क़रीब स्थित होते हैं और किसी झरने या झील से सम्बद्ध होते हैं। इनमें नाग देवता को प्रसन्न करने के लिए गाना-बजाना होता है और चढ़ावे के रूप में फूल और धूप, अगरबत्ती का प्रयोग किया जाता है तथा कहीं-कहीं बकरे या भेड़ की बलि भी चढ़ाई जाती है। इन मन्दिरों में पुजारी का ब्राह्मण होना ज़रूरी नहीं था और अक्सर वह खेतिहर जातियों से हुआ करता था। इन मन्दिरों में एक रोचक भूमिका चेला की होती थी जो होता तो पुजारी का सहायक था लेकिन उसका महत्त्व अधिक इसलिए था कि बरसात के न होने पर वह पूजा करता था जिससे उस पर देवता आते थे और वह बारिश के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करता था। देवता आने की इस प्रक्रिया को 'नचना' कहा जाता था। यह चेला किसी भी जाति का हो सकता था और कई बार यह कथित निचली जाति का होता था।[22]

ये विवरण स्पष्ट संकेत करते हैं कि नाग पूजा ब्राह्मण विधान नहीं थी। बहुत सम्भव है कि कश्मीर के नाग मन्दिर वहाँ वैदिक धर्म की स्थापना के समय बौद्ध मन्दिरों की तरह ही नष्ट कर दिये गए हों और चूँकि वे अपने आकार-प्रकार में बेहद साधारण थे तो उनके अवशेष अब तक न मिल पाए हों!

जहाँ तक उनके लिखे साहित्य के न मिलने का सवाल है तो इसे समझा जा सकता है कि वर्चस्वशाली वर्ग के आख्यान संस्कृत में लिखे गए और उनको संरक्षण भी मिला लेकिन लोकभाषा में लिखे साहित्य को कुलीनों द्वारा मान्यता नहीं दी जाती थी तो कश्मीर में स्थानीय भाषा में रचित रचनाएँ उपेक्षित हुई होंगी। संसाधनहीन मूल निवासियों के लिए उन्हें सुरक्षित रख पाना भी आसान न होगा। इसलिए वही साहित्य हमें मिलता है जो कुलीन वर्ग द्वारा संस्कृत में रचा गया। यहाँ एक और तथ्य रख देना समीचीन होगा। *राजतरंगिणी* में कश्मीरी बोली का जो पहला और इकलौता ज़िक्र आता है, वह चक्रवर्मन के समय उसके श्वसुर डोम जाति के रंगा द्वारा एक शासकीय कर्मचारी से ज़मीन के अपने अधिकार पत्र की माँग के समय आया है। ज़ाहिर है, तब तक कश्मीरी वहाँ की जनभाषा बन चुकी होगी जिसका व्यवहार अकुलीन वर्ग करता होगा । यह वर्ग अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति भी अपनी लोकभाषा में ही करता होगा लेकिन कश्मीरी में ललद्यद से पहले का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है, इसकी चर्चा भी जोनाराज के यहाँ नहीं मिलती और यह साहित्य बहुत बाद में ढूँढा जा सका था।[23]

क्या ब्राह्मण कश्मीर के मूलनिवासी हैं?

बशीर अकेले नहीं हैं जो नागों के अस्तित्व को नकारते हैं। आम तौर पर कश्मीरी पंडितों के नैरेशन में यह बताया जाता है कि कश्मीर में ब्राह्मणों के अलावा कोई

जाति नहीं थी और ये ब्राह्मण कहीं और से नहीं आए थे बल्कि यहीं के मूल निवासी थे, तो यह परोक्ष से नागों के अस्तित्व से अगर इनकार नहीं भी है तो उन्हें मूलनिवासी की मान्यता का नकार तो है नहीं। उदाहरण के लिए 1996 से 1999 तक कश्मीरी एसोसिएशन के अध्यक्ष तथा 1997 से 2000 तक आल इण्डिया कश्मीरी समाज के वरिष्ठ उपाध्यक्ष रहे शिया पोस्ट-ग्रेजुएट कॉलेज, लखनऊ से सेवानिवृत्त डॉ बैकुण्ठ नाथ शर्गा कश्मीरी ब्राह्मणों को सरस्वती नदी के किनारे रहने वाले संत-महात्माओं की संतानें बताते हैं जो कश्मीर में जाकर 2000 ईसा-पूर्व बस गए थे। वह इन्हें शुद्ध आर्य नस्ल का बताते हैं और इनकी उत्पत्ति भारतीय मानते हैं। इसी आधार पर वह दावा करते हैं कि कश्मीर में सिर्फ़ ब्राह्मण निवास करते थे।[24]

लेकिन इस दावे की बाक़ी आलोचनाओं को छोड़िए, *राजतरंगिणी* का एक सावधान पाठ भी इसे आधारहीन साबित कर देता है। कल्हण न केवल अलग-अलग काल में भारत के अलग-अलग इलाक़ों से ब्राह्मणों के कश्मीर में आगमन की बात करते हैं बल्कि वहाँ हरिजन (पेज 230), कायस्थ (पेज 246), बनिया (पेज 326), चांडाल (पेज 392), मल्लाह (पेज 82, खंड 2)[25] की उपस्थिति का भी स्पष्ट ज़िक्र करते हैं। आगे हम इस पर विस्तार से बात करेंगे लेकिन यहाँ इतना तो कहा ही जा सकता है कि कश्मीर में चातुर्वर्ण्य का उद्‌भव केवल ब्राह्मणों के आगमन और उपस्थिति से तो सम्भव नहीं ही हो सकता था और इस बात की पूरी सम्भावना है कि वहाँ पहले से रह रहे मूलनिवासियों को ही हिन्दू धर्म में शामिल करने के बाद इन जातियों से सम्मिलित किया गया था। साथ ही अलग-अलग काल में विजेता राजा भी अपने साथ लोगों को लेकर यहाँ आये थे जिसके बहुत स्पष्ट प्रमाण *राजतरंगिणी* में हैं। वैसे शर्गा का यह दावा भी गोरखपुर विश्वविद्यालय के एक सेमिनार में प्रो. शिवाजी के दावे पर आधारित है। वह इसके अलावा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते, न ही उस शोधपत्र का कोई पता-ठिकाना बताते हैं कि कोई जाँच की जा सके। कश्मीर में ब्राह्मणों के प्रवेश पर विद्वानों में पर्याप्त मतभिन्नता है और इसकी विभिन्न थियरीज और कश्मीरी समाज में उनके लोकेशन पर अगले अध्याय में हम बहुत विस्तार से बात करेंगे।

यहाँ कश्मीर के संस्कृत साहित्य के सबसे प्रतिष्ठित विद्वान अभिनवगुप्त के उदाहरण से इसे संक्षेप में समझा जा सकता है। *परात्रिंशिकाविवरण* में उन्होंने अपने पुरखे अत्रिगुप्त का ज़िक्र किया है जिनका जन्म गंगा और यमुना के दोआब में स्थित अंतर्वेदी नामक स्थान में हुआ था। यह स्थान कन्नौज राज्य में पड़ता था जहाँ के राजा यशोवर्मन को हराकर ललितादित्य मुक्तपीड अत्रिगुप्त को कश्मीर ले आए थे और उन्हें झेलम नदी के किनारे शीतांशुमौलि मन्दिर के सामने एक हवेली और साथ में एक जागीर दी गई थी[26] यह तथ्य कश्मीरी पंडितों के 'मूलनिवासी' होने के दावे पर गम्भीर सवाल तो खड़े करता ही है, साथ में वर्तमान के राजनीतिक-सामाजिक

द्वंद्वों के चलते इतिहास के आख्यानों को प्रभावित करने की कोशिशों की तरफ़ भी स्पष्ट इशारा करता है। इन द्वंद्वों का एक और प्रभाव है जो इस विडम्बना को और गहरा करता है—ख़ज़ांची अपने पूर्वोद्धृत लेख के अंत में कश्मीर की तनावपूर्ण राजनीतिक स्थितियों के कारण उत्खनन के काम के आगे न बढ़ पाने पर अफ़सोस व्यक्त करते हैं—तब से अब तक हालात और बदतर ही होते गए हैं।

इन बदतर हालात ने आख्यानों की राजनीति को लगातार और जटिल बनाया है और तार्किक विवेचनाओं को असम्भव।

सन्दर्भ

1. देखें, पेज 55, *कश्मीर : एक्स्पोज़िंग द मिथ बिहाइंड द नैरेटिव,* ख़ालिद बशीर अहमद, सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017
2. देखें, वही, पेज 117-118
3. देखें, वही, पेज 122
4. देखें, पेज 35-276, *नीलमत पुराण,* डॉ. वेद कुमार घई, जम्मू एंड कश्मीर एकेडमी ऑफ़ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजेज, श्रीनगर, 1968
5. देखें, पेज 7, *कश्मीर एंड इट्स पीपल* (सम्पादक : एम.के. कॉ), ए.पी.एच. पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, नई दिल्ली, 2004 में टी.एन. ख़ज़ांची का लेख *अवर अर्लिएस्ट एंसेस्टर्स*
6. देखें, पेज 8-9, द *हिन्दू हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* एच.एच. विल्सन, सुशील गुप्ता (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, कोलकाता,1960
7. देखें, पेज 285-86, *ऑन युवान च्वांग्स ट्रेवेल इन इंडिया* (629-645 ईस्वी), थामस वेटर्स, (सं) टी.डब्ल्यू. राइस डेविड्स और एस.डब्ल्यू. बुशेली, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन, 1904
8. देखें, पेज 8-10, *कश्मीर एंड इट्स पीपल* (सम्पादक : एम.के. कॉ), ए.पी.एच. पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, नई दिल्ली, 2004 में टी.एन. ख़ज़ांची का लेख *अवर अर्लिएस्ट एंसेस्टर्स*
9. देखें वही, पेज 10-26
10. देखें वही, पेज 37
11. देखें, पेज 35-36, *इंडियन सर्पेंट लोर ऑर द नागाज़ इन हिन्दू लीजेंड एंड आर्ट,* जे.पी.एच. विजेल, आर्थर प्रोब्स्थेन, लन्दन, 1926
12. देखें, वही, पेज 230-31
13. वही, पेज 247
14. देखें, पेज 299, द *वैली ऑफ़ कश्मीर, वाल्टर लारेंस,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1895

15. देखें, पेज 11-12, *कश्मीर : एक्स्पोज़िग द मिथ बिहाइंड द नैरेटिव,* ख़ालिद बशीर अहमद, सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017
16. देखें, *नीलमत पुराण : अ ब्रीफ़ सर्वे,* डॉ. वेद कुमार घई, श्री परमानन्द रिसर्च इंस्टीट्यूट, श्रीनगर, कश्मीर (http://www.koausa.org/Glimpses/Nilmata-Purana.html) (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
17. देखें, पेज 37-38, *कश्मीर एंड इट्स पीपल* (सम्पादक : एम.के. कॉ), ए.पी.एच. पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, नई दिल्ली, 2004 में टी.एन. ख़ज़ांची का लेख *अवर अर्लिएस्ट एंसेस्टर्स*
18. देखें, http://koausa.org/vitasta/2001/1.3.html, पेज 9, *कश्मीर बिहाइंड द वेल,* एम.जे. अकबर, छठा संस्करण, 2011, रोली बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली
19. देखें, पेज 42, *कश्मीर एंड इट्स पीपल* (सम्पादक : एम.के. कॉ), ए.पी.एच. पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, नई दिल्ली, 2004 में टी.एन. ख़ज़ांची का लेख *अवर अर्लिएस्ट एंसेस्टर्स*
20. देखें, पेज 3-4 और 33, *अर्ली हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ कश्मीर,* सुनील चन्द्र रे, एशियाटिक सोसायटी, कोलकाता, 1957
21. देखें, पेज 247, *इंडियन सर्पेंट लोर ऑर द नागाज़ इन हिन्दू लीजेंड एंड आर्ट,* जे.पी.एच. विजेल, आर्थर प्रोब्स्थेन, लन्दन, 1926
22. देखें, वही, पेज 248-250
23. देखें, पेज 15, *कश्मीरी लिटरेचर,* ब्रज बी. काचरू, ए हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर, सम्पादक : जान गोंडा, खंड 8, ऑटो हैर्स्विट्ज़, विस्बाडेन, 1981
24. देखें, *कश्मीर एंड इट्स पीपल,* सम्पादक : एम. के. कॉ, ए.पी.एच. पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, नई दिल्ली, 2004 में डॉ बैकुंठ नाथ शर्गा का लेख *द जेनेटिक एविडेंस*
25. देखें, *राजतरंगिणी,* अनुवाद : श्रुतिदेव शास्त्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 2016
26. देखें, पेज 38, *कल्चरल हेरीटेज ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* (सं) एस एस तोशखानी और के वारिकू में रजनीश मिश्र का आलेख *अभिनवगुप्त एंड द शैवाईट ट्रेडीशन इन शारदा देश,* पेंटागन प्रेस

अध्याय-2

स्वर्णकाल का मिथक

हिन्दू राजाओं के काल में कश्मीरी ब्राह्मण

राजदेव (1212-1235) के शासनकाल में कुछ ऐसे भट्टों (ब्राह्मणों) ने, जिन्होंने पहले उसके राज्याभिषेक में सहायता की थी लेकिन बाद में उसके हाथों अपमानित हुए थे, षड्यंत्र कर खसों में से किसी को उसकी जगह गद्दी पर बिठाना चाहा। राज खुल गया और राजदेव ने ब्राह्मणों के ख़िलाफ़ लूट और विनाश का चक्र चला दिया। कई ब्राह्मण मार दिये गए और बाक़ियों को निर्ममता से कुचल दिया गया। हालात ऐसे कि पूरा श्रीनगर 'ना भट्टोहम' (मैं भट्ट यानी ब्राह्मण नहीं हूँ) की चीत्कार से गूँज उठा। यह इतिहास में वर्णित ब्राह्मणों के ख़िलाफ़ पहला बड़ा हमला था।[1]

—जियालाल किलाम

कश्मीरी पंडित नेटवर्क की वेबसाइट पर प्रोफ़ेसर के.एल. भान की एक किताब है: *सेवेन एक्जोडस ऑफ़ पंडित्स।* जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें सात बार कश्मीरी पंडितों के कश्मीर घाटी से निकाले जाने की कथाएँ हैं। इसमें पहला वाक़या जुड़ता है 1314 में सैयद अली हमदानी के आगमन से। भान के अनुसार, हमदानी ने सुलतान क़ुतुबुद्दीन को वश में करके हिन्दुओं के उत्पीड़न और धर्म-परिवर्तन को राज्यनीति में तब्दील कर दिया।[2] भान अपने इस दावे की पुष्टि के लिए किसी स्रोत का ज़िक्र नहीं करते—वजह स्पष्ट है। इस दावे की पुष्टि *राजतरंगिणी* के क्रम में *राजावलीपतक* लिखने वाले जोनराज भी नहीं करते। जियालाल किलाम ने राजदेव के शासनकाल का उल्लिखित प्रसंग जोनाराज के यहाँ से लिया है।[3] कल्हण के यहाँ गोपादित्य द्वारा लहसुन खानेवाले और भ्रष्ट हो चुके ब्राह्मणों को देशनिकाला देकर देश के दूसरे भागों से ब्राह्मणों को कश्मीर में बसाए जाने (प्रथम तरंग, श्लोक 342, 343); जयापीड़ द्वारा ब्राह्मणों को दिये गए अग्रहार वापस लेकर उनके उत्पीड़न, जिसके चलते कई ब्राह्मण मर गए, कई देश से पलायित हो गए और कई ने प्रयोपवेशन करके प्राण त्याग दिये (चतुर्थ तरंग, श्लोक 625 से 638) और संग्रामराजा के समय उसके मंत्री तुंग द्वारा ब्राह्मणों की नृशंस हत्या

के चलते पलायन का ज़िक्र आता है (छठी तरंग, श्लोक 336 से 347)। लेकिन इन उत्पीड़नों और पलायन का ज़िक्र भान के सात पलायनों में नहीं आता। इधर लिखे गए कश्मीरी पंडितों के इतिहास में भी इन घटनाओं का कोई उल्लेख नहीं होता जबकि 'सात पलायन' कश्मीरी पंडित समाज की स्मृतियों में स्थायी रूप से उपस्थित है और इतिहास की जगह ले चुकी अधिकल्पना बन चुका है। यह इतिहास के हिन्दू और मुस्लिम बन जाने का ही हश्र है कि एक आम प्रवृत्ति हिन्दू शासनकाल को स्वर्णकाल और मुस्लिम शासकों के काल को (ज़ैनुलआबदीन के अपवाद को छोड़कर) बुरा घोषित कर दिये जाने की है या फिर इसके ठीक उलट दूसरी तरफ़ बाक़ी को छोड़िए, अफ़ग़ान काल को भी अच्छा साबित करने की कोशिशें होती हैं। इन सबके बीच से एक संयत और सुसंगत ऐतिहासिक नैरेशन गढ़ पाना एक बड़ी चुनौती है।

हिन्दू राजाओं का दौर और कश्मीरी ब्राह्मण

स्रोत और उनकी विश्वसनीयता

जैसाकि हमने पहले भी देखा है कि कश्मीर के इतिहास के प्राचीनतम उपलब्ध स्रोत *नीलमत पुराण* और *राजतरंगिणी* हैं, तो इस अवधि के इतिहास के किसी परीक्षण के पहले इन स्रोतों की विश्वसनीयता पर बात कर लेना आवश्यक है। *नीलमत पुराण* के बारे में हमने देखा कि बुर्ज़होम की खुदाई से प्राप्त निष्कर्ष इस मिथकीय कथा की विश्वसनीयता पर गम्भीर प्रश्न खड़े करते हैं। वैसे भी यह इतिहास की किसी पुस्तक की जगह मिथक-कथा अधिक है। इसके अलावा स्टेन का मानना है कि *नीलमत पुराण* बहुत ख़राब हालत में मिली थी जिसमें हर तरह की रिक्तियाँ और पाठ सम्बन्धी दोष हैं और यह बहुत सम्भव है कि बाद के समय में इसमें चीज़ें जोड़ी-घटाई गई हों। वह प्रोफ़ेसर ब्यूहलर के हवाले से कहते हैं कि अपने वर्तमान रूप में यह छठी या सातवीं सदी से अधिक पुरानी नहीं हो सकती। उनका मानना है कि ये बदलाव पंडित साहिबराम द्वारा तब किये गए थे जब महाराजा रणबीर सिंह (1857-1885) ने उन्हें मूल ग्रंथ को प्रकाशन के लिए सम्पादित करने के लिए कहा था।[1]

राजतरंगिणी अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक स्रोत है। 1148 ईसवी से 1150 ईसवी के बीच लिखी गई यह किताब 1184 ईसा-पूर्व के गोनन्द तृतीय के समय से लेकर 1129 ईसवी में जयसिम्हा के समय तक के राजाओं की कथा है लेकिन जैसाकि इसके एक अनुवाद की भूमिका में जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं : 'मुख्यतः यह राजाओं, राजपरिवारों और कुलीन वर्ग की कहानी है, न कि आम लोगों की, जैसाकि इसके नाम *राजतरंगिणी* अर्थात *राजाओं की तरंगें* से स्पष्ट है। और इसके बावजूद यह राजाओं के कारनामों की कथा से कहीं अधिक है। यह राजनीतिक और

सामाजिक तथा एक हद तक आर्थिक सूचनाओं का समृद्ध ख़ज़ाना है।'[5] हालाँकि कल्हण इसके पहले के 1266 वर्षों के 52 राजाओं का संक्षेप में वर्णन तो करते हैं लेकिन वह उनकी कोई अवधि नहीं देते; दूसरे, उनमें से वह सिर्फ़ 4 का नाम लेते हैं। पहले तरंग के सोलहवें श्लोक में वह लिखते हैं : 'परम्परा के अभाव में 52 राजा विस्मृति में खो गए। उनमें से 4 मेरे द्वारा *नीलमत पुराण* से तलाशे गए हैं जो गोनन्द तथा अन्य हैं।'[6] असल में कल्हण चौथे तरंग के श्लोक 703 तक कोई तिथि नहीं देते। उनके यहाँ पहली स्पष्ट तिथि 813-14 ईसवी की है। ज़ाहिर है, उसके पहले के इतिहास को लेकर वह ख़ुद मुतमईन नहीं थे और जिन स्रोतों की सहायता से उन्होंने उस काल का वर्णन किया है, वे काल-क्रम नहीं बताते।

जियालाल किलाम कार्कोट वंश (627-753 ईसवी) के इतिहास से तुलनात्मक रूप से विश्वसनीय इतिहास के युग की शुरुआत मानते हैं।[7] आर.सी. दत्त का मानना है कि दुर्लभवर्धन (598 ईसवी) के बाद के कल्हण के इतिहास पर कोई शक नहीं किया जा सकता।[8] एस.के. रे अशोक के पहले के काल के कल्हण के इतिहास-वर्णन के बारे में कहते हैं कि इस पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता।[9] कल्हण ने जितने लम्बे दौर का क़िस्सा लिखा है, उस पूरे दौर के साक्षी तो वह हो नहीं सकते थे, न ही उस दौर का पूरा क़िस्सा साझा स्मृतियों के सहारे लिखा जा सकता है। उन्होंने ख़ुद बिल्हण और क्षेमेन्द्र की किताबों के साथ अपने कई स्रोत गिनाये हैं जिनमें से अधिकतर अप्राप्य हैं। रे ने उस दौर के सिक्कों आदि की सहायता से छठी शताब्दी के बाद के राजाओं के इतिहास की पड़ताल की है और उनकी स्पष्ट मान्यता है कि कल्हण ने इतिहास के साथ पौराणिक कथाओं, गल्पों और मिथकों की मिलावट की है। वह एक उदाहरण रणादित्य का देते हैं जिसका शासनकाल कल्हण ने 300 वर्ष का बताया है। उनकी मान्यता है कि हालाँकि सातवीं सदी से कल्हण 'मिथकों और पौराणिक कथाओं की मद्धिम रोशनी से इतिहास की स्पष्ट रोशनी' की तरफ़ आते हैं लेकिन दसवीं सदी से ही इस इतिहास पर पूरा भरोसा किया जा सकता है। उस दौर की कल्हण की कमियों को वह चीनी यात्रियों तथा अल बरूनी के संस्मरणों और जोनाराज के उपसंहार से पूरा करते हैं।[10] कल्हण के उद्देश्य और *राजतरंगिणी* की पद्धति को लेकर स्टेन कहते हैं—लेखक का उद्देश्य कश्मीर में आरम्भिक काल से लेकर अपने समय तक के राजाओं का एक कालानुक्रम प्रस्तुत करना था। वह (कल्हण) उन पौराणिक कथाओं से आरम्भ करते हैं जो प्राचीनतम इतिहास को लेकर देश की प्रचलित परम्पराओं को निरूपित करती हैं। इसके बाद वह पुराने लिखित रिकॉर्ड्स से बाद के राजवंशों का नैरेशन प्रस्तुत करते हैं और उसे एक कालानुक्रम से स्थापित करते हैं। किताब का आख़िरी हिस्सा, जो अपने प्रसार और ऐतिहासिकता, दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, ऐसी घटनाओं का वर्णन करता है जिसके या तो कल्हण साक्षी हैं या फिर जिन्हें जीवित

साक्षियों के हवाले से पेश किया गया है। ये घटनाएँ कमोबेश एक स्वतंत्र इतिहास लेखक के दृष्टिकोण से लिखी गई हैं और किसी भी तरह एक दरबारी कवि की तरह स्तुतिगायन नहीं हैं।[11] हालाँकि स्टेन *राजतरंगिणी* की उपलब्ध पांडुलिपि में भी छेड़छाड़ आदि की आशंका भी व्यक्त करते हैं।

ज़ाहिर है कि कश्मीर के प्राचीन इतिहास का कोई भी अध्ययन करते हुए न तो *राजतरंगिणी* पर आँख मूँद कर भरोसा किया जा सकता है, न ही ख़ालिद अहमद बशीर की तरह इसे सीधे-सीधे ख़ारिज़ किया जा सकता है। कल्हण ने मूलतः इसे प्रबन्ध काव्य की तरह लिखा है और उन्होंने इतिहास के ख़ाली रह गए स्थानों को भरने के लिए कल्पनाशीलता का उपयोग किया है। इसके अलावा हमें कल्हण की अपनी सामाजिक अवस्थिति को भी ध्यान में रखना होगा। कल्हण शैव ब्राह्मण थे। उनके पिता चम्पक हर्ष के दरबार में उच्चपदस्थ और राजा के विश्वासपात्र थे। उनका एक घरेलू सहयोगी मुक्ता उस समय हर्ष के साथ था जब उसकी हत्या हुई थी और वहाँ से वह किसी तरह बच निकला था। वहीं उनके चाचा कनक भी हर्ष के दरबार में उच्च पद पर थे और उनकी मृत्यु के बाद संन्यास लेकर बनारस चले गए थे।[12] हालाँकि कल्हण के राजदरबार से सम्बद्ध होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता लेकिन यह स्पष्ट है कि न केवल वह कुलीन वर्ग से सम्बद्ध थे बल्कि राजदरबार के कई उच्चपदस्थ लोगों से उनके प्रत्यक्ष और क़रीबी सम्बन्ध थे। इसलिए जहाँ एक तरफ़ राजाओं का वर्णन करते समय उनके पास दरबारी लेखक की तरह स्तुतिगान की कोई मजबूरी नहीं थी और वह अपने समकालीन राजा जयसिम्हा और अपने पिता के आश्रयदाता हर्ष की आलोचना करने से भी नहीं चूकते। वहीं उनका वर्ग तथा जाति-चरित्र एकदम स्पष्ट है—वह जनभाषा बोलनेवाले राजा शंकरवर्मन को लेकर कटु हैं तो ब्राह्मणों के प्राधिकार को चुनौती को लेकर वह डामरों और कायस्थों के प्रति आलोचनात्मक भी हैं। इसलिए उन्हें पढ़ते हुए एक सावधान दृष्टि तो ज़रूरी है लेकिन छठी-सातवीं सदी में लिखे गए *नीलमत पुराण* और बारहवीं सदी में लिखी गई *राजतरंगिणी* को पढ़ते हुए हम उस दौर की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संरचना के बारे में निश्चित रूप से एक अनुमान लगा सकते हैं। इन दोनों ग्रंथों की इस समझ के साथ हम कश्मीर के आरम्भिक इतिहास में ब्राह्मणों की सामाजिक-राजनीतिक अवस्थिति की एक विवेचना करने का प्रयास करेंगे।

कश्मीर में ब्राह्मणों का प्रवेश और मूल निवासी होने का दावा

कश्मीर में ब्राह्मणों के प्रवेश को लेकर कोई एक सर्वस्वीकृत सिद्धान्त नहीं है। जहाँ एक तरफ़ *नीलमत पुराण* में वर्णित पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर कश्मीर

के ब्राह्मणों को कश्यप ऋषि से जोड़ने की कोशिश होती है तो वहीं दूसरी तरफ़ उस दौर के इतिहास, कश्मीरी भाषा और अन्य स्रोतों के सहारे कश्मीर में ब्राह्मणों के प्रवेश को लेकर अनुमान लगाये गए हैं। सेंडर, शेरिंग के हवाले से कहते हैं कि 'कश्मीर भारत में ब्राह्मणों के सबसे पुराने घरों में से एक है, यह बात बिलाशक़ कही जा सकती है। मध्य एशिया से भारत के मुख्यमार्ग पर अब स्थित होने के कारण यह स्वाभाविक था कि आई आर्य जाति इस ख़ूबसूरत स्थान को अपने निवास के रूप में चुनती और यही कारण था कि इसकी पहाड़ियों तथा घाटियों में उनकी पहली बसाहट हुई।' वह जार्ज कैम्पबेल, ह्यूगल आदि के हवाले से भी कश्मीरी ब्राह्मणों के मध्य एशिया से आए आर्य होने की बात करते हैं।[13] पंडित आनन्द कौल ने भी कई हवालों से अपनी किताब में इसी सिद्धान्त को मान्यता दी है।[14] एक दावा इजराइल के एक भटके हुए क़बीले के कश्मीर में बस जाने का है[15] यहाँ इन दावों-प्रतिदावों के विस्तार में जाना विषयांतर होगा लेकिन उपलब्ध स्रोतों के आधार पर कश्मीर में आर्यों के मध्य एशिया से आकर बसने की बात सबसे तार्किक लगती है। हालाँकि कश्मीरी पंडितों की हालिया किताबों में अक्सर कश्मीरी पंडितों के मध्य एशिया की जगह भारत के विभिन्न स्थानों से कश्मीर में जाकर बसने की बात भी की जाती है। ये दावे आर्यों के मध्य एशिया से भारत आने के दावे को ख़ारिज कर उनके मूलतः भारत के ही होने के दक्षिणपंथी दावों के हिस्सा हैं और ज़ाहिर है कि उन्हीं की तर्ज़ पर कश्मीर को भारतीय राष्ट्र की व्यापक परिधि के भीतर रखकर मूलनिवासी के दावे को साबित करने की यह कोशिश है। हमने पिछले अध्याय में डॉ. शर्गा का उदाहरण देखा है[16] जिसे डॉ. शिबन के. काचरू भी उद्धृत करते हैं।[17]

इस सन्दर्भ में कश्मीर की स्थानीय भाषा कश्मीरी को भी देखा जा सकता है जिसे आम तौर पर भारतीय-ईरानी समूह की दार्दिक भाषा समूह का हिस्सा माना जाता है। इस समूह की भाषा कश्मीर, पाकिस्तान के उत्तरी हिस्सों, अफ़ग़ानिस्तान और ईरान में बोली जाती है।[18] इस भाषा में संस्कृत, फ़ारसी तथा उर्दू के शब्दों का समावेश ऐतिहासिक प्रक्रिया में होना स्वाभाविक ही था लेकिन यह सम्भव है कि मूल भाषा मध्य एशिया से आए आर्यों के साथ ही आई थी। भाषायी विवेचना के आधार पर रे एक दिलचस्प निष्कर्ष यह निकालते हैं कि शायद नाग वहाँ के प्राचीनतम निवासी हैं जो हुन्ज़ा नागर (आज के गिलगिट-बाल्टिस्तान इलाक़े में) में रहते थे और बुरुशास्की भाषा बोलते थे। पिशाच आर्य आक्रमणकारी थे और वे दार्दिक भाषा बोलते थे। संस्कृत-भाषी आर्य भारत से आए थे और चूँकि अन्ततः उनका वर्चस्व स्थापित हुआ तो उन्होंने *नीलमत पुराण* में अपनी महानता स्थापित की है।[19]

कश्मीर के ब्राह्मण उत्तर भारतीय सारस्वत ब्राह्मण हैं। भारत में ब्राह्मणों का मुख्य विभाजन—पौराणिक काल से विन्ध्य पर्वत शृंखला को विभाजक रेखा मानते हुए—दक्षिणी द्रविड़ तथा उत्तरी गौड़ ब्राह्मणों का है। इन दोनों की फिर पाँच-पाँच

उपश्रेणियाँ हैं जिनमें से एक सारस्वत ब्राह्मणों की है। कश्मीर के अलावा पंजाब के कुछ क्षेत्रों, राजस्थान और कोंकण क्षेत्र आदि में सारस्वत ब्राह्मण पाए जाते हैं। इस आधार पर यह मान्यता है कि कश्मीर में ये इन्हीं स्थानों से आकर बसे। कुरुक्षेत्र के पास पौराणिक नदी सरस्वती के किनारे बसने के कारण इनका नाम सारस्वत पड़ा था, जहाँ से ये विभिन्न स्थानों पर गए।[20] ब्रिगेडियर रत्तन कौल का भी मानना है कि जो आर्य मध्य एशिया से आए थे, उनका एक बड़ा हिस्सा सरस्वती नदी के किनारे बस गया और उसी आधार पर उन्हें सारस्वत ब्राह्मण कहा गया। कालान्तर में सरस्वती नदी के लगभग 2000 ईसा-पूर्व मार्ग बदलने और सूखते जाने के कारण ये कश्मीर सहित देश के अनेक हिस्सों में बस गए।[21] हालाँकि कश्मीरी ब्राह्मण बाक़ी सारस्वत ब्राह्मणों से ख़ुद को अलग मानते हुए अपनी उत्पत्ति विद्या की देवी सरस्वती से मानते हैं। इसी आधार पर जातिमाला में सारस्वत ब्राह्मणों को कश्मीरी ब्राह्मणों से अलग सूचित किया गया था।[22] पहचान को लेकर सावधानी और श्रेष्ठताबोध कश्मीरी ब्राह्मणों की महत्त्वपूर्ण एवं चारित्रिक विशेषता है।

इस तरह कश्मीर में ब्राह्मणों के प्रथम प्रवेश सम्बन्धी कोई निश्चयात्मक बात करना सम्भव नहीं लेकिन जैसाकि रे कहते हैं, इस बात के पर्याप्त साक्ष्य हैं कि कश्मीर में दूसरी जगहों से ब्राह्मणों का बहुत आरम्भिक काल से ही लगातार प्रवास होता रहा है और कश्मीरी ब्राह्मणों का एक बड़ा हिस्सा इन्हीं अप्रवासियों से बनता है।[23] *राजतरंगिणी* ऐसे प्रसंगों से भरी पड़ी है जिसमें राजाओं ने अन्य क्षेत्रों से ब्राह्मणों को कश्मीर में आमंत्रित किया और बसाया। उनके यहाँ अग्रहार का ज़िक्र पहले राजा गोनन्द से ही शुरू हो जाता है। अग्रहार, कल्हण ज़मीन या गाँवों की करमुक्त जागीर के अर्थ में उपयोग करते हैं जो किसी व्यक्ति या धार्मिक संस्था को दी जाती है।[24] कल्हण ने आरम्भिक पौराणिक राजाओं के सन्दर्भ में अग्रहारों द्वारा ज़मीन दिये जाने का जो वर्णन किया है, विज़ेल उसे स्थानीय ब्राह्मणों द्वारा ज़मीनों पर अपनी दावेदारी मज़बूत करने की कोशिश की तरह देखते हैं। हालाँकि इन दावों को वह सही नहीं मानते लेकिन इन अग्रहारों के नामों में अन्तर्निहित नामों की विवेचना से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें से कुछ नाम संस्कृत के कश्मीर में प्रवेश से पहले के हैं।[25]

अभी इसे यहीं छोड़ते हुए हम कल्हण के यहाँ कश्मीर में देश के दूसरे हिस्सों से ब्राह्मणों के आकर बसने के विवरणों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। इस सन्दर्भ में हूण शासक मिहिरकुल का क़िस्सा मज़ेदार है जिसने शैव धर्म तो अपनाया था लेकिन कल्हण उसके अत्याचारों के कारण उसकी ख़ूब लानत-मलामत करते हैं। मिहिरकुल ने अपने जन्मस्थान गांधार से ब्राह्मणों को बुलाया था और अग्रहार दिये थे। कल्हण बताते हैं कि अकेले विजयेश्वर में ब्राह्मणों को एक हज़ार अग्रहार दिये गए थे। मिहिरकुल से अग्रहार स्वीकार करनेवाले ब्राह्मणों को निचले दर्जे का

समझा जाता था। इसके बाद लगभग 400 ईसा-पूर्व के राजा गोपादित्य के समय वैदिक सभ्यता के मूल क्षेत्रों यानी आज के पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा से ब्राह्मणों को लाकर कश्मीर में बसाए जाने का ज़िक्र आता है जिन्हें खोल, खगिका, हदिग्राम, स्कन्दपुरा और सामजस वश्चिक अग्रहार में दिये गए। उसके आर्यदेश के ब्राह्मणों को गोप पर्वत पर गोपाद्रि मठ के लिए अग्रहार देने का भी ज़िक्र आता है जिसे आज शंकराचार्य पर्वत के नाम से जाना जाता है। गोपादित्य द्वारा उन ब्राह्मणों के देशनिकाले की बात भी सामने आती है जो वैदिक ब्राह्मण रीतियों से भटक गए थे और लहसुन आदि का सेवन करने लगे थे। इसके बाद भी लगातार ब्राह्मणों को अग्रहार दिये जाने का ज़िक्र आता है। इसी क्रम में अन्तिम गुप्त राजा द्वारा उज्जैन के एक कवि मातृगुप्त को कश्मीर का सूबेदार बनाकर भेजे जाने का ज़िक्र आता है जिसके साथ उज्जैन से कई ब्राह्मण आए थे। कारकोटा वंश के सबसे प्रसिद्ध शासक ललितादित्य मुक्तपीड (725 से 761 ईसवी) द्वारा कन्नौज विजय के बाद वहाँ से संस्कृत के विद्वान पंडितों—भवभूति, वाक्पतिराज तथा अत्रिगुप्त—को कश्मीर ले आने का ज़िक्र है। हमने देखा है कि प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान अभिनवगुप्त इन्हीं अत्रिगुप्त के वंशज थे।

आनन्द कौल कश्मीर में लगातार अप्रवासियों के आने के चार कारण बताते हैं। पहला यह कि कश्मीर प्राचीन काल से ज्ञान के एक केन्द्र के रूप में उभरा। अलबरूनी और ह्वेनसांग के हवाले से वह बताते हैं कि उस दौर में कश्मीर संस्कृत ज्ञान का सबसे प्रमुख केन्द्र था और यहाँ आकर कुछ वर्ष सीखे बिना किसी को संस्कृत का आधिकारिक विद्वान नहीं माना जाता था। स्वाभाविक है कि इनमें से एक हिस्सा वापस लौटकर नहीं जाता होगा। दूसरा कारण कश्मीर का पहाड़ों से घिरे होने और दुर्गम होने के कारण विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित होना था। यह उसे भारी राजनीतिक उथल-पुथल से बचाकर शान्तिपूर्ण जीवन के लिए उपयुक्त स्थान बनाता था। तीसरा कारण कौल चीन और मध्य एशिया से कश्मीर के राजनीतिक सम्बन्धों को बताते हैं और चौथा कारण कश्मीर की धरती का उपजाऊ होना था जिसके चलते वहाँ भोजन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाता था और समृद्धि बनी रहती थी। वह इस सम्बन्ध में दो संस्कृत कहावतों का ज़िक्र करते हैं : 1. *कश्मीरं यशस्यम: तत्र अदानम भक्ष्यम:* (हम कश्मीर जा सकते हैं जहाँ भोजन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है) और 2. *यक्र द्विधा कश्यपे सुलभम* (कश्मीर में भोजन और वस्त्र सुलभ है)।[26] यह प्रक्रिया बाद तक चलती रही है। मदान कश्मीर के दो अन्य हिन्दू समुदायों की बात करते हैं—बूहर और पूरिब। लॉरेंस के हवाले से वह बताते हैं कि बूहर असल में पंजाब से व्यापार के लिए आया खत्री समुदाय है जबकि पूरिब पूर्वी पंजाब से कई सदी पहले आकर बसे ब्राह्मण हैं। मदान का कहना है कि वे कश्मीर की पंडित संस्कृति में पूरी तरह

से घुल-मिल गए हैं।[27] विज़ेल बताते हैं कि बाहर से ब्राह्मणों का आना अफ़ग़ान और सिख शासकों के दौर में भी जारी रहा। डोगरा शासन की स्थापना से पहले आए ब्राह्मण कश्मीरी ब्राह्मणों की जनसंख्या में घुल-मिल गए और कश्मीरी ब्राह्मणों की यह मुख़्तलिफ़ भौगोलिक तथा नस्ली संरचना मूल छह गोत्रों (दत्तात्रेय, भारद्वाज, पालदेव, उपमन्यु, मुद्गल और धौम्यन) के 200 गोत्रों में विस्तारित हो जाने में रूपायित होती है।[28]

साथ ही, कश्मीर से ब्राह्मणों का भारत के अन्य स्थानों पर पलायन भी बेहद आरम्भिक काल से देखने को मिलता है। जयापीड़ के समय पथभ्रष्ट हो चुके ब्राह्मणों के कश्मीर से देशनिकाले का ज़िक्र पहले ही आया है। कल्हण के यहाँ एक ब्राह्मण विजयराजा का ज़िक्र आता है जो कश्मीर में भयावह संकटों (गढ़दुर्गत) के कारण बाहर जाने की बात करते हैं। मदुरै के दक्षिण में पल्लव राजाओं द्वारा बनवाए गए तिरुवलेश्वर मन्दिर के अभिलेखों में वहाँ कश्मीरी ब्राह्मणों के बसने का स्पष्ट उल्लेख है। बारहवीं सदी के नेपाल से प्राप्त एक पांडुलिपि में कश्मीरी ब्राह्मणों की वहाँ उपस्थिति का उल्लेख है तो विजयनगर साम्राज्य के एक सेनापति द्वारा वहाँ 60 कश्मीरी ब्राह्मणों के बसाए जाने का ज़िक्र आता है। कल्हण ने जिन विल्हण का ज़िक्र अपने स्रोत के रूप में किया है, वे कश्मीर से पलायित होकर चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य षष्ठम् के दरबार में थे[29] तो एक और सफल प्रवासी ब्राह्मण थे सोथल, जो बारहवीं सदी में देवगिरि (वर्तमान दौलताबाद) के राजाओं—जैत्रपाल और भिल्लण—के दरबार में शाही दरबार के प्रमुख—श्रीकर्णाधिप—थे।[30] बहुत बाद तक कश्मीरी ब्राह्मणों के भारतीय रजवाड़ों में ऊँचे पदों पर होने की सूचनाएँ मिलती हैं तो मुग़लकाल और ब्रिटिश काल में भी बड़ी संख्या में कश्मीरी ब्राह्मणों के दिल्ली, लखनऊ, लाहौर आदि जगहों पर बसने के मूल कारण रोज़गार ही रहे हैं, जिस पर आगे विस्तार से बात होगी। राजाओं के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान के रूप में भी कश्मीरी ब्राह्मणों के गुजरात, केरल और नेपाल जैसी जगहों पर जाकर बसने के प्रमाण मिलते हैं। इसलिए यह एक ग़लत समझदारी है कि कश्मीर से जो भी ब्राह्मण बाहर गए, वे केवल मुस्लिम शासकों के अत्याचार के कारण।

हिन्दू राजाओं के काल में ब्राह्मणों की सामाजिक-राजनीतिक अवस्थिति

कश्मीर में ब्राह्मणों का प्रादुर्भाव स्वाभाविक रूप से वहाँ बौद्ध धर्म के पतन और वैदिक धर्म की स्थापना से जुड़ा हुआ है। इस सम्बन्ध में कल्हण के उस दौर के विवरण को सावधानी से पढ़ना ज़रूरी है जिसकी ऐतिहासिकता प्रामाणिक नहीं।

यहाँ कल्हण ने कल्पना का ही सहारा नहीं लिया है बल्कि कश्मीर में बौद्ध धर्म पर वैदिक संस्कृति की विजय और उसके अनुरूप राज्य-व्यवस्था के उदय की एक बानगी भी दी है। अशोक के काल के तुरन्त बाद वह उसके पुत्र जालुक का जो शासन दिखाते हैं, वह इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण है। कल्हण ने उसे शूरवीर और न्यायप्रिय शैव राजा बताया है जिसने कान्यकुब्ज तक अपने शासन का विस्तार किया। उनके अनुसार, जालुक ने श्रीनगरी और नन्दीक्षेत्र में क्रमश: ज्येष्ठरुद्र और भूतेश मन्दिरों का निर्माण कराया तथा कश्मीर में शैव धर्म की पुनर्स्थापना की। बौद्धों के प्रति उसका रवैया आरम्भ में दुश्मनाना था, बाद में वह बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णु हो गया था। इस सम्बन्ध में *राजतरंगिणी* के प्रथम तरंग के 131 से 147वें श्लोक में एक रोचक कथा आती है। एक बार जब जालुक विजयेश्वर मन्दिर में आराधना करने जा रहा था तो रास्ते में कृत्यादेवी नामक एक कमज़ोर-सी महिला ने उससे भोजन माँगा। उसने उसे मनचाहा भोजन देने का आश्वासन दिया। इस पर उस महिला ने मनुष्य के मांस की इच्छा ज़ाहिर की। राजा ख़ुद अपनी देह से मांस देने को उद्धत हुआ तो महिला ने उसे बोधिसत्त्व का एक रूप बताकर प्रशंसा की और बौद्ध मठों के तोड़े जाने तथा बौद्धों पर हुए अत्याचार की शिकायत की। उससे प्रभावित होकर राजा ने बौद्ध विहारों के पुनर्निर्माण का वायदा किया और उसके ही नाम पर विहार का नाम कृत्याश्रम रखा तथा विहार में उस महिला की मूर्ति भी स्थापित की। अब आप जालुक के शासन की व्यवस्था देखें तो कल्हण के अनुसार उसमें 7 मंत्री (न्यायाधीश, कर विभाग के प्रमुख, कोषाध्यक्ष, सेनापति, राजदूत, पुजारी और ज्योतिषी) तथा 18 विभाग थे जो वैदिक राजाओं के राज्य के लक्षण हैं। हमने देखा है कि इसी क्रम में उसने कन्नौज से ब्राह्मणों को कश्मीर में बुलाया और अग्रहार दिये। सिर्फ़ ब्राह्मणों को ही नहीं बल्कि चारों वर्णों के लोगों को जालुक द्वारा कश्मीर में बसाए जाने का ज़िक्र है। असल में कल्हण के यहाँ कश्मीर के उस दौर का इतिहास, जिसकी ऐतिहासिकता प्रामाणिक नहीं है, और *नीलमत पुराण* के वर्णन कश्मीर में वैदिक धर्म की स्थापना का क़िस्सा है। *नीलमत पुराण* में वैदिक धर्म के आधार पर राज्य व्यवस्था की शिक्षा तो है ही, साथ में ब्राह्मणों को अलग-अलग अवसरों पर दिये जानेवाले दान के विस्तृत अनुदेश भी हैं।

इस तरह भारत के किसी दूसरे इलाक़े की तरह यहाँ का इतिहास भी, जैसाकि जियालाल किलाम कहते हैं, ब्राह्मण-क्षत्रिय गठबन्धन का तथा एक-दूसरे के हितों की पूर्ति का इतिहास है।[31] कश्मीर में क्षत्रिय उस रूप में थे या नहीं, इसे लेकर अलग-अलग मत हैं लेकिन यहाँ सुविधा के लिए राजनय वर्ग और ब्राह्मण कहा जा सकता है। एक तरफ़ राजाओं ने ब्राह्मणों को अग्रहार आदि देकर समाज में विशिष्ट स्थान प्रदान किया और दूसरी तरफ़ ब्राह्मणों ने राजाओं के पक्ष में वैचारिक

और सामाजिक माहौल बनाया। इस जुगलबन्दी से समाज में वैदिक संस्कृति और ब्राह्मणवाद का वैचारिक वर्चस्व स्थापित हुआ। कश्मीर में ब्राह्मणों का सीधा मुक़ाबला था बौद्ध धर्म से। कनिष्क के शासनकाल में जब बौद्ध धर्म राज्यधर्म बना तो ज़ाहिर था कि ब्राह्मण प्राधिकार पर इसका असर पड़ता। अभिमन्यु के शासनकाल में नागार्जुन ने न केवल बड़ी संख्या में लोगों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी बल्कि ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में पराजित भी किया। इसकी परिणति हुई एक गृहयुद्ध में जिसमें ब्राह्मणों का नेतृत्व किया चन्द्राचार्य ने। इस गृहयुद्ध में ब्राह्मणों ने नागों के साथ मिलकर बौद्धों पर भयावह अत्याचार किये। लेकिन कश्मीर में बौद्ध धर्म का प्रभाव इतनी आसानी से समाप्त नहीं हो सकता था और इसकी कोशिशें लगातार जारी रहीं। नर प्रथम नामक राजा के दौर में कल्हण ने हज़ारों बौद्ध मठों को जलाने और बौद्ध मठों से सम्बद्ध गाँवों को ब्राह्मणों को दिये जाने का ज़िक्र किया है। इसके बाद मिहिरकुल और गोपादित्य जैसे राजाओं का समय आते-आते कश्मीर में वैदिक धर्म का प्रभाव बढ़ता गया और पाँचवीं-छठी शताब्दी आते-आते हम वहाँ सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था पर पूरी तरह वैदिक धर्म का प्रभाव स्थापित होते हुए देखते हैं।

स्वाभाविक था कि बौद्ध धर्म को प्रतिस्थापित करके घाटी में स्थापित नई सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में ब्राह्मणों का उच्चतर स्थान होता। जैसाकि रे कहते हैं—निश्चित तौर पर ब्राह्मण कश्मीर में सबसे अधिक सम्मानित और विशेषाधिकार-प्राप्त जाति थी।[32] कश्मीर के सबसे प्रतिष्ठित राजा कार्कोट वंश के ललितादित्य के दरबार में मित्रशर्मन नामक ब्राह्मण ऊँचे पद पर थे तो जयापीड़ के मंत्री देवशर्मन थे और दामोदरगुप्त उनके सभासद थे। फाल्गुन भट्ट क्षेमगुप्त के दरबार में मंत्री थे तो कल्हण के पिता चम्पक हर्ष के दरबार में उच्चपदस्थ थे। *राजतरंगिणी* में एक ब्राह्मण राजा यशस्कर (939-948 ईसवी) का ज़िक्र आता है तो कश्मीर के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखनेवाली रानी दिद्दा भी काबुल के ब्राह्मण शाही परिवार की थीं।[33] उदाहरणों की भीड़ लगाये बिना कहा जा सकता है कि हिन्दू राजाओं के काल में दरबारों में ब्राह्मणों का दबदबा था और इसलिए सामाजिक-आर्थिक जीवन में उनके विशिष्ट स्थान स्वाभाविक था। कल्हण न केवल बाहर से आकर बसनेवाले बल्कि शिक्षा के लिए कश्मीर आनेवाले ब्राह्मणों के निवास आदि के लिए भी राजाओं द्वारा अग्रहार दिये जाने का उल्लेख करते हैं। इसके अलावा राजभवन के अनुष्ठानों तथा धार्मिक संस्कारों के लिए जो ब्राह्मण नियुक्त थे, वे भी मूलत: उच्च वर्ग में ही शामिल थे। ब्राह्मणों के सामाजिक महत्त्व का अन्दाज़ा उनके लिए उपयोग किये जानेवाले विशेषणों से लगाया जा सकता है। विज़ेल विभिन्न स्रोतों से इन विशेषणों का उल्लेख करते हैं—विप्र, द्विज, द्विजनम, अग्रजनम, भूमिदेव, वसुधादेव आदि।[34] इस सामाजिक अवस्थिति का लाभ उठाकर

ब्राह्मणों ने शिक्षा-दीक्षा को पूरा समय दिया और उल्लेखनीय उपलब्धि भी हासिल की। साथ ही कश्मीर के उस दौर में संस्कृत साहित्य के सृजन का उत्कर्ष देखा जा सकता है। सातवीं सदी में भीम भट्ट, दामोदर गुप्त, आठवीं सदी में क्षीर स्वामी, रत्नाकर, वल्लभ देव (जिन्होंने कालिदास की *अभिनव शांकुतलम्* का भाष्य लिखा); नौवीं सदी में मम्मट, क्षेमेन्द्र, सोमदेव से लेकर दसवीं सदी के मिल्हण, जयद्रथ और ग्यारहवीं सदी के कल्हण जैसे संस्कृत के विद्वान कवियों-भाष्यकारों की एक लम्बी परम्परा है, लेकिन जैसाकि हमने पहले भी देखा है, स्थानीय भाषा के ग्रंथों का कहीं कोई ज़िक्र नहीं मिलता।

यहाँ रुककर कश्मीर में विकसित शैव धर्म की थोड़ी चर्चा समीचीन होगी।

कश्मीरी शैव—प्रत्यभिज्ञा-त्रिक-स्पंद दर्शन

कश्मीर में आठवीं-नौवीं शताब्दी में अपनी तरह का शैव दर्शन विकसित हुआ। मान्यता है कि वैदिककाल में शैव सम्प्रदाय के केवल दो मत थे—पाशुपात और आगमिक। महाभारत काल में इसके चार स्वरूप हो गए—शैव, पाशुपात, कालदमन या कालमुख और कापालिक। कालान्तर में वैदिककालीन पाशुपात के छह सम्प्रदाय—पाशुपात, लघुलीश पाशुपात, कापालिक, नाथ, गोरक्षनाथ और रंगेश्वर—विकसित हुए और आगमिक के चार सिद्धान्त—शैव सिद्धान्त, तमिल शैव, कश्मीर शैव और वीर शैव। आगमिक सम्प्रदाय के तहत विकसित कश्मीर शैव ही प्रत्यभिज्ञा या त्रिक या स्पंद दर्शन कहलाता है।

कश्मीरी शैववाद वस्तुतः नौवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच विकसित हुई विभिन्न अद्वैत और तांत्रिक धार्मिक परम्पराओं का एक समुच्चय है। बहुत विस्तार से इसकी व्याख्या तो इस किताब के विषय-क्षेत्र से बाहर की चीज़ होगी, लेकिन इसके स्वरूप तथा उद्‌भव को समझना कश्मीरी मानस को समझने के लिए उतना ही ज़रूरी है जितना कि सूफ़ीवाद को। कश्मीर मानस का निर्माण बौद्ध, कश्मीर शैव तथा इस्लाम की सूफी परम्पराओं के समन्वय से निर्मित हुआ है और इसके प्रभाव वहाँ के सामाजिक-राजनीतिक जीवन पर स्पष्ट हैं। तंत्र वैसे तो बेहद जटिल प्रक्रिया है लेकिन एक प्रत्यय जो अनिवार्य रूप से उसकी हर परम्परा में उपस्थित है, वह है शक्ति का संधान। आध्यात्मिक अर्थ में शक्ति देवी हैं, पुरुष देव की अर्धांगिनी। शैव सम्प्रदाय के लिए वह पार्वती हैं। तांत्रिक परम्परा में शक्ति का यह संधान जाति, लिंग, भोजन आदि के सामाजिक नियमों के पार जाता है। अनेक तांत्रिक प्रक्रियाएँ श्मशानों में पूर्ण की जाती हैं। बौद्ध धर्म के वज्रयान सम्प्रदाय में भी पंच मकारों (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) की बात है। पंचमकार का फल महानिर्वाणतंत्र के ग्यारहवें पटल में इस तरह वर्णित है : 'मद्यपान करने

से अष्टैश्वर्य और परामुक्ति तथा मांस के भक्षण से साक्षात् नारायणत्व का लाभ होता है। मत्स्य भक्षण करते ही काली का दर्शन होता है। मुद्रा के सेवन से विष्णु-रूप प्राप्त होता है। मैथुन द्वारा साधक शिव के तुल्य होता है, इसमें संशय नही।'

शाक्त परम्परा में जहाँ देवी एक स्वतंत्र अधिष्ठात्री हैं, कश्मीर की अद्वैत परम्परा में वह शिव के पराभौतिक आत्म में समाहित हैं। शिव 'शक्तिमान' हैं जिनके उभयलिंगी महाव्यक्तित्व में पार्वती उनकी अर्धांगिनी के रूप में उपस्थित हैं। शैव दर्शन में शक्ति का मार्ग शिव से होकर जाता है। तंत्र परम्परा में मैथुन द्वारा साधक स्वयं को शिव के तुल्य और अपनी सहभागिनी को शक्ति के तुल्य समझता है और इस तरह शक्ति की प्राप्ति होती है। लेकिन शिव को उभयलिंगी मान लेने पर तांत्रिक परम्परा की मैथुन की यह आवश्यकता समाप्त हो जाती है। यहाँ यह देखना महत्त्वपूर्ण होगा कि कश्मीर में भिन्न अद्वैत शैव परम्परा विकसित होने के सामाजिक कारण क्या थे।

विद्वानों का मानना है कि उच्च जाति के ब्राह्मणों के बीच पंच मकार वाली तांत्रिक प्रक्रिया का स्वीकृत हो पाना असम्भव था जहाँ जाति, लिंग और भोजन के तमाम कुलीन बन्धनों को त्यागना होता था, अत: इसे उनकी परम्पराओं और मान्यताओं के अनुरूप ढाला गया। एकेश्वरवादी कश्मीरी पंडितों के लिए पारम्परिक शैव दर्शनों के सामंजस्य से निकला यह कश्मीरी शैव सर्वथा अनुकूल था। इसे सभी शैव दर्शनों में सबसे अधिक मानवीय और युक्तिसंगत[35] कहा गया है तो इसीलिए कि यह शैव धर्म को कुलीन आचरणों के अनुरूप ढाल देता है। साथ ही अब तक कश्मीर में अलग-अलग सम्प्रदायों में बँटे कुलीन ब्राह्मणों को एक सम्प्रदाय के तहत लाकर इसने उनके बीच एक दीर्घकालीन एकता भी स्थापित की। साथ ही बौद्ध धर्म के समक्ष एक अधिक मानवीय, अहिंसक तथा तार्किक रूप से आना भी शैव धर्म के लिए अत्यन्त आवश्यक था। लिखित बौद्ध सिद्धान्तों को चुनौती दार्शनिक प्रस्थापनाओं से ही दी जा सकती थी। हालाँकि इसके बाद भी तांत्रिक साधनाएँ चलती रहीं।

वसुगुप्त की सूक्तियों का संकलन *स्पन्दकारिका* इसका पहला प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इस सम्बन्ध में आचार्य क्षेमराज ने *शिवसूत्र* में एक दिलचस्प घटना का हवाला दिया है। उन्होंने लिखा है कि भगवान् श्रीकंठ ने वसुगुप्त को स्वप्न में स्वयं प्रकट होकर आदेश दिया कि कश्मीर में महादेवगिरि के एक शिलाखंड पर शिवसूत्र उत्कीर्ण है। जाओ, उसे समझो और उसका प्रचार करो। यह स्वप्न सच साबित हुआ। जब वसुगुप्त ने महादेव गिरि का सर्वेक्षण किया तो उन्हें एक शिला पर सतहत्तर शिवसूत्र उत्कीर्ण मिले, तब से इस शिला को कश्मीर में लोग शिवपल (शिवशिला) कहते हैं। ज़ाहिर है, ऐसे 'स्वप्नों' के बिना वह ईश्वरीय प्राधिकार कैसे स्थापित किया जा सकता था जिसके सहारे तमाम मत-मतान्तरों को

एक साथ कर नया मत प्रस्तावित किया जाए? स्वप्नों की यह कथा शंकराचार्य से लेकर अनेक दार्शनिकों और राजाओं तक के यहाँ ऐसे ही चली आती है। वसुगुप्त के बाद उनके दो शिष्यों—कल्लट तथा सोमानन्द—ने इस दर्शन को मज़बूत वैचारिक आधार दिया। कल्लट ने *स्पन्दासर्वस्व* की रचना की और सोमानन्द ने *शिव दृष्टि* एवं *परातर्ति* लिखी। यहीं से इस दर्शन का नाम प्रत्यभिज्ञा दर्शन पड़ा। प्रत्यभिज्ञा (प्रति अभिज्ञान) अर्थात शिव जो परम शक्ति हैं, उनसे साक्षात्कार कर अहं शिवोस्मि की स्थिति प्राप्त करना। कल्लट शक्ति को ब्राह्मांडिक स्पन्दन के रूप में परिभाषित करते हैं। इसलिए इस दर्शन का एक नाम 'स्पंद दर्शन' भी है। त्रिक दर्शन कहे जाने के मूल में पशु (जीव), पाश (बन्धन) और पति (ईश्वर) को इस दर्शन में विशेष महत्त्व दिया जाना है।

सोमानन्द के शिष्य उत्पलदेव ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन को ठोस अकादमिक आधार देने की दिशा में बेहद महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनकी कृतियाँ प्रत्यभिज्ञा दर्शन की आधारभूत रचनाएँ मानी जाती हैं। शिवदृष्टि पर लिखी अपनी टिप्पणी 'शिवदृष्टि-वृत्ति' के अलावा उन्होंने सोमानन्द के कार्य को अधिक साफगोई से व्याख्यायित करनेवाली कई रचनाएँ लिखीं। उनके ग्रंथों में सबसे विस्तृत ग्रन्थ है *ईश्वरप्रत्यभिज्ञकारिका*। उन्होंने दार्शनिक अध्ययन की एक त्रयी भी लिखी जिसे *सिद्धित्रयी* कहा जाता है। इसमें शामिल हैं—'ईश्वरसिद्धि, अजादप्रमात्रिसिद्धि और सम्बन्धसिद्धि।'[36]

प्रत्यभिज्ञ सम्प्रदाय के सबसे उद्‌भट विद्वान अभिनव गुप्त का जन्म 950-960 ईसवी के बीच हुआ था। उनकी पुस्तक *तंत्रलोक* एकेश्वरवादी दर्शन की इनसाइक्लोपीडिया मानी जाती है। माना जाता है उन्होंने कुल 50 पुस्तकें लिखी थीं लेकिन आज उनकी कुल 44 पुस्तकें उपलब्ध हैं जिनमें *तंत्रलोक* के अलावा *तंत्रसार* और *परमार्थ सार* उल्लेखनीय हैं। वह शैव दर्शन में आभासवाद के प्रणेता माने जाते हैं जिसमें उन्होंने 'कुल' और 'कर्म' की व्यवस्थाएँ दीं।[37] उनका सबसे बड़ा योगदान है गैर-दार्शनिक तांत्रिक धर्मशास्त्र को एक सुगठित दार्शनिक संरचना प्रस्तुत करना। उन्होंने प्रत्यभिज्ञा की श्रेणियों का उपयोग करके इस तांत्रिक सिद्धान्त के विभिन्न पहलुओं तथा व्यवहारों एवं त्रिक परम्परा से शैव प्रतीकों के सहारे त्रिक दर्शन को एक मज़बूत तार्किक आधार प्रदान किया।[38] विलक्षण प्रतिभा के धनी अभिनवगुप्त ने दर्शन के अलावा व्याकरण, नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र का विशेष अध्ययन किया था और भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर एक टीका भी लिखी थी। अभिनवगुप्त *रस सिद्धान्त* के व्याख्याकार थे। वह प्रखर कवि भी थे। परन्तु कश्मीरी परम्परा के इस महान आचार्य का नाम आश्चर्यजनक रूप से कल्हण की *राजतरंगिणी* में अनुपस्थित है, इसका एक कारण इनका किसी राजदरबार से सम्बद्ध न होना हो सकता है।[39] इस श्रृंखला में अन्तिम महत्त्वपूर्ण नाम अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र का है। संस्कृत के अत्यन्त प्रतिष्ठित कवि क्षेमेन्द्र ने अपने गुरु

का काम आगे बढ़ाते हुए अपनी पुस्तक *प्रत्यभिज्ञान हृदय* में अद्वैत शैव परम्परा के ग्रंथों का सहज विश्लेषण प्रस्तुत किया तथा तांत्रिक परम्परा पर कई सुदीर्घ भाष्य भी लिखे। कश्मीर में विकसित इस दर्शन ने कश्मीर जनजीवन पर ही नहीं अपितु पूरे दक्षिण एशिया की शैव-परम्परा पर गहरा प्रभाव डाला। नौवीं से बारहवीं सदी के बीच बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षीण होता गया और शैव दर्शन कश्मीर का सबसे प्रभावी दर्शन बन गया।

लेकिन यहाँ दो तरह के सरलीकरणों से बचना ज़रूरी है। पहला तो यह कि पूरा का पूरा ब्राह्मण समुदाय हिन्दू राजाओं के ज़माने में उच्च वर्ग में शामिल था और दूसरा यह कि राजाओं और ब्राह्मण समुदाय के बीच किसी तरह का कोई अन्तर्विरोध नहीं था।

रे लिखते हैं कि जहाँ ब्राह्मणों का एक छोटा-सा वर्ग सेना और राजनीति में ऊँचे पदों पर था, वहीं ब्राह्मणों का बहुतायत पूजापाठ और कर्मकांडों से प्राप्त दक्षिणा से जीवन-यापन करता था। जिन पुजारियों को ज़मीन मिली थी, वे इससे भी आय प्राप्त करते थे। मन्दिरों से सम्बद्ध गाँवों से पुजारियों को राजस्व प्राप्त होता था। लेकिन इसके साथ ही *राजतरंगिणी* में मन्दिरों से बाहर फूल बेचनेवाले ब्राह्मणों का ज़िक्र है तो क्षेमेन्द्र बताते हैं कि कुछ ब्राह्मण मन्दिरों में चढ़नेवाला प्रसाद फिर से भक्तों को बेच दिया करते थे।[40] ज़ाहिर है, ब्राह्मणों का यह तबका सामाजिक तौर पर भले ऊँचे पायदान पर हो लेकिन आर्थिक तौर पर बहुत समृद्ध नहीं था। पूजा-पाठ और प्रशासनिक सेवा के आधार पर कश्मीरी ब्राह्मणों में हुआ यह विभाजन आगे चलकर और मज़बूत होना था तथा इसे शादी-ब्याह का आधार बना पदानुक्रम को और मज़बूत करना था।

सामाजिक संरचना

यहाँ तत्कालीन कश्मीर की सामाजिक संरचना के बारे में थोड़ा समझ लेना बेहतर होगा। *राजतरंगिणी* में कई और जातियों का ज़िक्र है जिनमें डोम (या डोम्ब), निषाद, स्वपाक, चांडाल, किरात और कैवर्त जैसी कथित निचली जातियों के साथ कायस्थ और डामर जातियों का उल्लेख आता है। रे निषादों को कश्मीर के मूलनिवासी मानते हैं। ये शिकार, मछली पकड़ने और नाव चलाने का काम किया करते थे। किरात तिब्बती-बर्मी मूल के थे और जंगलों में रहकर शिकार आदि किया करते थे। ह्वेनसांग ने अपने संस्मरण में कश्मीर में प्राचीन काल से रहते चले आ रहे की-लो-तू नामक एक जाति का ज़िक्र किया है जो निचली जाति के थे और बौद्धों के ख़िलाफ़ थे। रे इसे किरातों का ज़िक्र ही मानते हैं। डोम्ब जाति के पेशे के बारे में कोई निष्कर्ष निकालना मुश्किल है। कल्हण ने एक जगह डोम्ब लोगों के शिकार करने का ज़िक्र किया है तो कई जगहों पर डोम्ब गायकों की चर्चा है। अल बरूनी ने

भी उन्हें बाँसुरीवादक और गायक बताया है।[41] *राजतरंगिणी* में चक्रवर्मन (924-935 ईसवी) के डोम्ब जाति के रंगा की दो बेटियों—हाम्सी और नागलता—से शादी का ज़िक्र आता है। डामर सामन्तों ने रानी का बहिष्कार किया और अन्ततः चक्रवर्मन की हत्या तब कर दी गई जब वह हाम्सी के कक्ष के शौचालय में था। कल्हण ने लिखा है कि उसके शव के साथ दुर्व्यवहार किया गया और उसकी रानियों ने मरने से पहले उसके घुटने तोड़ देने के लिए उकसाया। इस प्रसंग में कल्हण ने स्वपाक और डोम्ब को समानार्थी के रूप में प्रयोग किया है। स्वपाक कुत्तों का मांस खानेवाली जाति को कहा जाता था तो ज़ाहिर है कि उनकी जाति नीची मानी जाती थी। चांडाल एक और निचली जाति थी जो युद्धक जाति के रूप में जानी जाती है। उन्हें एक क्रूर और भयावह योद्धा के रूप में चित्रित किया गया है जो राजा के अंगरक्षक की भूमिका निभाते थे तथा कई जगह उनका षड्यंत्रों के तहत विरोधियों के हत्यारों के रूप में भी ज़िक्र आया है। रे बताते हैं कि भारत के अन्य इलाक़ों के विपरीत कश्मीर में ब्राह्मणों और निम्न जातियों के बीच मध्य जातियों का विकास नहीं हुआ था।[42] हालाँकि कल्हण के यहाँ दो समुदायों का उल्लेख बार-बार आता है—पहला, डामर और दूसरा, कायस्थ।

प्राचीन कश्मीर में भी अन्य इलाक़ों की ही तरह उत्पादन तीन स्रोत थे : कृषि, व्यापार और उद्योग। और स्वाभाविक है कि इनसे जुड़े तीन वर्ग कालान्तर में उभरे होंगे। कश्मीर में श्रेष्ठि वर्ग का विकास भी हुआ था लेकिन ऐसा लगता है कि नौवीं-दसवीं सदी में इनका कोई ख़ास प्रभाव नहीं था और ये विदेशों से व्यापार की जगह कश्मीर में मौद्रिक लेन-देन के काम में ही संलग्न थे।[43] डामरों और कायस्थों को लेकर भी बहुत विस्तार से कोई वर्णन नहीं मिलता लेकिन डामर का उल्लेख सामन्ती प्रमुखों के रूप में ही आता है। डामरों को पहले उत्तरी कश्मीर में रहनेवाले उपद्रवी क़बीले के रूप में माना जाता था लेकिन अब आम मान्यता है कि डामर सामन्ती प्रमुख के लिए उपयोग किया जानेवाला पद था जो बाद में उपद्रवी व्यक्तियों या उनके समूहों के समानार्थी के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। ये ज़मीनों के मालिक होते थे जिनके हित स्वाभाविक रूप से उस समय के समृद्ध व्यापारिक वर्ग से टकराते थे जो राजाओं के क़रीब थे। इस सन्दर्भ में ललितादित्य के उस आदेश को याद किया जा सकता है जिसमें वह कहते हैं कि अगर ग्रामीण और कृषक लोगों को रोज़मर्रा की ज़रूरत से अधिक आय हुई तो वे भयावह डामर बन जाएँगे और राजा के आदेश की अवहेलना शुरू कर देंगे।[44] डामर ललितादित्य के बाद कश्मीर की राजनीति में महत्त्वपूर्ण होकर उभरते हैं और दसवीं सदी तक राजाओं के कमज़ोर होते जाने के साथ वे दरबार में किंग-मेकर की भूमिकाओं में दिखाई देते हैं। चक्रवर्मन (924-935 ईसवी) के समय तान्त्रिन क़बीले के भय से राजा संग्राम नामक डामर के यहाँ शरण लेता है और उसकी सहायता से फिर राज्य हासिल करता है लेकिन राज्य हासिल

करने के बाद जब वह डामरों की अवहेलना करना शुरू करता है तो यही डामर उसकी हत्या कर देते हैं। लोहार वंश का शासन स्थापित होने के बाद डामरों का असर लगातार बढ़ता हुआ दिखता है। हर्ष के समय डामरों पर नियंत्रण की तमाम कोशिशें दिखाई देती हैं लेकिन अन्ततः डामरों की सहायता से उक्कल और सुस्सल हर्ष की हत्या करने में सफल हुए। बारहवीं सदी तक वे बेहद मज़बूत और समृद्ध होकर उभरते हैं और उनके राजपरिवारों से वैवाहिक सम्बन्धों के भी उदाहरण मिलते हैं। ज़ाहिर है कि कृषि व्यवस्था के मज़बूत होने के साथ-साथ कृषि से सम्बद्ध यह वर्ग मज़बूत होता तो वहाँ भूमिहीन कृषकों की आबादी भी बढ़ती और उनसे राजस्व वसूल करनेवाले कर्मचारी वर्ग की ताक़त भी। कश्मीर में यह कार्य कायस्थ वर्ग के हाथ में आया और ब्राह्मण प्राधिकार को चुनौती मिली कायस्थ जाति से। हालाँकि उस दौर के आम किसानों की स्थिति का कोई उल्लेख कल्हण के यहाँ नहीं आता लेकिन क्षेमेन्द्र के विवरणों से अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि राजा, डामरों और कायस्थों के दुश्चक्र में आम किसानों की स्थिति बेहद दयनीय थी। वह लिखते हैं कि जहाँ दरबारी जन तली हुई मछली खाते हैं, शराब पीते हैं और इत्र-फुलेल लगाकर आनन्द करते हैं, वहीं आम किसान जौ के छिलके और उत्प्लाक्ष (कड़वे स्वादवाली एक सब्ज़ी) खाकर जीवन गुज़ारते हैं।[45]

सातवीं-आठवीं सदी में कश्मीर में कायस्थ वर्ग का असर बढ़ना शुरू हो गया था। ह्वेनसांग ने इस वर्ग को राजाओं का सलाहकार और कोष प्रबन्धक के रूप में वर्णित किया है। स्वाभाविक है कि ये भूमिकाएँ कश्मीर में उनके बढ़ते राजनीतिक प्रभाव का सबब बनीं और ऐसे में वे ब्राह्मणों के लिए बड़ी चुनौती बनकर उभरे।[46] जयापीड़ के समय कायस्थों को उसके प्रश्रय देने से ब्राह्मणों की नाराज़गी स्वाभाविक थी। कल्हण के यहाँ जयापीड़ द्वारा अग्रहार वापस लेने के कारण उससे नाराज़ ब्राह्मणों के शिकायत करने पर जयापीड़ के मज़ाक़ उड़ाने और फिर ब्राह्मणों द्वारा उसे श्राप देने से एक खम्भे के राजा पर गिरने और उसकी मृत्यु हो जाने का ज़िक्र है (चौथी तरंग, श्लोक 620-655)। बहुत सम्भव है कि ब्राह्मणों ने षड्यंत्र कर राजा की हत्या करवा दी हो जिसे कल्हण इस रूप में प्रस्तुत कर रहे हों! क्षेमेन्द्र ने कायस्थों द्वारा राजस्व एकत्र करने की प्रक्रिया में भ्रष्टाचार और इस प्रक्रिया में आततायी राजाओं के अत्याचार का सहभागी होने का वर्णन आता है।[47] सेंडर की मान्यता है कि कायस्थ ब्राह्मण ही थे और वे अपने रोज़गार के चलते कायस्थ कहलाए,[48] हालाँकि *राजतरंगिणी* का एक सावधान पाठ इस निष्कर्ष पर गम्भीर प्रश्न खड़े करता है। यहाँ यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि आगे चलकर कश्मीर में ब्राह्मणों ने शाहमीरी के एक हिस्से, मुग़लकाल और उसके बाद से राजस्व विभाग में यही भूमिका निभाई। अगर कायस्थ ब्राह्मण ही होते तो उन्हें इसी नाम से पुकारा जाता। साथ ही उत्तर भारत में मध्य जातियों में शामिल कायस्थ जाति पारम्परिक रूप से

राजस्व तथा ऐसे विभागों में संलग्न रही है और बहुत सम्भव है कि कश्मीर में भी कायस्थ जाति ब्राह्मणों से अलग एक मध्य जाति रही हो।

इस तरह सरलीकरणों से आगे हिन्दू राजाओं का काल कश्मीर में एक ब्राह्मणवादी समाज के रूप में कमोबेश उन्हीं लाक्षणिक विशेषताओं वाला था, जैसे भारत के दूसरे राज्य थे। ब्राह्मण सत्ता वर्ग के हिस्सा होने के कारण स्वाभाविक रूप से समाज में बेहतर स्थिति में थे लेकिन सत्ता वर्ग के भीतर के द्वंद्वों से अप्रभावित वे भी नहीं रहे। जब दूसरी जातियाँ मज़बूत हुईं तो उनके प्राधिकार को चुनौती मिली और जब उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ राजाओं के हितों से टकराईं तो स्वाभाविक था कि राजा उन पर कड़ी कार्यवाहियाँ करने से नहीं चूके। इसी तरह प्रतिकूल राजाओं को रास्ते से हटाने के लिए ब्राह्मणों ने षड्यंत्रों से लेकर जादू-टोना तक का सहारा लिया। *राजतरंगिणी* में राजा तुंग के ख़िलाफ़ उनके षड्यंत्रों और चन्द्रपीड़ को जादू-टोने से मारने का उल्लेख आता है जिसके चलते उसके पुत्र तारापीड़ ने ब्राह्मणों की हत्या करवाई हालाँकि ब्राह्मण उसकी भी हत्या कराने में सफल रहे।

इस सम्बन्ध में एक मज़ेदार क़िस्से से बात ख़त्म करना उस दौर के समाज में ब्राह्मणों के विशेषाधिकार और उससे उपजे द्वंद्वों की एक मानीखेज़ व्यंजना होगी :

> ब्राह्मणों ने अपनी माँगें मनवाने के लिए 'प्रयोपवेशन' का तरीक़ा अपनाया था। इसके तहत ब्राह्मण आम तौर पर एक सभास्थल 'गोकुल' में एकत्र होकर आमरण अनशन किया करते थे, हालाँकि यह निजी स्तर पर भी किया जा सकता था। राजा सुस्सल के समय में ब्राह्मणों ने सेना द्वारा अक्षोसुवा अग्रहार को तहस-नहस करने का विरोध शुरू किया और जल्द ही अग्रहार-प्राप्त अन्य ब्राह्मण इसमें शामिल हो गए। वे सभी राजनवाटिका के विजयेश्वर में आमरण अनशन पर बैठे। उनका नेतृत्व पुरोहित परिषद के ओजानन्द कर रहे थे। गोकुल का पूरा मैदान ब्राह्मणों से भर गया और वाद्य यंत्र बजने लगे। राजा के सन्देशवाहकों द्वारा उन्हें शान्त कराए जाने की कोशिशें हो रही थीं लेकिन उन्होंने घमंड में चूर होकर कहा कि जब तक वह लम्बी दाढ़ी वाला (राजा सुस्सल) नहीं आता, यह जारी रहेगा। इस पर नाराज़ होकर सेना ने उन पर हमला कर दिया। पुरोहित परिषद के सदस्य इस पर सब छोड़कर भागे। जो थोड़े से वहाँ बच गए, उन्हें सैनिकों ने परेशान नहीं किया क्योंकि उन्होंने अनशन ख़त्म करने की घोषणा कर दी (तरंग 9, श्लोक 939-40)।

तो इस 'स्वर्ण काल' में भी सब सुनहला ही नहीं था।

सन्दर्भ

1. देखें, पेज 16, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003

2. देखें, http://www.ikashmir.net/exodus/chapteri.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
3. देखें, पेज 9-10, खंड 2, *किंग्स ऑफ़ कश्मीर,* जोगेश चन्द्र दत्त, पहला संस्करण 1898, ई. एल. एम. प्रेस, कलकत्ता
4. देखें, पेज 377, खंड 2, *कल्हण की राजतरंगिणी,* एम.ए. स्टेन, वेस्टमिनिस्टर, आर्किबाल्ड कांस्टेबल एंड कम्पनी लिमिटेड, 1900
5. देखें, पेज xx, *राजतरंगिणी,* कल्हण, अनुवाद : आर.एस. पंडित, जवाहरलाल नेहरू की भूमिका, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1935 (पुनर्मुद्रित 2011)
6. देखें, वही, पेज 6
7. देखें, पेज 5, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1955 (संशोधित संस्करण, 2003)
8. देखें, पेज 141, *हिन्दू हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* एच.एच. विल्सन, सुशील गुप्ता (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, कोलकाता, 1960 में संकलित लेख *अ नोट ऑन कल्हण्स राजतरंगिणी*
9. देखें, पेज 31, *अर्ली हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ कश्मीर,* सुनील चन्द्र रे, इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, 1957
10. देखें, वही, पेज 37
11. देखें, पेज 4, खंड 2, *कल्हण की राजतरंगिणी,* एम.ए. स्टेन, वेस्टमिनिस्टर, आर्किबाल्ड कांस्टेबल एंड कम्पनी लिमिटेड, 1900
12. देखें, वही, पेज 6-7
13. देखें, पेज 11-12, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
14. देखें, पेज 18-19, द *कश्मीरी पंडित्स,* पंडित आनन्द कौल, थैकर, स्पिंक एंड कम्पनी, कोलकाता, 1924
15. देखें, *जीसस इन हेवेन ऑन अर्थ,* के.एन. अहमद, वर्किंग मुस्लिम मिशन एंड लिटरेरी ट्रस्ट, 1952
16. देखें, एम.के. कॉ द्वारा सम्पादित *कश्मीर एंड इट्स पीपल* में डॉ. बैकुंठनाथ शर्गा का लेख द *जेनेटिक एविडेंस,* प्रकाशक : एपीएच पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, नई दिल्ली, 2004
17. देखें, पेज 27, *कश्मीरी पंडित्स* (ब्रीफ़ कल्चर एंड पॉलिटिकल हिस्ट्री), डॉ. शिबन के. काचरू, पोथी डॉट कॉम, 2012
18. देखें, पेज 582, *कोनसाइज़ इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ लैंग्वेजेज* (सम्पादक : कीथ ब्राउन और सारा ओगिलीवी) में एस मुंशी का आलेख *कश्मीरी,* ऑक्सफ़ोर्ड, लन्दन, 2009

19. देखें, पेज 25, *अर्ली हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ कश्मीर,* सुनील चन्द्र रे, इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, 1957
20. देखें, पेज 40, *द वैली ऑफ़ कश्मीर : मेकिंग एंड अनमेकिंग ऑफ़ अ कम्पोज़िट कल्चर* (सम्पादक अपर्णा राव) में माइकल विज़ेल का लेख द *कश्मीरी पंडित्स: देयर अर्ली हिस्ट्री,* मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली, 2008
21. देखें, पेज 97, *कश्मीरी स्कॉलर्स कंट्रीब्यूशन टू नॉलेज एंड वर्ल्ड पीस* (सम्पादक: शालिग्राम भट्ट तथा अन्य) में ब्रिगेडियर रत्तन कौल का लेख *आर्य सारस्वत ब्राह्मंस ऑफ़ कश्मीर,* प्रकाशक : एपीएच पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, नई दिल्ली, 2008
22. देखें, पेज 13, *फेमिली एंड किनशिप : अ स्टडी ऑफ़ द पंडित्स ऑफ़ रूरल कश्मीर,* टी.एन. मदान, ऑक्सफ़ोर्ड इंडिया पेपरबैक्स, पाँचवाँ संस्करण, दिल्ली, 2016
23. देखें, पेज 84, *अर्ली हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ कश्मीर,* सुनील चन्द्र रे, इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, 1957
24. देखें, पेज 16 (I 88), खंड 1, *कल्हण की राजतरंगिणी,* एम.ए. स्टेन, वेस्टमिनिस्टर, आर्किबाल्ड कांस्टेबल एंड कम्पनी लिमिटेड, 1900
25. देखें, पेज 49, द *वैली ऑफ़ कश्मीर : मेकिंग एंड अनमेकिंग ऑफ़ अ कम्पोज़िट कल्चर* (सम्पादक : अपर्णा राव) में माइकल विज़ेल का लेख, द *कश्मीरी पंडित्स: देयर अर्ली हिस्ट्री,* मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली, 2008
26. देखें, पेज 18-19, द *कश्मीरी पंडित्स,* पंडित आनन्द कौल, थैकर, स्पिंक एंड कम्पनी, कोलकाता, 1924
27. देखें, पेज 14, *फेमिली एंड किनशिप : अ स्टडी ऑफ़ पंडित्स ऑफ़ रूरल कश्मीर,* टी.एन. मदान, ऑक्सफ़ोर्ड इंडिया पेपरबैक्स, पाँचवाँ संस्करण, दिल्ली, 2016
28. देखें, पेज 66-67, द *वैली ऑफ़ कश्मीर : मेकिंग एंड अनमेकिंग ऑफ़ अ कम्पोज़िट कल्चर* (सम्पादक : अपर्णा राव) में माइकल विज़ेल का लेख द *कश्मीरी पंडित्स: देयर अर्ली हिस्ट्री,* मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली, 2008
29. देखें, पेज xxi, *अर्ली हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ कश्मीर,* सुनील चन्द्र रे, इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, 1957
30. देखें, पेज 67-69, द *वैली ऑफ़ कश्मीर : मेकिंग एंड अनमेकिंग ऑफ़ अ कम्पोज़िट कल्चर* (सम्पादक : अपर्णा राव) में माइकल विज़ेल का लेख, द *कश्मीरी पंडित्स: देयर अर्ली हिस्ट्री,* मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली, 2008
31. देखें, पेज 1, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
32. देखें, पेज 84, *अर्ली हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ कश्मीर,* सुनील चन्द्र रे, इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, 1957

33. देखें, पेज 19-20, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
34. देखें, पेज 73, द *वैली ऑफ़ कश्मीर : मेकिंग एंड अनमेकिंग ऑफ़ अ कम्पोज़िट कल्चर* (सम्पादक : अपर्णा राव) में माइकल विज़ेल का लेख, द *कश्मीरी पंडित्स: देयर अर्ली हिस्ट्री,* मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली, 2008
35. देखें, पेज 109, *प्राचीन भारतीय धर्म और दर्शन,* शिवस्वरूप सहाय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2001
36. देखें, डेविड पीटर लारेंस का शोध-पत्र *कश्मीरी शैव फिलासफ़ी,* http://www.iep.utm.edu/kashmiri/
37. देखें, पेज 10-11, *कश्मीर इन क्रूसिबल,* प्रेम नाथ बज़ाज़, दूसरा संस्करण, 1967, पाम्पोश पब्लिकेशन, नई दिल्ली
38. देखें, डेविड पीटर लारेंस का शोध-पत्र *कश्मीरी शैव फिलासफ़ी,* http://www.iep.utm.edu/kashmiri/
39. देखें, *अभिनवगुप्त : द फिलासफर,* प्रोफ़ेसर के.एल. भान, http://www.koausa.org/Glimpses/abhinava.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
40. देखें, पेज 85, वही
41. देखें, पेज 85-86, वही,
42. देखें, पेज 86, वही
43. देखें, पेज 94, *अर्ली हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ कश्मीर,* सुनील चन्द्र रे, इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, 1957
44. देखें, पेज 9, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
45. देखें, पेज 92, *अर्ली हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ कश्मीर,* सुनील चन्द्र रे, इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, 1957
46. देखें, पेज 9-10, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
47. देखें, पेज 92, *अर्ली हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ कश्मीर,* सुनील चन्द्र रे, इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, 1957
48. देखें, पेज 15, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कॉन्सिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)

अध्याय-3

कश्मीर में इस्लाम

ब्राह्मण से कश्मीरी पंडित तक का सफ़र

[1320-1819]

कश्मीर की गद्दी पर शाहमीर का बैठना राज्य में वर्चस्व की लड़ाई में इस्लामी ताक़त की जीत नहीं थी, वास्तव में यह जनता के स्वाधीनता संघर्ष की जीत थी जो हिन्दू राजाओं के कुशासन से पीड़ित थे। हिन्दू राजनीति एक गतिरोध का शिकार हो चुकी थी। इसमें विकास की सारी सम्भावनाएँ ख़त्म हो चुकी थीं। यह गतिहीन हो चुका था, क्षरित हो चुका था और मृत हो चुका था। इतिहास ने बार-बार उन्हें नई शुरुआत का मौक़ा दिया लेकिन हर मौक़े पर वे अपनी प्रजा को बेहतर शासन देने में असफल रहे।[1]

—प्रेमनाथ बज़ाज़

दसवीं सदी आते-आते कश्मीर में राजाओं के पतन से अराजकता का माहौल आम हो गया था। 883 ईसवी में अवन्तिवर्मन की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठे उसके पुत्र शंकरवर्मन का समय मन्दिरों की लूट, बेहद ऊँचे करों से त्रस्त जनता और कश्मीर में बेगार की शुरुआत का है तो उसके बाद का समय षड्यंत्रों और सस्ते थ्रिलर जैसी घटनाओं का है जिसमें हत्या, सेक्स, अवैध सम्बन्ध और जनता पर भयावह अत्याचारों के क़िस्से हैं जिन पर 993 ईसवी में यशस्कर के राजा बनने पर रोक तो लगी लेकिन हालात इतने बिगड़ चुके थे कि जब *जलोदर* से पीड़ित राजा मृत्युशैया पर था तो उसने रानी के पुत्र संग्रामदेव को इसलिए युवराज घोषित नहीं किया कि उसकी नज़र में वह एक अवैध संतान था। अपने मंत्री पर्वगुप्त की सलाह पर जिस भतीजे वर्णत को अपना वारिस घोषित किया, वह अपने बीमार चाचा का हाल पूछने भी उसके पास नहीं गया तो राजा ने क्रोधित होकर उसे बन्दी बनाने का आदेश दिया और संग्रामदेव को राज्य सौंपकर किसी मठ में चला गया। हालत यह कि उसकी निजी सम्पत्ति ढाई सौ किलो सोने को उसके प्रधानमंत्री पर्वगुप्त और अन्य मंत्रियों ने लूट लिया और आपस में बँटवारा कर लिया। मठ में जब तीन दिन

तक उसकी स्वाभाविक मृत्यु नहीं हुई तो रिश्तेदारों, नौकरों और वेल्वित्ता ने ज़हर देकर उसकी हत्या कर दी और महल लौट आए।[2] ब्रिटिश काल में लिखी अपनी महत्त्वपूर्ण किताब में वाल्टर लॉरेंस ने टिप्पणी की है कि 'जब जयसिम्हा का शासन समाप्त हुआ तो कश्मीर शराबियों और जुआरियों का अड्डा था तथा स्त्रियों की दशा वैसी ही थी जैसी ऐसे में हो सकती थी।'[3]

हिमालय कश्मीर के लिए सुरक्षा की गारंटी तो था लेकिन उत्तरी भारत, काबुल और कश्मीर के आसपास पश्चिम एशिया में जिस तरह की हलचल हो रही थी, उससे इसका अछूता रह पाना बहुत लम्बे समय तक सम्भव नहीं था। रफ़ीक़ी अली बिन हामिद अल-कूफ़ी के *चाचानामा* के हवाले से बताते हैं कि चन्द्रपीड (682-691) के समय मुहम्मद अल्फ़ी नामक भाड़े का अरब सैनिक कश्मीर में शरणागत हुआ था और राजा ने उसे शकलबार की जागीर दी थी जो उसके मरने के बाद जहम को मिली और उसने कई मस्जिदें भी बनवाईं। 713 ईसवी में मुहम्मद बिन क़ासिम ने मुल्तान विजय के बाद कश्मीर की तरफ़ बढ़ने की कोशिश की थी लेकिन उसे ख़लीफ़ा अल वालिद प्रथम ने वापस बुला लिया था। 757 ईसवी में सिंध के अरब सूबेदार हिशम बिन अम्र उल तग़लिबी ने भी कश्मीर घाटी पर क़ब्ज़े की असफल कोशिश की थी।[4] संग्रामराजा के राज्यकाल में महमूद ग़ज़नी ने 1015 और 1021 में कश्मीर पर आक्रमण करने की कोशिश की लेकिन मौसम का ग़लत चुनाव करने के कारण लोहारकोट के क़िले से आगे बढ़ने में सफल नहीं हुआ।[5] लेकिन इससे सबक लेने की जगह कश्मीरी राजा अपने भोग-विलास में इस क़दर मसरूफ़ रहे कि अनन्त (1029-1064) ने राजदंड और अपना मुकुट भी एक विदेशी व्यापारी के यहाँ गिरवी रख दिया था।[6] उसके बाद के उल्लेखनीय राजा हर्ष को मन्दिरों की लूटपाट, अनियंत्रित यौन-सम्बन्धों और बेतहाशा करों के लिए ही याद किया जाता है। उसके समय में मुस्लिम सैनिकों के सेना में प्रवेश की सूचना मिलती है। मार्को पोलो के यात्रा-संस्मरणों से भी यह सूचना मिलती है कि तेरहवीं सदी के अन्त तक कश्मीर में मुसलमानों की बस्ती थी जिसके बाशिंदे कसाई का काम करते थे। हर्ष के बाद के राजाओं के यहाँ तुर्क सैनिकों के होने की सूचना मिलती है।[7] जयसिम्हा (1128-1155) के सेनापति संजपाल के साथ यवन सैनिकों के छावनी में जाने का ज़िक्र आता है।[8]

शाहमीर और रिंचन भी इसी तरह सहदेव (1286-1300) के समय कश्मीर आए थे। रिंचन (ला चेन रिग्याल बू रिन चेन) बौद्ध था जो कुबलाई ख़ान की मौत के बाद लद्दाख में मची अफ़रा-तफ़री में अपने पिता और वहाँ कुबलाई ख़ान के प्रतिनिधि लाचेन की हत्या के बाद अपनी छोटी-सी सेना के साथ जो-जी-ला दर्रे से सोनमर्ग घाटी पार कर गंगागीर में सेनापति रामचन्द्र के महल में शरणागत हुआ था। शाहमीर स्वात घाटी का निवासी था और कहा जाता है कि एक रात उसे

ख़्वाब आया कि वह कश्मीर का शहंशाह बनेगा तो इस बिना पर वह सपरिवार श्रीनगर पहुँच गया और राजा के दरबार में उसने रामचन्द्र से निकटता बनाई। राजा सहदेव ने उसे बारामूला के पास एक गाँव दावर कुनैल की जागीर दे दी थी।[9] कालान्तर में रिंचन और शाहमीर अच्छे मित्र बन गए।[10] हालाँकि उसके संदर्भ में महाभारत के अर्जुन के वंश[11] से लेकर स्वात के शासक परिवार तक के होने की मान्यताएँ हैं। इसी दौर में दार्दिस्तान से एक बौद्ध लंकर चक अपने भाई से हारकर कश्मीर घाटी आ गया था।[12] चकों को आगे कश्मीर में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका निभानी थी।

1320 ईसवी में जुल्चू (जोनाराज उसे दुलचा कहते हैं और राजा कर्मसेना का सेनापति बताते हैं लेकिन कर्मसेना के बारे में कोई मालूमात नहीं मिलती।)[13] नामक मंगोल ने अपनी विशाल सेना के साथ कश्मीर पर आक्रमण किया। सहदेव ने पहले तो उसे लालच देने की कोशिश की और इसके लिए ब्राह्मणों तक से भारी कर वसूला गया लेकिन जब जुल्चू नहीं माना तो राजा अपने परिवार सहित किस्तवार भाग गया। जुल्चू ने अगले आठ महीनों तक असहाय प्रजा को बर्बरता से लूटा। जाड़ों के आने पर जब खेतों में कुछ नहीं रह गया तो उसने वापस जाने का निर्णय लिया। उसके सहयोगियों ने बारामूला और पाखली के उसी रास्ते से लौटने की सलाह दी जिससे वे आए थे, पर जुल्चू ने स्थानीय क़ैदियों से सबसे छोटे रास्ते के बारे में पूछा। कहते हैं कि जुल्चू से उसकी ज़्यादतियों का बदला लेने के लिए उन्होंने जान-बूझकर सबसे ख़तरनाक रास्ते, बनिहाल दर्रे, से जाने का सुझाव दिया और लौटते हुए जुल्चू दिवासर परगना की चोटी के पास अपने सैनिकों, क़ैदियों और लूट के सामान के साथ बर्फ़ में दफ़न हो गया।[14]

जुल्चू के जाने के बाद सहदेव लौटा तो उसने किस्तवार के गद्दी क़बीले के साथ श्रीनगर पर क़ब्ज़े की कोशिश की लेकिन रामचन्द्र ने ख़ुद को राजा घोषित कर दिया। उसने लार के अपने क़िले से उतर अन्दरकोट पर क़ब्ज़ा कर लिया और सहदेव की सेना को हरा कर गद्दी पर बैठ गया। भय से पहाड़ों में जा छिपी जनता जब वापस लौटी तो राजा के लिए उसके मन में कोई सम्मान शेष न था। चारों ओर त्राहि-त्राहि-सी मची थी। हालत यह कि पहाड़ी क़बीलों ने इसी बीच हमला कर दिया और बचा-खुचा लूटने के साथ कई लोगों को दास बनाकर ले गए और इन सबके परिणामस्वरूप अकाल की स्थिति पैदा हो गई। जनता की रक्षा के लिए वहाँ कोई नहीं था। उन्होंने ख़ुद अपनी सेनाएँ बनाकर इन क़बीलों का सामना किया। रिंचन ने इसका पूरा फ़ायदा उठाया। पहले तो उसने जनता का साथ दिया और फिर शाहमीर तथा अपनी लद्दाखी सेना की सहायता से सैनिकों को वस्त्र-व्यापारी के रूप में धीरे-धीरे महल के अन्दर भेजकर उचित समय पर हमला कर रामचन्द्र की हत्या कर दी। मौक़े की नज़ाकत को देखते

हुए सहदेव की बेटी कोटा ने पिता की हत्या को महत्त्व देने की जगह कश्मीर की महारानी के पद को महत्त्व दिया और 6 अक्टूबर, 1320 को रिंचन जब कश्मीर की गद्दी पर बैठा तो कोटा उसकी महारानी के रूप में उसके बगल में बैठी। रिंचन ने रामचन्द्र के पुत्र रावणचन्द्र को रैना की उपाधि देकर लार परगना और लद्दाख की जागीर दे दी और इस तरह उसे अपना मित्र बना लिया।

रिंचन के इस्लाम अपनाने को लेकर जो प्रसिद्ध क़िस्सा है, वह न केवल कश्मीर में इस्लामीकरण की तलवार के ज़ोर पर शुरुआत के मिथक को तोड़ता है बल्कि ब्राह्मणों के उस रवैये की तरफ़ भी इंगित करता है जिसने कश्मीर में इस्लामीकरण में मदद की। हमने देखा है कि हिन्दू राजाओं के आख़िरी दौर में राज्यसत्ता से ब्राह्मणों के टकराव और राजाओं द्वारा उन्हें अलग-थलग करने की कोशिशों के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। राजदेव (1212-1235) के समय ब्राह्मणों पर अत्याचार का जो क़िस्सा हमने पढ़ा है, उसकी जड़ में राजदरबार के षड्यंत्रों में उनकी भागीदारी है। सहदेव के समय भी ब्राह्मणों पर करारोपण और उन्हें अलग-थलग करने की कोशिशों का ज़िक्र मिलता है।[15] हर्ष और शंकरवर्मन के समय मन्दिरों की लूट और अग्रहार ज़ब्त किये जाने की अनेक घटनाओं का वर्णन कल्हण ने किया है। जोनाराज बताते हैं कि रिंचन हिन्दू धर्म अपनाना चाहता था लेकिन उसके तिब्बती बौद्ध होने के कारण ब्राह्मण देवस्वामी ने उसे शैव धर्म में दीक्षित करने से इनकार कर दिया और उसके बाद शाहमीर के कहने पर वह मन की शान्ति के लिए कश्मीर में रह रहे एक सूफ़ी संत बुलबुल शाह* से मिलने गया, जिनके प्रभाव में उसने इस्लाम अपना लिया और सुल्तान सदरुद्दीन** के नाम से कश्मीर की गद्दी पर बैठा।[16] हालाँकि रफ़ीक़ी सहित ज़्यादातर विद्वानों का मत है कि उसके इस निर्णय के पीछे पश्चिम एशिया और कश्मीर के आसपास के इलाक़ों में इस्लाम का बढ़ता प्रभाव था[17] लेकिन जोनाराज का यह कथन उनकी अपनी समझ और मानसिकता का द्योतक है और कश्मीरी ब्राह्मणों के कट्टरपन की ओर इशारा तो करता ही है।

कश्मीर में इस्लाम के आगमन के बावजूद तुरन्त ब्राह्मणों के प्राधिकार पर किसी प्रभाव का प्रमाण नहीं मिलता बल्कि दरबार में उनके षड्यंत्र पहले की तरह चलते रहे। रिंचन का प्रधान मंत्री था तुक्का जिसे हटाकर उसने व्यालराज को वह पद दिया

---

* बुलबुल शाह का असली नाम सैयद शरफ़ अल दीन था। वह सुहरावर्दी सम्प्रदाय के सूफ़ी संत शाह निमातुल्लाह वली फ़ारसी के शिष्य थे और सहदेव के समय तुर्किस्तान से कश्मीर आ गए थे।

** सदरुद्दीन या सदर अल दीन का अर्थ है—इस्लाम का नायक। यह नाम उसे बुलबुल शाह ने दिया था।

था। रिंचन ने उसके भाई की हत्या भी करवा दी थी। इससे नाराज़ तुक्का ने बदला लेने के लिए रिंचन पर जानलेवा हमला किया। रिंचन बच तो गया और उसने तुक्का से भयावह बदले भी लिये लेकिन यही घाव उसके लिए जानलेवा साबित हुआ।[18] यही नहीं, 1323 ईसवी में रिंचन की मृत्यु के बाद ये दरबारी उसके अल्पवयस्क बेटे को गद्दी पर बिठाकर ख़ुद राज करने की कोटारानी की योजना को विफल कर सहदेव के भाई उदयनदेव को गद्दी पर बिठाने और कोटा को उससे शादी करने का निर्णय लेने के लिए बाध्य करने में सफल रहे। उस समय शाहमीर के साथ भट्ट भीक्ष्ण दरबार के ताक़तवर लोगों में शामिल थे। तुर्क अचल के हमले* के बाद पूरी तरह से निष्प्रभावी हो जाने के बाद जब 1338 ईसवी में उदयनदेव की मृत्यु हुई तो कोटारानी ने भट्ट भीक्ष्ण को ही अपना प्रधानमंत्री नियुक्त किया था। शाहमीर ने भट्ट भीक्ष्ण तथा अन्य मंत्रियों की हत्या कर जब सत्ता पर क़ब्ज़ा किया और कश्मीर में शाहमीर वंश की स्थापना हुई तो भी आरम्भिक वर्षों में दरबार में ब्राह्मणों का वर्चस्व बना रहा और संस्कृत दरबार की भाषा बनी रही।[19] अली शेर के समय उसके मंत्री लक्ष्मण भट्ट का ज़िक्र आता है जबकि शहाबुद्दीन के मंत्रियों में उदयश्री और कोटा भट्ट शामिल थे। उदयश्री के उत्तराधिकार की लड़ाई में क़ुतबुद्दीन के ख़िलाफ़ षड्यंत्र करते पकड़े जाने, रानी के हस्तक्षेप से माफ़ किये जाने तथा फिर धोखा दिये जाने के बाद सुलतान द्वारा उसकी हत्या किये जाने का ज़िक्र आता है।[20]

स्वाभाविक तौर पर इस्लामी शासन स्थापित होने के बाद कश्मीर में मुस्लिम सूफ़ी संतों का आना शुरू हो गया था। बुलबुल शाह के बाद बुखारा से सैयद जलालउद्दीन और सैयद ताजुद्दीन और उनके छोटे भाई सैयद हुसैन सिमनानी सहित कई बड़े सूफ़ी संत इस दौर में कश्मीर आए और वहाँ इस्लाम का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ने लगा।[21] लेकिन यह प्रक्रिया परवान चढ़ी सुलतान क़ुतुबुद्दीन के शासनकाल (1373-1389 ईसवी) के दौरान 1379 में सैयद अली हमदानी के दूसरी बार कश्मीर आने से। इस समय तक कश्मीर में मुसलमानों की संख्या काफ़ी कम थी। चन्द मस्जिदों और लंगरख़ानों के अलावा इस्लामी प्रतीकों का कश्मीर में कोई ख़ास प्रचार न हुआ था। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के खान-पान और रहन-सहन में कोई ख़ास अन्तर नहीं था और दरबार में सुलतान भी कश्मीरी ढब के कपड़े ही पहनते थे। शरिया को लेकर भी कोई कट्टरता नहीं थी। उदाहरण के लिए तत्कालीन सुलतान

---

* तुर्क अचल ने जब घाटी पर हमला किया तो उदयनदेव लद्दाख भाग गया। कमान पूरी तरह से रानी और शाहमीर के हाथों में आ गई। उन्होंने चतुराई से चाल चली और अचल को समर्पण का सन्देश भेज दिया। इससे जब वह निश्चिन्त हो गया और उसने सेना का एक हिस्सा वापस भेज दिया तो रानी, उसके भाई रावणचन्द्र, भट्ट भीक्ष्ण और शाहमीर ने सेना एकत्र कर उस पर हमला किया और बुरी तरह परास्त कर गिरफ़्तार कर लिया। बीच चौराहे पर शाहमीर ने अचल का सिर धड़ से अलग कर दिया।

ने दो सगी बहनों से शादी की थी और अल्लाउददीनपुर के एक मन्दिर में वह रोज़ अपने साथी मुसलमानों के साथ जाया करता था तथा अकाल पड़ने पर उसने एक यज्ञ किया जिसमें ब्राह्मणों को काफ़ी मात्रा में दान-दक्षिणा भी दी गई थी। ज़बरदस्ती धर्म परिवर्तन या मन्दिरों को तोड़ने की कोई घटना तब तक नहीं हुई थी। आधिकारिक रूप से फ़ारसी और शारदा (स्थानीय कश्मीरी भाषा की लिपि), दोनों का प्रयोग होता था।[22]

हमदानी का प्रभाव और इस्लामीकरण के आरम्भिक दौर में ब्राह्मण प्राधिकार

हमदानी के आने के बाद स्थितियाँ तेज़ी से बदलीं। 22 अक्टूबर, 1314 को हमादान के प्रतिष्ठित अल्वी सैयदों के घराने में जन्मे हमदानी के पिता सैयद शहाबुद्दीन हमादान के सूबेदार थे। सैयद अली बचपन से ही राजनीति की जगह धर्मशास्त्र की ओर प्रवृत्त हुए और अपने मामा तथा प्रतिष्ठित सूफ़ी विद्वान सैयद अलाउद्दीन से उन्होंने क़ुरान पढ़ी तथा तसव्वुफ़ (रहस्यवाद) सीखा और फिर उनके पीर शेख़ शरफ़ुद्दीन महमूद बिन अब्दुल्लाह मज्दकानी के शिष्य हुए। इसके अलावा भी उस वक़्त के कई सूफ़ी विद्वानों से उन्होंने तालीम हासिल की। तालीम ख़त्म होने के बाद अपने गुरु शेख़ मुज़्दकानी की सलाह पर उन्होंने दुनिया भर में इक्कीस यात्राएँ कीं,[23] कई बार मक्का गए, लेकिन उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण यात्राएँ कश्मीर की तीन यात्राएँ थीं।[24] वह दौर हमदान और आसपास भारी राजनीतिक उथल-पुथल वाला था और 1370 तक तैमूर समरकन्द और बुखारा पर अपना नियंत्रण स्थापित कर चुका था। अगले एक दशक में उसने हेरात, बाल्ख और ख़ुरासान पर भी आधिपत्य कर लिया। राजनीतिक सत्ता के साथ-साथ वह धार्मिक सत्ता भी चाहता था और उसने सैयदों से ख़ुद को ख़लीफा घोषित करने की माँग की। लेकिन हमदान और सब्ज़वार के सैयदों ने इसे नामंज़ूर कर दिया तो वह उनका दुश्मन बन गया और हमदानी के लिए वहाँ रहना सुरक्षित नहीं रह गया। इसलिए 1379 में उसने अपने छह सौ शागिर्दों के साथ कश्मीर का रुख़ किया जहाँ सुलतान ने उनका खुले दिल से स्वागत किया। श्रीनगर में झेलम के दक्षिणी किनारे पर उन्हें अपना ख़ानकाह बनाने के लिए ज़मीन दी गई और इस तरह ख़ानकाह-ए-मौला के नाम से कश्मीर में पहली ख़ानकाह का निर्माण हुआ। यह ख़ानकाह आज भी कश्मीर में बेहद सम्मानित है और बीसवीं सदी के पाँचवें-छठे दशक तक इसके मीरवायज़ (मीरवायज़ हमदानी) कश्मीर की राजनीति में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका में रहे। सुल्तान पर उसके प्रभाव को इससे ही समझा जा सकता है कि उसने उनमें से एक को तलाक़ देकर बड़ी बहन सूरा से फिर से निकाह किया। उसके ही प्रभाव में उसने मुस्लिम देशों में पहने जानेवाली वेशभूषा अपनाई और अपने मुकुट

के नीचे उसकी दी हुई एक टोपी, कुल्लाह-ए-मुबारक, पहनने लगा। यह परम्परा तब तक चली जब तक फ़तह शाह की आख़िरी इच्छा के अनुसार इस टोपी को उनके साथ दफ़ना नहीं दिया गया।[25]

हालाँकि सैयद अली हमदानी के समय तक बलपूर्वक धर्म परिवर्तन के प्रमाण नहीं मिलते। उसका तरीक़ा आध्यांत्मिक बहसों और चमत्कारों वाला था। जातिगत ऊँच-नीच में बँटे हिन्दू समाज में तंत्र-मंत्र का एक बार फिर बोलबाला हो गया था। सूफ़ी के अनुसार, हमदानी ने चमत्कारी शक्तियों के मामले में उस समय के हिन्दू योगियों को परास्त कर उनके सम्प्रदायों को इस्लाम में शामिल किया और फिर उन सम्प्रदायों ने अपने मन्दिरों को मस्जिद में बदल दिया।[26] हालाँकि रिज़वी चमत्कार की इन कथाओं को तवज्जो नहीं देते।[27] वह बताते हैं कि सुलतान के प्रभाव का इस्तेमाल करके उन्होंने काली मन्दिर को तुड़वाकर अपनी ख़ानक़ाह* का निर्माण करवाया था और उनके शिष्यों ने अन्य कई मन्दिरों को ध्वस्त किया था तथा बलपूर्वक धर्म परिवर्तन कराए थे। उन्होंने एक सुलहनामा भी लिखा था जिसमें सुल्तान के राज्य में रह रहे हिन्दुओं के लिए नये मन्दिरों के निर्माण पर रोक, क्षतिग्रस्त मन्दिरों के पुनर्निर्माण पर रोक, मुस्लिम व्यापारियों को रुकने के लिए अपने घर उपलब्ध कराना, मन्दिरों में सूफ़ी-संतों को रुकने की इजाज़त देना, घोड़े पर जीन-काठी सहित सवारी न करने, तलवार-तीर रखने पर पाबन्दी, अपने धार्मिक रीति-रिवाज सार्वजनिक रूप से न करना, यहाँ तक कि मृतक का शोक भी ऊँचे स्वर में न मनाना और मुसलमान दास न ख़रीदने जैसी बातें थीं।[28] एम.आई. ख़ान रिज़वी की बातों को ख़ारिज तो करते हैं लेकिन सिवाय इस आरोप के कि उन्होंने उस समय के क्रॉनिकल्स को जस का तस स्वीकार कर लिया, कोई और तर्क नहीं देते।[29] वहीं पारिमू यह तो बताते हैं कि हमदानी ने अपनी ख़ानकाह बनाने के लिए झेलम के दक्षिणी किनारे की वह जगह चुनी जहाँ काली मन्दिर था, लेकिन मन्दिर के ध्वंस का कोई ज़िक्र नहीं करते।[30] लेकिन एक तथ्य यह भी है कि जब उसकी नीतियों के चलते कश्मीरी ब्राह्मणों में असन्तोष पनपा तो सुलतान ने उसकी सारी बातें मानने से इनकार कर दिया जो उसे नागवार गुज़रा और अन्ततः उसे कश्मीर छोड़कर जाना पड़ा।[31] हालाँकि कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार वह अपनी इच्छा से गया था और सुल्तान को शरिया सम्बन्धित निर्देश और परामर्श देने के लिए अपने एक शिष्य मीर हाजी मुहम्मद को छोड़ गया था।[32]

यह स्वाभाविक था कि सैयदों और ब्राह्मणों के बीच प्राधिकार का संघर्ष छिड़ता। जियालाल किलाम सैयदों को ब्राह्मणों के समकक्ष मुस्लिम ब्राह्मण वर्ग कहते

* ग्यारहवीं सदी तक सूफ़ी सम्प्रदाय ने ख़ुद को बौद्ध और ईसाई भिक्षुओं के ही ढाँचे में ढाल लिया था और उनके मठों की तरह ख़ानकाह बनवाने लगे थे (ए.क्यू. रफ़ीकी-xlvii)।

हैं।[33] तैमूर के अत्याचारों से तंग आकर अपने वतन से पलायित सैयदों के लिए कश्मीर एक शानदार शरणगाह था और वहाँ का मुस्लिम सुल्तान ज़ाहिर तौर पर उन्हें अपने प्राधिकारों की स्थापना के लिए अनुकूल लगा होगा और यह स्थिति अब तक कश्मीर की सत्ता के केन्द्र में रहे ब्राह्मणों के लिए असुविधाजनक होगी। धर्म स्वाभाविक रूप से वह आवरण बना जिसके भीतर इस संघर्ष के विभिन्न आयाम तय हुए और यह भी स्वाभाविक था कि सैयद इसमें लाभ की स्थिति में होते। किलाम कहते हैं कि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इस संघर्ष की आर्थिक और राजनीतिक दोनों पृष्ठभूमि थी लेकिन यह फलित हुआ धार्मिक उत्पीड़न के रूप में।[34] यहाँ धार्मिक उत्पीड़न भी दरअसल ब्राह्मणों के उत्पीड़न के ही समानार्थी है। किलाम सुल्तान शहाबुद्दीन के समय के विद्रोह का ज़िक्र करते हुए बताते हैं कि इस विद्रोह में केवल ब्राह्मणों ने हिस्सा लिया और बाक़ी जातियाँ इससे अछूती रहीं।[35] इन अन्य जातियों का उल्लेख इसके अलावा भी उत्पीड़न के सिलसिले में कहीं नहीं आता। आर.के. पारिमू 'हिन्दुओं की इस कायरता' पर क्षोभ जताते हैं। वह कहते हैं कि थोड़ा-बहुत प्रतिरोध ब्राह्मणों ने किया लेकिन बाक़ी जातियों ने संख्या में उनसे अधिक होने के बावजूद कोई प्रतिरोध नहीं किया। वह इसका कारण भी तलाशने की कोशिश करते हैं :

> लेकिन यह सब कह-सुन लेने के बाद यह स्वीकार करना होगा कि कश्मीर में इस्लाम एक महान मुक्तिदाता के रूप में आया। धीरे-धीरे इसने लोगों की नैतिक और सामाजिक शक्ति को पुनर्स्थापित किया। एक नई सामाजिक व्यवस्था और एक नये धर्म में जो सरल, सहज और सुबोध तथा व्यावहारिक था, उन्हें नया जीवन और नई शक्ति मिली। इस्लाम ने सदियों पुरानी विभाजनकारी और विघटित करनेवाली सामाजिक शक्तियों को नष्ट कर दिया। इसने बँटे हुए समाज को स्थिर तथा एकजुट किया।[36]

प्रेमनाथ बज़ाज़ कहते हैं :

> मुसलमानों का शासन केवल राजनीतिक रूप से ही नहीं बल्कि बौद्धिक और आध्यात्मिक रूप से भी वरदान था। इसने कश्मीर में इस्लाम को लोकप्रिय बनाया जिसने लोगों के विचार और जीवन के प्रति पूरे दृष्टिकोण को क्रांतिकारी तरीक़े से बदल दिया। राजनीति ने कश्मीरियों को अमानवीय बना दिया था; इस्लाम ने उन्हें फिर से मनुष्य बनाया।[37]

कश्मीरी पंडितों की उस समय की त्रासदी को इस रूप में भी समझा जाना चाहिए। अपने विशेषाधिकार को सुरक्षित रखने के लिए समाज को जिस तरह उन्होंने खाँचों में बाँटकर शेष जातियों को हाशिये पर डाल दिया था, स्वाभाविक था कि इस त्रासदी में उन्हें कोई सहयोद्धा या सहभोक्ता नहीं मिला। रत्तनलाल हांगलू लिखते हैं—ऐसे

माहौल में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पीड़ितों ने किसी सीधे विरोध की जगह इस्लाम अपनाने को मूक अहिंसक विद्रोह की तरह लिया।[38]

लेकिन जैसाकि हीगेल कहते हैं, इतिहास यही सिखाता है कि इतिहास से कोई कुछ नहीं सीखता। कश्मीर के इतिहास को उसकी विडम्बनाओं के साथ समझने की जगह हिन्दू-मुस्लिम बना दिया जाना दोनों पक्षों को अक्सर सुविधाजनक लगता है तो सेंडर कहते हैं :

> इस्लामी दौर का पंडित इतिहास अक्सर एकरेखीय और असंगत लगता है। वर्तमान की ज़रूरतों ने कश्मीरी पंडितों द्वारा अपने अतीत की व्याख्या को निर्धारित किया है। जैसे-जैसे वर्तमान की ज़रूरतें बदलीं, अतीत की समझ भी बदलती गई।
>
> उन्नीसवीं सदी के अन्त में इस समुदाय के कई लोगों ने पूर्व-सल्तनत काल को आदर्श काल की तरह याद करना शुरू कर दिया। वे यह भूल गए कि कैसे हर्ष और जयापीड़ जैसे पूर्व-सल्तनत काल के शासक ब्राह्मणों के ख़िलाफ़ हो गए थे; उनका उत्पीड़न किया था और उन्हें पलायन पर मजबूर किया था। इसकी जगह वे मुसलमानों के आने के पहले के समय को एक ऐसे समय की तरह याद करते हैं जब ब्राह्मणों को उनके हिन्दू राजाओं द्वारा एक धार्मिक समाज में एकसमान रूप से ईनाम दिया जाता था। इस तरह की साम्प्रदायिक स्मृति असल में इतिहास के सही निरूपण की जगह उन्नीसवीं सदी के आख़िरी हिस्से में बढ़ते हिन्दू पुनरुत्थानवादी भावनाओं की द्योतक है।[39]

इक्कीसवीं सदी आते-आते ख़ास तौर पर नब्बे के दशक में कश्मीर में शुरू हुए हिंसक अलगाववादी आन्दोलन और उस दौरान कश्मीरी पंडितों के पलायन के बाद दुर्भाग्य से 'वर्तमान की ज़रूरतें' और बड़ी तथा जटिल हुई हैं तो अतीत की व्याख्या और एकांगी तथा साम्प्रदायिक होती चली गई है। ज़ाहिर है, सिकन्दर 'बुतशिकन' यानी मूर्तिभंजक इसके लिए सबसे मुफ़ीद सहारा बनता।

स्मृतियों और इतिहास का द्वंद्व
सुल्तान सिकन्दर और ज़ैनुल आबदीन

सुल्तान सिकन्दर कश्मीर के इतिहास का सबसे विवादित सुल्तान है—कश्मीर में तलवार के ज़ोर से इस्लाम की वर्चस्व स्थापना का प्रतीक। जोनाराज लिखते हैं—जनता का सौभाग्य उनका साथ छोड़ गया, सुल्तान राजधर्म भूल गया और दिन रात मूर्तियाँ तोड़ने में आनन्द लेने लगा। आम तौर पर प्रगतिशील दृष्टिकोण रखनेवाले पारिमू उससे सम्बन्धित अध्याय का शीर्षक देते हैं—'आतंक का दौर'! किलाम लिखते हैं—सिकन्दर और सैफ़-उद-दीन, दोनों ने कश्मीर से हिन्दुओं के उन्मूलन और हिन्दुत्व के सभी चिह्न मिटा देने की योजना बनाई[40] तो प्रेमनाथ बज़ाज़ उसे 'कश्मीर के इतिहास का

सबसे काला धब्बा' बताते हैं।'[11] बाद के पंडित आख्यानों में यह कटुता और बढ़ती गई है। हालाँकि बज़ाज़ सिकन्दर की तीखी मलामत के बाद स्वीकार करते हैं :

> जैसे कि सिकन्दर की नृशंसता कम नहीं थी कि कई हिन्दू इतिहासकारों ने उसके अत्याचार को सीमा से अधिक बढ़ा-चढ़ा के लिखा है और ऐसा करते हुए अपनी कल्पना को उड़ान की पूरी छूट दी है। इससे भी बुरा यह है कि सिकन्दर के अत्याचारों के आधार पर सभी मुस्लिम शासकों को दोषी ठहराया जाता है और इस्लाम को ही एक असहिष्णु धर्म के रूप में चित्रित किया जाता है।'[12]

तो दूसरी तरफ़ एम. डी. सूफ़ी से लेकर ख़ालिद अहमद बशीर तक सिकन्दर ही नहीं, मीर हमदानी को भी लगभग सभी आरोपों से बरी करके सारी ज़िम्मेदारी सुहा भट्ट पर डालने और उसकी ख़ूबियाँ गिनाने वाले इतिहासकारों की भी कोई कमी नहीं—लेकिन आम तौर पर इतिहास का सच ऐसी अतियों के बीच ही कहीं होता है।

सिकन्दर के समय की ऐतिहासिक और उसकी विशिष्ट स्थितियों को एक बार देख लेना बेहतर होगा। 1389 में जब क़ुतुब-उद-दीन की मृत्यु के बाद उसकी हिन्दू पत्नी सूरा का पुत्र शंकर* सिकन्दर के नाम से गद्दी पर बैठा तो वह अभी अल्पवयस्क ही था। रानी सूरा उसकी संरक्षिका बनीं और राय माग्रे तथा साहक उस समय दरबार के सबसे ताक़तवर मंत्री थे। सूरा एक योग्य, साहसी और महत्त्वाकांक्षी महिला मानी जाती है लेकिन स्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि सूरा और राय माग्रे द्वारा सिकन्दर के युवा होते-होते परिवार के लगभग सभी अन्य लोगों की हत्या करवा दी गई। विद्रोह की आशंका से सूरा ने अपनी सगी बेटी और दामाद की हत्या करवा दी तो अत्यन्त शक्तिशाली हो चुके राय माग्रे ने सिकन्दर के छोटे भाई हैबत और साहक की हत्या करवा दी। उसकी योजना सिकन्दर की हत्या कर सत्ता पर क़ब्ज़े की थी लेकिन तब तक सिकन्दर सत्ता की चालें समझने योग्य हो चुका था और उसने सत्ता सँभालकर अपने नाम का ख़ुतबा पढ़वा लिया और सिक्के चलवा दिये। पारिमू का मानना है कि सूरा ख़ुद स्वतंत्र शासक बनना चाहती थी और राय माग्रे ने इसीलिए उसके विश्वस्त साहक की हत्या करवा दी थी। सत्ता सँभालने के बाद उसने राय माग्रे पर नियंत्रण के लिए उसे लद्दाख पर आक्रमण के लिए भेजा। सुलतान का विचार था कि राय माग्रे वहाँ मारा जाएगा लेकिन वह विजेता होकर श्रीनगर लौटा। बाद में सुल्तान से उसके रिश्ते और ख़राब हो गए तथा उसने विद्रोह कर दिया। सिकन्दर ने पहले तो समझाने की कोशिश की फिर न मानने पर लद्दाराजा को सामने से हमला करने के लिए भेजकर ख़ुद पीछे से हमला करने के लिए निकल पड़ा। अपनी हार सुनिश्चित जान राय माग्रे बनिहाल की तरफ से भाग निकला परन्तु बनिहाल के सरदार ने उसे

* पारिमू ने इतिहासकार निज़ामुद्दीन और फ़रिश्ता के हवाले से उसका नाम शंकर बताया है।

गिरफ़्तार कर सिकन्दर को सौंप दिया। सिकन्दर ने उसकी जान बख़्श कर कारावास में डाल दिया जहाँ कुछ ही समय बाद उसने ख़ुदकशी कर ली।

पारिमू का मानना है कि अपने परिवार और साहक की हत्या तथा राय माग्रे के विश्वासघात के बाद यह स्वाभाविक था कि वह राय मशविरे के लिए दरबार में सैयदों के पास जाता जो अपने राज्य से पलायित थे और राजनीति को ख़ूब समझते थे। उन्हें अपनी प्रतिष्ठा पुनः हासिल करनी थी और राज्य पर वर्चस्व क़ायम करना था जिसकी राह में सबसे बड़ा रोड़ा पंडित थे। उन्होंने इस युवा सुल्तान को अपने प्रभाव में लिया और अपने इस्लामी जिहाद को अंजाम दिया। इस समय तक दरबार में बिहाकी सैयदों का बोलबाला हो चुका था। बिहाकी सैयद मूलतः सब्ज़वार के थे और तैमूर से पराजय के बाद सैयद मुहम्मद बिहाकी के नेतृत्व में कश्मीर आ गए थे। इसी दौर में (1393) सैयद हमदानी के पुत्र मीर सैयद मुहम्मद हमदानी (1372-1450) कश्मीर आए। मीर हमदानी अपने पिता की मृत्यु के बाद मात्र 12 साल की उम्र में खिलाफ़त हासिल कर धर्मगुरु बन गए थे। उनका कश्मीर में आना और सुलतान के यहाँ उनके असर का बढ़ते जाना कश्मीर के इतिहास में एक मील का पत्थर है। सुल्तान ने मीर हमदानी का शानदार स्वागत किया, जागीरें दीं और उनके लिए ख़ानकाह बनवाई जो ख़ानकाह मौला के नाम से जानी जाती है। मीर हमदानी पहले से मौजूद बिहाकी सैयदों के लिए भी आसानी से स्वीकार्य थे। मीर हमदानी ने सुल्तान को इस्लाम की शिक्षाओं की एक किताब लिखकर भेंट की। अपने पिता के विपरीत मीर हमदानी इस्लाम की स्थापना के लिए हर तरह की ज़ोर-ज़बरदस्ती का हामी था या यों कहें कि तब तक इसके लिए अनुकूल माहौल बन चुका था। कश्मीर में उसी समय सक्रिय सैयद हिसारी जैसे सहिष्णु सूफ़ियों के विपरीत उसने इस्लामीकरण के लिए मिशनरी जज़्बे से काम किये। उसके प्रभाव में सबसे पहले आनेवाला था दरबार का ब्राह्मण मंत्री सुहा भट्ट। स्पष्ट है कि सैयदों के प्रभुत्व के बावजूद सिकन्दर के दरबार में ब्राह्मण मंत्री थे। हमदानी ने उसका धर्म परिवर्तन करवा मलिक सैफ़ुद्दीन का नाम दिया और उसकी बेटी से विवाह किया। पहले सिकन्दर और फिर फ़तेह शाह के समय सुहा भट्ट उर्फ़ सैफ़ुद्दीन की कश्मीर में धर्म परिवर्तन के सन्दर्भ में ज़ोर-ज़बरदस्ती की जो भयावह भूमिका है, उसे लगभग हर इतिहासकार ने दर्ज किया है।

सिकन्दर की इन कार्यवाहियों को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है—मन्दिरों का ध्वंस और ब्राह्मणों का जबरन धर्म परिवर्तन। 1398 में तैमूर के भारत पर आक्रमण से पहले सिकन्दर ने हमदानी के प्रभाव के बावजूद जबरन धर्म परिवर्तन या मन्दिरों के ध्वंस से परहेज़ ही किया था। तैमूर ने अपने पोते रुस्तम को फ़ौलाद बहादुर और जैन-उद-दीन के साथ सुल्तान को अपनी अधीनता स्वीकारने के प्रस्ताव के साथ दिल्ली से कश्मीर भेजा। तैमूर की ताक़त से आक्रान्त सुल्तान ने उनका

शाही स्वागत किया और तैमूर की बादशाहत को स्वीकार किया। अपनी तरफ से उसने मौलाना नूरुद्दीन बद्खाशानी को वकील के रूप में तैमूर के पास भेजा और भिम्बेर में उसके स्वागत के लिए उपस्थित रहने का प्रस्ताव दिया। लेकिन जब 24 मार्च, 1399 को कश्मीर के ये दूत जम्मू के पास पहुँचे तो तैमूर के लालची मंत्री ने उन्हें तीस हज़ार घोड़े और एक लाख सोने के सिक्के पेश करने के लिए कहा। यह ख़बर जब भिम्बेर में प्रतीक्षारत सुल्तान के पास पहुँची तो वह घबरा गया और कश्मीर पहुँचकर किसी भी तरह इन्तज़ाम की कोशिश में लग गया। हालाँकि तैमूर को जब यह पता चला तो उसने मंत्री को सज़ा दी और सुल्तान को 28 दिन बाद किसी भी उपहार के बिना सिन्धु नदी के किनारे मिलने की ताईद करने के लिए जैन-उद-दीन और सैयद मुहम्मद मदनी से सन्देश भिजवाया। असल में तैमूर अपने राज्य में किसी गड़बड़ी का सन्देश मिलने के कारण तुरन्त लौट रहा था। लेकिन यह सन्देश सुल्तान तक नहीं पहुँचा और वह किसी भी तरह उस धनराशि के प्रबन्ध के लिए परेशान था।[43] इस परेशानी ने सैयदों को कश्मीर में जिहाद का मौक़ा दे दिया। कश्मीर में हर्ष के समय से ही आर्थिक संकट हल करने के लिए मन्दिरों और प्रतिमाओं को ध्वस्त करने की परम्परा थी। सुहा भट्ट और सैयदों ने सुलतान को इसके लिए राज़ी किया और मूर्तियों को तोड़ने की जो प्रक्रिया शुरू हुई, वह मन्दिरों के ध्वंस तक पहुँची। जोनराज की मानें तो कोई मन्दिर साबुत नहीं बचा था!

लेकिन अगर तथ्यों की सम्यक् जाँच की जाए तो इस दावे में तमाम झोल दीखते हैं। *तुज़ुक-ए-जहाँगीरी* (1623) कहती है—'कश्मीर में इस्लाम के आगमन के पहले बने शानदार मन्दिर अब भी खड़े हैं और सभी पत्थर के बने हैं।' 1834-38 के बीच कश्मीर की यात्रा पर आए विग्नेट ने 1842 में लिखे अपने संस्मरण में 70 से 80 मन्दिरों की उपस्थिति की बात की है।[44] दस सालों तक कश्मीर के शासक रहे मिर्ज़ा हैदर दुग़लत ने अपनी किताब *तारीख़-ए-रसीदी* में लिखा है :

> कश्मीर के अचरजों में सबसे पहली और सबसे शानदार चीज है उसके मन्दिर। कश्मीर के भीतर और उसके आसपास डेढ़ सौ से अधिक मन्दिर हैं। बाक़ी दुनिया में ऐसी एक इमारत देखने या सुनने को नहीं मिलती। कितना आश्चर्यजनक है कि यहाँ डेढ़ सौ ऐसी ईमारतें हैं।

आईन-ए-अकबरी में अबुल फ़ज़ल कहते हैं कि उनमें से कई एकदम सही तरीक़े से संरक्षित हैं।[45] मोहम्मद इशाक ख़ान का मानना है कि सिकन्दर के राज्य में मन्दिरों का ध्वंस तो हुआ था लेकिन मार्तंड और अवन्तिपुर के मन्दिरों को बारूद से तोड़े जाने की बात इसलिए सच नहीं हो सकती कि उस दौर में कश्मीर तक बारूद पहुँचा ही नहीं था। ये मन्दिर भूकम्प में नष्ट हुए थे।[46] स्टेन भी भूकम्प जैसी घटनाओं के कश्मीर

में मन्दिरों के टूटने की वजह बताते हैं।[47] ज़ाहिर है कि जोनाराज ने अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। सवाल सिर्फ़ अतिशयोक्ति का नहीं, जैसाकि सेंडर कहती हैं :

> सिकन्दर का दौर इसलिए कश्मीरी ब्राह्मणों के इतिहास और मिथक-कथा में बहुत महत्त्वपूर्ण है, केवल उसके लिए नहीं जो वास्तव में घटित हुआ था बल्कि उसके लिए भी, जो 'याद किया जाता है।' जबरन धर्म परिवर्तन, भयावह पलायन और लम्बे निर्वासन ने ख़ुद को समुदाय की सामूहिक स्मृति पर अंकित कर लिया और बाद के वर्षों में पंडितों को जब चयन करने के लिए कहा गया तो उनको प्रभावित किया।[48]

इस तरह वास्तविकता कई-कई गुनी बड़ी और विकराल होकर वास्तविक इतिहास के समक्ष एक अधिकल्पित (Hypothetical) इतिहास बनती और फिर प्रभावी होती चली जाती है। उस दौर के उत्पीड़नों के क़िस्से आसानी से कश्मीरी इतिहास की किताबों में मिल जाते हैं लेकिन यहाँ पर सुहा भट्ट पर थोड़ी बात कर लेना बेहतर होगा।

सुहा भट्ट उर्फ़ सैफ़ुद्दीन एक व्यक्ति से आगे एक अवधारणा की तरह सामने आता है। फ़रिश्ता हों कि जोनाराज, सूफ़ी हों कि किलाम—सभी ने उस दौर की बर्बरता के लिए सुहा भट्ट को ज़िम्मेदार बताया है। किलाम लिखते हैं—सिकन्दर के दौर में एक सुहा भट्ट जिसने धर्मांतरण के बाद अपना इस्लामी नाम सैफ़-उद-दीन रख लिया था, नये धर्मांतरित लोगों का नेता बन गया।[49] एक नये धर्मांतरित का द्वंद्व दुहरा होता है : एक तरफ नये धर्म के धर्मावलम्बियों के समक्ष ख़ुद को उनसे भी अधिक समर्पित साबित करना है और दूसरी तरफ़ उस घृणा का सामना करना है जो उसके पूर्व धर्म के मतावलंबियों के मन में उसके लिए होती है। 'नया मुल्ला प्याज़ ज़्यादा खाता है' जैसी कहावतें ऐसे ही बनी होंगी। सुहा भट्ट या उसके जैसे उन सभी कश्मीरी ब्राह्मणों के लिए यह द्वंद्व सतत उपस्थित रहा होगा और इसके हल के लिए सहज था कि वे ब्राह्मणों को धर्मपरिवर्तन के लिए प्रेरित भी करते और बाध्य भी। जोनाराज उन ब्राह्मणों की मलामत करते हैं 'जिन्होंने सुल्तान की कृपादृष्टि हासिल करने के लिए अपना धर्म बदल दिया', तो 1747 में प्रकाशित *वाक़यात-ए-कश्मीर* में इतिहासकार ख़्वाज़ा मुहम्मद आज़म दीदमारी लिखते हैं कि 'उस समय जिन्होंने इस्लाम नहीं स्वीकार किया, उनका अपमान किया गया और उन्हें जज़िया देने पर बाध्य किया गया जबकि जिन्होंने धर्मांतरण कर लिया उन्हें इनाम-ओ-इक़राम देकर समृद्ध कर दिया गया।' इन 'प्रेरणाओं' पर अक्सर कोई बात नहीं होती जबकि 'बाध्यताओं' पर अक्सर अतिशयोक्तिपूर्ण बातें की जाती हैं। सेंडर की मान्यता है कि ब्राह्मणों के एक बड़े हिस्से ने इस इनाम-ओ-इक़राम के लिए धर्म परिवर्तन स्वीकार किया और सत्ता वर्ग में शामिल हो गए।[50] धर्मांतरण की इस प्रक्रिया में मीर हमदानी या शम्सुद्दीन इराक़ी जैसे इस्लामिक धर्मगुरुओं की या सिकन्दर या फ़तेह शाह जैसे सुल्तानों की भूमिका को नज़रअंदाज़ करना तो इतिहास को झुठलाना होगा लेकिन इन धर्मांतरित ब्राह्मणों की भूमिका को कमतर

करके आँकना भी इतिहास के साथ वैसी ही बेईमानी होगी। शेख़ अब्दुल्ला कश्मीरी पंडितों में प्रचलित शे'र का ज़िक्र करते हैं :

मुन अज़ बेगानागन हरगिज़ ना नालम
कि बा मुन आंची कर्द आन आशना कर्द

[मुझे गैरों से कोई गिला नहीं है/मेरी बदक़िस्मती की वजह मेरे अपने हैं]

लल द्यद और शेख़ नूरुद्दीन
कश्मीरी आध्यात्मिकता का निर्माण और इस्लामीकरण

इस दौर में कश्मीर के आध्यात्मिक जगत की दो प्रमुख परिघटनाओं को ध्यान में रखना ज़रूरी है। शैव योगिनी लल द्यद और कश्मीर में ऋषि सूफ़ी परम्परा के संस्थापक शेख़ नूरुद्दीन या नुन्द ऋषि।

1317 से 1320 के बीच एक कश्मीरी ब्राह्मण परिवार में जन्मी लल द्यद के वाखों और कथाओं में हम तत्कालीन कश्मीरी हिन्दू समाज की विकृतियों और विसंगतियों का गहरा परिचय पा सकते हैं। वह एक तरफ़ तत्कालीन समाज में स्त्री की दोयम दर्जे की स्थितियों का चित्रण करती हैं तो दूसरी तरफ वह हिन्दू समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव, मूर्ति-पूजा और पाखंडों के प्रचलन का तीखा विरोध करती नज़र आती हैं।* शैव योगिनी लल का मूर्तिपूजा, आडम्बर और जाति प्रथा का विरोध और तमाम ब्राह्मणवादी कुरीतिओं पर यह हमला वहाँ के हमदानी के साथ आए सूफ़ी आन्दोलन और इस्लामीकरण के लिए पूर्वपीठिका बना। इसे समझने के लिए उस दौर के धर्म परिवर्तनों को हमें एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में देखना होगा।

धर्म का परिवर्तन वस्तुत: सांस्कृतिक श्रेष्ठता की स्थापना और वर्चस्व का सवाल था, एक नये धर्म के रूप में इस्लाम के माननेवालों में एक मिशनरी जज़्बा तो था ही, अधिक से अधिक लोगों को मुसलमान बना लेने का साथ ही अपने तांत्रिक तरीक़ों और ब्राह्मणवादी आचारों से हिन्दू धर्म उस समय ऐसी स्थिति में पहुँच चुका था कि 'हिन्दू समाज भ्रष्ट हो गया था। पुरुष असहिष्णु, अय्याश और पतित थे और स्त्रियाँ उससे बेहतर नहीं थीं जैसा उन्होंने उन्हें बनाया था। जादू-टोने और चमत्कारों की भरमार थी।'[51] हमने पिछले अध्याय में राजाओं के क़िस्सों में समाज के पतन की इन्तेहा देखी है। उस दौर में स्त्रियों की दशा बेहद ख़राब थी और वेश्यावृत्ति, नैतिक भ्रष्टाचार, देवदासी प्रथा और सती प्रथा जैसी व्यवस्थाएँ उनके जीवन को नर्क बना रही थीं। ऐसे में जब लल द्यद मूर्तिपूजा के खंडन, एकेश्वरवाद आंर योग के तीन सरल आधारों पर धर्म की स्थापना करती हैं तो यह सूफ़ी संतों के लिए बहुत सुविधाजनक हो जाता है। पहली

---

* लल द्यद के जीवन और रचनाओं के बारे में विस्तार के लिए देखें : लल द्यद, जयालाल कौल, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2012

दो चीज़ें तो थीं ही इस्लाम में, योग के समकक्ष था सूफ़ी समाज में प्रचलित 'ज़िक्र'। इस तरह लल की शिक्षाएँ परोक्ष रूप से इस्लाम के लिए अनुकूल माहौल बनाने में सहायक हुईं। आम भाषा में मूर्तिपूजा और ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता का उनका विरोध भ्रष्ट ब्राह्मण समाज को सुधारने की जगह इस्लाम के प्रसार में सहायक सिद्ध हुआ।[52] इस परिप्रेक्ष्य में यह तथ्य समझा जा सकता है कि लल द्यद का ज़िक्र जोनाराज, श्रीवर, शुक—किसी के यहाँ नहीं मिलता और पहली बार उन्हें इतिहास में दर्ज किया गया बाबा अली की 1563 में प्रकाशित पुस्तक *ताज़्किरत-उल-आफ़रीन* में।

1377 में जन्मे शेख़ नूरुद्दीन* के बारे में एक बेहद व्यंजनात्मक क़िस्सा लल द्यद से जुड़ा है। कहा जाता है कि नूरुद्दीन, जिनका घर का नाम माँ-बाप ने नुन्द (सुन्दर और योग्य)[53] रखा था, जन्म के तीन दिनों बाद भी अपनी माँ का दूध नहीं पी रहे थे, तब लल द्यद आईं और बालक को गोद में उठाकर कहा—तुम जन्म लेने से नहीं शरमाए, तो संसार के सुख-आनन्द लेने से क्यों शरमाते हो? उसके बाद बालक नुन्द ने लल द्यद के स्तनों से दूध की पहली बूँदों के साथ संसार के पहले सुख का आनन्द लिया। नवजात शिशु जब तृप्त हुआ तो लल द्यद ने उसकी माँ को यह कहते हुए लौटाया : 'लो! मेरे उत्तराधिकारी का लालन-पोषण करो।' यह क़िस्सा लगभग हर किताब में लगभग इसी रूप में दर्ज है। इस क़िस्से की प्रामाणिकता पर सन्देह के पर्याप्त कारण हैं लेकिन इसकी व्यंजना को समझे जाने की ज़रूरत है। जैसाकि हमने देखा, शैव योगिनी लल द्यद ब्राह्मणवादी कर्मकांडों पर तीखे सवाल खड़े कर इस्लाम की भावी सफलता के लिए माहौल बना चुकी थीं। कश्मीर में बेहद मक़बूल लल की परम्परा को नुन्द ऋषि से जोड़ना सहज ही था। शेख़ नूरुद्दीन द्वारा कश्मीर में शुरू की गई सूफ़ी इस्लाम की ऋषि परम्परा इस रूप में हमदानी या बाहर से आए अन्य सूफ़ियों से अलग थी कि उनकी जड़ें कश्मीर की धरती में थीं। अभी एक पीढ़ी पहले ही उनके परिवार ने धर्म बदला था और उनकी शिक्षा-दीक्षा साधारण होने के कारण उन्होंने भी लल की ही तरह सरल और प्रचलित कश्मीरी भाषा में काव्य-रचनाएँ कीं जिन्होंने कश्मीरी जन को गहरे प्रभावित किया। अबुल फ़ज़ल *आइन-ए-अकबरी* में लिखते हैं :

> इस देश (कश्मीर) में सबसे सम्मानित लोगों का वर्ग ऋषियों का है। हालाँकि उन्होंने इबादत के पारम्परिक तरीक़े (तक़लीद) नहीं छोड़े हैं लेकिन वे अपनी इबादत में सच्चे हैं। वे दूसरे धर्मों के लोगों की भर्त्सना नहीं करते। वे कामनाओं से मुक्त हैं और दुनियावी चीज़ों की फ़िक्र नहीं करते। वे सबकी भलाई के लिए आम तौर पर फलदार वृक्ष लगाते हैं। वे मांस नहीं खाते और शादी नहीं करते।[54]

इस तरह उनका व्यवहार हिन्दू ऋषियों जैसा ही था और इस्लाम के भीतर बराबरी का जो वादा था, उसने स्वाभाविक तौर पर कश्मीर के ग़ैर-ब्राह्मण समाज

* विस्तार के लिए देखें : 'कश्मीरनामा : इतिहास और समकाल', अध्याय 3

को इस्लाम के प्रति आकर्षित किया। जहाँ सैयदों ने कश्मीर के सत्ता वर्ग को प्रभावित किया और समाज के ऊपरी संस्तर में इस्लाम की स्थापना में भूमिका निभाई, वहीं ऋषि परम्परा ने समाज के ग्रामीण और निचले संस्तरों में इस्लाम को स्वीकार्य बनाने में अपनी भूमिका निभाई।

इस तरह हम देखते हैं कि कश्मीर के इस्लामीकरण के कारण एकांगी नहीं बल्कि बहुआयामी हैं। इस पूरी प्रक्रिया में चौदहवीं सदी बीतते-बीतते कश्मीर एक इस्लाम-बहुल राज्य में बदल गया और ब्राह्मण तथा हिन्दू समानार्थी बनते चले गए। जहाँ सिकन्दर इस कहानी में एक खलनायक की तरह इतिहास और स्मृति में दर्ज हुआ, वहीं उसका पुत्र ज़ैनुल आबदीन उस धार्मिक सहिष्णुता का प्रतीक जिसे आधुनिक काल में कश्मीरियत के नाम से जाना गया। ज़ैनुल आबदीन का दौर कश्मीर में ब्राह्मणों के पुनरुत्थान का काल था। जिस तरह सिकन्दर की भर्त्सना में लगभग सभी पंडित इतिहासकार एकमत हैं, वैसे ही ज़ैनुल आबदीन की तारीफ़ में भी। उसके दरबारी जोनाराज कहते हैं : 'राजा सबको एक दृष्टि से देखता था। जैसे व्यापारी अपने बटखरे में कोई भेदभाव नहीं करता, राजा अपनी प्रजा में कोई भेद नहीं करता था।' आनन्द कौल का कहना है : 'उसने (ज़ैनुल आबदीन ने) व्यापक और सहिष्णु दृष्टिकोण पाया था और मानवता के कल्याण के भाव से संचालित होकर उसने समदर्शिता और न्याय से इस प्रकार राज्य किया और जनता की भौतिक समृद्धि को बढ़ाने के लिए ऐसे प्रयास किये कि कोई उसकी तारीफ़ किये बिना नहीं रह सकता।'[55] यह लगभग हर कश्मीरी पंडित के लिखे में प्रतिध्वनित होता है। ज़ैनुल आबदीन ने हिन्दुओं और बौद्धों को भी अपने दरबार में जगह दी। शिव भट्ट उसका निजी चिकित्सक और विश्वासपात्र था जिससे अहम् मुद्दों पर वह अक्सर सलाह लिया करता था। इसके अलावा कर्पूर भट्ट भी उसके क़रीबी चिकित्सकों में शामिल थे। श्रिया भट्ट उसकी न्याय सभा का अधीक्षक था, जिसकी सलाह पर उसने अपने पिता के समय हिन्दुओं पर लगाया हुआ जज़िया कर प्रभावी रूप से समाप्त कर दिया था।[56] जोनाराज ने लिखा है कि श्रिया भट्ट की जब मृत्यु हुई तो सुल्तान ने बहुत-सा धन दान कर इसका शोक मनाया। इसके अलावा उसके दरबार में बौद्ध तिलकाचार्य और ब्राह्मण सिंहा तथा रूप्य भट्ट सहित अनेक ग़ैर-मुस्लिम थे।[57] इस तरह ब्राह्मणों के लिए शासन के सभी स्तरों पर भर्ती के रास्ते खुल गए। शर्त बस यह थी कि उन्हें फ़ारसी सीखना होगा, जो अब राजभाषा थी।[58]

सामाजिक परिवर्तन और ब्राह्मण समाज में समायोजन

उपजातियों का उदय

ज़ैनुल आबदीन ने सिकन्दर के समय कश्मीर छोड़कर चले गए ब्राह्मणों को वापस बुलाया और जिनका ज़बरदस्ती धर्म परिवर्तन करा दिया गया था। उन्हें पुनः अपने

धर्म में लौटने का अवसर दिया। इन क़दमों ने ब्राह्मण समाज को राहत तो दी लेकिन उसके भीतर एक हलचल भी पैदा की। अब तक एक सुरक्षित तथा अनुकूल समाज में सर्वोच्च पायदान पर स्थित रहे पवित्रता पर आधारित श्रेष्ठता की मान्यता से ग्रस्त ब्राह्मण समाज के लिए इन परिवर्तनों को स्वीकार करना आसान नहीं था और इसने समाज के भीतर आंतरिक विभाजनों को जन्म दिया। उदाहरणस्वरूप जो ब्राह्मण सिकन्दर के समय भी कश्मीर छोड़कर नहीं गए, उन्हें 'मलमासी' जबकि ज़ैनुल आबदीन के समय लौट आए ब्राह्मणों को 'बनमासी' कहा गया। हालाँकि दोनों के बीच कोई ख़ास अन्तर नहीं था सिवाय इसके कि ये ज्योतिष कैलेंडर के अलग-अलग रूप मानते थे।[59] सेंडर कश्मीरी ब्राह्मण समुदाय की सामूहिक स्मृति में दर्ज 'जूठी हड्डी' और 'सच्ची हड्डी' जैसे विभाजन का ज़िक्र भी करती हैं जहाँ ज़ैनुल आबदीन के समय वापस लौटकर आए ब्राह्मणों को 'जूठी हड्डी' कहा गया।[60]

आनन्द कौल एक और विभाजन की चर्चा करते हैं। वह बताते हैं कि मुस्लिम शासन में ब्राह्मणों को यह कहा गया कि या तो वे मृत्युदंड स्वीकार करें या फिर मुस्लिम के हाथ का पकाया भोजन ग्रहण करें। धर्मभ्रष्ट को न्यूनतम करने के लिए कुछ ब्राह्मणों ने मुसलमानों द्वारा उबाला गया चावल खाने की सहमति दी। ब्राह्मण समाज ने इसकी भर्त्सना की और जान न देने की कायरता के लिए उन्हें अपमानित करते हुए 'लेजी बट' की संज्ञा दी। 'लेजी' कश्मीरी में हांडी को कहते हैं।[61] कौल न तो इसका कोई स्रोत देते हैं, न ही किसी विशेष मुस्लिम शासक के दौर का ज़िक्र करते हैं। यही नहीं, कश्मीरी ब्राह्मणों के परिवार और गोत्र-विभाजन पर लिखी अपनी महत्त्वपूर्ण किताब में टी.एन. मदान भी इसका ज़िक्र नहीं करते।

जियालाल किलाम के यहाँ हसन शाह के शासन के अन्तिम समय में सैयदों द्वारा एक मुनि के अपने क्षेत्र में शिकार से रोकने पर ब्राह्मणों के बर्तनों में शिकार जानवरों के मांस खाने तथा लूटपाट का ज़िक्र आता है[62] लेकिन लेजी बट जैसी श्रेणी का नहीं। बहुत सम्भव है, यह कश्मीरी ब्राह्मण समाज की अधिकल्पित सामूहिक स्मृति का हिस्सा हो। कौल एक और श्रेणी पूरिब या वुरूद का ज़िक्र करते हैं और उसके अवैध उत्पत्ति का या फिर ब्राह्मण द्वारा दूसरी जातियों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों से पैदा हुआ बताते हैं। लेजी और पूरिब ब्राह्मणों के साथ शेष कश्मीरी ब्राह्मणों का भोजन-व्यवहार नहीं था।

लेकिन सबसे रूढ़ श्रेणी विकसित हुई ब्राह्मणों के फ़ारसी सीखने फलस्वरूप। संस्कृत की जगह फ़ारसी के प्रवेश और इसके सीखने की शासकीय सेवा जैसी उत्प्रेरणा से पारम्परिक ब्राह्मण समाज में कुछ मूलभूत परिवर्तन स्वाभाविक थे। इस दौर में नई व्यवस्था से तालमेल बिठाने के लिए ब्राह्मणों ने समाज को समायोजित किया जिसने ब्राह्मण समाज में एक नये श्रेणी-विभाजन को जन्म दिया। इन परिवारों के अधिकतर पुरुष सदस्यों ने फ़ारसी सीखी और शासकीय सेवा में कर्मचारी, अनुवादक, क्लर्क

जैसे पदों पर स्थापित हुए जबकि एक या दो ने संस्कृत तथा धर्मग्रंथों का अध्ययन किया और पारम्परिक धार्मिक कार्यों में संलग्न हुए। पहली श्रेणी के ब्राह्मणों को 'कारकून' तथा दूसरी श्रेणी को 'भाषा बट' या 'गोर' (गुरु) कहा गया।

किलाम का मानना है कि बेटी के लड़के को संस्कृत तथा धर्मशास्त्र की शिक्षा दिलाई गई जिससे वह परिवार के धार्मिक संस्कार कर सके। हालाँकि वह न तो इसका कोई कारण देते हैं, न ही यह बताते हैं कि इसकी वजह से कश्मीर में कैसे पैतृक गोत्र-विभाजन हुए।

मदान की मान्यता है कि यह श्रम-विभाजन समाज में पेशागत आधार पर दो श्रेणियों में विकसित हुआ और इसी प्रक्रिया में गोत्रों में विभाजित हुआ। संस्कृत और धर्मशास्त्र का अध्ययन कर पारम्परिक पेशा अपनाने वालों में से जिन्होंने कर्मकांड करना नहीं चुना, उन्हें पंडित या ज्योतिषी कहा गया। गोर एक सगोत्रीय समाज बना जबकि ज्योतिषी वर्ग में अलग-अलग गोत्र रहे। कारकून और गोर का यह विभाजन वर्तमान समय तक जारी है। समय के साथ संख्याबल और सामाजिक-आर्थिक प्रभाव के चलते कारकून ब्राह्मण समाज में सबसे प्रभावी होते गए। कर्मकांड में संलग्न तथा अन्तिम क्रिया आदि में दान-दक्षिणा स्वीकारने वाले गोर ब्राह्मणों को अपवित्र माना गया और कारकून वर्ग के ब्राह्मणों के साथ उनके वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होते, जबकि ज्योतिषी और कारकून वर्ग के बीच इस तरह के सम्बन्ध होते हैं।

आगे चलकर यह विभाजन श्रम और रिहाइश के इलाक़े के आधार पर और रूढ़ हुआ तथा शहरी और ग्रामीण समाज के बीच में यह उच्चानुक्रम स्थापित हुआ। कश्मीरी ब्राह्मणों में 'शारीरिक श्रम' को लेकर वैसी ही वर्जना है, जैसी शेष भारत के अधिकांश ब्राह्मण समाज में। ग्रामीण समाज में शारीरिक श्रम से केवल अमीर ब्राह्मण पूरी तरह से मुक्त हो सकते थे हालाँकि 1965 में किये अपने शोध में मदान कहते हैं कि यह बहुत सामान्य रूप से पाया जाता है कि एक छोटा भूस्वामी कश्मीरी ब्राह्मण भी अपनी खेती ख़ुद नहीं करता बल्कि बँटाईदारों के भरोसे रहता है—भले इसके चलते वह ग़रीबी का जीवन जीने पर मजबूर हो। हालाँकि ऐसे कई कश्मीरी ब्राह्मण हैं जो अपनी खेती ख़ुद करते हैं या दूसरे ब्राह्मणों के खेत बँटाई पर लेते हैं या फिर श्रीनगर जाकर रसोइये और घरेलू नौकर का काम करते हैं। श्रीनगर शासकीय सेवा में संलग्न ब्राह्मणों का केन्द्र बनता गया जहाँ तुच्छ माने जानेवाले शारीरिक श्रम की कोई आवश्यकता नहीं थी। घरेलू तथा अन्य कामों के लिए गाँवों से विस्थापित ब्राह्मण तथा मुसलमान, दोनों ही मौजूद थे। इसलिए स्वाभाविक रूप से श्रीनगर के ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता स्थापित होती चली गई। शासकीय नौकरियाँ धीरे-धीरे सामाजिक श्रेष्ठता का प्रतीक बनती गईं और सेंसस में ब्राह्मणों का जातिगत पेशा 'सरकारी नौकरी' दर्ज किया गया। सामाजिक अनुक्रम में इसके बाद व्यापार और फिर कृषि-कार्य में संलग्न लोग आए। लेकिन भूमि-सुधार के बाद

ग्रामीण भूमिस्वामी ब्राह्मण समुदाय से अतिरिक्त ज़मीनें छिन जाने के बाद इस वर्ग का प्रभाव और भी कम हो गया तथा शासकीय नौकरियाँ ही ब्राह्मणों के सामाजिक सम्मान ही नहीं, आजीविका का भी इकलौता प्रमुख संसाधन बनती गईं।[63] आगे हम इसके बहुआयामी प्रभावों को विस्तार से देखेंगे।

ज़ैनुल आबदीन के बाद : उतार-चढ़ाव और समायोजन

ज़ैनुल आबदीन का समय शाहमीरी का उरूज़ था। समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था, साहित्य, संस्कृति सहित हर क्षेत्र में कश्मीर ऐतिहासिक बुलंदी पर पहुँचा जिसमें उसकी धर्मनिरपेक्ष नीतियों की बड़ी भूमिका थी। पचास सालों का उसका शासन कश्मीरी ब्राह्मण समाज के लिए सुकून और बहुआयामी प्रगति का था तो उसके बाद का समय कश्मीरी ब्राह्मणों और कश्मीर, दोनों के लिए उतार-चढ़ाव और उथल-पुथल भरा रहा। ज़ैनुल आबदीन के बाद सत्ता में आए हैदर शाह के समय नीतियाँ बदलीं तो :

> पंडितों का धैर्य जवाब दे गया और एक संगठित रूप में वे उठ खड़े हुए तथा कुछ उन मस्जिदों को आग लगा दी जो सिकन्दर द्वारा गिराए गए मन्दिरों की सामग्री से बने थे। इस विद्रोह को तलवार से कुचला गया; बहुत से ब्राह्मणों को नदी में डुबो दिया गया और निरंकुश लूटमार हुई।[64]

श्रीवर बताते हैं कि श्रीनगर में एक बार फिर 'ना भट्टोहम' की चीख़-पुकार मच गई। लेकिन यह संघर्ष मुख्यतः शासन में भागीदारी का संघर्ष था। किलाम कहते हैं :

> 'यह समझना ग़लत होगा कि इसमें आम मुसलमान बड़ी संख्या में हत्यारों के साथ शामिल हुए। संघर्ष ऊपरी स्तरों पर था अर्थात पंडितों को सत्ता से बाहर करने के लिए। यह सच है कि श्रीनगर के आम पंडितों को परेशानी उठानी पड़ी लेकिन गाँवों में रिश्ते वैसे ही आत्मीय बने रहे, जैसे ज़ैनुल आबदीन के समय थे। वहाँ पंडित अपना आम जीवन बदस्तूर चलाते रहे और पंडित तथा शेख़ भाइयों की तरह रहते रहे।[65]

इस 'भाइयों की तरह रहने' को थोड़ा ठहरकर पढ़े जाने की ज़रूरत है। फ़ारसी सीखने तथा दरबार में दाख़िल होने से कश्मीरी ब्राह्मण समाज की संरचना में ही नहीं, व्यवहार में भी मूलभूत परिवर्तन आए थे। सेंडर कारकून ब्राह्मणों को 'सेक्यूलर परम्परा' का कहती हैं, क्योंकि बोलचाल, वेशभूषा और रहन-सहन में वे दरबार के दूसरे मुस्लिम सहयोगियों और साथियों के क़रीब आते गए। कल्हण की परम्परा के आख़िरी इतिहास लेखक शुक लिखते हैं कि 'मोहम्मद शाह (1484-1486) का समय आते-आते रीति-रिवाज इस क़दर बदल गए थे कि शुद्ध हिन्दू व्यवहार ग़ायब हो गया था। कुछ लोग अब मुसलमानों के रीति-रिवाजों

का पालन करते हैं और शास्त्रों में वर्णित उन रिवाजों का पालन करने में शर्म महसूस करते हैं जिनका उनके दादा-परदादा पालन करते थे। चार वर्णों के पुरुष राज्य में पहले नियमपूर्वक रहते हुए उसे सुशोभित करते थे लेकिन कालान्तर में लोगों ने धीरे-धीरे ख़ास दिनों को *नीलमत पुराण* द्वारा बताए गए उत्सवों को मनाना बन्द कर दिया तो जो लोग अपने रिवाज भूल गए, उन पर बुरी आपदाएँ क्यों न आएँ? कलियुग के प्रभाव से सभी लोग एक बराबर हो गए—अच्छी-बुरी आदतें, पढ़े-लिखे और भट्ट, कलाकार या नीच। केवल एक प्रतिशत ब्राह्मणों में आत्मा बची है।'[66] यही नहीं, कश्मीरी मुसलमान अपने व्यवहार और वेशभूषा आदि में बाक़ी जगहों के मुसलमानों से काफ़ी अलग थे। अपने पुराने धर्म के आचार-व्यवहार पूरी तरह से उन्होंने कभी नहीं छोड़े। इसी प्रक्रिया का असर था कि 1893 में लिखे अपने संस्मरण में नाइट लिखते हैं :

> इस देश में दोनों (हिन्दू और मुसलमानों) के बीच असल में अन्तर बाहरी अधिक है और भीतरी कम। दोनों धर्मों को माननेवालों में से किसी के पास अपने पुरखों के धर्म पर गर्व करने के लिए कुछ नहीं है। ज़्यादातर लोगों के पुरखे धर्मांतरित अगड़े या पिछड़े हैं...। अब वे (कश्मीरी) न तो अच्छे हिन्दू हैं और न ही अच्छे मुसलमान। इसका एक परिणाम है कि धार्मिक कट्टरता कभी-कभी ही दिखती है जब शिया और सुन्नी मिलते हैं।[67]

यह एक मज़ेदार तथ्य है। कश्मीर में शियाओं का प्रवेश होता है 1477 में शम्सुद्दीन इराक़ी के आगमन से। इराक़ी का मुख्य उद्देश्य कश्मीर में शिया सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार करना था। हालाँकि कश्मीर में शिया पहले से भी थे लेकिन एच.ए. आल्टर ने इराक़ी को प्रभावी रूप से कश्मीर में शिया सम्प्रदाय को लाने का श्रेय दिया है।[68] हसन शाह का वह दौर शाहमीरी के अस्त का था और कश्मीर में भयावह अराजकता पसरी थी। इराक़ी खुरासान के शासक सुल्तान हुसैन मिर्ज़ा के दूत के रूप में कश्मीर आया था और जब उसके शिया सम्प्रदाय के प्रचार की ख़बर सुल्तान को मिली तो उसे कश्मीर से आठ सालों के लिए निष्काषित कर दिया गया। इस बीच उसने दरबार के एक प्रभावशाली सामन्त मूसा रैना को अपने प्रभाव में ले लिया था। 1493 में जब इराक़ी दूसरी बार कश्मीर आया तो कुछ ही समय बाद मूसा रैना वज़ीर-ए-आज़म बन गया। अगले नौ साल मूसा रैना के साथ-साथ शम्सुद्दीन इराक़ी का प्रभाव बढ़ते जाने के साल थे। मूसा ने उसके लिए ज़ादीबल में एक ख़ानकाह का निर्माण कराया और जागीर अता की। शम्स चक के समर्थक क़ाज़ी चक, सारंग चक और मीर चक भी शम्सुद्दीन इराक़ी के प्रभाव में आ गए और शिया सम्प्रदाय अपना लिया।[69] मूसा रैना की सरपरस्ती में चले धर्मांतरण अभियान में शम्सुद्दीन ने शिया सम्प्रदाय के मिशनरी प्रचार के लिए हर जायज़-नाजायज़ रास्ता अपनाया, ज़ैनुल आबदीन के समय के सारे सहिष्णु

आदर्शों को ताक पर रख दिया गया, कश्मीरी पंडितों का तलवार की नोक पर धर्म परिवर्तन कराया गया, अनेक मन्दिरों को ध्वस्त कर दिया गया और जिनमें श्रीनगर और आसपास के 18 बड़े मन्दिर शामिल थे।[70] ये नौ साल कश्मीरी ब्राह्मणों के लिए भयावह थे। लेकिन इससे फैले असन्तोष की क़ीमत मूसा रैना को चुकानी पड़ी।[71] मूसा रैना के मरने के बाद कांता भट्ट (निर्मल कांत) नामक एक कश्मीर पंडित ने उसके समय में हुए धर्मांतरण को पलटने के लिए शुद्धि अभियान चलाया। अधिकतर धर्मांतरित लोगों को पुनः हिन्दू बना लिया गया। लेकिन इसके बाद दरबार में प्रभावी हुए काछी चक ने इराक़ी के साथ मिलकर भयानक दमन चक्र चलाया। चूँकि पहली बार इराक़ी के सरपरस्त मूसा रैना को अपदस्थ करने में ब्राह्मणों की भूमिका थी तो इसका बदला लिया गया और शम्सुद्दीन इराक़ी के कहने पर उसने शुद्धि से हिन्दू बने लोगों को सबक सिखाने का फ़ैसला लिया और 1518 में 800 से अधिक हिन्दू नेताओं को बेरहमी से क़त्ल कर दिया गया और भय तथा आतंक के इस माहौल में बचे हुए हिन्दुओं ने चुपचाप वापस इस्लाम अपना लिया।[72] शुक लिखते हैं—मुसलमानों का जो दमन सैयदों के समय शुरू हुआ था, वह मूसा रैना और क़ाज़ी चक के समय अपने अंजाम पर पहुँचा दिया गया।

1526 में शम्सुद्दीन इराक़ी की जब मृत्यु हुई तो शाहमीर वंश अपने आख़िरी दिन गिन रहा था और दरबार में षड्यंत्रों का बोलबाला था। अन्ततः 13 अगस्त, 1541 को एक मुग़ल मिर्ज़ा हैदर दुग़लत ने कश्मीर के शासन पर क़ब्ज़ा किया। आरम्भिक दौर में उसने न केवल नाज़ुक शाह को पूरा सम्मान दिया बल्कि कश्मीरी सामन्तों के साथ भी बहुत सद्भावनापूर्ण व्यवहार किया। आस्थावान सुन्नी होने के बावजूद उसने नूरबख़्शिया सम्प्रदाय और शिया सम्प्रदाय के साथ भी सम्मानजनक व्यवहार किया और वह ज़ादीबल में शम्स इराक़ी की क़ब्र पर भी जाया करता था।[73] लेकिन आगे ऐसे हालात बने कि 1548 में उसने शम्सुद्दीन इराक़ी का ज़ादीबल स्थित मक़बरा ज़मींदोज़ कर दिया और अगले दो सालों में उसके बेटे तथा आध्यात्मिक उत्तराधिकारी शेख़ दानियाल तथा नूरबख़्शिया सम्प्रदाय के कई प्रमुख संतों की बेरहमी से हत्या करवा दी।

पारिमू ने *तारीख़-ए-रशीदी* के हवाले से मिर्ज़ा को उद्धृत करते हुए लिखा है—इराक़ी के किसी अनुयायी की हिम्मत नहीं थी कि वह अपने धार्मिक विश्वास के बारे में खुलकर बोल सके। सब इससे इनकार करते थे क्योंकि उन्हें पता था कि ऐसा करने पर वे मेरे हाथ से नहीं बचेंगे।[74] शम्स इराक़ी ने क़ाज़ी चक और अब्दुल माग्रे की मदद से साम्प्रदायिक वैमनस्य की जो विषबेल बोई थी, वह अब ज़हरीला पेड़ बन चुकी थी। इस दौर में शिया-सुन्नियों के बीच जो संघर्ष शुरू हुआ, वह लम्बे समय तक चला और कश्मीर की देह पर कई घिनौने घाव दे गया।

इस पूरे दौर में ब्राह्मण कश्मीर के राजनीतिक परिदृश्य से ग़ायब दिखाई देते हैं। उन्होंने अराजकता के इस माहौल में ख़ुद को अलग-थलग कर लिया था और बहुत सावधानी से काम लिया। उन्होंने किसी तरह के बखेड़े से ख़ुद को दूर रखा और कभी किसी विवाद में नहीं पड़े। इसका अन्दाज़ा एक युद्ध का विवरण लिखते समय श्रीवर की सावधानी से लगाया जा सकता है। वह कहते हैं: 'हालिया प्रतिकूल समय को ध्यान में रखते हुए मैं इस हार का संक्षिप्त विवरण देने से भी बच रहा हूँ।'[75]

इस दौर में ब्राह्मणों ने कश्मीर के भीतर और बाहर ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सक्रियता को चुना। किलाम केशव पंडित नामक कवि और तर्कशास्त्री के कलकत्ता जाने और वहाँ चैतन्य महाप्रभु से प्रभावित होकर मथुरा में इस सम्प्रदाय का मठ स्थापित करने का ज़िक्र करते हैं। पंडित पुरुषोत्तम कौल कश्मीर में संस्कृत सिखाने वाली एक पीठ के अध्यक्ष थे जहाँ देश भर से बटुक आया करते थे।[76]

1561 से 1586 के बीच कश्मीर पर चक साम्राज्य के आधिपत्य के दौर में भी शिया-सुन्नी विवाद चलते रहे। हालाँकि चक सुल्तानों के शिया मतावलंबी होने की वजह से वह शियाओं के लिए बेहतर समय था। सैंडर बताती हैं कि कश्मीरी ब्राह्मण उस समय राज्य प्रशासन में भागीदार थे और हुसैन चक उनके त्योहारों में भागीदारी भी करता था।[77]

लेकिन 35 सालों की इस अवधि में कोई ऐसी बड़ी घटना नहीं हुई जिसका कश्मीर या ब्राह्मणों पर कोई दूरगासी प्रभाव पड़ता।

मुग़ल शासन और ब्राह्मण

कश्मीर के इतिहास में आम तौर पर मुग़लों के शासन को ग़ुलामी की शुरुआत माना जाता है लेकिन कश्मीरी पंडितों के इतिहास में यह पुनरुद्धार के समय की तरह भी दर्ज होता है।[78] इस अवधारणा को ज़रा ठहरकर समझना ज़रूरी है। अकबर ने चक साम्राज्य को अपदस्थ करके सत्ता हासिल की थी तो यह सहज था कि स्थानीय शासक वर्ग तथा उसके पूर्व सहयोगियों पर उसका अविश्वास होता। जब चकों के अत्याचार से परेशान कश्मीर के सुन्नी मुसलमानों के प्रतिनिधि शेख़ याकूब सरफी और बाबा दाउद ख़ाकी ने अकबर से कश्मीर को चकों से मुक्त कराने का प्रस्ताव दिया तो उसमें जो शर्तें रखी गई थीं, उनमें धार्मिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति, किसी कश्मीरी हिन्दू या मुसलमान, मर्द या औरत को ग़ुलाम न बनाने, कश्मीरियों का उत्पीड़न न करने के साथ-साथ यह शर्त भी थी कि 'पूर्व में कश्मीर में संकट पैदा करनेवाले कुलीनों की देश के शासन में कोई भागीदारी नहीं होगी।' इसके बावजूद कश्मीर में अब भी पुराने ताक़तवर सामन्त मौजूद थे और विद्रोह की सम्भावनाएँ

भी। असल में विद्रोहों की कोशिशें भी हुईं और उन्हें बहुत कड़ाई से दबा दिया गया। मान्यता है कि अकबर कश्मीर में फिरन (एक ढीला-ढाला लम्बे कुरते जैसा लिबास) और काँगड़ (काँगड़ी के लिए कश्मीरी शब्द, अँगीठी) लेकर आया और फिरन पहनना तथा इसके भीतर जाड़ों में काँगड़ रखना अनिवार्य कर दिया। उसने हथियार रखने पर भी पाबन्दी लगा दी। इसका असर यह हुआ कि एक योद्धा क़ौम धीरे-धीरे युद्ध करना भूल गई। और एक वक़्त में गज़नवी को हरानेवाली इस क़ौम को कालांतर में कायर घोषित कर दिया गया। डोगरा या ब्रिटिश आर्मी में इसके लिए कोई जगह नहीं बनी।[79] वर्षों तक कश्मीर का भविष्य तय करनेवाले शाहमीरी, चक, माग्रे, रैना, मलिक, बट्ट जैसे मुस्लिम सामन्त परिवार अपनी प्रतिष्ठा खोकर देखते ही देखते कश्मीर के राजनीतिक पटल से ओझल और विस्मृत हो गए।[80]

वहीं दूसरी तरफ़ ज़ैनुल आबदीन के बाद लगभग लगातार उपेक्षा और उत्पीड़न के शिकार ब्राह्मणों के लिए यह एक अवसर की तरह सामने आया। कश्मीरी राष्ट्रवाद का हिस्सा बनने और पूर्व शासकों के साथ प्रतिबद्धतता जताने की कोई वजह उनके पास नहीं थी और एक समूह के रूप में उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक सेक्यूलर नीतियों वाले अकबर का स्वागत किया। पंडित शुक ने लिखा है कि अकबर ने अपनी पहली यात्रा में ब्राह्मणों को स्वर्णमुद्राएँ दान कीं। वह मार्तंड भी गया और मोतियों से सजी गाएँ ब्राह्मणों को दान कीं।[81] ब्राह्मणों के पुनर्वास के लिए उन्हें लगान-मुक्त ज़मीनें दी गईं और इस भू-वितरण की ज़िम्मेदारी आदित्य पंडित को सौंपी गई। ब्राह्मणों द्वारा वितस्ता (झेलम) के जन्मदिन के रूप में मनाये जानेवाली भाद्रपद की त्रयोदशी को पूरे शहर में रोशनी करने के आदेश दिये और ख़ुद उत्सव में शामिल हुआ। लेकिन सबसे बड़ा क़दम था ब्राह्मणों के लिए अपमानजनक जज़िया की समाप्ति।[82] जज़िया एक तरह का सुरक्षा टैक्स था जो सारी ग़ैर-मुस्लिम प्रजा पर लगाया जाता था क्योंकि उन्हें सैन्य सेवाओं से बाहर रखा जाता था।* लेकिन जज़िया हिन्दुओं के लिए अपमानजनक था और यह उन्हें अपने धार्मिक विश्वासों की सज़ा जैसा लगता था। इसके अलावा इसका असर छोटे कर्मचारियों और अन्य मध्यवर्गीय तत्त्वों पर पड़ता था क्योंकि ग़रीबों को जज़िया देना नहीं पड़ता था और इसकी दर इतनी कम थी कि अमीरों पर इसका असर होता नहीं था।[83] इसलिए अकबर का जज़िया हटाना ब्राह्मणों का विश्वास जीतने की कोशिशों का हिस्सा था और बदले में ब्राह्मणों ने उसे पूरा सहयोग दिया। शुक कहते हैं—ब्राह्मणों ने राजा को आशीर्वाद दिया।[84]

---

* सिद्धान्त रूप में किसी ग़ैर-मुस्लिम को एक मुस्लिम राज्य की तरफ़ से लड़ने की इजाज़त नहीं दी जा सकती इसलिए उसे सेना के अनुरक्षण के लिए ग़ैर-मुस्लिमों को कर देना ही चाहिए। हालाँकि मुग़लों की सेना में राजपूतों का होना बेहद सामान्य था तो जज़िया असल में सिद्धान्त से अलग धार्मिक भेदभाव और ग़ैर-मुस्लिमों के अपमान का ही ज़रिया था।

इसके अलावा उच्च पदों पर दिल्ली से नियुक्ति करने के बावजूद सत्ता और प्रशासन चलाने के लिए स्थानीय लोगों की आवश्यकता तो थी ही। ज़ैनुल आबदीन के बाद से ही धीरे-धीरे राजनीति से बाहर हो चुके ब्राह्मण मुग़लों के लिए राजनीतिक रूप से पूरी तरह अहानिकारक थे और इसीलिए उन्होंने 'अपने कश्मीरी स्वधर्मियों से अधिक भरोसा ब्राह्मणों पर किया।'[85] सेंडर कहती हैं : 'हिन्दुओं की भर्ती मुग़ल नीति का एक सुसंगत हिस्सा था।'[86] फ़ारसी में दक्षता ब्राह्मणों की अतिरिक्त योग्यता बनी और वे मुग़ल सत्ता की मशीनरी का ज़रूरी हिस्सा बने। मुग़लों द्वारा शुरू किये गए सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य भू-आकलन और लगान निर्धारित करने के लिए जब दिल्ली से क़ाज़ी नूरुल्लाह और क़ाज़ी अली भेजे गए तो उनके सहयोग के लिए इस मामले के विशेषज्ञ माने गए पंडित तोताराम को चुना गया। हम देखते हैं कि इसके बाद से तमाम उथल-पुथल के बावजूद डोगरा शासन तक और उसके बाद भी राजस्व विभाग पर ब्राह्मणों का दबदबा बना रहा। पंडित तोताराम कश्मीर के पहले मुग़ल सूबेदार मिर्ज़ा यूसुफ़ ख़ान के पेशकार के पद तक पहुँचे। यहाँ तक कि सेना में कश्मीरी पंडितों को जगह ही नहीं दी गई बल्कि ऊँचे पद भी दिये गए। सिकन्दर के समय कश्मीर से पलायन कर गए ब्राह्मण परिवार के मेरू पंडित को जहाँगीर के समय में सेना में ऊँचा ओहदा और कश्मीर में जागीरें दी गईं। सूबेदार अली मरदान ख़ान (1650-57) के समय के पंडित महादेव को पेशकार बनाया गया। नूरजहाँ की व्यक्तिगत सुरक्षा की कमान भी एक कश्मीरी मीरू पंडित के ज़िम्मे थी। मीरू पंडित ने बाद में जहाँगीर को एक बार महाबत ख़ान से बचाया था और इसके बाद उन्हें कश्मीर में एक बड़ी जागीर दी गई।[87]

इस दौर में मुग़ल शासकों की नीतियों का अन्दाज़ा जहाँगीर के समय घटी एक घटना से लगाया जा सकता है। जब सूबेदार क़ालीच ख़ान के समय हिन्दुओं ने जहाँगीर से अपने उत्पीड़न की शिकायत की तो उसने क़ालीच ख़ान को चेताया कि 'तुम्हारी शिकायतें बहुत हैं और तुम्हें चाहनेवाले बहुत कम। बादल का पानी प्यासे लोगों तक पहुँचाओ या फिर अपना पद छोड़ दो।' इसके अलावा उसने पंडित श्रीकांत को हिन्दू मामलों का न्यायाधीश भी नियुक्त किया था जिससे हिन्दुओं को अपने धार्मिक मामलों में पूरी आज़ादी मिल सके। आम तौर से औरंगज़ेब को हिन्दुओं का विरोधी माना जाता है लेकिन किलाम कहते हैं :

> यहाँ तक कि औरंगज़ेब के शासनकाल में भी पंडितों ने देश में बहुत ऊँचे पद हासिल किये और उन्हें मनसब दी गईं। चौधरी महेश शंकर दास एक मनसबदार थे और ऐसा लगता है कि वह बेहद अमीर थे। उन्होंने निशातबाग़ के पास एक शानदार बाग़ बनवाया था।[88]

सेंडर, अतहर अली के हवाले से, समाहार के रूप में कहती हैं :

> उच्च पदों पर हिन्दुओं को नियुक्त करने के ख़िलाफ़ सभी सैद्धान्तिक निर्णयों के बावजूद वास्तविक व्यवहार में उसने मज़बूत प्रशासन के लिए अपने किसी भी पूर्वज से अधिक हिन्दुओं को उच्चतर मनसबदारों के रूप में नियुक्त किया।[89]

'बतलाश-ए-माश आमदम' और ब्राह्मण से कश्मीरी पंडित तक की यात्रा

इसके अलावा पहली बार एक अखिल भारतीय साम्राज्य का हिस्सा बन जाने के बाद कश्मीर के ब्राह्मणों के लिए कश्मीर के बाहर जाकर अपने लिए नये अवसर तलाशना आसान हो गया और उन्होंने इसका ख़ूब फ़ायदा उठाया। जब अपनी पहली यात्रा के बाद अकबर दिल्ली लौटा तो उसके साथ कई ब्राह्मण दिल्ली और आगरा आ गए जिनमें सदानन्द कौल का नाम सर्वोपरि है। उन्हें लम्बा जीवन मिला था और वह जहाँगीर और शाहजहाँ के समय भी मुग़ल दरबार में महत्त्वपूर्ण बने रहे। शाहजहाँ ने न केवल उन्हें जागीरें और मनसब दीं बल्कि उन्हें 'इत्माद-उल-सल्तनत', 'मुशिरुल-मुल्क', 'मिर्ज़ा राजा' और 'ग़मख़्वार' की उपाधियाँ दी थीं। यह परिवार कश्मीर में ग़मख़्वार परिवार के नाम से जाना गया। कश्मीरी ब्राह्मणों ने दिल्ली, आगरा सहित कई उत्तर भारतीय शहरों में अपनी बस्तियाँ बनाईं। अवध के नवाब आसफ़ुद्दौला के समय मुल्ला, सप्रू, शिवपुरी, किचलू जैसे प्रतिष्ठित कश्मीरी ब्राह्मण परिवार उनके दरबार में शामिल हुए। फ़ारसी भाषा का ज्ञान और मुस्लिम संस्कृति से परिचय ही नहीं बल्कि उसके साथ लम्बे सहजीवन में उसके काफ़ी समरूप* हो जाने के कारण अपने उत्तर भारतीय सजातियों की तुलना में उनके लिए शासन-व्यवस्था का हिस्सा बनना और इस्लामी समाज से सहज रिश्ता बनाना आसान था। कश्मीरी ब्राह्मण अपने व्यवहार से ही नहीं, खान-पान में भी उत्तर भारतीय ब्राह्मणों से काफ़ी अलग थे या यों कहें कि धार्मिक समानता के बावजूद उनमें सांस्कृतिक अन्तर गहरा था। सबसे पहला अन्तर तो यही था कि जहाँ आम तौर से ग्रामीण भारत में रहनेवाले उत्तर भारतीय ब्राह्मण संस्कृत या स्थानीय भाषाओं में निष्णात थे, वहीं कश्मीरी ब्राह्मण फ़ारसी और संस्कृत में निष्णात थे। साथ ही वे मांसाहारी थे और उनके शैव धर्म के तांत्रिक रीति-रिवाज उत्तर भारत के ब्राह्मणों के लिए अस्वीकार्य थे।[90] 1977 में प्रकाशित संस्मरण में एक कश्मीरी पंडित धनवंती रामाराव (हांडू) कहते हैं कि 'वे पंजाब से उत्तरी प्रान्त

---

* पहले भी लॉरेंस और नाइट को हमने कश्मीर के हिन्दुओं और मुसलमानों में बाहरी तौर पर अन्तर न होने की बात करते देखा है। *आईन-ए-अकबरी* में अबुल फ़ज़ल ने जहाँगीर के हवाले से लिखा है कि बाहर से ब्राह्मणों को मुसलमानों से अलग नहीं पहचाना जा सकता है।

(अब उत्तर प्रदेश) तक उत्तर भारत के सभी हिस्सों में बस गए लेकिन कभी भी अपने नये गृह प्रदेश के ब्राह्मणों के साथ वास्तव में जुड़ नहीं सके।[91]

स्वाभाविक है कि कश्मीर से आए ये ब्राह्मण अपनी अलग पहचान स्थापित करने का प्रयास करते। मुहम्मद शाह (1719-1748) के ज़माने में कश्मीर से दिल्ली आए पंडित जयराम भान को राजा की उपाधि मिली थी। उन्होंने बादशाह से माँग की कि कश्मीरी ब्राह्मणों को 'ख़्वाज़ा' की जगह अलग से 'कश्मीरी पंडित' के नाम से सम्बोधित किया जाए।[92] मुहम्मद शाह ने उनकी यह अर्ज़ी मान ली और उसके बाद से कश्मीर के ब्राह्मणों को कश्मीरी पंडित कहे जाने का जो रिवाज चला,[93] वह अब तक जारी है।

बाद के कई विवरणों में मुग़लकाल में कश्मीर से पंडितों के समतल मैदानी इलाक़ों में आने को सिकन्दर के समय से लेकर नब्बे के दशक तक के विस्थापन से जोड़ते हुए इसे मुस्लिम शासकों के अत्याचार के कारण हुआ 'पलायन' बताते हैं लेकिन न तो जियालाल किलाम अपनी किताब में ऐसे किसी 'पलायन' का ज़िक्र करते हैं, न ही उस दौर के किसी विवरण में ऐसा मिलता है। हमने अब तक जिन परिवारों के क़िस्से देखे हैं, वे सभी कश्मीर से बाहर बेहतर भविष्य के लिए मैदानों में आए थे। इसमें नेहरू परिवार का वह प्रसिद्ध क़िस्सा भी जोड़ा जा सकता है जिसके अनुसार फ़र्रुक़सियर के शासनकाल में पंडित राजकौल दिल्ली आ गए थे और कालान्तर में उनका परिवार नेहरू परिवार* के रूप में जाना गया। सेंडर चिन्हित करती हैं कि कश्मीर से आए ये ब्राह्मण अपनी धार्मिक पहचान को बचाने के लिए पुरोहिती या ऐसे किसी कार्य में नहीं अपितु मुग़ल दरबार में नौकरियों में गए तथा बनारस जैसी धार्मिक जगहों की अपेक्षा इन्होंने दिल्ली, आगरा और इलाहाबाद जैसे सत्ता केन्द्रों को चुना। वह लेलिफेल्ड को उद्धृत करते हुए कहते हैं—यह (शासकीय सेवा में भर्ती) एक ऐसी संस्कृति थी जिसमें कोई पूर्व शर्त नहीं थी। इसमें बहुत सारे हिन्दू शामिल हुए और ज़्यादातर मुसलमान बाहर हो गए। शासन के निचले स्तर पर ऐसे हिन्दुओं की संख्या बढ़ती गई जिन्होंने ख़ुद को मुग़ल तरीक़े की वेशभूषा, आचरण,

---

* नेहरू नामकरण को लेकर आम तौर पर जवाहर लाल नेहरू की आत्मकथा के आधार पर नहर के किनारे बसने से जोड़ा जाता है। लेकिन एम.वाय. टैंग ने काफ़ी शोध कर सिद्ध किया है कि या तो नेहरू परिवार कश्मीर में नौरू नामक गाँव से आया था या वहीं नहर के काम से जुड़े रहने के कारण उनका नाम नेहरू पड़ गया होगा। बी.के. नेहरू ने भी अपनी आत्मकथा में लॉरेंस से हुई मुलाक़ात का ज़िक्र करते हुए ऐसी सम्भावना व्यक्त की है और इस उपनाम के कुछ और लोगों का ज़िक्र किया है जिनका उनके परिवार से कोई लेना-देना नहीं है। श्रीनगर के छानपोरा इलाक़े में मुझे भी एक नेहरू दम्पती का ज़िक्र मिला जो नब्बे के दशक के बाद भी कश्मीर में ही रहते थे। अब उस दम्पती की मृत्यु हो चुकी है और बच्चे विदेश में हैं।

राज कौल*

स्थापत्य, पेंटिंग, साहित्य, एथलेटिक योग्यताओं और मनोरंजन के अनुरूप ढाल लिया था। कश्मीरी पंडित इनमें शामिल थे।[94] कश्मीरी पंडितों ने इस दौर में ही नहीं बल्कि अंग्रेज़ों के आने के बाद भी मैदानी इलाक़ों में महत्त्वपूर्ण सफलताएँ हासिल कीं और शासकीय सेवाओं में ही नहीं अपितु विभिन्न रजवाड़ों में भी ऊँचे ओहदे हासिल किये। इस सम्बन्ध में एक रोचक उदाहरण जस्टिस मार्कंडेय काटजू का है। एक सवाल के जवाब में वह कहते हैं :

> दो तरह के कश्मीरी पंडित हैं—कश्मीरी बोलनेवाले और कश्मीरी न बोलनेवाले। मेरे जैसे कश्मीरी न बोलनेवाले कश्मीरी पंडित वे हैं जिनके पुरखे कोई 200 साल पहले कश्मीर से पलायन कर गए थे। ये सभी कश्मीरी पंडित बिलकुल एक ही तरीक़े से पलायित हुए और वह यह कि उन्हें किसी रजवाड़े में यानी कि किसी महाराजा या नवाब के दरबार में नौकरी मिल गई (कश्मीरी पंडितों को ये नौकरियाँ मिल गईं क्योंकि वे उर्दू और फ़ारसी में उस्ताद थे जो उन दिनों दरबार की भाषा होती थी)। पंडित नेहरू, तेज़ बहादुर सप्रू आदि सभी के पुरखे ऐसे ही कश्मीर से आए थे। कश्मीर छोड़ने के बाद वे लगभग दो पीढ़ियों में कश्मीरी भूल गए और अब केवल हिन्दी तथा अंग्रेज़ी जानते हैं (मेरे पिता की पीढ़ी के लोग उर्दू बहुत अच्छी तरह जानते थे जबकि मेरी पीढ़ी के लोग भूल गए हैं)। मेरा अनुमान है कि इनकी संख्या लगभग दो लाख है। मेरे अपने पुरखे पंडित मंशा राम काटजू लगभग 200 साल पहले कश्मीर से पलायित हुए थे और जौरा के नवाब के यहाँ उन्हें नौकरी मिली। जौरा पश्चिमी मध्य प्रदेश के रतलाम ज़िले में है और राजस्थान का सीमावर्ती है। मेरा परिवार मेरे बाबा डॉ. के.एन. काटजू के उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद में जाकर बस जाने के पहले कई पुश्तों तक जौरा में रहा। मेरे परिवार की ही तरह कश्मीरी न बोलनेवाले कश्मीरी पंडित किसी उत्पीड़न के चलते नहीं बल्कि मैदानों में नौकरी के अवसरों के चलते पलायित हुए थे...। मेरे पुरखे पंडित मंशा राम काटजू ने कुरुक्षेत्र के पंडे के रजिस्टर में फ़ारसी में लिखा है : 'बतलाश-ए-माश आमदम' यानी मैं रोज़ी की तलाश में आया हूँ।[95]

सेंडर इसका समाहार करते हुए कहते हैं :

> बाद की कहानियों में कहा गया कि पंडित मैदानी इलाक़ों में इसलिए आए क्योंकि कश्मीर में उन्हें अपना ब्राह्मणत्व बचाना सम्भव नहीं लग रहा था। लेकिन वे दिल्ली और आगरा जैसी मुग़ल राजधानियों में अधिक सहज थे, बनारस या प्रयाग जैसे धार्मिक शहरों में नहीं। उन्होंने पूजापाठ की जगह सेक्यूलर रोज़गार अपनाए और फ़ारसी में प्रवीणता हासिल की, संस्कृत (जिसे वे धीरे-धीरे भूल गए) में नहीं।[96]

---

* मुशीरुल हसन की किताब 'द नेहरूज' से साभार

ज़ाहिर है कि बेहतर रोज़गार के लिए हुए पलायनों को बदली हुई परिस्थितियों में धर्म से जोड़ने की कोशिश की गई।

मुग़ल शासन का ढलान और अफ़रा-तफ़री

औरंगज़ेब के बाद का दौर मुग़ल शासन के पतन का दौर था और दिल्ली के कमज़ोर होने का असर कश्मीर पर भी पड़ना ही था। इस दौर में कश्मीर में अच्छे-बुरे सूबेदारों का आना और धर्म का फिर एक बार असफलताओं का पर्दा बनना स्वाभाविक ही था। इन 45 सालों में 22 सूबेदार नियुक्त हुए। लेकिन इस दौर में एक नई परम्परा शुरू हुई—नायब सूबेदारी की। सूबेदार कश्मीर में ख़ुद रहने की जगह एब्सेंटी शासक की तरह शासन करते थे और अपने प्रतिनिधि को नायब सूबेदार के रूप में शासन चलाने के लिए अधिकृत करते थे। इस दौर में वहाँ कुल 45 नायब सूबेदार नियुक्त किये गए थे। इन सूबेदारों और नायबों में एक-एक स्थानीय कश्मीरी कुलीन भी शामिल थे—1738 में सूबेदार नियुक्त हुए इनायत उल्लाह ख़ान द्वितीय और 1751 में नायब सूबेदार बने मीर मुक़ीम ख़ान। इनमें से सबसे क्रूर दौर अफरसियाब ख़ान (1746-51) का माना जाता है लेकिन केन्द्रीय सत्ता के विघटन के साथ-साथ कश्मीर में अराजकता के नये-नये मंज़र सामने आए। एक तरफ़ पुंछ और मुज़फ़्फ़राबाद के गूजर, बोम्बा और खाखा क़बीलों ने स्वतंत्र होने की आकांक्षा के साथ लगातार लूट-मार शुरू कर दी तो दूसरी तरफ़ खाने की वस्तुओं के दाम इस क़दर बढ़ गए कि चारों तरफ़ त्राहि-त्राहि मच गई। कुप्रबन्धन के चलते बाढ़, अकाल और भूकम्प के दौर में जनता को कोई राहत न मिल सकी और निरंतर आक्रमणों के चलते ख़ास तौर से पंजाब सूबे से व्यापार ठप हो गया और हज़ारों लोग मारे गए तथा बड़ी संख्या में लोग कश्मीर से पलायन कर गए।[7]

इस दौर में 'हिन्दुओं पर अत्याचार' के तमाम क़िस्से सुनाए जाते हैं। यहाँ मैं सिर्फ़ एक क़िस्सा उद्धृत करना चाहूँगा—बहादुर शाह के समय कश्मीर का धर्म-प्रमुख, शेख़-उल-इस्लाम नियुक्त हुआ माहतवी ख़ान साम्प्रदायिक मानसिकता का था, जिसने पंडितों के ऊपर तमाम प्रतिबन्ध लगा दिये, यहाँ तक कि उनके टीका लगाने को भी प्रतिबन्धित कर दिया गया और इसकी अवमानना करने पर भारी जुर्माने का प्रावधान किया। मुग़ल शासनकाल में कश्मीरी पंडित अपनी अल्पसंख्या के बावजूद घाटी में काफ़ी प्रभावी समूह बन चुके थे। ख़ास तौर पर राजस्व विभाग में उनकी भूमिका उसी समय से महत्त्वपूर्ण होने लगी थी। उन्होंने विद्रोह कर दिया। सूफ़ी ने इस घटना के पीछे भी एक पंडित राजस्वकर्मी द्वारा माहतवी ख़ान से, जो एक बड़ा ज़मींदार भी था, किसी सिलसिले में घूस की माँग बताई है। लेकिन वह इस विद्रोह के कारण के रूप में प्रतिबन्धों का कोई ज़िक्र नहीं करते जबकि उनका और पारिमू का स्रोत एक ही है—1874 में कोलकाता से प्रकाशित ख़फी ख़ान की किताब *मुन्तख़ाब उल लुबाब*।

ख़ैर, उन्होंने विद्रोह कर दिया और इसमें उन्हें शियाओं का भी साथ मिला। फलस्वरूप माहतवी ख़ान और उसके दो बेटों को गिरफ़्तार कर 12 सितम्बर, 1720 को उसकी हत्या कर दी गई। ज़िन्दा बचे उसके तीसरे पुत्र शरफ़ुद्दीन ने सुन्नी आबादी को साथ लेकर बदले की कार्यवाही शुरू की जिसमें शियाओं को ख़ास तौर पर बड़ा नुकसान उठाना पड़ा। स्थिति बेहद ख़तरनाक हो गई। मीर अहमद ख़ान इसे सँभाल नहीं पाया और अन्ततः इनायतुल्लाह ख़ान को पद छोड़ना पड़ा। उसकी जगह नियुक्त हुए सूबेदार अब्दुस समद ख़ान ने अपने नायब अब्दुल्लाह ख़ान देहबेदी के साथ मिलकर स्थिति पर नियंत्रण पाया। शरफ़ुद्दीन की हत्या कर दी गई तथा उसके 50 से अधिक समर्थकों को फाँसी दे दी गई। शान्ति स्थापित करने के बाद उसने पंडितों के ऊपर लगे सारे प्रतिबन्ध हटा दिये और उनके साथ अत्यन्त सौहार्दपूर्ण व्यवहार किया।[98]

साठ के दशक में कश्मीरी पंडितों द्वारा स्थापित पत्रिका 'मिलचर' में महाराज कृष्ण रैना माहतवी ख़ान के प्रतिबन्धों और उसके द्वारा आगजनी की घटना का ज़िक्र तो करते हैं लेकिन अब्दुस समद ख़ान द्वारा शरफ़ुद्दीन की हत्या और सभी प्रतिबन्धों को हटाने की बात नहीं करते।[99] इसके बाद अबू बरक़त ख़ान के समय तो एक कश्मीरी पंडित मुकन्दा राम धर को पेशकार बनाया गया था[100] लेकिन रैना इस घटना का ज़िक्र तक नहीं करते।

ज़ाहिर है, सभी ने इतिहास से अपने-अपने काम की चीज़ निकाल ली है।

रूपा भवानी : मर्दाने इतिहास में फेमिनिन हस्तक्षेप

दुर्भाग्य है कि इतिहास अक्सर मर्दों का इतिहास बनकर रह जाता है। इसमें औरतों की भागीदारी के निशानात कहीं दर्ज नहीं होते। कोटा रानी के बाद राजपरिवारों की कुछ गिनी-चुनी महिलाओं के अलावा ऐसी महिलाओं का कश्मीरी इतिहास में कोई ज़िक्र नहीं मिलता जिन्होंने वहाँ की राजनीति को प्रभावित किया हो। घर की क़ैद के बाहर सिर्फ़ धर्म एक ऐसा क्षेत्र था जहाँ उनके लिए कोई स्पेस बन सकता था। लल द्यद के बाद जिस दूसरी कश्मीरी पंडित महिला का ज़िक्र आता है, वह हैं—रूपा भवानी।

कश्मीर में मुग़ल शासन की स्थापना के समय ही श्रीनगर के सफा कदल में पंडित माधो धर के घर 1624 ईसवी को उनका जन्म हुआ था। बचपन में उन्हें रवाफ़ नाम दिया गया था, जो संस्कृत में रूपा का समानार्थी है। देखें तो रूपा भवानी की कहानी भी लल द्यद से बहुत अलग नहीं है। एक शिक्षित पिता के घर पैदा होने और आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा के बावजूद केवल दस वर्ष की उम्र में विवाह और फिर वही ससुराल में ताने, उत्पीड़न। नाक़ाबिल-ए-बर्दाश्त होने पर घर छोड़ भगवा धारण कर वह संन्यासी हो गईं। अपने पिता से योग, वेदान्त आदि की शिक्षा ली उन्होंने लेकिन ज्ञान की प्यास नहीं बुझी। लल द्यद के वाख उनके हृदय के सबसे क़रीब पहुँचे।

साधुओं, फ़क़ीरों और दरवेशों के यहाँ भटकती रहीं। अन्ततः उन्हें लार में मिले सूफ़ी संत शाह सादिक़ कलन्दर। उनसे शास्त्रार्थ करते रूपा भवानी की ज्ञान की प्यास पूरी हुई। उन्होंने भटकना छोड़ दिया और मृत्युपर्यन्त वस्कुर नामक स्थान पर बस गईं जहाँ पूरे कश्मीर से उनके हिन्दू और मुसलमान भक्त दर्शनार्थ आया करते थे। संवत 1777 में माघ माह के कृष्ण पक्ष की सप्तमी को 96 वर्ष की उम्र में जब उनकी मृत्यु हुई तो शाह कलन्दर ने इसे एक फ़ारसी रोज़नामचे में दर्ज किया। उनकी स्मृति में उस दिन को 'साहेब सप्तमी' का नाम दिया गया और यह आज भी कश्मीरी पंडितों के लिए एक पवित्र दिन है। उनके सम्मान में इस धर परिवार को 'साहेब धर' कहा जाता है। कहते हैं कि इससे पैदा हुई ईर्ष्या के कारण धर ब्राह्मणों का दूसरा हिस्सा रूपा भवानी और उनके भक्तों को 'आडम्बर करनेवाला' कहकर अपमानित करने लगा और जानबूझकर साहेब सप्तमी को मांस बनाकर खाया जिसके चलते उन्हें 'हूफ़ धर' कहा गया। अफ़ग़ान शासन में बहुत प्रभावी रहे बीरबल धर इसी परिवार से थे। ख़ैर, समय के साथ यह विवाद समाप्त हो गया।[101]

कश्मीरी पंडितों की वेबसाइट कौसा डॉट ओआरजी पर शाह कलन्दर का कोई ज़िक्र तो नहीं है लेकिन उनकी मृत्यु से जुड़ी एक कथा है जो बताती है कि कश्मीरी मुसलमानों में उनकी कितनी प्रतिष्ठा थी। जिस तरह लल द्यद को लल आरिफ़ा कहा जाता था, वैसे ही उन्हें भी रूपा आरिफ़ा कहा जाता था और मुसलमानों ने तत्कालीन मुग़ल सूबेदार से उन्हें इस्लामिक विधि से दफ़नाने का आदेश ले लिया था। इससे दुखी होकर उनके भाई संसार चन्द धर ने उनके शव के सामने प्रार्थना की कि इस अपमानजनक स्थिति से उन्हें बचाएँ। रूपा भवानी प्रकट हुईं और वहाँ उपस्थित हिन्दू और मुस्लिम भक्तों के सामने कहा कि 'वह करो जो तुम्हें सही लगे। अपने मुस्लिम भाइयों को रोटी और शीरनी देकर विदा करो।' उनका इशारा समझकर मुस्लिम भक्त चले गए लेकिन जब चिता पर उनकी देह ले जाने के लिए कफ़न हटाया गया तो वहाँ केवल फूल और पत्ते मिले। कहते हैं—रूपा भवानी परमात्मा में लीन हो गईं।[102] यह कथा कबीर की याद दिलाती है।

प्रेमनाथ बज़ाज़ उन्हें दार्शनिक से अधिक एक समाज-सुधारक मानते हैं। उन्होंने शराबबन्दी के साथ-साथ पशुबलि, गहने पहनने, बहुविवाह, भिक्षावृत्ति आदि का विरोध किया। इसके अलावा उन्होंने धर्म और जाति के बन्धनों से ऊपर उठकर जीवन में वृहत्तर उद्देश्य की प्राप्ति को लक्ष्य बनाने की शिक्षा दी। उनके अनुसार सभी धर्म एक ही ईश्वर को प्राप्ति की अलग-अलग राहें हैं। बज़ाज़ उन्हें 'धार्मिक मानवतावादी' कहते हैं।

मिथकीय क़िस्सों से परे रूपा भवानी की कथा एक तरफ़ कश्मीर में इस दौर तक दोनों धर्मों के संश्लेषण से विकसित हुई उस संस्कृति की स्पष्ट परिचायक है

जिसमें एक-दूसरे के साधुओं, फ़क़ीरों का सम्मान और साझा ज्ञान की परम्परा का विकास हुआ तो दूसरी तरफ़ तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति का भी। लल द्यद हों या कि रूपा भवानी या उनके कोई एक सदी बाद की अर्निमाल, सबकी कहानियाँ लगभग एक जैसी ही हैं।

अफ़ग़ानों का दौर : अराजकता के बीच कश्मीरी पंडित

कश्मीर पर अफ़ग़ानों के क़ब्ज़े की पूर्वपीठिका हिन्दुस्तान पर नादिर शाह के हमले (1738-39) के समय ही लिख दी गई थी। करनाल के युद्ध के बाद भारी क़ीमत वसूल कर उसने मुहम्मद शाह को हिन्दुस्तान का ताज तो वापस कर दिया लेकिन काबुल और पेशावर को उसने अपने साम्राज्य का हिस्सा बना लिया। उस दौरान कश्मीर में गृहयुद्ध जैसी स्थितियाँ बन गई थीं। जब स्थिति काफ़ी बिगड़ी और मुग़ल सूबेदार फ़ख़रुद्दौला जब उसे सँभालने में नाकाम रहा तो उसकी जगह इनायतुल्ला ख़ान कश्मीरी को सूबेदार बनाया गया। फ़ख़रुद्दौला भागकर लाहौर चला गया और उसने पठान सेनाओं के सहयोग से कश्मीर पर क़ब्ज़ा करने का निश्चय किया। नादिर शाह ने सहायता भेजने में हिचक नहीं की और उसने गूजरों और पठानों की सहायता से कश्मीर पर क़ब्ज़ा कर उसे नादिरशाही का हिस्सा घोषित करते हुए नादिर शाह के नाम से ख़ुतबा पढ़वाकर तथा सिक्के ढलवाकर ख़ुद को कश्मीर का सूबेदार घोषित कर दिया। हालाँकि कश्मीरियों ने इसके ख़िलाफ़ बग़ावत का झंडा बुलन्द किया लेकिन उसने इस विद्रोह को दबा दिया। अन्ततः जब नादिरशाह से मुग़ल बादशाह की सन्धि हुई तब इनायतुल्लाह ख़ान को फिर से कश्मीर का सूबेदार नियुक्त किया गया।[103] सूफ़ी ने पीर हसन शाह की *तारीख़-ए-कश्मीर* के हवाले से इस वाक़ये की पुष्टि की है और कहा है कि 1739 में फ़ख़रुद्दीन 40 दिनों के लिए अफ़ग़ान नादिर शाह के प्रतिनिधि के रूप में कश्मीर का सूबेदार रहा और फिर समझौते के बाद उसने गद्दी छोड़ दी।[104] फ़ौरी तौर पर अफ़ग़ान संकट टल गया लेकिन दिन-ब-दिन कमज़ोर होते मुग़ल शासन और उधर लगातार बढ़ती जा रही अफ़ग़ान महत्त्वाकांक्षाओं के चलते कश्मीर पर अफ़ग़ानों का क़ब्ज़ा दीवार पर लिखी इबारत-सा स्पष्ट था।

केन्द्रीय शासन कमज़ोर होने के साथ-साथ कश्मीर के सूबेदार स्वतंत्र प्रभुसत्ता की तरह व्यवहार करने लगे थे। हालत यह कि इनायतुल्लाह ख़ान के नायब सूबेदार अबू बरक़त ख़ान ने गूजरों की सहायता से उसके ख़िलाफ़ विद्रोह कर दिया। जामिया मस्जिद के पास का मैदान लाशों से पट गया। अन्ततः इनायतुल्लाह ख़ान मारा गया और अबू बरक़त ने सूबेदारी पर क़ब्ज़ा कर लिया। फिर बारामूला के थानेदार बाबर उल्लाह ख़ान ने बरक़त के ख़िलाफ़ विद्रोह कर दिया। इस बार खाखा, बोम्बा, गूजर और किस्तवारी सैनिक उसके साथ थे। चारों तरफ़ अराजकता का माहौल

बन गया। हालाँकि दिल्ली से नियुक्त सूबेदार अबू मंसूर ख़ान ने हालात पर काबू पाया, बाबर उल्लाह ख़ान मारा गया और अबू बरक़त को गिरफ़्तार कर दिल्ली भेज दिया गया लेकिन यह शान्ति भी लम्बे समय तक नहीं चली और 1748 में नियुक्त किये गए सूबेदार अफरसियाब ख़ान के समय लूट-मार तथा अराजकता अपने चरम पर पहुँच गई।[105] मुग़लों का शासन कुलीन कश्मीरी मुसलमानों के लिए आम तौर पर प्रतिकूल था और वे सत्ता प्रतिष्ठानों से अलग कर दिये गए थे लेकिन इसी दौर में उनमें से बड़ी संख्या व्यापार की तरफ़ मुड़ी थी और मुग़ल साम्राज्य के साथ जुड़ने के कारण व्यापार के लिए खुले नये अवसरों का फ़ायदा उठाते हुए कश्मीर में एक मज़बूत व्यापारी वर्ग विकसित हो गया था जो एक तरफ़ मुग़लों के प्रति दुश्मनाना रुख़ रखता था तो दूसरी तरफ़ उन पंडितों के प्रति भी जो मुग़ल शासन में प्रभावशाली होकर उभरे थे।[106] उसी दौर में कुछ ऐसे ही मुस्लिम कुलीनों ने नादिर शाह की मृत्यु के बाद अफ़ग़ान सत्ता के प्रमुख बने अहमद शाह दुर्रानी* को कश्मीर में अपना सूबेदार नियुक्त करने का न्यौता देते हुए ख़त लिखा लेकिन यह ख़त अफरसियाब ख़ान के हाथ में पड़ गया तो इन कश्मीरी कुलीनों ने विद्रोह कर दिया और मुग़ल शासक को नया सूबेदार नियुक्त करने को कहा। नतीजतन, मीर मुक़ीम कांठ को नया सूबेदार नियुक्त किया गया। लेकिन अफ़रा-तफ़री के इस माहौल में अबु बरक़त के साहबज़ादे अब्दुल क़ासिम ने सूबेदारी पर क़ब्ज़ा कर लिया। मीर मुक़ीम ने ख़्वाजा ज़ाहिर दीदमारी के साथ अहमद शाह दुर्रानी से कश्मीर पर क़ब्ज़े की अपील की। उस वक़्त अहमद शाह लाहौर में था और हिन्दुस्तान पर आक्रमण की तैयारी कर रहा था। उसने अब्दुल्लाह ख़ाँ इशाक़ अक़ासी के नेतृत्व में एक बड़ी सेना कश्मीर पर आक्रमण के लिए भेजी। पहले तो अब्दुल क़ासिम ने उसे एक लाख रुपये देकर समझौता करना चाहा लेकिन जब बात नहीं बनी तो

---

* अहमद शाह दुर्रानी हेरात के अब्दाली क़बीले के पोपलाजाई वंश के सदोज़ाई शाखा के अब्दुल ज़मान ख़ान का बेटा था। अब्दुल ज़मान ख़ान मुल्तान में आकर बस गए थे जहाँ 1722 या 1724 में अहमद शाह का जन्म हुआ। अब्दाली (आब्द-ए-अली यानी ख़लीफ़ा अली के नौकर) के उपनाम से जाने जानेवाले सदोज़ाई पहले शिया थे लेकिन बाद में कट्टर सुन्नी हो गए। उन्होंने नादिर शाह के ख़िलाफ़ बग़ावत की थी और अहमद शाह को उसके बड़े भाई ज़ुल्फ़िकार के साथ गिरफ़्तार कर लिया गया था। बाद में नादिर शाह ने उन दोनों भाइयों को रिहा कर अपने साथ ले लिया। ज़ुल्फ़िकार हेरात के सूबेदार के ओहदे तक पहुँचा जहाँ एक युद्ध में वह मारा गया और अहमद शाह नादिर शाह के निजी स्टाफ़ में शामिल हुआ। 9 जून, 1747 में जब नादिर शाह की हत्या हुई तो अहमद शाह ने कोहिनूर सहित उसकी संपत्ति के बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया और अफ़ग़ान सामन्तों ने उसे नया बादशाह चुना और कंधार की एक मस्जिद में उसकी ताजपोशी हुई। दुर्रानी नाम उसे उसके पीर साबिर शाह ने दिया था, जिसका अर्थ होता है : दुर्र-ए-दौराँ—ज़माने का नगीना। लेकिन अहमद शाह ने दुर्र-ए-दुर्राँ को वरीयता दी जिसका मानी है—नगीनों का नगीना। इस तरह अहमद शाह अब्दाली इतिहास में अहमद शाह दुर्रानी के नाम से जाना गया और शाहानी दुर्रानी या दुर्रानी वंश का आरम्भ हुआ (सूफ़ी 298-99)।

शोपियान में दोनों सेनाओं के बीच पंद्रह दिन तक मुक़ाबला चला। अन्ततः अब्दुल क़ासिम का प्रमुख सिपहसालार गुल ख़ान खैबरी ग़द्दारी कर गया और अक़ासी की सेना से जा मिला। क़ासिम को गिरफ़्तार कर काबुल भेज दिया गया और इस तरह 1753 में कश्मीर मुग़लों के हाथ से निकलकर अफ़ग़ानों के क़ब्ज़े में चला गया।[107]

कश्मीर अफ़ग़ानिस्तान साम्राज्य के अभिन्न हिस्से से ज़्यादा एक अधीनस्थ राज्य था[108] और ख़ुद अव्यवस्था और अनिश्चितता से जूझते अफ़ग़ान शासकों के लिए कश्मीर अपने युद्ध अभियानों के लिए लूटपाट का आसान शिकारगाह था। इन 67 सालों में पाँच अफ़ग़ान शासक, अहमद शाह दुर्रानी (1753-72), तैमूर शाह (1772-93), ज़मान शाह (1793-1800) और शाह शूजा तथा महमूद शाह हुए तथा कश्मीर में 29 सूबेदार और 14 नायब सूबेदार (अफ़ग़ान दौर में इन्हें 'साहिबकार' कहा गया) हुए। उनमें सबसे लम्बा शासनकाल (लगभग साढ़े आठ साल) 1753 में सूबेदार बने राजा सुखजीवन मल का रहा जिन्होंने ख़ुद को स्वतंत्र राजा घोषित कर दिया था, जबकि सबसे कम समय (3 महीनों) के लिए नूरुद्दीन बमज़ाई और किफ़ायत ख़ान सूबेदार रहे।[109] लॉरेंस लिखते हैं :

> स्वार्थी लोगों को सूबेदार बनाया गया, जिन्होंने कश्मीर के ग़रीब लोगों से जितना धन कमा सकते थे, कमाया। जल्दी से जल्दी उन्हें धन कमाना था क्योंकि वे नहीं जानते थे, कब काबुल में कोई और ज़रूरतमन्द शासकों का क़रीबी हो जाएगा और उसे सूबेदार नियुक्त कर दिया जाएगा।[110]

स्वाभाविक है कि ज़्यादातर इतिहासकार कश्मीर में अफ़ग़ानों के शासन को आम तौर पर बेहद अराजक और बर्बर मानते हैं। सोज़ एक व्यंजना में इसे समेटते हैं : 'कांठ और दूसरे महत्त्वपूर्ण कश्मीरियों ने सोचा था कि अफ़ग़ान मुग़लों की तरह होंगे लेकिन जल्द ही अक़ासी जुल्चू के समय का अत्याचार वापस ले आया।'[111] पाँच महीनों तक कश्मीर को बुरी तरह से लूटने के बाद एक करोड़ से अधिक रुपये और ढेर सारा माल-असबाब लेकर जब वह अफ़ग़ानिस्तान लौटा तो अब्दुल्ला ख़ान काबुली को सूबेदार तथा सुखजीवन मल को साहिबकार* नियुक्त किया। यह तथ्य न केवल अक़ासी के हिन्दुओं के प्रति भयावह व्यवहार की एक विडम्बना रचता है बल्कि इसकी विवेचना कश्मीर में अफ़ग़ान शासन के दौरान हिन्दुओं के प्रति व्यवहार को समझने में भी मदद करती है। अक़ासी की इस लूटपाट से कश्मीरी जनता का कोई हिस्सा नहीं बचा था। स्वाभाविक है कि मुग़लकाल में समृद्ध हुए

* नायब सूबेदार, जिसके लिए मुग़ल शासन में आधिकारिक नाम 'कारगुज़ार' था, उसे अब 'साहिबकार' कहा गया। अफ़ग़ान शासकों की सबसे अधिक रुचि अधिकतम कमाई में थी तो कुछ महत्त्वपूर्ण बदलाव राजस्व विभाग में किये गए। उस दौर में साहिबकार के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण पद 'पेशकार' का था जिसकी भूमिका आर्थिक प्रबन्धन की थी, हालाँकि अक्सर यह दोनों पद आम तौर पर एक ही व्यक्ति के पास हुआ करते थे।

पंडित और पंजाब तथा दीगर जगहों से आकर कश्मीर में बसे खत्री इसका शिकार होते। लेकिन इस दौर को हिन्दुओं के लिए भयावह होते हुए इस तथ्य को अक्सर छिपा लिया जाता है कि इस लूटपाट का शिकार वह मुस्लिम व्यापारी वर्ग भी हुआ जिसने अफ़ग़ानों को कश्मीर आने का निमंत्रण दिया था। किलाम उस दौर के शायर मुल्ला अहमद को उद्धृत करते हैं :

> अफ़ग़ानों के कश्मीर के दृश्यपटल पर आते ही बाँसुरी की मीठी धुन ग़मज़दा मर्सियों में बदल गई। उपद्रवी अफ़ग़ानों ने अपनी कर्कश आवाज़ से क़यामत के दिन जैसा भयानक मंज़र पैदा कर दिया। अफ़ग़ानों ने जो कुछ किया, वह आपकी आँखों के सामने क़यामत के दिन के सारे मंजर अपनी सारी भयावहता में पेश कर देता है। अचानक जिस पल अकासी ने कश्मीर की ज़मीन पर क़दम रखे, एक बला कश्मीर पर घिर आई।[112]

ज़ाहिर है कि अगर अफ़ग़ान शासन केवल हिन्दुओं के प्रति क्रूर होता तो एक मुस्लिम शायर उसका ऐसा वर्णन नहीं कर रहा होता परन्तु आनन्द कौल सहित ज़्यादातर कश्मीरी पंडित आख्यानों में अफ़ग़ान शासन का ज़िक्र करते हुए हिन्दुओं के विस्थापन की बात लगातार तो आती है लेकिन वह इस तथ्य पर कोई ध्यान नहीं देते कि उसी दौर में कश्मीरी मुसलमान भी हिन्दुकुश के इर्दगिर्द के पहाड़ी राज्यों और छोटे रजवाड़ों में विस्थापित होकर बस गए थे। उदाहरण के लिए गिलगिट में बड़ी संख्या में मुस्लिम जाकर बसे और वहाँ की जनसंख्या का सबसे बड़ा हिस्सा हैं और सिन्धु घाटी के होदर में कश्मीरी मुसलमानों की एक छोटी-सी बस्ती उसी दौर में बनी। इसी दौर में काँगड़ा और चम्बा में कुछ कश्मीरी पंडित जाकर बसे जो अठारहवीं सदी में वहाँ के रजवाड़ों में प्रमुख पदों तक पहुँचे। सेंडर समाहार करते हुए कहती हैं :

> कश्मीरी पंडित समुदाय की सामूहिक स्मृति में अफ़ग़ान दौर की घटनाएँ किंचित विकृत रूप में दर्ज हैं जिनमें आपदाओं को सिर्फ़ कश्मीरी पंडितों तक सीमित कर दिया गया है, जबकि बाद के अनिश्चित समयों में पंडितों द्वारा अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिए अपने द्वारा प्रोत्साहित किये गए अत्याचारों की कोई बात नहीं होती। इन आपदाओं को दूसरे हिन्दुओं की नज़र में अपनी प्रामाणिकता साबित करने के लिए और एक ऐसे समय में, जब अन्तर-धार्मिक सहिष्णुता एक मूल्य की तरह स्थापित हो चुकी थी, साम्प्रदायिकता को स्थापित करने के लिए उपयोग किया गया।[113]

कश्मीर के इतिहास लेखन में ये सामूहिक स्मृतियाँ बेहद महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, ख़ास तौर पर नब्बे के बाद के दौर के कश्मीरी पंडित आख्यानों में।

ख़्वाज़ा केवल चार महीने और सात दिन सूबेदार रह पाया और एक प्रतिष्ठित कश्मीरी सामन्त अब्दुल हसन ख़ाँ बांदे के सहयोग से सुखजीवन मल ने उसकी

और उसके दो बेटों की हत्या करवा दी और कश्मीर की सूबेदारी पर क़ब्ज़ा कर लिया। बांदे को वज़ीर-ए-आज़म बनाया गया। शुरू में दुर्रानी ने इसे अन्यथा नहीं लिया और सुखजीवन मल को मान्यता भी दी लेकिन कुछ समय बाद जब उसने एक बड़ी राशि की माँग की तो ऐसा कर पाने में असमर्थ सुखजीवन मल ने बांदे की सलाह पर बग़ावत का झंडा बुलन्द किया और दुर्रानी के प्रतिनिधियों की सेना को एक निर्णायक युद्ध में हराकर कश्मीर का स्वतंत्र शासक बन बैठा। हालाँकि तकनीकी रूप से श्रीनगर लौटकर उसने तत्कालीन मुग़ल बादशाह आलमगीर द्वितीय को कश्मीर का बादशाह और ख़ुद को सूबेदार घोषित किया और बदले में आलमगीर ने उसे 'राजा' की उपाधि दी लेकिन मुग़ल शासन उस समय जैसी कमज़ोर स्थिति में था, कश्मीर पर नियंत्रण की कोई कोशिश उसके लिए असम्भव थी। सुखजीवन मल का समय कश्मीरी पंडितों के लिए अच्छा समय माना जाता है। आगे चलकर बांदे और सुखजीवन मल के सम्बन्ध ख़राब होने पर कश्मीर में प्रतिष्ठित होते जा रहे धर परिवार के पंडित महानन्द धर को प्रधानमंत्री बनाया गया। इसे कश्मीरी पंडितों की प्रतिष्ठा की तरह लिया जाना स्वाभाविक ही है लेकिन जिस तथ्य की बात नहीं होती, वह यह कि उसके प्रभाव में राजा ने अपनी धर्मनिरपेक्ष नीतियाँ बदल दीं। शुक्रवार को जामिया मस्जिद में नमाज़ पढ़ने और ईद-नौरोज़ मनानेवाले उस शायर राजा ने अजान और गोकशी पर पाबन्दी लगवा दी। इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम सैनिकों ने विद्रोह कर दिया, हालाँकि सिख और साँसी सैनिकों के दम पर विद्रोह दबा दिया गया लेकिन सबको साथ लेकर चलने से जो मज़बूती उसने हासिल की थी, वह अब बिखर चुकी थी। उधर पानीपत में मराठों पर निर्णायक जीत हासिल कर चुके अब्दाली ने अगले ही साल (1762) में नूरुद्दीन बमज़ाई के नेतृत्व में सेना भेजी और सुखजीवन मल को भारी हार का सामना करना पड़ा। जम्मू के डोगरा शासक ध्रुव देव ने भी इस युद्ध में अब्दाली की सेनाओं की सहायता की थी जिसके बदले उसे पंजाब में एक जागीर मिली थी।[114] सुखजीवन मल को गिरफ़्तार कर आँखें निकालकर काबुल ले जाया गया और वहाँ हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया गया।[115]

इसके बाद का अफ़ग़ान शासन का इतिहास षड्यंत्रों, हत्याओं और लूट का एक दर्दनाक अफ़साना है। मुग़लकाल में सत्ता प्रतिष्ठानों, ख़ास तौर पर राजस्व विभाग में बेहद प्रभावी होकर उभरे कश्मीरी पंडितों का अफ़ग़ान काल में भी इन विभागों पर क़ब्ज़ा बना रहा। सुखजीवन मल के अपदस्थ होने के बाद भी धर परिवार की प्रतिष्ठा पर कोई असर नहीं पड़ा और कैलाश धर दुर्रानी के दरबार में ऊँचे पद पर गए तो उनके भतीजे बीरबल धर को नूरुद्दीन ख़ान के समय में मीर मुक़ीम कांठ के साथ वज़ीर बनाया गया। दोनों कश्मीरी वज़ीरों के बीच कभी पटी नहीं और अन्ततः कैलाश धर ने मीर मुक़ीम की हत्या करवा दी। नतीजा फिर से

एक ख़ूनखराबा। लाल ख़ान खटक नामक एक व्यक्ति ने सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया तो अब्दाली ने ख़ुर्रम ख़ान को भेजा और लाल ख़ान हारकर भाग गया। ख़ुर्रम ने बीरबल धर को अपना साहिबकार बनाया और कश्मीर में अमन-चैन का राज क़ायम करने की कोशिश की लेकिन उस दौर में सत्ता बनाये रखने के लिए षड्यंत्रों का सामना करनेवाली जिस चालाकी की आवश्यकता थी, वह उसमें नहीं थी। जब अपने पिता मीर मुक़ीम की हत्या के बदले की आग में सुलगते मीर फ़क़ीर उल्लाह काँठ ने लाल ख़ान तथा बोम्बा क़बीले के सरदार महमूद ख़ान के साथ मिलकर सोपोर में विद्रोह कर दिया तो वह इसका सामना करने में असफल रहा और कैलाश धर तथा ख़ुर्रम ख़ान की हत्या करके मीर फ़क़ीर उल्लाह कांठ ने सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया। अगले सात महीने उसके प्रतिशोध के भयावह महीने थे। पंडित कैलाश धर के अपराध का बदला उसने कश्मीरी पंडितों से लिया। उसने उन पर तमाम कर लाद दिये, बुरी तरह से दुर्व्यवहार किया और दो हज़ार से अधिक कश्मीरी पंडितों को तलवार की नोक पर मुसलमान बनने पर मजबूर किया। सत्ता के इस नशे के साथ-साथ वह सुरा-सुंदरी के नशे में भी डूबा और जब अब्दाली ने नूरुद्दीन बमज़ाई को कश्मीर पर फिर से क़ब्ज़ा करने के लिए भेजा तो मामूली प्रतिरोध के बाद वह भागकर खाखा क़बीले के सरदार की शरण में चला गया जहाँ जल्दी ही उसकी मौत हो गई।[116]

यहाँ यह देखना होगा कि न तो कश्मीरी मुसलमान एक मोनोलिथ है, न ही कश्मीरी पंडित। फ़ारसी में प्राविण्य हासिल कर पारम्परिक रूप से शिक्षित इन परिवारों के वर्चस्व को सारे कश्मीरी पंडितों के हालात का प्रतिनिधि मानना उतना ही ग़लत होगा, जितना कि चन्द मुस्लिम सामन्त परिवारों के वर्चस्व को मुसलमानों का वर्चस्व मान लेना। धर्म और राजनीति के चोली-दामन के साथ के बीच आम हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही अफ़ग़ानों की लूट के शिकार होते रहे और अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिए षड्यंत्रों में हिस्सा लेने के साथ-साथ इन सामन्तों ने शोषण की प्रक्रिया में उनकी पूरी मदद की। इसका एक उदाहरण सबसे बर्बर माने जानेवाले सूबेदारों में से एक ख़्वाज़ा करीम दाद ख़ान का शासनकाल (1776-83) है।

ख़्वाज़ा करीम दाद ने सबसे पहले पंडितों और सुन्नियों पर भयावह अत्याचार करनेवाले मीर फ़ाज़िल काँठ को कश्मीर के राजनीतिक परिदृश्य से हमेशा के लिए ख़त्म किया तो उसके बाद सीमावर्ती इलाक़ों के मुस्लिम शासकों और जम्मू के हिन्दू शासक को हराकर अपना शासन सुरक्षित किया।[117] इसके बाद शुरू हुई उसकी लूट! इस लूट में उसके औज़ार बने असलम हरकारा और पंडित दिलाराम क़ुली। और ज़रा लूट के लिए लगाये गए इन करों पर ग़ौर कीजिए—ज़र-ए-नियाज़, जो मनसबदारों पर लगा, ज़र-ए-हुबूबत जो जागीरदारों पर लगाया गया,

ज़र-ए-ग़लत जो फलदार पेड़ों पर लगा। इन करों को वसूलने वाले कर्मचारियों को उसने ख़ुद छुपाया और उनकी हत्या का आरोप पंडित समुदाय पर लगाकर एक नया कर थोपा गया—ज़र-ए-दोज़ार। इसके साथ पचास हज़ार का जुर्माना भी लगाया गया। लेकिन इसका कोई विरोध करने की जगह उसके दीवान पंडित दिलाराम क़ुली ने उसे शॉल बुनकरों पर एक नया कर—दाग़-पश्मीना—लगाने की सलाह दी। हांजियों (नाविकों) को भी नहीं बख़्शा गया और उम्र या जेंडर को नज़रअन्दाज़ करते हुए सब पर 75 दाम का कर लगाया गया जबकि मुग़लकाल में वृद्ध, युवा और बच्चों को क्रमश: 12, 60 और 36 दाम ही देने पड़ते थे। इस तरह किसानों से लेकर जागीरदारों तक कोई ऐसा न बचा जिस पर कर न लगा हो। इस लूट का सीधा असर आम लोगों पर ही पड़ना था—शॉल उद्योग तबाही की तरफ़ बढ़ा, फलदार पेड़ों की कटाई हुई कि लकड़ी बेचकर कर दिया जा सके, हांजी बर्बाद होने लगे। ज़र-ए-नियाज़ और ज़र-ए-हुबूबत का बोझ भी अन्तत: आम किसानों पर ही पड़ा। मनसबदारों और जागीरदारों ने इसकी वसूली जनता से ही की। कश्मीरी जनता की मेहनत की इस लूट के ख़िलाफ़ कोई आवाज़ उठाने की जगह स्थानीय मुस्लिम और पंडित इस लूट में सहयोगी बनकर अपनी स्थिति मज़बूत करते रहे।[118]

पंडित दिलाराम क़ुली के राजनीतिक जीवन को देखना हमारी बात को समझने में और मददगार होगा। करीम दाद के अत्याचारी शासन में पेशकार जैसे महत्त्वपूर्ण पद पर रहे पंडित दिलाराम उसके बेटे और अत्याचार के मामले में करीम को भी पीछे छोड़ देनेवाले आज़ाद ख़ान के समय (1783-85) मुख्यमंत्री बने। तैमूर शाह ने उससे जब इस लूट के बदले तीन लाख रुपये हर्जाना माँगा तो उसने विद्रोह कर दिया। तैमूर ने उसके ही भाइयों को उसें हराने के लिए भेजा लेकिन आज़ाद ख़ान उन्हें हराने में सफल रहा। इसके बाद उसने अपने तीन दरबारियों—दीवान सिंह, शेख़ अब्दुल नबी और इनायतुल्लाह ख़ान बांदे—की हत्या करवा दी लेकिन दिलाराम उसकी गुडबुक में बने रहे। आज़ाद ख़ान के समय 3000 सिखों को सेना में शामिल किया।[119] इस बार तैमूर ने सैफ़ुद्दौला मदद ख़ान दुर्रानी को उसे हराने के लिए भेजा। मदद ख़ान ने उसे हराया और मीरदाद ख़ान (1786-88) को सत्ता सौंपकर चला गया। लेकिन इस बदले हुए माहौल में भी पंडित दिलाराम क़ुली अपनी स्थिति बनाये रखने में सफल रहे और दीवान और मुख्य सलाहकार बनाये गए। तैमूर शाह को पैसा भेजने के लिए मीरदाद ख़ान ने हर तरह का अत्याचार किया। आम आदमी के भोजन शाली (चावल) की क़ीमतें बेतहाशा बढ़ गईं, नये-नये कर लगे। ज़रा-ज़रा-सी बात पर हिन्दू और मुसलमान, दोनों को ही मृत्युदंड दिये गए। जनता त्राहि-त्राहि करती रही लेकिन पंडित दिलाराम क़ुली अपनी कश्मीरी जनता का कोई सहयोग

करने की जगह मीरदाद की इस लूट में सहयोगी बने रहे। सत्ता में बने रहने के लिए उन्होंने शिया-सुन्नी मामलों को ख़ूब बढ़ावा दिया और इसमें सहयोग मिला हाफ़िज़ क़माल का। कभी श्रीनगर के मुख्य उपदेशक रहे हाफ़िज़ क़माल को पहले तीन खलीफ़ाओं के ख़िलाफ़ बोलने (तबर्रा) के इलज़ाम में पद से हटा दिया गया था। पंडित दिलाराम के सहयोग से उन्होंने फिर उपदेश देने शुरू किये और वही हरक़त दुहराई। सुन्नियों में असन्तोष फैल गया और अन्ततः उन्हें पकड़कर, बाल मुड़ाकर गधे पर बिठाकर श्रीनगर में घुमाया गया और फिर हफ़्त-चिनार (अब हुज़ूरी बाग़) के पास उनका सिर धड़ से अलग कर दिया गया। फिर ख़ानकाह मुल्ला और जामिया मस्जिद के दरवाज़े बन्द कर मुफ़्तियों ने नमाज़ रोककर विरोध व्यक्त किया और पंडित दिलाराम पर हमला किया। लेकिन मीरदाद ने अपने इस सहयोगी की रक्षा की और दंगा भड़काने के लिए मीर जाफ़र काँठ को जेल में बन्द कर दिया। इसके कुछ दिन बाद ही मीरदाद की स्वाभाविक मृत्यु हो गई और जुमा ख़ान (1788) कश्मीर का सूबेदार बना। जुमा ने मीर जाफ़र काँठ को रिहा कर दिया लेकिन पंडित दिलाराम क़ुली इस बदलाव के बावजूद सूबेदार के प्रिय बने रहे। जुमा ख़ान के ज़माने में राज्य का हिसाब-किताब देने के लिए पंडित दिलाराम को काबुल भेजा गया। वहाँ दरबार में उनके और तैमूर शाह के बीच की बातचीत का एक रोचक क़िस्सा है। *तैमूर ने पूछा कि ये तिलक क्यों लगाया है आपने? उन्होंने कहा, यह अलिफ़ है जो बताता है कि ख़ुदा एक है। फिर तैमूर ने पूछा कि तो कानों पर तिलक क्यों लगाया है? उन्होंने कहा, इस्लाम में दो लोगों की गवाही ज़रूरी होती है तो ये दो तिलक उन दो गवाहों का प्रतीक हैं। फिर तैमूर ने गले पर किये तिलक के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा कि यह बताता है कि जो ख़ुदा के एक होने की बात उन दो गवाहियों के बावजूद नहीं मानता, उसे फाँसी पर लटका दिए जाने का प्रतीक है यह।*

अपनी हाज़िरजवाबी से तैमूर को प्रभावित करके दिलाराम ढेरों ईनाम-ओ-इक़राम लेकर वापस लौटे। चीज़ें बदस्तूर चलती रहीं।

जुमा ख़ान (1788-92) के समय में कश्मीरी इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण कवयित्री अर्निमाल का ज़िक्र आता है। ए.के. रहबर की *हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी लिटरेचर* के अनुसार उनका जन्म 1738 में एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। लल द्यद, हब्बा ख़ातून और रूपा भवानी की तरह उनका भी बाल विवाह हुआ था, लेकिन उनकी शादी जुमा ख़ान के दरबार के एक प्रतिष्ठित दरबारी, श्रीनगर के रैनावाड़ी निवासी, मुंशी भवानी दास खाचरू से हुई थी। खाचरू फ़ारसी के प्रतिष्ठित विद्वान् और कवि थे। उन्हें फ़ारसी में एक नई बहर *बहर-ए-तवील* की शुरुआत का श्रेय दिया जाता

है। लेकिन कुछ दिन बाद ही भवानी दास ने अपनी पत्नी को छोड़ दिया। अर्निमाल अपने पिता के घर लौट गईं। उनकी यह पीड़ा कविताओं में ढल गई।[120] उनकी कविताएँ हब्बा ख़ातून की परम्परा में मानी जाती हैं। उन्होंने भी हब्बा की ही तरह कश्मीरी भाषा में 'लोल' लिखे और इस परम्परा की वह आख़िरी कवि हैं। अर्निमाल के गीतों में रहस्यवाद और धार्मिक अनुभवों का सम्मिश्रण है। पति से अलग होने के बाद उन्होंने करघे को जीने का सहारा बनाया और यह करघा एक प्रतीक की तरह लगातार उनके काव्य में उपस्थित है। यह भी एक रोचक तथ्य है कि हब्बा की ही तरह हाल में उन्हें भी अनैतिहासिक बताने की कोशिशें हुई हैं।[121] ख़ैर, अर्निमाल का क़िस्सा यह तो बताता ही है कि पूरे सामन्ती युग में कश्मीर में स्त्री की दशा कितनी दयनीय थी। लल द्यद और रूपा भवानी धर्म के पास गईं तो उन्हें देवी बना दिया गया और हब्बा तथा अर्निमाल ने विरह और प्रेम की राह चुनी तो उन्हें इतिहास से ही ख़ारिज करने की कोशिशें हुईं।

शिया-सुन्नी दंगे होते रहे, जनता करों के भार से दबी रही और सूबेदार बदलते रहे लेकिन पंडित दिलाराम क़ुली का असर बदस्तूर तब तक बना रहा जब तक 1793 में कश्मीर के सूबेदार बने मीर हज़ार ख़ान ने तैमूर शाह के बाद नये अफ़ग़ान शासक ज़मान शाह से विद्रोह कर सुन्नियों को साथ लेने के लिए शिया और पंडित विरोधी नीतियाँ नहीं अपनाईं। पासे पलटे और अब तक काफ़ी दुश्मन बना चुके पंडित दिलाराम क़ुली का सिर धड़ से अलग कर दिया गया।[122] सत्ता में रहकर सूबेदारों द्वारा आम जनता की लूट का औज़ार बने पंडित दिलाराम क़ुली की हत्या के बाद उनके विरोधियों का क़हर आम कश्मीरी पंडितों पर टूटा, अत्याचार किये गए, जज़िया लगाया गया और एक तरफ़ लूट का माल एकत्र हुआ तो दूसरी तरफ़ मीर हज़ार ख़ान सुन्नियों को सन्तुष्ट करने में सफल रहा। जियालाल किलाम जब कश्मीरी पंडितों का इतिहास लिखते हैं तो एक तरफ़ पंडित दिलाराम क़ुली को नायक बताते हैं, दूसरी तरफ़ जनता के ऊपर हुए इस अत्याचार को सिर्फ़ धर्म के आधार पर व्याख्यायित करके अपने एजेंडे के पक्ष में तर्क जुटाते हैं। इतिहास के तथ्यों के सेलेक्टिव उपयोग का भयावह उदाहरण प्रस्तुत करते हुए किलाम पंडित दिलाराम की हाज़िरजवाबी का तो विस्तार से ज़िक्र करते हैं लेकिन हाफ़िज़ क़माल और दिलाराम के रिश्तों पर कुछ न कहते हुए उन पर हुए हमले को बस अफ़वाह का परिणाम बताते हैं। वर्गीय समझ और सामाजिक अन्तर्विरोधों को उनके आदमक़द में देखे जाने की जगह पूरे विमर्श को हिन्दू बनाम मुसलमान बनाकर देखे जाने के लिए ऐसे ही फर्ज़ीवाड़े की ज़रूरत पड़ती है।

ख़ैर, अपनी सारी कोशिशों के बावजूद मीर हज़ार ख़ान कश्मीर पर क़ब्ज़ा बनाये रखने में सफल नहीं हुआ। उसका अन्त भी बड़ी व्यंजना रचता है। उसने

ख़ुद को ख़ानकाह मौला में छिपा लिया कि कोई मुसलमान उसके भीतर आकर उसे मारकर मस्जिद को अपवित्र नहीं करेगा। लेकिन रहमतुल्लाह ख़ान के सैनिकों ने उसे मस्जिद से घसीटते हुए निकाला और गिरफ़्तार कर लिया।[123]

पंडित दिलाराम क़ुली के बाद कश्मीर की राजनीति में प्रभावी हुआ पंडित नन्दराम टीकू जो काबुल में पहले वज़ीर वफ़ादार ख़ान के दीवान और फिर जामन शाह के समय में मंत्री बने। उसके प्रभाव का अन्दाज़ इस बात से लगाया जा सकता है कि जब सन् 1800 में तत्कालीन सूबेदार अब्दुल्ला ख़ान अल्कोज़ाई का नन्दराम टीकू के भाई हरदास टीकू के साथ—जिनकी ज़िम्मेदारी कश्मीर से मालगुज़ारी वसूल कर नज़राना सीधे काबुल भेजना था—विवाद हुआ तो ज़ामन शाह और वफ़ादार ख़ान ने अपने सूबेदार की जगह हरदास टीकू का साथ दिया और अब्दुल्ला ख़ान को काबुल बुलाकर गिरफ़्तार कर लिया गया। वफ़ादारियों का आलम यह कि अब्दुल्ला ख़ान के भाई अता मुहम्मद ख़ान अल्कोज़ाई ने, जिसे अब्दुल्ला ने अपनी अनुपस्थिति में कश्मीर की सूबेदारी सौंपी थी, वफ़ादार ख़ान द्वारा कश्मीर का सूबेदार बनाकर भेजे गए अपने तीसरे भाई वकील ख़ान की युद्ध में हराकर हत्या कर दी!

तो सत्ता और सम्पत्ति की अंधी लूट के उस दौर में धर्म, रिश्ते और ऐसी तमाम चीज़ें हथियार ज़रूर बनीं लेकिन सत्ता और सम्पत्ति इन सब पर हर हाल में भारी रहे। काबुल में भी सत्ता का तीखा संघर्ष चल रहा था और इसका फ़ायदा उठाकर अता मुहम्मद ख़ान ने ख़ुद को स्वतंत्र घोषित कर दिया और ऐसे में ज़ाहिर था कि हरदास टीकू की जगह जेल में होती। जिस सत्ता के लिए उसने जामन शाह से विद्रोह कर दिया, अपने सगे भाई की हत्या कर दी, उस पर वह हरदास टीकू जैसे ख़तरे को आज़ादी से कैसे मँडराने देता? सत्ता के नशे में वह पागल हो गया और उसकी ऐयाशी का शिकार हुईं कश्मीरी लड़कियाँ। हज़ारों लड़कियों का बलात्कार किया गया और हालात यहाँ तक पहुँचे कि पिताओं ने अपनी बेटियों के सिर मुड़ाकर उनके चेहरों पर कालिख मल दी कि सूबेदार की नज़र-ए-बद से उनको बचा सकें।[124]

उधर काबुल में भी षड्यंत्रों का बोलबाला था। 1801 में ज़ामन शाह को गिरफ़्तार कर उसके भाई महमूद शाह ने उसकी आँखें निकलवा लीं। 1805 में तीसरे भाई शाह शूजा ने महमूद शाह को अपदस्थ कर दिया। इधर रणजीत सिंह पंजाब में लगातार मज़बूत हो रहे थे। इन सबसे कश्मीर अप्रभावित नहीं रह सकता था। महमूद शाह के सत्ता में आने के साथ लौट आया अब्दुल्ला ख़ान अल्कोज़ाई शाह शूजा के सत्ता में आने के बाद अपदस्थ किया गया और अता मुहम्मद ख़ान बर्कज़ाई (1806-13) कश्मीर का सूबेदार बना। उसने शाह शूजा द्वारा भेजे गए मुहम्मद अकरम ख़ान और मीर अफज़ल ख़ान की सेना को हराकर लगभग आज़ाद

शासक की तरह कश्मीर पर राज किया। आन्तरिक संघर्षों में पराजित होकर शाह शूजा मुल्तान में रणजीत सिंह की शरण लेने को मजबूर हुआ तो अता मुहम्मद ख़ान ने पंडित नन्दराम टीकू की अगुवाई में एक प्रतिनिधिमंडल मुल्तान भेजा जिसने शाह शूजा को यक़ीन दिलाया कि कश्मीर में उन्हें बादशाहों वाली इज़्ज़त मिलेगी। शाह शूजा राज़ी होकर 27 सितम्बर, 1813 में कश्मीर आया तो उसे शाही क़ैदी का ओहदा दे हरि पर्वत के क़िले में नज़रबन्द कर दिया गया। अगले ही दिन अता मुहम्मद ख़ान ने ख़ुद को कश्मीर का आज़ाद शासक घोषित कर दिया और पंडित सहजराम सप्रू को अपना दीवान नियुक्त किया।[125] उसका शासन कश्मीर में शान्ति और समृद्धि के काल की तरह माना जाता है। उसने नुन्द ऋषि के नाम से सिक्के ढलवाये,[126] हरि पर्वत के अलावा सोपोर और बारामूला में क़िले बनवाए, बारामूला में पुल बनवाया और कश्मीर को सुरक्षित करने के लिए सेना को मज़बूत किया। उधर महमूद शाह को सत्ता तक पहुँचाने वाले फ़तह मुहम्मद ख़ान ने कश्मीर पर क़ब्ज़े की कोशिशें जारी रखीं और उसने रणजीत सिंह से आठ लाख रुपये* प्रति वर्ष के नज़राने के बदले मदद हासिल की जिन्होंने फ़तह मुहम्मद ख़ान के साथ दीवान मुहकम चन्द के नेतृत्व में सेना कश्मीर भेजी। अता मुहम्मद ख़ान पराजित हुआ तो उसने शाह शूजा को रिहा कर कश्मीर का शासक घोषित कर दिया लेकिन इसका सेनाओं पर कोई उत्साहवर्द्धक असर नहीं हुआ। अन्ततः कोहिनूर की क़ीमत पर समझौता हुआ। रणजीत सिंह को शाह की पत्नी से कोहिनूर मिला,** फ़तह मुहम्मद ख़ान से आठ लाख रुपये मिले और शाह शूजा पर नियंत्रण भी।*** तीन

---

* खुशवंत सिंह ने यह राशि 9 लाख रुपये बताई है (अ हिस्ट्री ऑफ़ सिख रूल, खंड 1, पेज 229)।

** कोहिनूर का क़िस्सा भी रोचक है। मूलतः यह गोलकुंडा राज्य में कोल्लूर के पास 1665 के आसपास खान से निकला था जिसे मलिक जुमला ने शाहजहाँ को भेंट किया था। उस समय यह साढ़े 787 कैरेट का था। शाहजहाँ ने इसे अपने मोर मुकुट पर लगवाया था। बाद में औरंगज़ेब के समय ग़लत तरीक़े से सफ़ाई के कारण इसका वज़न साढ़े 319 कैरेट का रह गया। ऐसा लगता है कि यह उस केन्द्रीय सत्ता का प्रतीक बन गया जिसके हाथ में कश्मीर हो। नादिर शाह ने जब दिल्ली पर हमला किया तो उसकी नज़र कोहिनूर को तलाश रही थी। हरम की एक नौकरानी से उसे यह राज़ पता चला कि मुहम्मद शाह ने उसे अपनी पगड़ी में छिपा लिया है तो जब समझौता होने के बाद उसने मुहम्मद शाह से पगड़ी बदल कर दोस्ती पक्की करने का प्रस्ताव दिया जिसे अस्वीकार कर पाना मुहम्मद शाह के लिए सम्भव नहीं था। इस तरह 1739 में वह अफ़ग़ानों के हाथ चला गया और थोड़े दिनों बाद कश्मीर भी मुग़लों के हाथ से अफ़ग़ानों के हाथ चला गया। वहाँ से वह रणजीत सिंह के हाथ गया और उसके बाद कश्मीर पर सिखों का क़ब्ज़ा हुआ। अन्ततः 1849 में वह अंग्रेज़ों के हाथ चला गया (सूफ़ी-326)।

*** शाह शूजा से कालान्तर में रणजीत सिंह ने उसका सारा धन, हीरे-जवाहरात छीन लिये और गिरफ़्तार कर लिया। लेकिन वह एक रात सुरंग बनाकर भाग निकलने में सफल रहा और भटकता हुआ ब्रिटिश सीमा तक जा पहुँचा। वहाँ जब उसने अपना परिचय दिया तो उन्होंने उसे दयापूर्वक शेष जीवन गुज़ारने के लिए सम्माननीय शरण दी (सूफ़ी-328)।

महीने तक कश्मीर की सूबेदारी सँभालकर फ़तह मुहम्मद ख़ान दीवान नन्दराम के साथ काबुल लौट गया।

उसके बाद कश्मीर की सत्ता 1813 में सरदार आज़िम ख़ान के हाथों में आ गई जिसने पंडित सहज राम सप्रू* को दीवान और पंडित हरदास टीकू को साहिबकार नियुक्त किया।[127] उधर फ़तह मुहम्मद ख़ान के अटक पर क़ब्ज़े की कोशिश और उसके द्वारा नज़राने की दूसरी क़िस्त न भेजे जाने से नाराज़ रणजीत सिंह ने 1814 में जनरल दाल सिंह के नेतृत्व में एक बड़ी सेना कश्मीर पर क़ब्ज़े के लिए भेजी लेकिन मौसम की मार के चलते वह सेना पराजित हुई और आज़िम ख़ान विजेता की तरह श्रीनगर लौटा। उस युद्ध और काबुल में दीवान नन्दराम टीकू के उसे हटाने के षड्यंत्रों की सूचना मिलने के बाद आज़िम ख़ान चौकन्ना हो गया और उसने हरदास टीकू को पद से हटाया ही नहीं बल्कि ज़िन्दा जला दिया। इसके अलावा भी उन्हें जिस-जिस पर ग़द्दारी का शक था, उसका कड़ाई से दमन किया जिनमें हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही शामिल थे।[128] एक तरफ़ लगातार ख़राब मौसम और दूसरी तरफ़ अफ़ग़ानों के कमज़ोर होने तथा रणजीत सिंह की एक केन्द्रीय सत्ता के रूप में लगातार मज़बूत होते जाने के साथ कश्मीर का सिखों के हाथ जाना अब समय की बात रह गई थी। रणजीत सिंह की नज़र भी कश्मीर पर लगी ही हुई थी।

अफ़ग़ान शासन का पतन

अफ़ग़ानों के पतन का क़िस्सा तत्कालीन कश्मीरी राजनीति में पंडितों के वर्चस्व और उनकी भूमिका की ही नहीं बल्कि उस दौर की नैतिकताओं, कश्मीरी पंडित मानस और वफ़ादारी/ग़द्दारी के मानकों की भी परतें उघारता है।

आज़िम ख़ान के शासन के अन्तिम दौर में राजस्व विभाग के तीन प्रमुख अधिकारियों में से एक बीरबल धर (अन्य दो थे मिर्ज़ा पंडित धर और सुखराम सुफाया) का विवाद हुआ राजस्व की राशि को लेकर। धर को पिछले साल के राजस्व

---

* पारिमू ने सहजराम सप्रू के बारे में एक रोचक क़िस्से का उल्लेख किया है। वह एक घोटाले में पकड़े गए तो सूबेदार नाजिम ख़ान के यहाँ हाज़िरी लगी। तर्क-वितर्क की जगह साफ़-साफ़ ग़लती मान ली। सूबेदार ईमानदारी से प्रभावित हुआ पर सज़ा तो देनी ही थी। तो ऑप्शन दिया—या तो मुसलमान बन जाओ या फिर सूली पर चढ़ो। सहजराम ने इस्लाम अपनाया पर कहा—मुसलमान बन के घाटी में नहीं रह पाऊँगा। उन्हें सियालकोट में एक बड़ा ओहदा दे दिया। बाद में उसी ख़ानदान में सर इक़बाल पैदा हुए। शेख़ अब्दुल्ला ने अपनी जीवनी में ज़िक्र किया है कि अल्लामा इक़बाल को अपने 'सप्रू' परम्परा पर बहुत अभिमान था (पेज 52, फ्लेम्स ऑफ़ चिनार)। हालाँकि बशीर सहित कई महत्त्वपूर्ण इतिहासकारों ने इस बात से नाइत्तेफ़ाकी ज़ाहिर की है कि इक़बाल उनके परिवार से थे।

के एक लाख रुपये सरकारी ख़ज़ाने में जमा कराने थे।* जब उन्होंने आनाकानी की तो आज़िम ख़ान ने कड़ाई करनी शुरू की। बीरबल धर ने कोई चारा न देखकर महाराजा रणजीत सिंह की मदद लेने की ठानी और अपना परिवार दूध के एक व्यापारी कुद्दुस गोज़री के यहाँ छोड़कर कुलगाम के देवसर पहुँचा जहाँ उसका पुत्र पंडित राजाकाक धर तहसीलदार था। वहाँ पर उन्हें मलिक सामन्तों, मलिक कामदार और मलिक नामदार का साथ मिला और उन दोनों** तथा अपने बेटे के साथ वह रणजीत सिंह से मिलने के अभियान पर निकला जिसमें उसे जम्मू के राजा गुलाब सिंह का साथ मिला। गुलाब सिंह का भाई राजा ध्यान सिंह महाराजा रणजीत सिंह के दरबार में प्रधानमंत्री था। एम.जे. अकबर ने बीरबल धर की इस कार्यवाही को 'बर्बर अफ़ग़ानों के विरुद्ध हिन्दुओं का नहीं, कश्मीरियों का विद्रोह बताया है।'[129] इधर बीरबल धर के दामाद पंडित त्रिलोक चन्द ने आज़िम ख़ान को इसकी ख़बर कर दी। अब बीरबल धर के परिवार पर क़हर टूटा। उसकी पत्नी ने आत्महत्या कर ली और बहू को गिरफ़्तार कर काबुल भेज दिया गया जहाँ उसका धर्म परिवर्तन करा दिया गया। कुद्दुस गोज़री सहित बीरबल धर के सभी सहयोगियों की हत्या कर दी गई। मलिकों के घर जला दिये गए और मिर्ज़ा पंडित धर को उनके पद से हटा दिया गया। लेकिन जब आज़िम ख़ान को यह ख़बर मिली कि बीरबल धर रणजीत सिंह से मिलने में क़ामयाब हो गए हैं तो उसे आसन्न ख़तरे का आभास हो गया और पंडित सहजराम धर की सलाह पर पहले उसने अपने परिवार की स्त्रियों को सहजराम धर के साथ ही काबुल भेज दिया और फिर वह अपने भाई जब्बार ख़ान को कश्मीर की ज़िम्मेदारी सौंपकर काबुल चला गया।[130]*** रणजीत सिंह ने इस बार कोई क़सर नहीं छोड़ी। दीवान मिसर चन्द, सरदार हरि सिंह नलवा, सरदार ज्वाला सिंह और राजा गुलाब सिंह के साथ उन्होंने अपने राजकुमार खड़क सिंह के नेतृत्व में तीस हज़ार सैनिकों की एक सेना कश्मीर पर विजय के लिए भेजी। उधर नेपाल युद्ध में पराजय के बाद वहाँ से पलायित हुए गोरखा सैनिकों और जम्मू के राजा गुलाब सिंह का सहयोग भी सिख सेना को मिला।[131]

---

* इस घटना को लेकर अलग-अलग इतिहासकारों ने अलग-अलग निष्कर्ष दिये हैं। पारिमू, सूफ़ी और पी.एन.के. बमजाई का कहना है कि छह साल से फ़सल ख़राब होने के कारण बीरबल धर के लिए वह राशि एकत्र करना सम्भव नहीं था तो मोहम्मद इशाक ख़ान (पर्सपेक्टिव ऑन कश्मीर) ने उसे सरकारी धन का ग़बन बताया है और मोहम्मद सुलतान पाम्पोरी (कश्मीर इन चेन्स, पेज 5) इस सारी घटना को मुस्लिम अफ़ग़ानों के ख़िलाफ़ हिन्दू षड्यंत्र बताते हैं।

** एम.जे. अकबर और बमजाई ने उनका नाम जुल्फ़िक़ार बताया है।

*** खुशवंत सिंह ने आज़िम ख़ान के काबुल लौटने की वजह फ़तह मुहम्मद ख़ान की मदद बताई है जो सही नहीं लगती। इसी क्रम में उन्होंने बीरबल धर को जब्बार ख़ान के अत्याचारों से विस्थापित बताया है, जो तथ्यों पर आधारित नहीं है (अ हिस्ट्री ऑफ़ सिख्स, खंड 1, पेज 248)।

लेकिन एक अन्त:कथा के बिना उस दौर को समझना मुश्किल होगा। रणजीत सिंह ने बीरबल धर पर कोई अंधा भरोसा नहीं किया था बल्कि उनके बेटे राजाकाक धर को ज़मानत के तौर पर अपने पास रख लिया था। राजाकाक धर आगे जाकर डोगरा शासन के दरबार में सर्वोच्च पद तक पहुँचे। ख़ैर, दरेल दर्रे के पास हुए युद्ध में पठान सेना बुरी तरह पराजित हुई और जब्बार ख़ान के श्रीनगर से पलायन के साथ ही 15 जून, 1819 को कश्मीर अफ़ग़ानों के हाथ से सिखों के हाथ चला गया।[132]

इस तरह कश्मीर में इस्लामी शासन का वह दौर समाप्त हुआ या यों कहें कि बाहरी शासन का एक दौर समाप्त हुआ। उस दौर में मुग़ल शासन के बाद से ही दरबार में पंडितों का जो वर्चस्व हम देखते हैं, उसके कारणों की चर्चा पहले की गई है। यहाँ रुककर एक तथ्य पर ग़ौर करना ज़रूरी है कि यह वर्चस्व समाज में नहीं, दरबार में था। पंडितों या मुसलमानों को मोनोलिथ मान लेने का परिणाम यह होता है कि दरबार में उनके महत्त्व को ही समाज में उनकी स्थिति के समकक्ष मान लिया जाता है। बड़ा सच यह है कि वर्गीय विभाजन धार्मिक विभाजन की ही तरह एक मूलभूत तथ्य है। जहाँ दरबार में सक्रिय उच्चवर्गीय ब्राह्मणों और उनके समकक्ष उच्च वर्गीय मुसलमानों के बीच संघर्ष चलता रहा, वहीं ऐसा लगता है कि ग्रामीण इलाक़ों और शहरों के भी आम हिन्दू-मुसलमानों के बीच सम्बन्ध सामान्य ही रहे। अधिक से अधिक राजस्व वसूली का असर खेतिहर समाज पर पड़ना ही था जिसका सबसे बड़ा हिस्सा मुसलमानों का ही था। अफ़ग़ानों का शासनकाल कश्मीर की लगातार लूट और फलस्वरूप दरिद्र होते चले जाने का काल था और उस लूट से आम हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही नहीं बचे, तो उस लूट में उन्हें उच्चवर्गीय मुसलमानों और पंडितों, दोनों का भरपूर सहयोग मिला। लॉरेंस उस असर को बेहद मानीखेज़ तरीक़े से समेटते हुए कहते हैं :

> पठानों के शैतानी शासन का ख़ात्मा कश्मीरियों के सभी वर्गों के लिए बड़ी राहत का सबब रहा होगा और किसानों से अधिक यह राहत किसी के लिए नहीं हो सकती जो अफ़ग़ान सरदारों के क़हर से घाटी छोड़कर चले गए थे।[133]

लेकिन यह राहत दीर्घजीवी नहीं रही क्योंकि इसके बाद आनेवाले सिख और डोगरा राज में लगान को लेकर नीतियाँ बहुत नहीं बदलीं। हमने देखा ही कि अफ़ग़ान शासन के आख़िरी दौर में राजस्व विभाग पूरी तरह पंडितों के क़ब्ज़े में आ गया था और यह आगे भी जारी रहा। ऐसे में लगान वसूलने का काम पंडितों के हाथ में आया जबकि लगान देनेवाले किसानों की बहुसंख्या मुसलमानों की थी। इस एक तथ्य ने आगे के कश्मीरी इतिहास में बड़ी भूमिका निभाई।

संदर्भ

1. देखें, पेज 48, द *हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर : कल्चरल एंड पॉलिटिकल,* प्रेमनाथ बज़ाज़, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, 1954
2. देखें, पेज 29-40, *कश्मीरनामा : इतिहास और समकाल,* अशोक कुमार पांडेय, राजपाल एंड संज़, दिल्ली, 2018
3. देखें, पेज 189, द *वैली ऑफ़ कश्मीर,* वाल्टर लारेंस, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1895
4. देखें, पेज 311, *कश्मीर अंडर द सुल्तान्स ऑफ़ शाह मीर डायनस्टी (1339-1561),* ए.क्यू. रफ़ीक़ी, *हिस्ट्री ऑफ़ सिविलाइज़ेशन ऑफ़ सेंट्रल एशिया,* सम्पादक: एम.एस. आसिमोव तथा सी ई बोज्वर्थ, खंड 4, भाग 1, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1997
5. देखें, पेज 31, *कश्मीर अंडर सुल्तान्स,* प्रोफ़ेसर मोहिबुल हसन, आकार पब्लिकेशन, दिल्ली, 1994
6. देखें, वही, पेज 311
7. देखें, पेज 112, खंड 1, *कल्हण की राजतरंगिणी,* एम.ए. स्टेन, वेस्टमिनिस्टर, आर्किबाल्ड कांस्टेबल एंड कम्पनी लिमिटेड, 1900
8. देखें, वही, खंड 2, पेज 175
9. देखें, पेज 39, *इकॉनमी ऑफ़ कश्मीर अंडर सुल्तान्स,* डॉ. मंज़ूर अहमद, *इंटरनेशल जर्नल ऑफ़ हिस्ट्री एंड कल्चरल स्टडीज़,* वाल्यूम 1, अंक 1, अक्टूबर-दिसम्बर, 2015
10. देखें, पेज 15, *किंग्स ऑफ़ कश्मीर* (अनुवाद : जोगेश चन्द्र दत्त), पुस्तक 1, खंड 3, जोनराज, ई.एल.एम. प्रेस, कलकत्ता, 1898
11. देखें, पेज 311, *हिस्ट्री ऑफ़ सिविलाइज़ेशन ऑफ़ सेंट्रल एशिया,* ए.क्यू. रफ़ीक़ी, सम्पादक : एम.एस. आसिमोव तथा सी.ई. बोज्वर्थ, खंड 4, भाग 1, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1997
12. देखें, पेज 43-44, द *हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर : कल्चरल एंड पॉलिटिकल,* प्रेमनाथ बज़ाज़, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, 1954
13. देखें, पेज 312, *हिस्ट्री ऑफ़ सिविलाइज़ेशन ऑफ़ सेंट्रल एशिया,* सम्पादक: एम.एस. आसिमोव तथा सी.ई. बोज्वर्थ, खंड 4, भाग 1, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1997
14. देखें, पेज 36, *कश्मीर अंडर सुल्तान्स,* मोहिबुल हसन, प्रकाशक : ईरान सोसायटी, 159-बी, धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, 1959

15. देखें, पेज 312, *हिस्ट्री ऑफ़ सिविलाइज़ेशन ऑफ़ सेंट्रल एशिया*, सम्पादक : एम.एस. आसिमोव तथा सी.ई. बोज्वर्थ, खंड 4, भाग 1, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1997
16. देखें, पेज 20-21, *किंग्स ऑफ़ कश्मीर* (अनुवादक : जोगेश चन्द्र दत्त), पुस्तक 1, खंड 3, जोनराज, ई.एल.एम. प्रेस, कलकत्ता, 1898
17. देखें, पेज 39-40, *कश्मीरनामा : इतिहास और समकाल*, अशोक कुमार पांडेय, राजपाल एंड संज़, दिल्ली, 2018
18. देखें, पेज 40, *कश्मीर अंडर सुल्तान्स*, मोहिबुल हसन, प्रकाशक : ईरान सोसायटी,159-बी, धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, 1959
19. देखें, पेज 130, खंड 1, *कल्हण की राजतरंगिणी*, एम.ए. स्टेन, वेस्टमिनिस्टर, आर्किबाल्ड कांस्टेबल एंड कम्पनी लिमिटेड, 1900
20. देखें, पेज 48-52, *कश्मीर अंडर सुल्तान्स*, मोहिबुल हसन, प्रकाशक : ईरान सोसायटी, 159-बी, धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, 1959
21. देखें, पेज 29, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स*, जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
22. देखें, वही, पेज 104-105
23. देखें,पेज 84, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर*, डॉ. जी.एम.डी. सूफ़ी, खंड 1, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1974
24. देखें, पेज 45, *कश्मीर अंडर सुल्तान्स*, मोहिबुल हसन, प्रकाशक : ईरान सोसायटी, 159-बी, धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, 1959
25. देखें, वही, पेज 106
26. देखें, पेज 89, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर*, डॉ. जी.एम.डी. सूफ़ी, खंड 1, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1974
27. देखें, पेज 291-294, *अ हिस्ट्री ऑफ़ सूफ़ीज़्म इन इंडिया*, खंड 1, सैयद अतहर अब्बास रिज़वी, मुंशीलाल मनोहर लाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड,1978
28. देखें, वही, पेज 305
29. देखें, पेज 26, *कश्मीर्स ट्रांज़ीशन टू इस्लाम*, प्रोफ़ेसर इशाक़ ख़ान, मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली, 1994
30. देखें, पेज 103, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर*, आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
31. देखें, पेज 310, *हिस्ट्री ऑफ़ सिविलाइज़ेशन ऑफ़ सेंट्रल एशिया*, सम्पादक : एम.एस. आसिमोव तथा सी.ई. बोज्वर्थ, खंड 4, भाग 1, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1997

32. देखें, पेज 57, *कश्मीर अंडर सुल्तान्स,* मोहिबुल हसन, प्रकाशक : ईरान सोसायटी, 159-बी, धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, 1959
33. देखें, पेज 34, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
34. देखें, वही, पेज 34
35. देखें, वही, पेज 30
36. देखें, पेज 432, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर,* आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
37. देखें, पेज 49, द *हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर : कल्चरल एंड पॉलिटिकल,* प्रेमनाथ बज़ाज़, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली, 1954
38. देखें, पेज 60, द *स्टेट इन मेडिवेल कश्मीर,* रतन लाल हंगलू, मनोहर लाल पब्लिकेशन, दिल्ली-2000
39. देखें, पेज 19, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
40. देखें, पेज 30, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
41. देखें, पेज 55, द *हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर : कल्चरल एंड पॉलिटिकल,* प्रेमनाथ बज़ाज़, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली, 1954
42. देखें, वही, पेज 56
43. *मल्फूज़ात ए तैमूरी* से उद्धृत पेज 36, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
44. देखें, पेज 128, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर,* आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
45. देखें,पेज 66, *कश्मीर अंडर सुल्तान्स,* प्रोफ़ेसर मोहिबुल हसन, आकार पब्लिकेशन, दिल्ली, 1994
46. देखें, पेज 40, *पर्सपेक्टिव ऑन कश्मीर,* मोहम्मद इशाक ख़ान, गुलशन पब्लिशर्स, श्रीनगर, कश्मीर, 1983
47. देखें, पेज 190, खंड 1, *कल्हण की राजतरंगिणी,* एम.ए. स्टेन, वेस्टमिनिस्टर, आर्किबाल्ड कांस्टेबल एंड कम्पनी लिमिटेड, 1900
48. देखें, पेज 32, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)

49. देखें, पेज 30, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
50. देखें, पेज 30, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
51. देखें, पेज 108, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर,* आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
52. देखें, पेज 12, *पर्सपेक्टिव ऑन कश्मीर,* मोहम्मद इशाक ख़ान, गुलशन पब्लिशर्स, श्रीनगर, कश्मीर, 1983
53. देखें, वही, पेज 7,
54. देखें, पेज 271, *रफ़ीक़ी : सूफीज़्म इन कश्मीर फ्रॉम द फोर्टीन्थ टू सिक्सटीन्थ सेंचुरी*
55. पी.एन.के. बमज़ाई द्वारा उद्धृत (पेज 329)
56. देखें, पेज 103, *कश्मीर अंडर सुल्तान्स,* मोहिबुल हसन, प्रकाशक : ईरान सोसायटी, 159-बी, धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, 1959
57. देखें, वही, पेज 104
58. देखें, पेज 28, *कश्मीर बिहाइंड द वेल,* एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, दिल्ली, 2002
59. देखें, पेज 17-18, *फेमिली एंड किनशिप : अ स्टडी ऑफ़ द पंडित्स ऑफ़ रूरल कश्मीर,* टी.एन. मदान, ऑक्सफ़ोर्ड इंडिया पेपरबैक्स, पाँचवाँ संस्करण, दिल्ली, 2016
60. देखें, पेज 42, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
61. देखें, पेज 22, द *कश्मीरी पंडित्स,* पंडित आनन्द कौल, थैकर, स्पिंक एंड कम्पनी, कोलकाता, 1924
62. देखें, पेज 57, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
63. देखें, पेज 21-22, *फेमिली एंड किनशिप : अ स्टडी ऑफ़ द पंडित्स ऑफ़ रूरल कश्मीर,* टी.एन. मदान, ऑक्सफ़ोर्ड इंडिया पेपरबैक्स, पाँचवाँ संस्करण, दिल्ली, 2016
64. देखें, पेज 50, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, (पीर हसन शाह के हवाले से) उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
65. देखें, वही, पेज 51

66. देखें, पेज 503 और 340, खंड 4, *किंग्स ऑफ़ कश्मीर*, जोगेश चन्द्र दत्त, पहला संस्करण, ई.एल.एम. प्रेस, कलकत्ता, 1898
67. देखें, पेज 75-76, *व्हेयर थ्री एम्पायर्स मीट*, एफ़. एफ़. नाइट, तीसरा संस्करण, लॉन्गमैन ग्रीन एंड कम्पनी, लन्दन, 1893
68. देखें, पेज 348, एच.ए. वाल्टर, *इस्लाम इन कश्मीर*, खंड चार, मुस्लिम वर्ल्ड, 1914
69. देखें, तुहफुतुल अहबाब (यहाँ परवेज़ आलम के शोध-पत्र से)
70. देखें, पेज 77, *शियाइज़्म इन कश्मीर : 1477-1885*, ज़हीन, इंटरनेशनल रिसर्च *जरनल ऑफ़ सोशल साइंसेज*, खंड 4(4), 74-80, अप्रैल (2015)
71. देखें, वही, पेज 77
72. देखें, पेज 175, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर*, आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
73. देखें, पेज 161, *बहारिस्तान ए शाही* (ऑनलाइन संस्करण, अंग्रेज़ी में)
74. देखें, पेज 229, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर*, आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
75. देखें, पेज 56, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स*, जियालाल किलाम (पीर हसन शाह के हवाले से), उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
76. देखें, वही, पेज 66
77. देखें, पेज 53, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया*, हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
78. देखें, पेज 74, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स*, जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
79. देखें, पेज 31, क्रिस्टोफ़र स्नोडेन, *अंडरस्टैंडिंग कश्मीर एंड कश्मीरीज़*, हर्स्ट एंड कम्पनी, लन्दन, 2015
80. देखें, पेज 80, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स*, जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
81. देखें, पेज 417, *किंग्स ऑफ़ कश्मीर* (अनुवादक : जोगेश चन्द्र दत्त), खंड 3, शुक, ई.एल.एम. प्रेस, कलकत्ता, 1898
82. देखें, वही, पेज 421
83. देखें, पेज 127, *पार्टीज़ एंड पॉलिटिक्स एट द मुग़ल कोर्ट 1707-1740*, दूसरा संस्करण, सतीश चन्द्रा, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1972
84. देखें, पेज 421, *किंग्स ऑफ़ कश्मीर* (अनुवादक : जोगेश चन्द्र दत्त), खंड 3, शुक, ई.एल.एम. प्रेस, कलकत्ता, 1898

85. देखें, पेज 75, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
86. देखें, पेज 60, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
87. देखें, पेज 568, द *ब्लेज़िंग चिनार,* शेख़ अब्दुल्ला (अनुवाद : मोहम्मद अमीन), दूसरा संस्करण, गुलशन बुक्स, श्रीनगर-2016
88. देखें, पेज 85, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
89. देखें, पेज 60, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
90. देखें, वही, पेज 62
91. देखें, वही, पेज 66
92. देखें, पेज 82, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
93. देखें, पेज 85, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003, सेंडर, 82
94. देखें, पेज 70, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
95. देखें, https://www.saddahaq.com/my-views-on-kashmir (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
96. देखें, पेज 69, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
97. देखें, पेज 339-40, ए *हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर,* आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
98. देखें, पेज 342, वही
99. http://ikashmir.net/mkraina/6.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
100. देखें पेज 93, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003

101. देखें, पेज 165-68, *डॉटर्स ऑफ़ वितस्ता,* प्रेमनाथ बज़ाज़, पाम्पोश पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1959
102. देखें, http://koausa.org/Saints/RupaBhawani/article4.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
103. देखें, पेज 344, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर,* आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
104. देखें, पेज 293, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* डॉ. जी.एम.डी. सूफ़ी, खंड 1, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1974
105. देखें, पेज 345, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर,* आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
106. देखें, पेज 106, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003
107. देखें, पेज 294, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* डॉ. जी.एम.डी. सूफ़ी, खंड 1, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1974
108. देखें, पेज 83, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
109. देखें, द *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ ह्यूमेनिटीज़ एंड सोशल जस्टिस* के खंड 4, अंक 1, जनवरी, 2016 में प्रकाशित ज़हीन के लेख *कश्मीर अंडर द अफ़ग़ांस (1752-1819)* में दी हुई तालिका
110. देखें, पेज 197, द *वैली ऑफ़ कश्मीर,* वाल्टर लॉरेंस, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1895
111. देखें, पेज 120, *कश्मीर : ग्लिम्प्सेज़ ऑफ़ हिस्ट्री एंड द स्टोरी ऑफ़ स्ट्रगल,* सैफ़ुद्दीन सोज़, रूपा पब्लिकेशंस इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2018
112. देखें, पेज 110, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003
113. देखें, पेज 87, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
114. देखें, पेज 10, द *फाउंडिंग ऑफ़ द कश्मीर स्टेट : अ बायोग्राफ़ी ऑफ़ महाराजा गुलाब सिंह,* के.एम. पणिक्कर, जार्ज एलन एंड उन्विन लिमिटेड, लन्दन, 1953
115. देखें, पेज 354-55, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर,* आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969

116. देखें, वही, पेज 361
117. देखें, वही, पेज 363
118. *तारीख़-ए-हसन* के ये हवाले *द इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ ह्यूमेनिटीज़ एंड सोशल जस्टिस* के खंड 4, अंक 1, जनवरी 2016 में प्रकाशित ज़हीन के लेख *कश्मीर अंडर द अफ़ग़ांस (1752-1819)* से
119. देखें, पेज 317, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* डॉ. जी.एम.डी. सूफ़ी, खंड 1, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1974
120. देखें, पेज 176, *डॉटर्स ऑफ़ वितस्ता,* प्रेमनाथ बज़ाज़, पाम्पोश पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1959
121. देखें, http://ikashmir.net/arnimal/article3.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
122. देखें, पेज 363-369, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर,* आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969 और जिया लाल किलाम की किताब *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स* का अध्याय 18
123. देखें, पेज 370, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर,* आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
124. देखें, वही, पेज 373
125. देखें, वही, पेज 376
126. देखें, पेज 323, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* डॉ. जी.एम.डी. सूफ़ी, खंड 1, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1974
127. देखें, वही, पेज 328
128. देखें, वही, पेज 332
129. देखें, पेज 53, *कश्मीर बिहाइंड द वेल,* एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, दिल्ली, 2002
130. देखें, पेज 175, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003
131. देखें, *रणजीत सिंह 'स कश्मीर एक्स्टेंशनिज़्म एंड ब्रिटेंस रोल,* डॉ. ख़्वाजा जाहिद अज़ीज़ (http://pu.edu.pk/images/journal/uoc/PDF-FILES/(16)%20Dr.%20Khawaja%20Zahid%20Aziz.pdf) (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
132. देखें, पेज 381-85, *ए हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन कश्मीर,* आर.के. पारिमू, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
133. देखें, पेज 197, *द वैली ऑफ़ कश्मीर, वाल्टर लॉरेंस,* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1895

अध्याय-4

बदलते समीकरणों की सदी

सिख और डोगरा राज में कश्मीरी पंडित

[1824-1924]

जिस गाँव में हम रुके, वह आधा ख़ाली हो चुका था। जो थोड़े-से ग्रामीण वहाँ बचे थे, वे दरिद्रता की मूरत लग रहे थे। अगर कुछ राहत नहीं मिली या व्यवस्था में कोई बदलाव नहीं हुआ तो यह बहुत मुमकिन है कि इस इलाक़े में कोई भी न बचे। फिर भी ज़मीन धान की खेती के लिए बिलकुल मुफ़ीद लग रही थी। जो फ़सल लगी थी, वह अच्छी थी। लेकिन इन ग़रीब लोगों को अपनी मेहनत का बहुत कम फल मिलनेवाला था क्योंकि कर वसूलने वालों की एक टुकड़ी गाँव में थी जो अपने मालिक जवाहिर मल के लिए उपज का 9/10वाँ हिस्सा वसूलने वाले थे।[1]

—विलियम मूरक्राफ्ट

1824 में कश्मीर-यात्रा पर आया यूरोपीय यात्री

प्रेमनाथ बज़ाज़ अपनी किताब 'द हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर' में अफ़ग़ान और सिख शासन को एक ही श्रेणी में रखते हुए उस अध्याय का नाम देते हैं : 'क्रूरता के अँधेरे साल'। उनका मानना है कि काबुल की ही तरह लाहौर से भेजे गए सूबेदारों का भी इकलौता लक्ष्य अधिक से अधिक धन लूटना था जिसे महाराजा रणजीत सिंह को देकर वे उनके ग़ुस्से से बच सकें।[2] इस लूट के चलते आम लोगों की हालत पहले की ही तरह बद से बदतर होती गई लेकिन इस समानता के बावजूद अन्तर जो था, उसे सिख शासन के एकदम आरम्भ में घटी एक घटना से समझा जा सकता है—कश्मीर पर कब्ज़े के बाद दीवान मोतीचन्द के समय उसके एक सिपहसालार फूला सिंह ने शाह हमादान की ख़ानकाह को उड़ा देने के लिए झेलम नदी की दूसरी तरफ़ पत्थर मस्जिद के घाट पर तोपें लगवा दी थीं, लेकिन कश्मीर में शाह हमादान के महत्त्व से परिचित और उस मिली-जुली संस्कृति में पले-बढ़े बीरबल धर ने हस्तक्षेप कर इस निर्णय पर रोक लगवाई।[3]

ज़ाहिर है कि अफ़ग़ानों के समय के लूट के तंत्र के साथ जो बदली, वह थी धार्मिक भेदभाव की प्रवृत्ति। हिन्दुओं की जगह निशाने पर अब मुसलमान थे तो

जामिया मस्जिद में नमाज़ पर पाबन्दी लगा दी गई, पत्थर मस्जिद सहित अनेक मस्जिदों को सरकारी सम्पत्ति घोषित कर दिया गया और गोकशी को प्रतिबन्धित ही नहीं किया गया बल्कि इसके लिए सज़ा-ए-मौत की तजवीज़ की गई और सैकड़ों लोगों को गोकशी के शक में क़त्ल कर दिया गया। ऐसे तमाम कारणों से सैकड़ों मुस्लिम परिवार पलायन करके पंजाब, उत्तर प्रदेश सहित हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्सों में चले गए।[4] यही नहीं, किसी सिख द्वारा किसी कश्मीरी की हत्या कर देने पर उस पर केवल 16 से 20 रुपये का जुर्माना लगता था। इस जुर्माने से अगर मृतक हिन्दू हुआ तो उसे चार रुपये और मुसलमान हुआ तो दो रुपये दिये जाते थे।[5]

लेकिन इस बदलाव के बावजूद जो एक चीज़ बदस्तूर जारी रही, वह थी सत्ता-प्रतिष्ठान और ख़ास तौर पर राजस्व विभाग पर कश्मीरी पंडितों का प्राधिकार। सिख शासन की स्थापना में प्रमुख भूमिका निभानेवाले बीरबल धर को राजस्व विभाग का प्रमुख बनाया गया। बीरबल धर के उत्थान और पतन के क़िस्से से हम उस दौर की एक और विडम्बना को समझ सकते हैं।

राजस्व विभाग के प्रमुख के रूप में बीरबल धर ने अपनी योग्यताओं से महाराजा रणजीत सिंह को बेहद प्रभावित किया तो महाराजा ने दशहरे के मौक़े पर उन्हें 'चोगा-कलगी' आदि का उपहार देकर सम्मानित किया। दीवान मोतीराम के बाद कश्मीर के सूबेदार बने हरि सिंह नलवा के समय भी बीरबल धर अपने पद पर बने रहे। इसी दौर में महाराजा रणजीत सिंह ने उन्हें कश्मीर के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण दरबारियों के साथ लाहौर बुलवाया जहाँ सोने के एक जोड़ी कड़े और ख़िलअत देकर उन्हें सम्मानित किया गया। जब वह श्रीनगर लौटे तो कश्मीरी दरबार के एक और महत्त्वपूर्ण सदस्य और उनके सम्बन्धी सहजराम धर के बेटे गणेश पंडित धर ने उनकी आवभगत की तैयारी की हुई थी जहाँ बीरबल धर ने कोई ख़ास उत्साह नहीं दिखाया। यही नहीं, उन्हें मुस्तजीरी* के तहत मिले कुछ गाँव वापस लेने के भी आदेश जारी कर दिये। नाराज़ गणेश पंडित धर ने बीरबल धर के ख़िलाफ़ षड्यंत्र शुरू कर दिये और हरि सिंह नलवा के कान भरे। फलस्वरूप बीरबल धर पहाड़ी क़बीलाई सरदारों के साथ मिलकर सिख साम्राज्य को उखाड़ने की साज़िश करने के आरोप में बर्ख़ास्त कर दिये गए और उन्हें लाहौर तलब किया गया। गणेश पंडित धर राजस्व विभाग के प्रमुख बनाये गए और उनके भाई रामजू धर को कामराज का प्रशासक नियुक्त किया गया। हालाँकि जाँच में सारे आरोप ग़लत पाए गए लेकिन कश्मीर लौटने की इजाज़त उन्हें मोतीराम के दुबारा दीवान बनने पर ही मिली। जल्द ही मोतीराम से भी उनके रिश्ते ख़राब हो गए और कश्मीर में सिखों को आमन्त्रित कर शासन तक पहुँचाने वाले

* मुस्तजीर का शाब्दिक अर्थ है—पनाह चाहने वाला। यह एक तरह की पट्टेदारी की व्यवस्था थी जिसमें अपने विश्वस्त लोगों को गाँवों में लगान वसूलने का हक़ दिया जाता था।

पंडित बीरबल धर को अफ़ग़ानों के समय लगे 'कोष में धाँधली' का आरोप एक बार फिर झेलना पड़ा। इस बार उनके पास भागने के लिए कोई जगह नहीं थी और कभी कश्मीर की राजनीति में सबसे महत्त्वपूर्ण तथा शक्तिशाली रहे बीरबल धर की मृत्यु कालकोठरी में हुई।[6] इसके बाद गणेश पंडित धर कश्मीर की सत्ता में महत्त्वपूर्ण होकर उभरे और उनका प्रभाव लम्बे समय तक बना रहा।

यहाँ अगर एक मिनट रुककर कल्पना करें कि बीरबल धर आज़िम ख़ान के दौर में कश्मीर से भागने में सफल न हुए होते तो उनका अंजाम क्या इससे अलग होता? लेकिन तब इसे 'हिन्दू-मुस्लिम' मामले की तरह देखा जाता। बीरबल धर को कश्मीरी पंडित आख्यानों में साम्प्रदायिक भेदभाव का शिकार शहीद बताया जाता। लेकिन चूँकि उनके साथ यह व्यवहार सिख शासन में एक हिन्दू खत्री के हाथों हुआ तो यह सिर्फ़ 'दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना' की तरह दर्ज होता है। नतीजा यह कि सिख शासन की लूट का क़िस्सा उसके हिन्दू समर्थक होने की या यों कहें, ग़ैर-मुसलमान होने की आड़ में छिपा दिया जाता है और वह दौर पंडितों द्वारा 'काले अध्यायों' में शामिल नहीं किया जाता। इतिहास की यह साम्प्रदायिक व्याख्या न सिख शासन के दौर में किसानों तथा आमजन के भयावह शोषण की शिनाख़्त करने देती है, न ही इसके उन दुष्प्रभावों की जिसने कश्मीर को एक ऐसे दयनीय राज्य में तब्दील कर दिया था जहाँ एक तरफ़ उत्पादन के साधनों का संकुचन और विनाश हुआ तो दूसरी तरफ़ नागरिकों के स्वाभिमान और आत्मविश्वास का पतन। इस लूट का हवाला देते हुए किलाम कहते हैं :

> किसानों पर बहुत ज़्यादा कर लगा दिया गया था। किसानी करने से उन्हें कोई आमदनी नहीं होती थी। कुप्रबन्धन आम था जिसकी वजह से अकाल पड़े और सच कहा जाए तो सैकड़ों लोगों की जानें गईं तथा फिर से अकाल पड़ा। शेर सिंह के शासनकाल में घाटी की आबादी आठ लाख से दो लाख रह गई। नीतियाँ बनानेवाले प्रशासक लाहौर से नियुक्त किये जाते थे जबकि स्थानीय प्रशासकीय अमले में मुख्यतः कश्मीरी पंडित थे जिनको लाहौर दरबार का मज़बूत समर्थन था, जहाँ अनेक कश्मीरी पंडित ऊँचे पदों पर थे। रणजीत सिंह ने एकाधिक बार भ्रष्टाचारियों को सज़ा देकर हालात सुधारने की कोशिश की लेकिन चूँकि उनकी ख़ुद की मान्यता थी कि कश्मीर पर प्राधिकार के लिए कश्मीरियों की चेतना का पूरी तरह से ग़ुलाम बने रहना ज़रूरी है इसलिए वह भी कोई ठोस हल नहीं निकाल पाए।[7]

आलम यह कि सम्पन्न कश्मीरी पंडितों और मुसलमानों से नज़राने के नाम पर बड़ी रक़म वसूली गई। किलाम बताते हैं कि केवल शेर सिंह के समय पंडितों से वसूले गए नज़राने की कुल रक़म थी साढ़े चार लाख रुपये! सम्पन्न मुसलमानों से भी जमकर वसूली हुई जिनमें बड़ी संख्या शॉल उद्योग से जुड़ी हुई थी। नतीजतन कृषि के साथ-साथ पहले से तबाह कश्मीर का शॉल उद्योग भी इस लूट के चलते

बर्बाद होने लगा। अधिकतर करघा मालिक घाटी छोड़कर जम्मू और पंजाब जैसी जगहों पर चले गए और घाटी में करघों की संख्या 8,000 से घटकर 2,000 रह गई। इस पूरी प्रक्रिया ने ग़रीबी, बेरोज़गारी और तबाही की एक नई शृंखला को जन्म दिया जिसमें रोज़गार के नाम पर सिर्फ़ सरकारी सेवा रह गई, जहाँ तक पहुँच केवल कश्मीरी पंडितों के एक छोटे से हिस्से के लिए सम्भव थी। सत्ता के क़रीब रहकर कश्मीरी पंडितों के एक वर्ग ने इस लूट में पूरा-पूरा साथ दिया तो दूसरी तरफ़ राजस्व विभाग में ऊपर से नीचे तक क़ब्ज़ा जमाए कश्मीरी पंडितों को अपनी नौकरी बजाने के लिए किसानों से वसूली का जो काम करना पड़ा, उसमें वे किसानों के समक्ष आततायी की तरह ही आए। किसानों का बहुसंख्यक मुसलमानों का था तो दूर श्रीनगर में बैठे सिख साम्राज्य के आकाओं की जगह उन्हें अपने प्रत्यक्ष लुटेरे तो राजस्व विभाग की वसूली करनेवाले पंडित कर्मचारी ही लगते। वसूली के लिए किस क़दर दबाव था, इसे इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि 1833 में पाँच कारदारों (सभी कश्मीरी पंडित) को 3,25,000 रुपयों की वसूली का लक्ष्य दिया गया।[8] ज़ाहिर है, यह पूरी रक़म कश्मीर के मुसलमान किसानों से वसूली गई। इस समीकरण ने लम्बे दौर में जो वैमनस्य पैदा किया, उसकी अनेक झलकियाँ आप उस दौर और उसके बाद के दौर के लेखन में भी पा सकते हैं। लुटेरे राजाओं के दौर में कर्मचारी ईमानदार कैसे हो सकते थे! मृदु राय इस प्रक्रिया में शासकीय क्षेत्र में विभिन्न स्तरों पर व्याप्त भ्रष्टाचार का बहुत विस्तार से वर्णन करती हैं। इसकी जड़ें इतनी गहरी थीं कि जब शेख़ अब्दुल्ला ने कश्मीर में क्रांतिकारी भूमि-सुधार लागू किया तो उसमें भी पतली गलियाँ निकाल ली गईं और किसानों तक इसका पूरा लाभ तो नहीं ही पहुँचने दिया गया। दूसरी तरफ़ कश्मीरी पंडितों का भी वह वर्ग जो सत्ता से नहीं जुड़ा था, इस लूट से बचा न रह सका। हमने देखा कि सत्ता से जुड़े वर्ग से भी वसूलियाँ हुईं और बीरबल धर के उदाहरण से यह समझा जा सकता है कि उस वर्ग को भी स्वामी-निष्ठा पर शक होने की क़ीमतें चुकानी पड़ीं। लूट और अराजकता पर टिके शासनों में उच्चतम स्तरों पर षड्यंत्र सहज भी था ही।

एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मुग़ल और अफ़ग़ान काल में ही बेहतर रोज़गार की तलाश में मैदानी इलाक़ों में चले गए कश्मीरी पंडितों ने धीरे-धीरे समाज में अपने लिए प्रभावी मकाम हासिल कर लिये थे और देसी राजाओं के साथ-साथ हवा का रुख़ भाँपते हुए अंग्रेज़ों से भी अच्छे ताल्लुक़ात बना लिये थे। अपने प्रशासनिक अनुभवों और फ़ारसी के ज्ञान के चलते ही नहीं बल्कि 'बाहरी' होने के चलते भी वे देसी राजाओं और अंग्रेज़ों, दोनों के लिए मुफ़ीद थे। उनके लिए स्थानीय षड्यंत्रों से दूर वे निष्ठावान सेवक थे तो अपनी ज़मीन छोड़कर आए पंडितों के लिए आगे बढ़ने का यही इकलौता रास्ता था। इसी प्रक्रिया में वे कश्मीर पर सिखों के क़ब्ज़े से पहले लाहौर दरबार तक पहुँच चुके थे।

सेंडर ऐसे ही एक कश्मीरी पंडित गंगाराम का क़िस्सा सुनाते हैं। गंगाराम के पिता किशनदास मुग़लकाल में शासकीय सेवा में पुजारी के रूप में थे और अफ़ग़ान शासन के दौर में गंगाराम ग्वालियर में महादजी सिंधिया के यहाँ उनकी सेना में कर्नल लुई बर्किन के अधीनस्थ काम करने लगे। अपनी निष्ठा और कार्यकुशलता से उन्होंने कर्नल को प्रभावित किया और उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण होती चली गई। महादजी के पुत्र दौलतराव सिंधिया जब अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ हुए तो गंगाराम ने उनकी नौकरी छोड़ दी और दिल्ली के बाज़ार सीताराम में एक भव्य मकान ख़रीदकर अगले दस साल वहीं अंग्रेज़ों की सेवा में रहे। 1809 में जब अंग्रेज़ों और महाराजा रणजीत सिंह के बीच अमृतसर सन्धि हुई तो पंडित गंगाराम ने ब्रिटिश प्रतिनिधि डेविड ऑक्टरलोनी के सहायक की भूमिका निभाई। चार साल बाद रणजीत सिंह ने उन्हें लाहौर आने का न्योता दिया और दीवान गंगाराम शाही अभिलेखागार के प्रमुख हुए। रणजीत सिंह की समस्या थी कि उस बदलते दौर में उनके दरबार में ज़िम्मेदार पदों पर कुलीन घरानों के जो लोग थे, वे योद्धा तो उच्चतम स्तर के थे लेकिन प्रशासन और हिसाब-किताब के नये तौर-तरीक़ों से उनका परिचय नहीं था। इसके अलावा अंग्रेज़ों से बातचीत तथा सम्पर्क करने के लिए भी पढ़े-लिखे लोगों की ज़रूरत थी और सिख दरबार में अधिकतर की पढ़ाई-लिखाई भी बस प्राथमिक स्तर की हुई थी। महाराजा ख़ुद अशिक्षित थे। साथ ही दरबार में षड्यंत्र आम थे और किसी पर भरोसा करना मुश्किल था। इसलिए गंगाराम लगातार दरबार में बहुत महत्त्वपूर्ण होते चले गए। उसी दौर में बनी पैदल सेना में स्थानीय सिखों की भर्ती में अरुचि के कारण कई कश्मीरी पंडितों को अवसर मिला और उनमें से एक पंडित बद्रीनाथ कर्नल के पद तक गए। उनकी सफलता ने अन्य कश्मीरी पंडितों को दरबार में आकर्षित किया तो गंगाराम की स्वामिभक्ति और योग्यता ने महाराजा रणजीत सिंह के मन में कश्मीरी पंडितों के लिए भरोसा भी पैदा किया। गंगाराम ने अपने कई परिचितों और रिश्तेदारों को लाहौर बुलाया, दरबार में नौकरी दिलवाई और धीरे-धीरे लाहौर दरबार में कश्मीरी पंडितों का बोलबाला-सा हो गया। गंगाराम के पुत्र अयोध्यादास, पंडित भवानी दास, पंडित दयाराम, दीनानाथ मदान, हरीराम कौल, सहजराम टिक्कू और लाल कौल इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण नाम हैं। लाल कौल 1819 में रावलपिंडी ब्रिगेड के प्रमुख के रूप में सिखों की उस सेना का सदस्य था जिसने कश्मीर पर हमला किया था लेकिन कश्मीर विजय के बाद भी लाल कौल ने अपनी मातृभूमि में कोई पद हासिल करने की जगह मुल्तान का सूबेदार होना चुना। अफ़ग़ान काल में महत्त्वपूर्ण पदों पर रहे टिक्कू परिवार ने लाहौर और काबुल की राह ली और खालसा दरबार में प्रवेश किया। कश्मीर विजय के बाद पंडितों का लाहौर आवागमन स्वाभाविक रूप से बढ़ गया और दरबार में उनकी संख्या तथा प्रभाव भी बढ़े।

लेकिन पंडितों की यह निष्ठा व्यक्ति नहीं, सत्ता के प्रति थी। 1839 में रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद तमाम षड्यंत्रों, हत्याओं और उठा-पठक के बीच

दीनानाथ उनके बाद पंजाब की सत्ता में आए। खड़क सिंह, नौनिहाल सिंह, शेर सिंह और अन्ततः दलीप सिंह के संरक्षक बने। लाहौर दरबार की घटती प्रतिष्ठा और कमज़ोर होती शक्ति के बावजूद दीनानाथ का रुतबा कम नहीं हुआ। पहले आंग्ल-सिख युद्ध के बाद 1846 में अंग्रेज़ों से हुए समझौते पर उन्होंने हस्ताक्षर किये और उसी साल लाहौर का शासन चलाने के लिए बनी आठ सदस्यों की संरक्षण समिति के सदस्य भी रहे। जब खालसा दरबार पंजाब का नियन्त्रण लगभग खो चुका था तो दीनानाथ की अपनी जागीर की वार्षिक कमाई 47000 रुपये थी। 1849 के दूसरे आंग्ल-सिख युद्ध के बाद वह न केवल राजा की उपाधि हासिल करते हैं बल्कि 1857 में अपनी मृत्यु तक अंग्रेज़ों के विश्वस्त बने रहते हैं।[9] दीनानाथ का यह क़िस्सा उस समय अनेक रजवाड़ों में काम कर रहे पंडितों की व्यंजना है।

1846 के इस पहले आंग्ल-सिख युद्ध के बाद कश्मीर के इतिहास ने एक बड़ी करवट ली। रणजीत सिंह के सिपहसालार रहे और सिख सेना के प्रमुख जम्मू के तत्कालीन राजा गुलाब सिंह डोगरा ने अमृतसर समझौते में सिख साम्राज्य पर अंग्रेज़ों द्वारा लगाये गए डेढ़ करोड़ के जुर्माने का आधा हिस्सा चुकाकर बदले में जम्मू, कश्मीर, गिलगिट, बाल्टिस्तान और लद्दाख का शासन हासिल किया और इस तरह आधुनिक जम्मू और कश्मीर राज्य पहली बार अस्तित्व में आया। अमृतसर सन्धि इस मामले में एकदम विशिष्ट थी कि अन्य राज्यों से अंग्रेज़ों की सन्धि से उलट यहाँ अंग्रेज़ों ने गुलाब सिंह और उनके पुरुष उत्तराधिकारियों को यह राज्य सदा-सर्वदा के लिए स्वतंत्र और सार्वभौम अधिकार में दिया था। यही नहीं, महाराजा को दूसरी विदेशी शक्तियों से कूटनीतिक सम्बन्ध रखने की भी आज़ादी थी और ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से कोई हस्तक्षेप न करने का आश्वासन। लॉर्ड हार्डिंग के शब्दों में यह सन्धि ब्रिटिश सरकार को महाराजा के मामलों में न्यूनतम सम्भव हस्तक्षेप करने की अनुमति देती है।[10] लेकिन 75 लाख रुपये के बदले मिले जम्मू-कश्मीर को सन्धि का सम्मान हर तरफ़ से नहीं मिला। कश्मीर छोड़ो आन्दोलन के दौरान नारा दिया गया : 'अमृतसर बैनामा तोड़ दो/कश्मीर हमारा छोड़ दो'। गांधी इसे 'सेल डीड' कहते हैं। वैसे, विरोधियों को छोड़ भी दें तो उसी दौर में आधिकारिक इम्पीरियल ग़ज़ेटियर ऑफ़ इंडिया ने लिखा था—महाराजा गुलाब सिंह के बारे में कहा जाता है कि...जब उन्होंने अपने नये सौदे कश्मीर घाटी का सर्वे किया।'[11]

इस नये राज्य में कश्मीरी पंडितों के लिए नये अवसर थे तो नई चुनौतियाँ भी, साथ ही आधुनिकता की ओर बढ़ते समय में वहाँ की मुस्लिम जनता के लिए भी नये हालात में नये मरहले स्वाभाविक थे और इन दोनों के अंतर्द्वंद्व से उपजी एक नई सामाजिक-राजनीतिक हक़ीक़त ने दोनों समुदायों के रिश्तों को नये तरह से परिभाषित भी किया और रूपायित भी।
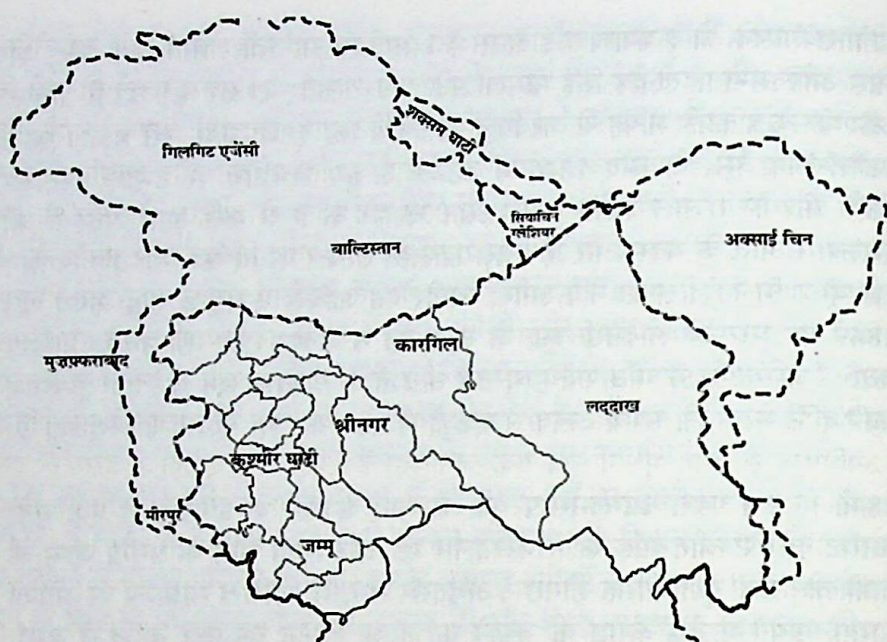
16 मार्च, 1846 को अमृतसर समझौते के बाद जम्मू और कश्मीर राज्य

डोगरा राज : नया नक़्शा, पुरानी मुसीबतें

1846 में विदेशी राज कश्मीर के लिए नया नहीं था। लेकिन डोगरा अजीब विदेशी शासक थे जो ख़ुद एक ताक़तवर सत्ता के ताबेदार थे जो उस समय तक पूरे भारत को अपने अधिकार में ले चुकी थी। इसके अलावा डोगरा उन परदेशी शासकों की तरह भी नहीं थे जो पहले घाटी में आए और फिर यहीं बस गए, न ही दिल्ली या लाहौर में रहकर सूबेदारों के भरोसे शासन करनेवालों की तरह जिनका घाटी या आसपास से कोई रिश्ता नहीं रहा। डोगराओं ने हमेशा जम्मू को अपना घर समझा और कश्मीर घाटी को विजित प्रदेश। उन्होंने राज्य में एक तरह के डोगरा साम्राज्यवाद की स्थापना की जिसमें डोगराओं को ऊँची पदवियाँ मिलीं और सभी ग़ैर-डोगरा समुदाय और वर्ग को कमतर दर्जा दिया गया। इस तरह घाटी के लोग डोगरा साम्राज्यवाद के अधीन हो गए जो ख़ुद ब्रिटिश महासाम्राज्यवाद के ताबेदार की तरह काम कर रहे थे। हालाँकि डोगरा साम्राज्यवाद ने दुर्भाग्य, दासता, भौतिक और मानसिक पतन के अलावा कुछ नहीं दिया लेकिन दूसरा साम्राज्यवाद कुछ फ़ायदों के बिना नहीं आया। ब्रिटिश प्रभुत्व में घाटी में पश्चिमी विचारों और आधुनिकता का असर पड़ा जिसने अन्ततः लोगों को आज़ादी और मुक्ति का अपना जन्मसिद्ध अधिकार माँगने के लिए जाग्रत किया।[12]

—प्रेमनाथ बज़ाज़

डोगरा शासन को कश्मीर के इतिहास का आख़िरी सामन्ती शासन होना था लेकिन इस आख़िर से पहले वह कई मामलों में पहला शासन था। सबसे पहले तो यही कि कश्मीर के इतिहास में पहली बार गिलगिट, बाल्टिस्तान, लद्दाख, कश्मीर घाटी, पुंछ और जम्मू जैसे इलाक़े एक प्रशासनिक ईकाई का हिस्सा बने और आधुनिक जम्मू और कश्मीर राज्य स्थापित हुआ। 80,000 वर्ग मील से अधिक क्षेत्रफल के इस राज्य में आज के जम्मू और कश्मीर राज्य के साथ-साथ तिब्बत और पामीर के भी हिस्से शामिल थे। 1950 में कश्मीर विवाद के हल के लिए संयुक्त राष्ट्र द्वारा नियुक्त किये गए मध्यस्थ ओवन निक्सन ने राज्य की संरचना पर टिप्पणी करते हुए लिखा था : 'जम्मू और कश्मीर राज्य वास्तव में न तो भौगोलिक रूप से, न ही जनसंख्या की दृष्टि से, न ही आर्थिक रूप से एक इकाई है। यह एक महाराजा की राजनीतिक आधिपत्य में आए भूभागों का एक जमावड़ा है। यही बस एकता है इसमें।'[13] इस भूगोल का कश्मीर के इतिहास पर भी असर पड़ना ही था। आगे हम देखेंगे कि किस तरह गिलगिट और बाल्टिस्तान जैसे दुर्गम इलाक़ों में सेना की तैनाती और रसद आदि की व्यवस्था तथा सड़क-निर्माण आदि के लिए लगातार मज़दूरों की जो ज़रूरत पड़ी, उसने घाटी में बेगार की व्यवस्था को अमानवीय हद तक बढ़ा दिया। दूसरा यह कि पहली बार जम्मू के राजा का कश्मीर घाटी पर आधिपत्य हुआ। बाहरी तो सिख, अफ़ग़ान, मुग़ल सभी थे लेकिन डोगरा शासन एक ऐसा 'बाहरी' शासन था जिसका ऐतिहासिक रूप से घाटी के साथ जुड़ाव भी रहा था और जो सूबेदारों के माध्यम से नहीं अपितु प्रत्यक्ष तौर पर कश्मीर पर शासन कर रहा था, तो पारम्परिक रूप से जम्मू पर वर्चस्व रखनेवाली घाटी के लोगों के मानस के लिए डोगरा शासन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव और घाटी के लोगों के प्रति जम्मू के लोगों का व्यवहार पहले के शासनों से अलग रहा और उसका असर जम्मू और घाटी के बीच अब तक चले आ रहे तनाव के रूप में देखा जा सकता है। एकदम एक नई स्थिति यह भी थी कि एक विदेशी ताक़त परिदृश्य में बेहद प्रभावी थी—अंग्रेज़! यह इस मामले में भी अलग था जैसाकि बज़ाज़ के उल्लिखित उद्धरण में कहा गया है, कश्मीर के इतिहास में पहली बार ऐसी स्थिति बनी कि बहुसंख्या मुसलमान थी, प्रत्यक्ष शासक हिन्दू था और एक तीसरी तथा सर्वोच्च ताक़त थी जो इन दोनों से अलग धर्म की ही नहीं थी बल्कि एक अलग संस्कृति की भी थी और इस रूप में अकबर के बाद पहली बार वह उस भारतीय उपमहाद्वीप का हिस्सा बना जो एक पश्चिमी शासन के उपनिवेश के रूप में संक्रमण के काल से गुज़र रहा था। इस तरह हम कह सकते हैं कि कश्मीर घाटी दोहरे उपनिवेश में तब्दील हो गई। हालाँकि अमृतसर सन्धि में 'ब्रिटिश सरकार की महाराजा के मामलों में न्यूनतम सम्भव हस्तक्षेप' करने की बात थी लेकिन हस्तक्षेप की कोशिशें रणवीर सिंह के समय ही शुरू हो गई थीं और तीसरे डोगरा शासक प्रताप सिंह का समय आते-आते अंग्रेज़ों का हस्तक्षेप रीजेंट की

नियुक्ति तक ही नहीं पहुँचा बल्कि अपने शासनकाल के बड़े हिस्से में अंग्रेज़ों ने प्रत्यक्षत: शासन सँभाला और प्रताप सिंह केवल नाम के महाराजा बने रहे। कश्मीर के आधुनिक इतिहास में इन सब 'पहले' के तथ्यों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और कश्मीरी पंडितों का, इन सब ताक़तों तथा इस बड़े राज्य के मुसलमानों के ही नहीं बल्कि अन्य हिन्दुओं के बरअक्स लोकेशन तय करने में भी।

इस नये राज्य का प्रस्थानबिन्दु था क्षेत्रीय और धार्मिक असमानताएँ। एक जनपक्षधर राज्य इन असमानताओं को लगातार कम करने और क्षेत्रीय तथा धार्मिक सौहार्द को बढ़ाने की दिशा में काम कर सकता था। लेकिन गुलाब सिंह के लिए यह विविधता राजस्व-वसूली की सम्भावनाओं के मद्देनज़र निराशाजनक थी। एक-तिहाई राज्य पहाड़ था, एक-तिहाई पानी और बचा हुआ इलाक़ा जागीरों के रूप में अलग-अलग लोगों के पास था।[14] ऐसे में यह स्वाभाविक था कि इन विषमताओं का उपयोग अपने निहित स्वार्थों के अनुसार किया जाता। नवनीता चड्ढा बेहरा कहती हैं—डोगरा राज कश्मीरियों के ख़िलाफ़ गहरे क्षेत्रीय पूर्वग्रह और मुसलमानों के ख़िलाफ़ धार्मिक पूर्वग्रह की कहानी है।[15] इस दुहरे पूर्वग्रह का सबसे बड़ा असर कश्मीरी मुसलमानों पर पड़ना ही था लेकिन कश्मीरी पंडितों के लिए भी यह समय उतना अच्छा नहीं था, जितना अक्सर इधर के आख्यानों में दिखाया जाता है। असल में, आम तौर पर, 1947 को कश्मीर समस्या की शुरुआत का वर्ष मानने की राजनीतिक दृष्टि से हटकर ग़ौर से देखें तो कश्मीरी समाज के भीतर वह खींचतान डोगरा राज्य की स्थापना के साथ शुरू होती है जिसने दोनों समुदायों के बीच तनावों की वह अनवरत शृंखला पैदा की जिसने एक तरफ़ दोनों के मन में पूर्वग्रह भरे तो दूसरी तरफ़ धार्मिक कट्टरता की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। वहीं जम्मू और घाटी ही नहीं बल्कि पुंछ, लद्दाख और उत्तरी क्षेत्र के पहाड़ी इलाक़ों के साथ भी जिस तरह का व्यवहार हुआ, उसने 1947 के पहले, विभाजन के समय और उसके बाद भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

मृदु राय के इस कथन से असहमत होने का कोई आधार नहीं है कि 'डोगरा शासकों ने कश्मीरी समाज के अन्दर अपने सहयोगी की तलाश में मुख्यत: पंडितों पर भरोसा किया। लेकिन इसको सरलीकृत करके यह मान लेना कि इसका अर्थ कश्मीर में पंडितों के वर्चस्व की स्थापना थी, ग़लत होगा।' जियालाल किलाम इस विडम्बना का एक मानीखेज़ चित्र प्रस्तुत करते हैं :

> जब महाराज गुलाब सिंह कश्मीर पहुँचे तो एक कश्मीरी पंडित तिलकचन्द मुंशी वहाँ प्रधानमंत्री थे। उन्हें इमानबादी दीवान के लिए जगह बनानी पड़ी, जिसने अपने लोगों को प्रमुख जगहों पर नियुक्त किया। तिलकचन्द मुंशी के साथ अन्य पंडितों को भी दरबार से निकाल दिया गया। लेकिन ग्रामीण प्रशासन कश्मीरी पंडितों के पास रहा। उन्होंने ग्राम अभिलेखों की देखभाल तथा स्कूलों में शिक्षक का काम किया।[16]

बिना इस तथ्य का ज़िक्र किये कश्मीरी पंडितों और डोगरा राज के बीच के सम्बन्ध को सिर्फ़ धर्म के आधार पर देखना अक्सर एक ऐसी बायनरी बनाता है जो विश्लेषण में आसान तो है लेकिन भ्रामक है। कश्मीर के सन्दर्भ में ऐसी बायनरीज़ अकादमिक धोखाधड़ी नहीं तो बेईमानी तो हैं ही। जैसाकि हमने देखा ही है, मुग़लकाल से ही कश्मीर में ब्राह्मणों ने शासकीय सेवाओं, मुख्यत: राजस्व विभाग में लगभग एकाधिकार स्थापित कर लिया था। इसी काल में ब्राह्मणों के बीच फ़ारसी पढ़े-लिखे कारकून वर्ग का उदय हुआ था जो शासकीय नौकरियों और शहरी लोकेशन के चलते ब्राह्मण समाज में सबसे महत्त्वपूर्ण होकर उभरा था। इसलिए नौकरियाँ उसके जीवन और प्रतिष्ठा के मूल में थीं। आनन्द कौल से लेकर प्रेमनाथ बज़ाज़ तक ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि पंडितों की शिक्षा-दीक्षा और उनका पालन-पोषण इसी तरह से किया जाता था कि वे शासकीय नौकरियों के योग्य बन सकें। प्रेमनाथ बज़ाज़ लिखते हैं : 'पंडितों को बचपन से ही सरकारी नौकरी के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। माएँ अपने बच्चों को, पुरोहित अपने यजमानों को और बड़े-बूढ़े जवानों को यह आशीर्वाद दिया करते थे कि उन्हें सरकार में नौकरी मिले, प्रमोशन हों।'[17] कौल बताते हैं : 'कश्मीरी पंडित शानदार क्लर्क होते हैं...। किसी सरकारी दफ़्तर में उनकी नियुक्ति अच्छी क़िस्मत की तरह मानी जाती थी। वे कला, शिल्प, उद्योग, कृषि, शारीरिक श्रम और व्यापार में उदासीन होते हैं।'[18] वहीं मुस्लिम समुदाय का बड़ा हिस्सा खेती, शॉल बुनाई, पेपरमैशे जैसे रोजगारों से जुड़ा हुआ था और शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ था। हरि सिंह के समय तक उसमें कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ।[19] उसने प्रशासन और ख़ास तौर पर राजस्व विभाग में प्रभावी कश्मीरी पंडितों की उस ग्रामीण जनता के दमन की ताक़त बढ़ा दी जिसका बहुलांश मुसलमानों का था।[20] आगे हम इस पर और विस्तार से बात करेंगे।

इतिहास के प्रोफ़ेसर और भाजपा-पीडीपी सरकार में उपमुख्यमंत्री रहे निर्मल सिंह इस दौर में राजकीय कर्मचारियों के धार्मिक संघटन के बारे में आँकड़ों की अनुपस्थिति का ज़िक्र करते हैं लेकिन यह भी दावा करते हैं कि निश्चित रूप से उसमें हर धर्म के लोग होंगे! वह कहते हैं :

> इस बात में कोई दो राय नहीं कि पारम्परिक नौकरशाह कश्मीरी पंडितों की, उनके राज्य के कर्मचारियों में, गाँव के पटवारी से लेकर वज़ीर वज़ारत तक, सबसे बड़ी हिस्सेदारी थी। राजस्व विभाग में उनका पूर्ण एकाधिकार था। उसके बाद पंजाबी भी बड़ी संख्या में विभिन्न नौकरियों में लगे थे। उनमें से दीवान परिवार भी था जिसने गुलाब सिंह को अपने राज्य पर अधिकार जमाने और पकड़ मज़बूत करने में सहायता दी थी। इस परिवार को दीवान के पद के लिए सम्भावित उम्मीदवारों को पेश करने का विशेषाधिकार हासिल था।'...'बड़ी संख्या में मुसलमान भी गुलाब सिंह की सेवा में थे...। मुसलमान जागीरदारों की भी संख्या काफ़ी थी।'[21]

लेकिन इस 'बड़ी संख्या' का कोई प्रमाण न वह देते हैं, न ही कहीं और मिलता है। 1873 में छपे *अ गज़ेटियर ऑफ़ कश्मीर* में एलिसन बताते हैं कि 1860 में कश्मीर घाटी में कुल 45 जागीरदार थे जिनमें सिर्फ़ 5 मुसलमान थे। एलिसन उसी वर्ष में विभिन्न विभागों में लिपिकीय पदों पर 5572 कश्मीरी पंडितों के होने की सूचना देते हैं जबकि एक भी मुसलमान उस पद पर नहीं था।[22] इस बारे में अन्य किसी स्रोत से आँकड़ों की उपलब्धता न होने के कारण पक्के तौर पर कुछ कहना तो सम्भव नहीं है लेकिन रणजीत सिंह का समय आते-आते जो तथ्य सामने आते हैं, उनसे दो चीज़ें स्पष्ट हैं : पहली तो यह कि उन मुसलमानों में बड़ी संख्या जम्मू के मुस्लिम डोगरा राजपूतों की थी और दूसरा यह कि घाटी के जिन थोड़े से मुसलमानों को सरकारी सेवा में अवसर मिला था, उनमें से अधिकांश चौथी श्रेणी की नौकरियों और सफाई आदि के काम में ही लगाये गए थे और कुछ कुलीन सैयद तथा पीर परिवारों के सदस्यों को ऊँचे पदों पर जगह दी गई थी। पंडित, पीर और सैयद अफ़ग़ान काल से ही शासकीय सेवाओं में प्रभावी भूमिका में थे और नये शासक निश्चित तौर पर उनके अनुभव का फ़ायदा उठाने के लिए उनकी स्वामिभक्ति हासिल करना चाहते थे।[23]

पारम्परिक रूप से राजस्व विभाग तथा अन्य जगहों पर नौकरी कर रहे कश्मीरी पंडित एक तो अपनी अर्जित योग्यता के चलते स्वाभाविक रूप से उन नौकरियों के लिए योग्य थे; दूसरा, बहुत स्पष्ट रूप से डोगरा शासकों की नीतियों में मुस्लिम विद्वेष था। जम्मू और कश्मीर की गद्दी पर बैठने के बाद गुलाब सिंह ने कहा था: 'मैं सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करूँगा लेकिन मुसलमानों के बीच कुछ ऐसे तौर-तरीक़े हैं जो हिन्दुओं को अपनी धार्मिक गतिविधियों के सन्दर्भ में अप्रिय लगते हैं, उनकी इजाज़त नहीं दी जाएगी।'[24] यह सामान्य-सा लगनेवाला वाक्य तब असामान्य बन जाता है जब हम उसे इस तथ्य के साथ जोड़कर देखते हैं कि यह लगभग 95 फ़ीसदी मुस्लिम आबादी वाली घाटी के लिए कहा जा रहा है और इसमें उन हिन्दू व्यवहारों का कहीं ज़िक्र नहीं जिससे किसी मुसलमान को अपनी धार्मिक गतिविधियों में दिक़्क़त हो सकती है। इस पूरी प्रक्रिया में गुलाब सिंह ने इस बात का ध्यान रखा कि मुसलमानों के उच्च वर्ग को एक हद तक सन्तुष्ट रखा जाए।[25] इस नीति के तहत जो पहला काम किया गया, वह अजान पर पाबन्दी को हटाना था[26] लेकिन वहीं दूसरी तरफ़ राज्य पीनल कोड की धारा-219 के तहत गो-हत्या के लिए मृत्युदंड के प्रावधान को बाद में घटाकर 10 वर्ष के और फिर 7 वर्ष के कारावास में तब्दील किया गया।[27] गाय को चोट पहुँचाने का शक होने पर नाक-कान काटने से लेकर अपराधी के बाल या फिर उसका घर जला देने जैसी सज़ाएँ तजवीज़ की गई थीं। कश्मीर में काफ़ी समय रहे टिंडल बिस्को एक क़िस्सा सुनाते हैं :

> एक बार एक हिन्दू कर्मचारी ने एक ऐसे आदमी की हत्या कर दी जिसने उसकी पत्नी का अपमान किया था। महाराजा ने उसे देश छोड़ देने का आदेश दिया।

इस पर उसने कहा कि उस व्यक्ति ने गो-हत्या की थी तो महाराजा ने उसे देश में ही रहने दिया। ऐसे ही एक बार एक गाड़ी सवार ने मिशन के एक लड़के को मार दिया। जज ने उसे बिना किसी सज़ा के जाने दिया। निकलते हुए उसकी गाड़ी एक गाय से टकरा गई तो लोगों ने उसे गो-हत्या के अपराध में मार देने की कोशिश की।[28]

राजकुमार रणबीर सिंह गाय को लेकर अपने पिता से अधिक धर्मांध था और जब वह राजकुमार ही था तो उसने एक ऐसी महिला की जीभ कटवा दी थी जिसने अपने सूखने के लिए डाले कपड़े फाड़ देने की वजह से गाय की पिटाई की थी! यही नहीं, जब गो-हत्या के अपराध में गुलाब सिंह ने एक व्यक्ति को आजीवन कारावास की सज़ा दी तो इससे नाराज़ रणबीर सिंह ने जेल कर्मचारियों को उसके खाने में अधिक मात्रा में नमक मिलाने को कहा जिससे वह डीहाइड्रेशन से मर जाए। 1853 में राजकुमार के रूप में उसने हिन्दू और सिख जनता से मुसलमानों की मांस की दुकानों की बहिष्कार की अपील की और सिखों को मांस की दुकानें खोलने के लिए प्रोत्साहित किया।[29] कल्पना की जा सकती है कि ऐसा राजकुमार राजा बनने के बाद किस तरह की नीतियाँ अपनाएगा। रणबीर सिंह के बाद प्रताप सिंह ने भी शासन सँभालने पर घोषणा तो सभी से एक समान व्यवहार की की, लेकिन न केवल उसके समय में सैन्य व अन्य सार्वजनिक आयोजन पूरी तरह से हिन्दू रंग में रँगे हुए थे बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि अजान की अनुमति भी तब तक उतनी प्रभावी नहीं रह गई थी।

मृदु राय 1897 में रणबीर सिंह पुरा तहसील के अरनिया गाँव की एक घटना का ज़िक्र करती हैं जिसमें हिन्दुओं ने अजान देने से मुसलमानों को रोका तो मुसलमानों ने विद्रोह कर दिया। अन्त में रेज़िडेंट के हस्तक्षेप से यह अनुमति मिली। वह 1913 में प्रताप सिंह द्वारा अपने वज़ीर दीवान अमरनाथ को लिखे पत्र का भी ज़िक्र करती हैं जिसमें वह गो-हत्या की बढ़ती घटनाओं पर चिन्ता जताते हुए अपराधियों पर कड़ी कार्यवाही करने को कहता है, जबकि जाँच करने पर पाया गया कि ऐसी कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई थी लेकिन अफ़वाहों का बाज़ार गर्म था। यहाँ उस दौर तक मुसलमानों का असन्तोष विद्रोह में परिणत होने का संकेत मिलता है।[30] इन सबके बावजूद गो-हत्या को लेकर डोगरा शासकों की नीतियाँ बदस्तूर जारी रहीं। 1920 के दशक में कश्मीर में 117 लोग जेल में बन्द थे जिसमें से 97 मुस्लिम थे जो गोकशी के इलज़ाम में जेल में थे।[31] देखा जाए तो उस दौर के शासकों में यह साम्प्रदायिक प्रवृत्ति बहुत आम थी। इयान कोपलैंड ने हैदराबाद के निज़ाम और भोपाल के नवाब के शासन को भी विधर्मियों (यहाँ हिन्दुओं) के प्रति अधिक अन्यायपूर्ण बताया है। ज़ाहिर है कि ये नीतियाँ अपने सधर्मियों को आर्थिक शोषण में सहयोगी बनाने और उस पर पर्दा डालने के लिए काम आती थीं तो कालान्तर में अंग्रेज़ों ने भी देसी शासकों पर नियंत्रण

रखने के लिए इसका ख़ूब फ़ायदा उठाया और अन्ततः ये नीतियाँ देश में साम्प्रदायिक माहौल को और विषाक्त करने में सहायक बनीं।

यहाँ एक और तथ्य पर ध्यान देना ज़रूरी है और वह है जम्मू-कश्मीर के शासन में लगातार डोगरा राजपूतों का बढ़ता वर्चस्व। गुलाब सिंह के शासनकाल में कश्मीर घूमने आए ब्रिटिश अधिकारी एल.बी. बावरिंग ने लिखा :

> गुलाब सिंह के शासनकाल में आम चलन यह था कि उच्चतम पदों पर अपने ख़ानदान के किसी डोगरा राजपूत को नियुक्त कर अपने नाम पर प्राधिकार दिया जाए और कर्मचारी स्तर पर कश्मीरी पंडितों को नियुक्त किया जाए। डोगरा विश्वासपात्र लेकिन अनपढ़ होते थे और स्थानीय सयाने पंडितों की मदद के बिना काम नहीं कर सकते थे।[32]

इस परिघटना का एक सीधा असर यह पड़ा कि कश्मीरी पंडित ऐसे सभी निचले पदों पर बहुतायत में नियुक्त किये गए थे जिनसे जनता का सीधा वास्ता पड़ता था, जबकि निर्णयकारी निकाय में उपस्थिति डोगराओं और पंजाबियों की अधिक थी। अंग्रेज़ों से जम्मू और कश्मीर का राज्य ख़रीदने के बाद डोगरा शासकों का सबसे अधिक ज़ोर कर एकत्र करने में था। विस्तार में न जाते हुए हम 1863 में कश्मीर की यात्रा पर आए कर्नल टारेंस की इस बारे में टिप्पणी याद कर सकते हैं :

> ग़ैरवाजिब करों और वसूली के मामले में गुलाब सिंह अपने पूर्ववर्तियों से भी आगे गया। यह सच है कि पूर्ववर्तियों ने भारी करारोपण किया था लेकिन गुलाब सिंह ने लोगों के ख़ून की आख़िरी बूँद तक चूस ली; पूर्ववर्तियों ने धरती की उपज के बड़े हिस्से को, करघों के लाभांश को और श्रमिकों के श्रम को हिंसक तरीक़े से छीन लिया था, लेकिन इसने तो अपने ख़ज़ाने भरने के लिए उनकी आख़िरी दमड़ी भी वसूल ली।[33]

कश्मीर घाटी में 85 प्रतिशत आबादी कृषि में संलग्न थी और यह पूरी आबादी मुसलमानों की थी। जिस तरह की जागीरदारी और चकदारी की व्यवस्था वहाँ लागू की गई, उसने पहले से ही ग़रीबी और अराजकता की शिकार कृषक आबादी की कमर तोड़ दी। इस जागीरदारी व्यवस्था में किसानों की दशा ग़ुलामों जैसी हो गई थी।[34] रबी फ़सलों के लिए हर 32 त्राक (वज़न की इकाई) में से 20 त्राक सरकारी लगान था तो पौने दो त्राक इन कर्मचारियों के खाते में जाता था यानी कुल लगान उपज के 65 फ़ीसद के बराबर था तो ख़रीफ़ फ़सलों के लिए लगभग 74 फ़ीसद![35] 1887 में कश्मीर के भू-बन्दोबस्त के लिए भेजे गए ब्रिटिश अधिकारी ए. विग्नेट ने इसे 'रैयतवाड़ी व्यवस्था के पतनशील रूप' जैसा कहा था।[36]

सिख शासन की उपेक्षा के बावजूद उस दौर तक कश्मीर घाटी में शॉल उद्योग ही सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग था। 1805 में कश्मीर से शेष ब्रिटिश इंडिया के साथ कुल व्यापार 1,41,757 रुपयों का था और इसमें शॉल का हिस्सा 90 फ़ीसद से

भी अधिक का था।[37] इस उद्योग में सौ फ़ीसद मुसलमान थे। डोगरा शासन में इस पर नियंत्रण रखने के लिए 'दाग़शाली महकमा' स्थापित किया गया जिसमें ऊपर से नीचे तक कश्मीरी पंडितों का बहुतायत था। राजाकाक धर को इसका प्रमुख बनाया गया था जिन्होंने शॉल से होनेवाली करों की आय को चार लाख से बढ़ाकर बारह लाख कर दिया।[38] इसके लिए बुनकरों पर भारी कर लगाये गए। एक शॉल बफ़ (करघे पर शॉल बुनने वाले बुनकर) की मासिक आय हद से हद सात से आठ रुपये होती थी जिसमें से 5 रुपये उसे हर महीने कर के रूप में देना पड़ता था। उसे अपना पेशा बदलने या कश्मीर छोड़ने की भी इजाज़त नहीं थी और अगर कोई किसी तरह भागकर पंजाब या कहीं और जाने में सफल हो जाए तो दाग़शाली महकमे के सिपाही उसके परिवारजनों को गिरफ़्तार कर लेते थे।[39] इन नीतियों से परेशान कश्मीरी बुनकरों ने 1865 में विद्रोह का झंडा बुलन्द किया और 29 अप्रैल, 1865 को बुनकरों ने राजाकाक धर का पुतला जलाया। कश्मीर के तत्कालीन सूबेदार ने उनसे कड़ाई से निपटने का फ़ैसला किया और श्रीनगर से बजाय सिंह के नेतृत्व में सेना भेजी जिसने निहत्थे बुनकरों को घेरकर बन्दूक़ों और भालों से हमला किया। कई बुनकर मारे गए और बाक़ी ने जब भागने की कोशिश की तो हाज़ी रादर के पास दलदली नाले में डूबकर उनमें से कई की मौत हो गई। कम-से-कम 28 शव बाद में लोगों द्वारा निकाले गए, जबकि सैकड़ों घायल हुए। जब यह ख़बर महाराजा के पास पहुँची तो उसने इसके और सख़्त दमन का फ़ैसला किया, प्रदर्शन में भाग लेने वालों पर जुर्माने लगाये गए और जुर्माना न दे पाने की हालत में उन्हें जेल में डाल दिया गया। उनमें से दो शेख़ रसूल और अली बाबा जेल के भीतर के अत्याचारों के चलते मर गए और बाक़ी को जम्मू की जेलों में डाल दिया गया। भारत के वर्ग-संघर्ष के इतिहास में यह श्रमिकों का पहला विद्रोह था और इसने आगे कश्मीर में आज़ादी की लड़ाई में प्रेरणास्रोत का काम किया। इस विद्रोह को इतिहास में 'खाँडवाव* विद्रोह' के नाम से जाना जाता है।[40]

नाइयों और दर्ज़ियों के अलावा कोई क्षेत्र ऐसा नहीं था जिस पर कर न लगाये गए हों। इसके अलावा भी कई कर थे। परिवार में सदस्यों की संख्या के अनुसार रसूदारत था, फलों पर अलग से कर था, पशु कर था, खच्चरों पर अलग से कर था, पुट्टू कर था जिसके तहत आधे मूल्य पर एक कम्बल प्रतिवर्ष देना पड़ता था। गाय रखने पर घी की एक निश्चित मात्रा देनी पड़ती थी। मुर्गियाँ रखने पर कर था, शहद पर कर था! ज़मीन बेचने पर उसके मूल्य का एक-चौथाई कर के रूप में देना होता था। शादी करने के लिए एक रुपये का कर था जिससे हिन्दुओं को मुक्त

---

* 'खांडवाव' प्रशिक्षु बुनकरों को कहा जाता है जिन्होंने इस आन्दोलन में सबसे बड़ी संख्या में हिस्सा लिया था।

रखा गया था। कोई मुसलमान अगर दूसरी या तीसरी शादी करना चाहे तो उसके लिए भी एक निश्चित धनराशि के भुगतान के बाद ही इजाज़त मिलती थी। हांजी (नाविक) को 2 से 8 रुपये प्रतिमाह का कर देना होता था। अंचर झील के किनारे रहनेवालों को झील में उगनेवाली घास (जिसका प्रयोग दरी बुनने में किया जाता था), मछली आदि के प्रयोग के लिए सालाना कर देना होता था। जिस कश्मीर में चारों तरफ़ जंगलों में प्रचुर मात्रा में लकड़ी उपलब्ध थी, वहाँ ईंधन के लिए भी भारी शुल्क लगाया गया था! यहाँ तक कि घोड़े बेचने पर भी कर था—मूल्य का आधा।* लगान और करों का डर ऐसा था कि चाहे वह ग्रामीण हिन्दू हो या मुसलमान, जिनके पास थोड़ा-बहुत धन होता था, वे भी जानबूझकर गन्दे और सस्ते कपड़े पहनते थे कि किसी कारिंदे की नज़र न पड़ जाए![41]

तकलीफ़ें यहीं ख़त्म नहीं होती थीं। डोगरा शासन के दौरान कश्मीर में बेगार प्रथा बहुत बढ़ गई थी। बेगार से छूट सिर्फ़ हिन्दुओं, सिखों, पीरज़ादाओं, गोजरों और उन किसानों को ही मिली थी जो उन अधिकारियों के यहाँ काम करते थे, जिन्हें जागीरें अता हुई थीं।[42] ज़ाहिर है कि बेगार के लिए मजबूर सिर्फ़ ग़रीब ग्रामीण मुसलमान ही किये जाते थे। अपने यात्रा-संस्मरण *व्हेयर थ्री अम्पायर्स मीट* में नाइट लिखते हैं :

> गिलगिट रोड पर सामान ढोने के लिए कई हज़ार ग्रामीणों से हर साल बेगार कराया जाता था। गिलगिट का नाम ही पूरे राज्य में आतंक पैदा कर देता था। उत्तरी सीमा पर सेना को अनाज पहुँचाने के लिए एक बहुत बड़ी यातायात सेवा की ज़रूरत थी और कश्मीरी प्रशासक के उन ग़रीबों की सुविधाओं की चिन्ता तो दूर, जान तक की भी कोई चिन्ता नहीं थी जिन्हें उनके घरों और परिवारों से महीनों भयानक रास्तों पर भटकने के लिए मजबूर किया जाता था। वे भूख और प्यास से सड़कों पर गिर पड़ते और कपड़ों की कमी के कारण सैकड़ों लोग उन बर्फ़ीले दर्रों में ठंड से मर जाते थे। जब किसी आदमी को बेगार के लिए पकड़ा जाता था तो उसके बीवी-बच्चे उससे लिपटकर ऐसे रोते थे, जैसे अन्तिम विदा दे रहे हों! ज़्यादातर बेगार का काम गर्मी के महीनों में किया जाता था जब दर्रे खुल जाते थे। यही वह मौसम था जब खेतों को उनकी ज़रूरत होती थी।[43] और इस विपदा से बचने की राह भी भ्रष्टाचार से ही खुलते थे। बेगार से मुक्ति के लिए अधिकारी कौड़ियों के मोल किसानों की ज़मीनें ख़रीद लेते थे और किसान अपनी ही ज़मीन पर आसामी बन जाता था। यही नहीं, आम तरीक़ा यह था कि अगर 10 बेगारों की ज़रूरत है तो पचास को चुना जाता था और शेष 40 को बेगार से मुक्ति के लिए उनसे 70 से 90 रुपये प्रति व्यक्ति तक की वसूली की जाती थी।[44]

---

* विस्तार के लिए देखें, रॉबर्ट थोर्प की किताब : *कश्मीर मिसगवर्नमेंट : एन अकाउंट ऑफ़ द इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल ऑपरेशन ऑफ़ द पीपल ऑफ़ कश्मीर बाय द महाराजा 'ज गवर्नमेंट।*

अब इस कर की वसूली करने, बेगार के लिए मज़दूर चिह्नित करने, कर न दे पाने पर गिरफ़्तार करने और सज़ा देने का काम था मध्य एवं निम्न स्तर के कर्मचारियों का जिसमें कश्मीरी पंडितों की बहुतायत थी जबकि कर देनेवाले किसानों, शॉल बुनकरों, नाव खेनेवालों जैसे सभी पेशों में लगभग सौ फ़ीसद मुसलमान थे। इस तरह, कश्मीरी पंडित जो सरकारी क्लर्क और राजस्व कर्मचारी थे, उत्पीड़क डोगरा राज्य के दिखाई देनेवाले प्रतिनिधि थे।[15] शेख़ अब्दुल्ला ने अपनी जीवनी में कर-वसूली के लिए एक बुनकर की पिटाई करते पंडित कर्मचारी के प्रतिकार का ज़िक्र किया है।

आम तौर पर इन कर्मचारियों की तनख़्वाह बहुत कम होती थी और रहन-सहन का ऊँचा स्तर बनाये रखने के लिए भ्रष्टाचार एक समाज-स्वीकृत तरीक़ा था। हर विभाग में जमकर भ्रष्टाचार था जिसका दुष्प्रभाव स्वाभाविक रूप से आम कश्मीरी मुसलमान को झेलना पड़ता था। भ्रष्टाचार को अपमानजनक नहीं माना जाता था बल्कि समाज में उसका सम्मान था और सरकार कभी उस पर कार्यवाही नहीं करती थी। प्रेमनाथ बज़ाज़ एक उदाहरण देते हैं जहाँ महाराजा के एक वज़ीर को लगा कि गाँवों में हरकारे* बहुत माल बना रहे हैं तो बजाय उन्हें कोई सज़ा देने के उसने हरकारों के प्रमुख हरकारा बख़्शी को शासन के ख़ज़ाने में एक बड़ी रक़म जमा कराने का आदेश दिया।[16] ज़ाहिर है, इस रक़म की वसूली भी ग़रीब ग्रामीणों से ही की गई होगी। नाइट एक घटना का ज़िक्र करते हैं जहाँ एक मुस्लिम किसान को एक हिन्दू कारिंदे ने बेहद कम मूल्य पर ज़मीन बेचने पर मजबूर किया है। वह इसे 'कश्मीरी शासन-व्यवस्था का सबसे भयावह दुर्गुण' बताते हैं।[17]

आगे बढ़ने से पहले घाटी में मात्र 4 प्रतिशत के आसपास आबादी वाले कश्मीरी पंडितों की मानसिक बुनावट के बारे में रुककर थोड़ा सोच लेना बेहतर होगा। हमने देखा है कि मुग़लकाल में पहली बार बाहरी शासन के आने के साथ ही यह संयोग पैदा हुआ कि सधर्मा होने के बावजूद मुग़लों ने स्थानीय मुसलमानों पर भरोसा न करते हुए दैनन्दिन प्रशासनिक सहयोगी के रूप में ब्राह्मणों पर भरोसा किया। इस तरह बाहरी शासन जहाँ स्थानीय मुसलमानों को सत्ता से बाहर करनेवाली परिघटना बना, वहीं लम्बे समय से हाशिये पर रहे कश्मीरी ब्राह्मणों के लिए एक नया अवसर लेकर आया था। पारम्परिक रूप से पढ़ाई-लिखाई करने और बौद्धिक गतिविधियों में संलग्न इस वर्ग ने इसके बाद ख़ुद को लगातार शासकीय नौकरियों के लिए तैयार किया तो दूसरी तरफ़ अमूमन सत्ताओं से टकराने की जगह उनके अनुसार

---

* हरकारा या ज़िलादार हर गाँव में नियुक्त कर्मचारी होता था जिसका मूल काम गाँव पर नज़र रखना और किसी नियम का उल्लंघन होने पर ख़बर देना होता था। उनको गाँव की उपज का एक हिस्सा भुगतान के रूप में दिया जाता था।

अनुकूलन की कोशिश की। यह अनुकूलन खान-पान, वेशभूषा और भाषा—हर स्तर पर हुआ। अपनी बेहद कम आबादी के चलते यह उनके लिए अपने अस्तित्व को बचाये रखने का इकलौता तरीक़ा था। सिख शासन आने के बाद इतना और हुआ कि धर्म के आधार पर जो भेदभाव उनके साथ होता था, वह मुसलमानों के साथ होने लगा। इस परिघटना ने उन्हें एक आत्मविश्वास भी दिया और हम देखते हैं कि बाद में दिये गए कई ज्ञापनों में उन्होंने इस बात को रेखांकित किया कि उनका और शासक का धर्म एक है। यही नहीं, इस आत्मविश्वास ने उनके दमित अभिमान को भी जीवित किया और वर्षों से साझा रहे कई पूजा-स्थलों को लेकर भी नये-नये विवाद शुरू हुए जिनमें पंडितों ने मुस्लिमों को बेदख़ल करने की कोशिशें कीं।* लेकिन इस पूरी परिघटना का एक पक्ष यह था कि सत्ता के क़रीब रहने की कोशिश और विश्वासपात्र दिखाने के उत्साह में उन्होंने शासक वर्ग के शोषण में पूरा साथ दिया जिसका शिकार स्वाभाविक रूप से ग़रीब मुसलमान हुआ। कम-से-कम उच्च पदों पर बैठे पंडितों ने इस उत्साह में मुसलमानों के प्रति जिस वैमनस्यता का परिचय दिया, उसका एक उदाहरण डोगरा शासक रणबीर सिंह के एक प्रसिद्ध प्रधानमंत्री वज़ीर पुन्नू के 1877-79 के भयावह अकाल के दौरान दिये गए बयान में मिलता है। अतिवर्षण से अनाज उत्पादन न हो पाने के कारण और फिर शासन की कुव्यवस्था के कारण इस भयानक अकाल में कश्मीर की आधी आबादी नष्ट हो गई थी। लेकिन इस महाविपदा में एक भी कश्मीरी पंडित, सिख या डोगरा नहीं मारा गया था। वज़ीर पुन्नू ने उस समय घोषणा की थी कि 'परेशानी की कोई बात नहीं है। अच्छा होता, श्रीनगर से रामबन (जम्मू में) तक एक भी मुसलमान ज़िन्दा नहीं बचता।'[48]

इस सबने एक तो कश्मीरी पंडितों और मुसलमानों में प्रत्यक्ष वैमनस्य पैदा किया और दूसरे, राजस्व जैसे विभाग में पंडितों के क़ब्ज़े ने मुसलमानों के मन में यह अवधारणा पैदा की कि डोगरा राज में सभी शासकीय पदों पर कश्मीरी पंडित ही हैं और वे उनके शोषक हैं। नाइट अपने संस्मरण में बार-बार उत्पीड़क हिन्दू/पंडित कर्मचारियों की बात करते हैं और उनके प्रति पल रहे ग़ुस्से और नफ़रत की भी।[49] यह मज़ेदार है कि कश्मीर में बन्दोबस्त के लिए भेजे गए अधिकारी सर वाल्टर लॉरेंस भी यही प्रभाव पैदा करते हैं :

> ब्राह्मणों के पास, जिन्हें कश्मीरी पंडित के नाम से जाना जाता था, सत्ता और प्राधिकार थे और मुस्लिम किसान आलसी ब्राह्मणों को सुख से रखने के लिए दिन-रात मेहनत करने को मजबूर थे। 1889 में कश्मीर राज्य कंगाल हो चुका था। वहाँ की उपजाऊ भूमि बंजर पड़ी थी तो सेना को ज़बरदस्ती किसानों से खेती कराने के लिए भेजा गया। इससे भी बुरा यह हुआ कि सैनिक फ़सल कटाई के समय फिर लौटे। जब राज्य को दिये जानेवाला कर वसूल लिया गया तो सैनिकों

---

* विस्तार के लिए मृदु राय की पूर्वोद्धृत किताब देखिए।

ने अपना हिस्सा वसूला और जब क्रूर जाड़ा आया, तापमान शून्य डिग्री से भी नीचे चला गया तो उस बर्फ़ के बीच उन मजबूर किसानों के पास अपना पेट भरने के लिए अनाज नहीं बचा था।'[50]

वह इस विवरण में डोगरा प्रशासन की नीतियों और उच्च पदों पर बैठे पंजाबी/डोगरा अधिकारियों का कोई ज़िक्र न होना आश्चर्य पैदा करता है। वह इस तथ्य का भी ज़िक्र नहीं करते कि राजस्व विभाग में प्रतिष्ठित पीर और सैयद परिवार के सदस्यों की भी एक प्रभावी उपस्थिति थी।[51]

इसके साथ एक और तथ्य पर ध्यान देना चाहिए कि श्रमिक जातियों के धर्म परिवर्तन कर लेने के कारण कश्मीरी ब्राह्मण मुसलमानों के ऊपर अपने अनेक कामों के लिए निर्भर था। नाई, धोबी, हांजी, दूधिया, मांस विक्रेता, कृषि मज़दूर, घरेलू श्रमिक इत्यादि वे सभी काम जो शेष भारत में नीची कहे जानेवाली जातियों द्वारा किये जाते थे, वे कश्मीर में मुसलमान करते थे। श्रीनगर के जवाहर नगर में रह रहे कुमार वांचू ने मुझसे बातचीत करते हुए पनुन कश्मीर के पंडितों के लिए अलग राज्य की माँग पर टिप्पणी करते हुए कहा कि 'बिना मुसलमानों के पंडित कैसे रहेंगे? उन्हें न सब्ज़ी उगाने आता है, न मांस काटने, न लकड़ी काटने, फिर अगर उनका अलग प्रदेश बन जाए तो कैसे काम चलाएँगे?' ज़ाहिर है कि कम-से-कम शहरी पंडितों और मुसलमानों के बीच यह जो रिश्ता बना वह एक हद तक शेष भारत में सवर्णों और दलितों के बीच के रिश्तों की तरह था जहाँ पंडित पढ़े-लिखे शासकीय नौकरी करनेवाले वर्ग की तरह सामने आते हैं और मुसलमानों का बहुसंख्यक अशिक्षित, ग़रीब और मज़दूरी करनेवाला। इस तथ्य ने पंडितों के मन में प्रतिभा और योग्यता का अहंकार और वह विशेषाधिकार का भाव भी भरा जो अमूमन हम सवर्णों में देखते हैं। लेकिन वहाँ उनके बरअक्स सधर्मा दलितों/पिछड़ों की जगह मुसलमानों के होने के कारण इस भाव ने दोनों तरफ़ साम्प्रदायिक विद्वेष को बढ़ाने में भूमिका निभाई।

इसके अलावा डोगरा शासन में भयावह करारोपण और शोषक नीतियों के चलते न केवल खेती-बारी पर असर पड़ा बल्कि वे उद्योग भी धीरे-धीरे नष्ट हो गए, जिन्होंने मुसलमानों के बड़े हिस्से को रोज़गार दिया था। प्रेमनाथ बज़ाज़ कहते हैं :

> उद्योगों की स्थिति बद से बदतर हो गई...। डोगराओं के शासन में कश्मीर के आर्थिक प्रगति पर यह एक निराशाजनक टिप्पणी है कि इतना बड़ा उद्योग जो लाखों ग़रीब लोगों को सहारा देता था और किसानों की एक बड़ी संख्या को जाड़े के दिनों में थोड़ी आय उपलब्ध कराता था, जब खेती से कोई आमदनी नहीं होती थी, 1925 आते-आते पूरी तरह से ख़त्म हो गया। जो चरखा कश्मीर के हर घर का एक ज़रूरी हिस्सा होता था, वह अब बड़ी मुश्किल से दिखाई देता है।

कश्मीर की सरकार कहती है कि 1870 के फ्रांस-जर्मनी युद्ध के कारण इस उद्योग को बहुत नुकसान पहुँचा। लेकिन यह बेकार की बात है क्योंकि हम जानते हैं कि 1870 के पहले ही इस उद्योग के हालात बुरे हो चुके थे। ज़्यादातर बुनकर इस सदी की शुरुआत में लाहौर, अमृतसर और आगरा जैसे कम महत्त्वपूर्ण केन्द्रों पर जा चुके थे। शॉल अब उन महत्त्वपूर्ण वस्तुओं में नहीं रह गई थी जिनका निर्यात इतनी मुद्रा अर्जित करा पाता कि उसका ज़िक्र सरकार की प्रशासनिक रिपोर्ट में किया जाए। यह अगर सबसे बड़े उद्योग का हाल था तो छोटे उद्योगों की तो बात ही क्या! प्रताप सिंह के समय तक काग़ज़ बनाने का काम पूरी तरह ख़त्म हो चुका था। कपड़े बनाने का भी। चाँदी और पेपरमैशे का काम भी ढलान पर था और शिल्पकार आर्थिक रूप से बेहद निचले स्तर पर पहुँच गए थे। मैं सिर्फ़ इतना कह सकता हूँ कि कश्मीर एक आत्मनिर्भर राज्य से एक ऐसा देश बन गया जो अपनी ज़रूरतों के लिए दूसरों पर निर्भर था; कश्मीरी एक निर्यातक राष्ट्र से ऐसी आबादी में तब्दील हो गए जो दूसरे देशों से भारी मात्रा में निर्यात करते थे।[52]

1890 में राज्य ने शॉल उद्योग से हाथ खींच लिया और दाग़शाली विभाग बन्द कर दिया।[53] इन बर्बाद हो रहे उद्योगों के बरअक्स रोज़गार का इकलौता सहारा महाराजा रणवीर सिंह द्वारा श्रीनगर में स्थापित सिल्क फैक्टरी (रेशमख़ाना) थी और वहाँ भी प्रशासन में पंडितों का बोलबाला था। यहाँ यह भी जोड़ देना बेहतर होगा कि किसानी में मुख्यतः सुन्नी मुसलमान संलग्न थे, जबकि पेपरमैशे और शॉल बुनाई के कामों में मिल्क़ियत शियाओं की थी, मज़दूर सुन्नी।[54] निर्मल सिंह बताते हैं कि राज्य का 85 फ़ीसद राजस्व सुन्नी मुसलमानों से आता था।[55]

खेती-किसानी और उद्योगों की बर्बादी के चलते कश्मीर में बड़े पैमाने पर गाँवों से शहर की ओर विस्थापन हुआ। जैसे-जैसे लोग काम की तलाश में नगरों और उपनगरों में इकट्ठे होने लगे तो न केवल खाद्यान्न पर दबाव बढ़ा बल्कि नौकरियों के लिए संघर्ष भी सघन हो गया। 1931 के सेंसस में पाया गया कि ज़्यादातर समुदाय अपने पैतृक कामकाज नहीं कर रहे हैं। इन विस्थापित समुदायों ने रेशमख़ाना और दूसरी जगहों पर काम तलाशने की कोशिश की लेकिन उनकी भी अपनी सीमाएँ थीं। स्वाभाविक है कि इन हालात में रोज़गार की समस्या बेहद गम्भीर बनकर उभरती और नौकरियाँ कश्मीर के सामाजिक-राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण कारक बनकर उभरीं।

आगे बढ़ने से पहले ठीक उसी दौर में आम कश्मीरी मुसलमान की मानसिकता को भी देख लेना बेहतर होगा। मुग़लों के शासनकाल से ही आत्मविश्वास जिस तरह से तोड़कर उन्हें एक शासित समुदाय में बदल दिया था, उसी के चलते हम पाते हैं कि उस काल के ज़्यादातर पश्चिमी पर्यटकों ने उनके लिए डरपोक, कायर, क्षुद्र जैसी शब्दावली का प्रयोग किया है। भयानक ग़रीबी और दमन से गुज़रते समाज के लिए

यह स्वाभाविक ही था कि उसमें एक तरफ़ भय घर कर लेता तो दूसरी तरफ़ सत्ता के दमन से बचने के लिए कुछ चालाकियाँ। मसलन लगान चुकाना जब असम्भव हो जाता तो उनके पास एक ही धमकी थी—गाँव छोड़कर भाग जाने की, क्योंकि लगान चुकाना पूरे गाँव की ज़िम्मेदारी थी और अगर कुछ किसान खेती छोड़कर भाग जाते तो गाँव की उपज कम हो जाने से पटवारी के लिए लगान वसूल कर पाना सम्भव न होता! विदेशी पर्यटकों से कुछ अतिरिक्त वसूल लेना उसके लिए आय का एक साधन था और भ्रष्टाचार में डूबे हुए राज्य में इसके लिए शर्म जैसी किसी चीज़ की उपस्थिति क्यों होती?

नाइट लिखते हैं :

> यह नियम है कि इस देश (कश्मीर) में पहली बार आनेवाले किसी अंग्रेज़ को इन विश्वसनीय लगनेवाले ख़ूबसूरत कश्मीरियों को, चालाक, ख़ुशनुमा और सभ्य कश्मीरियों को देखकर तभी तक बहुत ख़ुशी होती है जब तक कि उसे यह न पता चल जाए कि ये दुनिया के कुछ सबसे अधम लोगों में हैं—ऐसे झूठे और धोखेबाज़ जिन्हें सुधारा नहीं ज़ा सकता और अत्यन्त निम्नकोटि के धोखेबाज़...। अकबर ने इन मर्दों को फिरन पहनने पर मजबूर कर दिया था ताकि इनकी मर्दानगी ख़त्म हो जाए और ये औरतों की तरह हो जाएँ। ऐसा लगता है कि उसका यह तरीक़ा बेहद सफल रहा...। वह कई मामलों में एक मुश्किल और विरोधाभासी जीव है। उसे नापसन्द करने के लिए आपको उसे जानना होगा। आपको यह देखना होगा कि... मसलन एक शानदार, मज़बूत, दाढ़ी वाला आदमी अपने आधे क़द के पंजाबी के सामने समर्पण किये हुए है। वह पंजाबी उसके कान उमेठे जा रहा है जिसे वह एक हाथ से सीधा कर सकता है, और वह शरारती बच्चे की तरह रोये जा रहा है, चीख़े जा रहा है और अन्तत: ज़मीन पर लोटकर उसके पाँव पकड़कर गिड़गिड़ा रहा है...। मुझे लगता है, कश्मीरी को पिटना पसन्द है और इससे निकलने वाली चीख़ों में उसे मज़ा आता है। एक कश्मीरी किसी से भी मार खा लेगा, यहाँ तक कि किसी दूसरे कश्मीरी से भी।[56]

यह एक गोरे साहब की दृष्टि है। वह ख़ुद मुग़ल, अफ़ग़ानों, सिखों और डोगराओं की परम्परा में एक आक्रान्ता जाति से है, जिसे दु:ख बस यह है कि इतना शानदार इलाक़ा अंग्रेज़ों ने बेहद कम दाम में डोगरा शासक को बेच दिया। वह इस 'सच' के पीछे का सच नहीं देख सकता कि सदियों के उत्पीड़न ने कश्मीरी जनता के नैतिक साहस को लगातार दमित कर उसके भीतर के मनुष्य का आत्मसम्मान मार दिया था। आख़िर बेगार की दुखद स्थितियों का वर्णन करने के तुरन्त बाद वही नाइट कहते हैं :

> बेगार एक न्यायपूर्ण और उपयोगी संस्था है। कोई मुश्किल नहीं आएगी अगर इसे सही तरीक़े से संचालित किया जाए और एक विधिसंगत व्यवस्था की जाए। इसे एक झटके से ख़त्म नहीं किया जा सकता।[57]

मुस्लिम समुदाय का उच्च वर्ग सत्ताओं के साथ साँठ-गाँठ कर सुविधाओं का लाभ ले रहा था लेकिन यह निम्नवर्ग शिक्षा और चेतना से वंचित होकर ऐसी अधम हालत में पहुँच गया था। ग़ौर से देखिए, एक सदी पहले आपको यही हालत शेष भारत में दलितों की दिखाई देगी हालाँकि दलितों की स्थिति और बदतर थी क्योंकि उनके यहाँ तो कोई ऐसा उच्च वर्ग भी नहीं था। सदियों की दासता से उपजी यह मानसिकता जिसमें दासता को स्वीकार कर लिया जाता है, ग़ुलामी मानसिक हो जाती है, दमन स्वाभाविक लगने लगता है। बैरन स्कानबर्ग इन स्थितियों का बेहतर समाहार करते हैं—मैं इसके पहले अनेक जगहों पर गया हूँ लेकिन मनुष्यों की स्थिति उतनी निराशाजनक नहीं है जितना कि कश्मीर में। यह मिस्र के शासन में इजरायलियों की स्थिति की याद दिलाती है जहाँ वे अपने निर्दयी मालिकों द्वारा रोज़ काम पर हाँके जाते थे।[58] इन लाचार कुलियों के प्रति अंग्रेज़ों का क्या रवैया था, यह अन्दाज़ा ब्रिटिश रेज़िडेंट की पदस्थापना के बाद 1891 में, जब वहाँ अंग्रेज़ों का लगभग पूरी तरह से नियंत्रण हो गया था, स्टेट्समैन में छपी एक रिपोर्ट से हो जाता है :

> कश्मीर के रेज़िडेंट कर्नल निस्बत का सारा सामान (उसका स्थानान्तरण श्रीनगर से मुरी होने पर) महाराजा के निजी रास्ते से राज्य के ख़र्चे से भेजा गया जबकि वह ख़ुद मुरी के रास्ते से आया। जब हम बेगार व्यवस्था को इसके सबसे बुरे रूप में कश्मीर में फलते-फूलते हुए देखते हैं और यह देखते हैं कि एक पूरे घर का माल-असबाब ढोने में सैकड़ों ग़रीबों को एक दिन नहीं, हफ़्तों लगे होंगे तो यह समझना मुश्किल है कि कर्नल निस्बत जैसा अधिकारी इस तरह की सहायता कैसे स्वीकार कर सकता है? उसका इस तरह की मदद लेना ब्रिटिश परम्पराओं के एकदम विपरीत है। लेकिन सैकड़ों ग़रीब लोगों की क़ीमत पर यह सहायता लेना भ्रष्टाचार ही तो है। क्या कर्नल ने उन लोगों को भुगतान किया है जिन्होंने उनके लिए काम किया? यह कश्मीर में कर्नल निस्बत की इकलौती कार्यवाही नहीं है जिस पर सवाल उठाया जा सकता है। ऐसा पहले भी हुआ है और इनमें से कोई भी कम अफ़सोसनाक नहीं है। यह अक्सर देखा गया है कि जिन राजाओं की निगरानी के लिए रखा गया है, ब्रिटिश अधिकारी उनसे एहसान लेते रहते हैं। तो यह सब जानते हैं कि रेज़िडेंट महोदय सियालकोट में रहते हैं जिसकी सारी साज-सज्जा राज्य के ख़र्चे पर की गई है, क्योंकि रेज़िडेंट साहब श्रीनगर में नहीं रहते। यहाँ तक कि लाहौर में भी उन्हें एक शानदार घर और घोड़ागाड़ी दिया गया है जबकि राजधानी में रेजीडेंसी पर अकूत धन ख़र्च किया जाता है। उसके पहले के लोग भी इन दोषों में मुब्तिला थे लेकिन इन्हें उच्च मूल्यों वाला बताया गया था इसीलिए उनका बहुत स्वागत हुआ था। वह ऐसी ग़लतियों के प्रति अधिक सावधान हो सकते थे।[59]

कश्मीरियों के इसी पददलित स्वाभिमान के मद्देनज़र जब टिंडल बिस्को ने श्रीनगर में पहला मिशनरी ब्वायज़ स्कूल खोला तो उसका ध्येय वाक्य रखा :

In All things be Man. हालाँकि विडम्बना यह कि इस स्कूल के आरम्भिक दौर में और काफ़ी बाद तक भी मुख्यत: पंडित छात्रों का ही वर्चस्व रहा![60]

नौकरियों की राजनीति : मुल्की-ग़ैरमुल्की और हिन्दू-मुसलमान

आरक्षण की पूरी बहस को जब ग़रीबी से जोड़ा जाता है तो इस तथ्य को दरकिनार कर दिया जाता है कि शासकीय नौकरियाँ सिर्फ़ सुरक्षित रोज़गार नहीं होतीं बल्कि सत्ता में भागीदारी और शक्ति-संरचना में हिस्सेदारी होती हैं। सरकारी कर्मचारी और अधिकारी सत्ता की नीतियों को लागू करानेवाले ही नहीं होते बल्कि उसके निर्माता और नियन्ता भी होते हैं। इस तरह सकारात्मक भेदभाव के रूप में आरक्षण उस समूह को सशक्तीकृत करता है जो ऐतिहासिक संक्रियाओं में भेदभाव के कारण इससे वंचित रहा। अपनी अत्यन्त अल्प संख्या के बावजूद कश्मीरी पंडितों के राजस्व जैसे विभागों पर क़ब्ज़े के कारण वे अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने और सामाजिक स्थिति प्रभावशाली बनाने में सफल हुए थे जबकि घाटी के मुसलमानों का बड़ा हिस्सा लगातार वंचना का शिकार हुआ। लेकिन इस एक तथ्य के आसपास और भी बहुत सारे तथ्य हैं जिन्हें समझे बिना कश्मीर घाटी में नौकरियों की राजनीति और उसके उस दीर्घकालिक प्रभाव को समझना आसान नहीं होगा जिसने 1947 के बाद ही नहीं बल्कि आज तक कश्मीर की शान्ति और अशान्ति में अपनी बड़ी भूमिका बनाये रखी है।

लेकिन नौकरियों को लेकर यह एक सरलीकृत समझ होगी कि सभी पंडित नौकरी में थे और मुसलमान बाहर। पहली बात तो यही कि पंडितों का शहर में रह रहा वर्ग ही नौकरियों का उम्मीदवार था और उसका मुक़ाबला घाटी के उच्च-वर्गीय मुसलमानों से था। गाँवों में पंडितों का एक बड़ा हिस्सा ऐसा था जो या तो खेतिहर था या शहरी पंडितों के यहाँ रसोइये या घरेलू सहायक जैसे काम करता था। टिंडल बिस्को अपने संस्मरण *कश्मीर इन सनलाइट एंड सनशेड* में शासकीय पंडित कर्मचारियों का वर्णन करते हुए उनके घरों में रहनेवाली रिश्तेदारों की उस फ़ौज का ज़िक्र करते हैं जो उनके सहायक के रूप में रहती है और सड़क पर उनके पीछे ऐसे चलती है, जैसे बड़े अधिकारियों के पीछे कारिंदे चला करते थे।[61] कश्मीरी पंडितों के बीच वर्गीय विभाजन का एक उदाहरण 1950 में शेख़ अब्दुल्ला द्वारा किये गए भूमि-सुधार के आँकड़ों से मिलता है। यों देखें तो कुल मिलाकर 4 से 5 प्रतिशत आबादी वाले कश्मीरी पंडितों के पास राज्य की 30 प्रतिशत ज़मीन की मिल्क़ियत थी।[62] लेकिन इसे अलग-अलग करके देखें तो केवल 27 पंडित परिवारों के पास 518,811 कनाल यानी लगभग 26244.4176 हेक्टेयर ज़मीन थी। इनमें से 1,52,924 कनाल ज़मीन निजी मिल्क़ियत की थी,

बाक़ी तीन धार्मिक संस्थानों की और इसमें से 23,718 कनाल ज़मीन सिर्फ़ 3 बड़े पंडित जागीरदार परिवारों—श्यामसुन्दर लाल धर, बालकाक धर और राजा उपेन्द्र कृष्ण कौल—के पास थी।[63] ज़ाहिर है, गाँवों और कस्बों में ही नहीं, श्रीनगर में रहनेवाला पंडितों का बड़ा तबक़ा भी मध्यवर्गीय या निम्नमध्यवर्गीय जीवन ही जी रहा था। लेकिन जैसाकि दक्षिण एशिया के पढ़े-लिखे कुलीन वर्ग पर टिप्पणी करते हुए डोनाल्ड ई. स्मिथ कहते हैं :

> 'नौकरियों और सत्ता के लिए प्रतियोगिता में हर समुदाय के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे छोटे से हिस्से को अपने बड़े धार्मिक समुदाय का साथ और सहयोग मिला। सरकारी नौकरियों में भर्ती समुदायों के केवल एक छोटे से समुदाय को प्रभावित करती है लेकिन उसके लिए प्रतियोगिता लगातार साम्प्रदायिक स्वार्थ और प्रतिष्ठा का सवाल बनती चली जाती है।'[64]

कश्मीर में भी कालान्तर में नौकरियों की प्रतियोगिता साम्प्रदायिक आधार पर विभाजन का बड़ा आधार बनी और वैकल्पिक रोज़गारों की अनुपस्थिति ने इसे एक ऐसा जटिल प्रश्न बना दिया कि आज़ादी के पहले और बाद बने नये सत्ता समीकरणों में यह कश्मीर के भीतर राष्ट्रवाद के विकास को प्रभावित करनेवाला कारक बना।

डोगरा शासन के आरम्भिक काल में यह संघर्ष जम्मू के डोगराओं और पंडितों के बीच में ही था। कुलीन मुसलमानों की बहुत छोटी-सी संख्या ही पढ़ी-लिखी थी और बहुतायत मुसलमान नौकरियों के बारे में सोचने के भी क़ाबिल नहीं थे। डोगराओं की तुलना में घाटी में अपनी बड़ी संख्या और बेहतर शिक्षा-दीक्षा के कारण पंडितों ने बड़ी संख्या में निचले स्तर की नौकरियों पर क़ब्ज़ा कर लिया और कुछ मामलों में ऊपर तक भी पहुँचे। डोगरा चूँकि महाराजा के सम्बन्धी थे तो पहली बात तो यह कि पंडित एक सीमा से अधिक उनके ख़िलाफ़ नहीं जा सकते थे और दूसरे, जैसाकि पहले ही कहा गया है, उन्हें दरबार में ऊँची जगहें अमूमन मिल जाया करती थीं, फिर सेना तो लगभग उनके लिए आरक्षित थी ही। लेकिन इसी दौर में ख़ास तौर से पंजाब से लगातार लोगों का कश्मीर के प्रशासन में शामिल किया जाना जारी रहा। कश्मीर में आधुनिक शिक्षा के प्रसार की जगह बाहरी लोगों को भर्ती करना डोगरा प्रशासन के लिए अधिक अनुकूल था। ख़ुद कश्मीर में शिक्षा के प्रसार के लिए कोई बड़ी कोशिश नहीं की गई। शिक्षा के मामले में कश्मीर उन दिनों पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में सबसे पीछे था। 1891-92 में कश्मीर की पूरी जनसंख्या में सिर्फ़ 1585 लड़के शिक्षण संस्थानों में पंजीकृत थे जिसमें 1327 पंडित और 233 मुस्लिम लड़के थे। महिलाओं की शिक्षा अभी दोनों धर्मों में लगभग अनुपस्थित थी। अगर आँकड़ों की बात करें तो उस समय घाटी की आबादी के 7 प्रतिशत पंडितों का 83 प्रतिशत शिक्षा पर क़ब्ज़ा था।

वाल्टर लॉरेंस ने इस स्थिति के लिए दो तरह के कारण दिये हैं। पहला तो यह कि राज्य सरकार शिक्षा को लेकर अपेक्षित रूप से गम्भीर नहीं है। उसे लगता है कि जितनी शिक्षा है, वह बहुत है और अगर वे अधिक पढ़-लिख गए तो जनता में असन्तोष फैलने का ख़तरा है। यही नहीं, अगर ज्यादा कश्मीरी पंडित पढ़-लिख गए तो वे नौकरी के लिए भारत के दूसरे हिस्सों में जा सकते हैं। दूसरा यह कि आम तौर पर कश्मीर के ग्रामीण मुसलमान पारम्परिक शिक्षा लेना चाहते हैं। वे मिशनरी या दूसरे स्कूलों की जगह मदरसों में जाना पसन्द करते हैं।[65] बज़ाज़ इस कारण को स्वीकार करते हुए बताते हैं कि वर्षों से सत्ताओं के साथ साँठ-गाँठ करके ग़रीब मुसलमानों को मूर्ख बनानेवाले मुल्ला कभी नहीं चाहते थे कि मुसलमान पढ़-लिख जाएँ और उनके प्रभाव से बाहर आ जाएँ। लेकिन इस पिछड़ेपन की असल ज़िम्मेदारी डोगरा शासकों पर थी।[66] वह इस प्रक्रिया पर तीखी टिप्पणी करते हैं :

> मैदानी इलाक़ों के अफ़सरों के पीछे बाहरी लोगों की क़तारें अधिक से अधिक आय अर्जित कर लेने के इकलौते उद्देश्य से कश्मीर में आती गईं और जाते हुए वे अपने रिश्तेदारों को छोड़ जाते थे ताकि वे लूट की इस प्रक्रिया को जारी रख सकें; और इस तरह प्रशासनिक सेवाओं में एक उच्चानुक्रम बना जिसकी वजह से लाभ और सम्पत्ति बाहरी लोगों के हाथों में गई और स्थानीय लोगों की आज़ादी और प्रतिष्ठान छिन गए।[67]

प्रताप सिंह का समय आते-आते जब अंग्रेज़ों ने न केवल कश्मीर में अपना रेज़िडेंट नियुक्त कर दिया बल्कि सत्ता के सभी उपादानों पर लगभग प्रत्यक्ष क़ब्ज़ा कर लिया तो इन हालात में भी बदलाव आना ही था। प्रशासनिक सुधार के नाम पर 1889 में फ़ारसी की जगह उर्दू को दरबार और प्रशासन की भाषा[68] बना दिया गया। यह 1835 में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा फ़ारसी को आधिकारिक पत्राचार की भाषा के दर्जे से महरूम कर अंग्रेज़ी के अधिकाधिक प्रयोग की नीति के अनुरूप ही परिवर्तन था। इस परिवर्तन के बाद पंजाबियों का प्रशासन में प्रवेश और आसान हो गया जबकि फ़ारसी पढ़नेवाले कश्मीरियों के लिए मुश्किलात बढ़ गईं। नाइट 1891 में पंजाबी और बंगाली मुलाज़िमों की उपस्थिति का ज़िक्र करते हैं और प्रशासनिक सुधार करने के लिए अंग्रेज सरकार द्वारा डोगरा शासन के लिए अपने अधिकारी भेजने का भी।[69]

1889 में जब प्रताप सिंह को अपदस्थ कर राज्य को चलाने के लिए जो पहली स्टेट काउंसिल बनाई गई, उसके प्रमुख तो राजा अमर सिंह थे लेकिन उसके सभी सदस्य राज्य के बाहर के थे। इसके अलावा इस काउंसिल में कोई मुस्लिम सदस्य नहीं था।[70] इस काउंसिल की स्पष्ट नीति विभिन्न विभागों में ब्रिटिश भारत के अधिकारियों को भरने की थी जिनकी तनख़्वाह स्थानीय कर्मचारियों/अधिकारियों की तुलना में बहुत ज़्यादा, 1200 से 1500 रुपये तक थी।[71] 1901 तक ऐसे अधिकारियों की

संख्या 37 हो गई थी जिसमें 9 ब्रिटिश थे और बाक़ी ब्रिटिश भारत के नागरिक। इन 28 लोगों में से 20 हिन्दू, 5 मुस्लिम और 2 सिख थे।[72] इसके अलावा 17 अंग्रेज़, अन्य यूरोपीय और अमेरिकन अधिकारी भी विभिन्न विभागों में नियुक्त थे।[73] 1906 तक इस सूची में 11 और अधिकारी जुड़ गए और इनमें भी महज़ 4 मुसलमान थे।[74] 1908 में यह संख्या बढ़कर 45[75] हो गई जो उस समय के सीमित नौकरियों के बरअक्स बहुत बड़ी थी। फ्रेंसिस यंगहसबेंड इस संख्या को 70 बताते हैं और रेशमख़ाना, पी. डब्ल्यू. डी., खनन, बाग़बानी, खेल, संरक्षण, मत्स्यपालन, जंगलात और बिजली जैसे विभागों पर इन अधिकारियों का पूरा क़ब्ज़ा हो गया था।[76] ज़ाहिर है कि लगातार मुसलमानों के ख़ैरख़्वाह बननेवाले ब्रिटिश शासन का मुसलमानों को शासन में भागीदारी देने का कोई इरादा नहीं था और इस भेदभाव का उपयोग उन्होंने अक्सर डोगरा शासकों पर दबाव बनाने के लिए ही किया तथा रेज़िडेंट की नियुक्ति का उपयोग वहाँ ब्रिटिश अधिकारियों की संख्या बढ़ाने में किया। राज्यों में प्रशासनिक सुधार के नाम पर बाहरी लोगों को लगातार भरना ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की नीति थी। रॉबिन जेफ्री बताते हैं कि 'कई राज्यों में वास्तविक ताक़त नई नौकरशाहियों के हाथ में थी। लेकिन इन नौकरशाहियों को अक्सर शुरुआत में राज्य के बाहर के ब्रिटिश भारत के लोगों से भरा गया। स्थानीय कुलीन वर्गों, प्रभावशाली किसानों और व्यापारी वर्ग के पास उस समय आवश्यक योग्यता नहीं थी। लेकिन अगर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में अंग्रेज़ी भाषा और आधुनिक शिक्षा की आवश्यकता थी तो इन वर्गों के कुछ लोग हमेशा ही पढ़-लिखकर नये पदों पर नियुक्ति के लिए योग्य हो सकते थे। जिन बाहरी लोगों का नियंत्रण होता है, वे स्वाभाविक रूप से अपना और अपने बच्चों का भविष्य सुनिश्चित करते हैं और स्थानीय नौजवानों के सरकारी नौकरियों में घुसने की कोशिशों को नाकाम करते हैं।' वह इसके लिए त्रावणकोर का उदाहरण देते हैं जहाँ सन 1800 में जब मराठा ब्राह्मण रेज़िडेंट के साथ नौकरियों में आए तो उन्होंने कई सरकारी रिकॉर्ड मराठी में रखने शुरू कर दिये जो तमिल लोगों के लिए अनजानी भाषा थी।[77] कश्मीर में प्रताप सिंह के समय प्रशासन के लिए बनाई गई काउंसिल के एक सदस्य ने सलाह दी थी कि कश्मीर में कॉलेज खोले जाने की कोई ज़रूरत नहीं है।[78] 1909 में कश्मीर के रेज़िडेंट सर फ्रेंसिस यंगहसबेंड ने लिखा :

> राज्य के कर्मचारियों में यह विशिष्ट प्रवृत्ति है कि कश्मीर कश्मीरियों के लिए नहीं, ब्रिटिशर्स के लिए तो और भी कम लेकिन पंजाबियों और अन्य भारतीयों के लिए पूरी तरह से आरक्षित कर दिया जाए।[79]

स्थानीय मुसलमानों की शिक्षा और भर्ती को लेकर प्रशासन कितना 'गम्भीर' था, यह हम शार्प कमीशन के हश्र से देख सकते हैं। 1915 में हुई दूसरी जम्मू और कश्मीर

की शिक्षा समिति की बैठक में यह प्रस्ताव पास हुआ कि मुस्लिम अभिजन सदस्यों वाली एक कमेटी बनाई जाए जो मुस्लिम शिक्षा पर एक योजना प्रस्तुत करे। इसमें ख़ानकाह-ए-मौला के ख़्वाज़ा ग़ुलाम मोहम्मद साहब, दोनों मीर वायज़, ख़्वाज़ा हसन नक़्शबन्दी सहित कई प्रमुख हस्तियाँ शामिल थीं। हालाँकि यह कमेटी कोई प्रस्ताव नहीं पेश कर सकी। इसी बैठक में तत्कालीन शिक्षा मंत्री दीवान बिशन दास ने राज्य में शिक्षा के मामले में भारत सरकार के और अधिक हस्तक्षेप का प्रस्ताव रखा जिसके फलस्वरूप 1916 में प्रताप सिंह ने भारत सरकार के शिक्षा आयुक्त मिस्टर शार्प की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया।[80] कश्मीर में मुसलमानों की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए इस कमीशन ने दर्ज किया : 'कश्मीर का मुसलमान इतना ग़रीब है कि वह अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज पाता।' शार्प ने न केवल मुस्लिम छात्रों और शिक्षण संस्थाओं के लिए वज़ीफ़े और अनुदानों की अनुशंसा की बल्कि मुसलमानों की बहुसंख्या के कृषि में संलग्नता को देखते हुए कृषि अभियांत्रिकी, हार्टीकल्चर जैसी तकनीकी शिक्षा पर विशेष ज़ोर देने का प्रस्ताव किया। लेकिन इन प्रस्तावों को स्वीकार करने के बावजूद कभी लागू नहीं किया गया क्योंकि राज्य के मंत्रियों ने इसमें कोई रुचि नहीं ली। रिपोर्ट सरकारी काग़ज़ात के बीच दबी रही और इसको मिली अहमियत का अन्दाज़ा हम इस बात से लगा सकते हैं कि पंद्रह साल बाद एक आधिकारिक जाँच कमेटी ने यह स्वीकार किया कि 'लगता नहीं है कि किसी को भी एक शिक्षा-विशेषज्ञ द्वारा पेश की गई रिपोर्ट की प्रकृति के बारे में कुछ भी पता है।'[81]

बाहरी लोगों को प्रश्रय देने की यह औपनिवेशिक नीति रजवाड़ों में अपने विश्वस्त लोगों के सहारे अपने अनुकूल नीतियों के निर्माण में सहज रूप से सहायक थी। बहरहाल कुछ प्रतिष्ठित कश्मीरी पंडितों की पहल पर थियोसोफ़िकल सोसायटी ने श्रीनगर में हिन्दू कॉलेज (अब श्री प्रताप कॉलेज) की स्थापना की।[82] इसके पहले 1864 में कश्मीर में चर्च मिशनरी सोसायटी द्वारा कश्मीर में डिकल एसोशिएशन की स्थापना की गई थी लेकिन मिशनरी शैक्षणिक गतिविधियाँ 1880 में जे. एच. नोवेल्स द्वारा शुरू की गई जिसे 1890 के बाद टिंडेल बिस्को द्वारा विकसित किया गया।[83] यह स्कूल आज भी टिंडेल बिस्को एंड मेलिंसन (ब्वायज़) स्कूल के नाम से श्रीनगर के प्रतिष्ठित स्कूलों में शामिल है जिसके छात्रों में फ़ारूक़ अब्दुला से लेकर शाह फ़ैसल और आमिर उल-शफ़ी ख़ान जैसे आई.ए.एस. टॉपर्स शामिल हैं। उस दौर में इस स्कूल में मुख्यत: कश्मीरी पंडितों और प्रतिष्ठित मुसलमानों के लड़के ही पढ़ते थे और कॉलेज की स्थापना के बाद 1911 में कश्मीरी पंडितों का पहला बैच ग्रैजुएट होकर निकल चुका था।[84] इसके अलावा बाहर से पढ़ाई करके भी कश्मीरी पंडित नौकरियों के लिए योग्यता हासिल कर चुके थे। तो, ज़ाहिर था कि इन बाहरी लोगों के आने का पहला असर उन कश्मीरी पंडितों पर पड़ता जो इन नौकरियों के उम्मीदवार थे।

इन हालात में कश्मीरी पंडितों ने लगातार विरोध दर्ज कराया। नौकरियों की माँग को लेकर कश्मीरी-ग़ैरकश्मीरी आन्दोलन की शुरुआत कर दी। स्थानीय लोगों को रोज़गार में प्रश्रय देने को लेकर ज्ञापन दिये गए। हम देखते हैं कि बाहरी लोगों को प्रश्रय देने की इस नीति के कारण इस तरह के आन्दोलन कई रजवाड़ों में हुए। हैदराबाद में 'मुल्की-ग़ैरमुल्की' आन्दोलन हुआ, त्रावणकोर में 'त्रावणकोर त्रावणकोरियों के लिए', मैसूर में 'मैसूर मैसूर वालों के लिए' और कोल्हापुर में 'कोल्हापुर ग़ैर-ब्राह्मणों के लिए।'[85] लेकिन कश्मीर के मामले में मज़ेदार यह था कि अंग्रेज़ों ने इस आन्दोलन में पंडितों का साथ दिया। कारण यह कि पंडितों के बरअक्स जो पंजाबी थे, उन पर आर्य समाज का गहरा प्रभाव था जो उन दिनों पंजाब में बेहद प्रभावी था। यह आन्दोलन ब्रिटिश-विरोधी था और अंग्रेज़ नहीं चाहते थे कि कश्मीर में ऐसे विचार फैलें।[86] इसी के चलते भारत सरकार ने एक प्रपत्र जारी किया जिसमें मुल्की लोगों को ही नौकरी देने की बात थी लेकिन इसमें 'मुल्की' की बहुत अस्पष्ट परिभाषा थी। संघर्ष जारी रहा और 1912 में पहली बार राज्य नागरिक की परिभाषा तय की गई जिसके अनुसार प्रशासन से 'इजाज़तनामा' हासिल करके राज्य नागरिक हो सकता था। लेकिन इससे भी बहुत असर नहीं पड़ा, बाहरी लोग अब भी इजाज़तनामा हासिल करके बड़ी संख्या में राज्य में आते रहे। विरोध जारी रहा और अन्ततः महाराजा हरि सिंह के शासनकाल में 31 जनवरी, 1927 को एक मज़बूत 'राज्य उत्तराधिकार क़ानून' बना जिसके तहत महाराजा गुलाब सिंह के सत्तारोहण अर्थात विक्रमी संवत 1942 के पहले से राज्य में रह रहे और उसके बाद से लगातार राज्य में निवास कर रहे लोगों को राज्य का नागरिक घोषित किया गया। बाहरी लोगों को कश्मीर में ज़मीन (कृषि या ग़ैर-कृषि दोनों ही) ख़रीदने पर रोक लगा दी गई। उनका नौकरियाँ पाना, वज़ीफ़ा पाना और कुछ मामलों में सरकारी ठेके पाना भी प्रतिबन्धित कर दिया गया।[87] इसके बाद बाहरी लोगों का कश्मीर में नौकरियाँ पाना या सम्पत्ति ख़रीदना प्रभावी रूप से रुक गया। कालान्तर में यही क़ानून धारा 35-ए का आधार बना।

यहाँ यह ज़िक्र करना ज़रूरी होगा कि डोगरा राज में भी कश्मीरी पंडितों का शिक्षा और नौकरी के लिए मैदानी इलाक़ों में जाना लगातार जारी रहा। सेंडर ने बहुत विस्तार से विभिन्न रजवाड़ों में नौकरियाँ कर रहे पंडितों के बारे में लिखा है। इसके अलावा दिल्ली में रह रहे पंडितों के लिए 1792 में अजमेरी गेट के पास खुला दिल्ली कॉलेज उच्च शिक्षा का केन्द्र बना। हालाँकि, यह कॉलेज मूलतः इस्लामिक शिक्षा के लिए बना मदरसा था लेकिन 1823 में ब्रिटिश सरकार ने इसके लिए अनुदान की अनुशंसा की और 1828 में यहाँ अंग्रेज़ी की पढ़ाई शुरू हो गई। इसका मुख्य उद्देश्य एक तरफ़ अंग्रेज़ी प्रशासन के लिए देशी कर्मचारी तैयारी करना

था और दूसरी तरफ़ अंग्रेज़ी और देशी भाषाओं के बीच अनुवाद के ज़रिये पुल तैयार करना था। जब इसमें अंग्रेज़ी की पढ़ाई शुरू हुई तो पहले बैच में केवल छह छात्र थे जिनमें दो कश्मीरी पंडित थे—मोहनलाल ज़ुत्शी और रामकिशन हक्सर। कश्मीरी पंडितों ने इसका ख़ूब फ़ायदा उठाया और अंग्रेज़ी शिक्षा हासिल करके अच्छी नौकरियाँ हासिल कीं और अंग्रेज़ों से नज़दीकी भी। अयोध्या प्रसाद गुर्टू 'हैरत' और रामकिशन हक्सर यहीं असिस्टेंट प्रोफ़ेसर बने जबकि शिव नारायण मेरठ में अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर बने, मोतीलाल काटजू सरकारी अनुवादक से पंजाब सरकार के मीर मुंशी बने। उन्होंने फ़ारसी से कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों सहित सरकारी प्रपत्रों का भी अनुवाद किया।

इनमें से एक रोचक क़िस्सा है मोहनलाल ज़ुत्शी का। मुग़ल दरबार के सबसे धनी दरबारियों में से एक मणिराम ज़ुत्शी के प्रपौत्र मोहनलाल ने तीन साल की अपनी पढ़ाई के दौरान कॉलेज की प्रबन्ध समिति के एक सदस्य ट्रेवेलिन से अच्छे सम्बन्ध बना लिये। *जर्नल ऑफ़ मोहनलाल* (सं. हरिराम गुप्ता) की भूमिका में ट्रेवेलिन लिखते हैं कि 'मोहनलाल के व्यक्तित्व में हमने भारत के पुनरुद्धार के महान उद्देश्य के लिए हमारी योग्यता को सिद्ध कर दिया है।'[88] 1831 में उन्हें कच्छ के सहायक रेज़िडेंट अलेक्ज़ेंडर बर्न्स ने 1000 रुपये सालाना तनख़्वाह पर फ़ारसी का मुंशी नियुक्त किया। मोहनलाल ने एक शानदार और रंगीन ज़िन्दगी जी। जवाहरलाल नेहरू अपनी आत्मकथा में उनके लिए लिखते हैं : 'उन्होंने पूरे मध्य एशिया और फ़ारस में भ्रमण किया और जहाँ गए वहाँ आम तौर पर उच्च वर्ग में एक शादी की। वह यूरोप गए और युवा महारानी विक्टोरिया से भी मिले।' लेकिन जैसाकि सेंडर कहती हैं—न तो वह यूरोपीय भद्रजनों की बराबरी में आ सके, न ही अपने ख़ुद के समुदाय में। यूरोपीय आधुनिकता का प्रभाव उन्हें अपने समाज से दूर ले गया। मुसलमानों के साथ खान-पान, हिन्दू पूजा-पद्धतियों की आलोचना, मुक्त व्यवहारे बाज़ार सीताराम में रह रहे उनके स्वजातीय पंडितों को रास नहीं आया और जब वह लौटे तो उनका कोई स्वागत नहीं हुआ बल्कि एक तरह से उनका बहिष्कार कर दिया। ट्रेवेलिन को लिखे एक पत्र में वह शिकायत करते हैं कि मेरा समुदाय मेरा बहिष्कार कर रहा है और मेरे साथ कोई दोस्त या रिश्तेदार नहीं है। उन्हें पंडितों के इलाक़े में घर तक नहीं मिला तो अंग्रेज़ों की मदद से काली मस्जिद के पास उन्होंने एक किराया-मुक्त घर लिया। उन्होंने सम्बन्ध सुधारने की कोशिशें कीं, बाज़ार सीताराम के पास चूड़ीवाला बाज़ार में घर लिया लेकिन कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। कश्मीरी पंडितों की पत्रिका *बहार-ए-कश्मीर* ने घोषणा की कि शायद मोहनलाल ने इस्लाम अपना लिया है और अपना नाम आग़ा हसन जान रख लिया है। कश्मीरी पंडितों के इतिहास में मोहनलाल का कहीं नाम नहीं लिया जाता है। यहाँ तक कि आम तौर पर इंग्लैंड जानेवाले पहले कश्मीरी पंडित के रूप में उन्हें

नहीं बल्कि 1884 में इंग्लैंड गए पंडित बिशन नारायण धर को याद किया जाता है जबकि उनके पहले मोहनलाल के अलावा एक और कश्मीरी पंडित सूरज बल इंग्लैंड जा चुके थे। लेकिन उन्होंने वहाँ एक अंग्रेज़ महिला से शादी कर ली थी और उन पर भी ईसाइयत अपना लेने का आरोप लगा था। हालाँकि बाद में जब मोहनलाल एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व की तरह उभरने लगे तो उनका ज़िक्र होने लगा, लेकिन तब उनके कथित 'धर्मांतरण' की बात छिपा दी गई।[89]

तो अंग्रेज़ों या मुसलमानों के यहाँ नौकरी करना एक बात थी लेकिन उनसे सम्पर्क और उनके प्रभाव की एक तय सीमा थी जिसका उल्लंघन सम्भव नहीं था। पहले बैच के दूसरे छात्र राम किशन हक्सर के परिवार जैसे अनेक परिवारों ने इन सीमाओं के भीतर रहते हुए अंग्रेज़ों से अपने सम्पर्कों का भरपूर लाभ उठाया और समाज के भीतर-बाहर प्रतिष्ठा तथा सम्पन्नता अर्जित की। 1857 के ग़दर के बाद बाज़ार सीताराम से अनेक पंडितों को बाहर निकलना पड़ा लेकिन इस पूरे वक़्फ़े में पंडितों ने अलग-अलग रजवाड़ों में अंग्रेज़ों के प्रति पूरी निष्ठा प्रदर्शित करते हुए विद्रोह को दबाने में सहयोग दिया और इस तरह अंग्रेज़ों की निगाह में अर्जित भरोसे ने उन्हें अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति को मज़बूत करने में और मदद की। यही कारण है कि नई सदी की शुरुआत में दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, इन्दौर सहित अनेक जगहों पर कई महत्त्वपूर्ण कश्मीरी पंडित परिवार अंग्रेज़ी शासन, न्यायपालिका और रजवाड़ों में बेहद महत्त्वपूर्ण पदों पर दिखाई देते हैं।[90]

लेकिन कश्मीर के भीतर रह रहे पंडितों के संघर्ष अलग थे।

पंडित-समाज में सामाजिक आन्दोलन

यह सम्भव नहीं था कि कश्मीरी पंडित समाज के भीतर-बाहर से आ रही सामाजिक बदलावों की लहर से मुक्त रह पाते। आधुनिक शिक्षा और देश भर में चल रहे आन्दोलनों ने सदियों से बन्द कश्मीरी पंडित-समाज पर गहरा असर डाला। टिंडल बिस्को ने श्रीनगर में एक ऐसी खुली नाली को बन्द कराने की स्वास्थ्य विभाग की कोशिशों का ज़िक्र किया है जिसकी वजह से लगातार लोग बीमार होते थे। वह बताते हैं कि कश्मीरी पंडितों ने उसका विरोध यह कहते हुए किया कि 'सदियों से हमारे पुरखे इसे इसी तरह से ही उपयोग करते आए हैं और हम भी ऐसा ही करते रहेंगे।' वर्षों की ग़ुलामी और उत्पीड़क शासकों की उपस्थिति में शायद परम्पराओं की यह चादर और धर्म का अभिमान ही उनके लिए अवलम्बन था जिसके सहारे वे विपर्यय का पूरा दौर बिता सके थे।

लेकिन राज्य के दरवाज़े खुलने के साथ और नई शिक्षा हासिल करने के बाद पंडित-समाज में बहुत धीमी गति से परिवर्तन आने शुरू हुए। असल में कश्मीरी ब्राह्मणों की परम्पराएँ शेष भारत के पंडितों से काफ़ी अलग थीं। आज भी अधिकतर पूरबिहा और बिहारी ब्राह्मणों के घरों में मांसाहार सामान्य है तो पश्चिमी उत्तर प्रदेश के ब्राह्मणों के यहाँ मांसाहार वर्जित! दक्षिण के ब्राह्मण और बंगाली ब्राह्मणों का खानपान और बाक़ी परम्पराएँ एकदम अलग हैं। लेकिन कश्मीर में जो अन्तर्विरोध पैदा हुआ, वह आर्य समाज के आने से। पंजाब में पला-बढ़ा आर्य समाज न केवल एक हिन्दू समाज-सुधार आन्दोलन था बल्कि मुस्लिम-विरोध तक पहुँचकर साम्प्रदायिक आन्दोलन में बदल चुका था। एक तरफ़ तो यह कश्मीर में उन कर्मचारियों के साथ आया जिन्हें प्रताप सिंह के समय से ही नौकरियों में वरीयता दी गई थी तो दूसरी तरफ़ शिक्षा और नौकरी के लिए पंजाब जानेवाले कश्मीरी पंडित भी इससे प्रभावित हुए। कश्मीर के भीतर इस अन्तर्विरोध ने दो तरीक़े से काम किया। सबसे पहले तो आर्य समाज ने अपने अनुयायियों के पक्ष में 'कश्मीर कश्मीरियों के लिए' आन्दोलन का विरोध किया और दूसरे, उसने पंडित-समाज की मूल्य-मान्यताओं पर सवाल खड़े किये। अपने समाज-सुधार एजेंडे के तहत आर्य समाज ने कश्मीरी पंडित समाज में प्रचलित बाल विवाह और स्त्रियों की अशिक्षा का विरोध किया तो विधवा विवाह का समर्थन। इसके साथ ही आर्य समाज ने पशुओं की हत्या पर भी रोक लगाने की कोशिश की। जम्मू में शुद्धि के नाम पर मुस्लिमों तथा अन्य धर्मावलम्बियों को फिर से हिन्दू बनाने की कोशिशें भी हुईं लेकिन तीखे विरोध के चलते इसे रोकना पड़ा।[91]

घाटी में समाज-सुधार की दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण नाम कश्यप बन्धु का आता है। 1899 में नूरपुर गाँव में जन्मे कश्यप बन्धु का असली नाम ताराचन्द भट्ट था। गाँव से आरम्भिक और श्रीनगर से एंट्रेंस की पढ़ाई करने के बाद उन्हें राजस्व विभाग में नौकरी मिली। लेकिन थोड़े दिनों बाद वह नौकरी छोड़कर लाहौर चले गए और वहाँ आर्य समाज से जुड़ गए। व्रजानन्द आश्रम के प्रधान विश्वबंधु ने उन्हें कश्यप बन्धु नाम दिया। कश्मीर लौटकर उन्होंने राजनीति के साथ-साथ समाज-सुधार के काम भी शुरू किये। विधवा विवाह तथा उन्हें आर्थिक मदद, शादियों तथा दूसरे धार्मिक आयोजनों के ख़र्चों में कमी, स्त्री शिक्षा आदि के लिए आन्दोलन चलाना शुरू किया। इसमें एक रोचक तथ्य पहनावे को लेकर था। कश्मीरी महिलाएँ फिरन पहनती थीं और उसके भीतर कोई अन्तर्वस्त्र नहीं पहनती थीं। कश्यप बन्धु और उनके साथियों ने इसकी जगह साड़ी या सलवार सूट पहनने का आग्रह किया। इसने उन्हें गतिशील बनाया। 1930 में कुछ कश्मीरी पंडितों ने महाराजा से बाक़ायदा माँग की थी कि विधवा विवाह को क़ानूनी जामा पहनाया जाए। उसी साल प्रेमनाथ बज़ाज़ की अध्यक्षता में इस माँग को लेकर 'द फ्रेटर्निटी' नामक संगठन बनाया गया था। 1928 में ही जम्मू में

'कश्मीरी विमेंस वेलफेयर एसोसिएशन' बना जिसमें कश्मीरी पंडितों ने भी भागीदारी की। 1931 में गांदेरबल में महिलाओं के सामाजिक उत्थान के उद्देश्य से 'कश्मीरी पंडित्स एप्लिफ्टमेंट एसोसिएशन' बनाया गया। इसमें गांदेरबल के पोस्टमास्टर पंडित रामचन्द्र कौल, सब-असिस्टेंट सर्जन निरंजन नाथ गंजू, फारेस्ट गार्ड पंडित निरंजन नाथ सहित विभिन्न सरकारी महकमों के कर्मचारी शामिल थे।[92] देखा जाए तो इन सब पहलकदमियों में किसी कश्मीरी पंडित महिला की कोई भागीदारी नहीं थी। असल में, इस लम्बे दौर में किसी पंडित महिला का कोई ज़िक्र नहीं आता। इन प्रयासों का भी वैसे तो बहुत विरोध हुआ लेकिन धीरे-धीरे स्त्री शिक्षा और विधवा विवाह जैसे मामलों में कश्मीरी पंडित समाज पर सकारात्मक असर पड़ा। हालाँकि यह असर लम्बे समय तक शहरी इलाक़ों तक ही महदूद था।

कश्मीर में वैसे तो आर्य समाज प्रेरित इन आन्दोलनों में 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' की बातें भी की गई थीं। लेकिन इतिहास की अपनी गति होती है और अपनी विडम्बनाएँ। मुल्की-ग़ैरमुल्की आन्दोलन में मुख्य हिस्सेदारी पंडितों की थी। नौकरी उस समय तक उन्हीं का मामला था क्योंकि विभिन्न कारणों से शिक्षा के क्षेत्र में एक पीढ़ी पिछड़ गई। आम कश्मीरी मुसलमान उस समय तक इस हालत में नहीं था कि नौकरियों के लिए प्रतियोगिता कर सके। इसीलिए मुसलमानों ने इस आन्दोलन में कोई उत्साह नहीं दिखाया। लेकिन यह स्थिति हमेशा ऐसी ही नहीं रह सकती थी। मुस्लिम समाज के कुछ प्रगतिशील लोगों और कुछ बाहरी मुस्लिम बुद्धिजीवियों के प्रयास से कश्मीर में मुसलमानों ने शिक्षा हासिल करना शुरू किया। बीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों तक कश्मीरी मुसलमान न केवल स्थानीय शिक्षा संस्थानों बल्कि राज्य के बाहर के विश्वविद्यालयों से भी डिग्रियाँ हासिल करनी शुरू कर दी थीं। लेकिन सरकार ने उन्हें नौकरियाँ देने में कोई रुचि नहीं दिखाई। 1924 एक उथल-पुथल वाला साल रहा। सबसे पहले मुस्लिम समुदाय के शिक्षित लोगों ने काउंसिल के समक्ष नौकरियों में कम प्रतिनिधित्व की शिकायत की। लेकिन कोई कार्यवाही नहीं हुई। उस समय दिये गए आँकड़े प्रशासन में मुसलमानों की अल्प भागीदारी की नज़ीर देते हैं। इनके अनुसार कस्टम और एक्साइज डिपार्टमेंट में कोई मुसलमान इंस्पेक्टर या सब-इंस्पेक्टर के पद पर नहीं था और केवल 6 मुसलमान महालदार और एक मुसलमान क्लर्क था। जंगलात विभाग के 414 कर्मचारियों में केवल 56 मुसलमान थे जबकि 149 पंडितों सहित कुल 296 हिन्दू।[93] इसी साल गर्मियों में रेशमख़ाना के 5000 मज़दूरों ने अपनी ख़राब माली हालत और शोषण के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई और तनख़्वाहें बढ़ाने तथा एक क्लर्क की बर्ख़ास्तगी की माँग की। ये सभी मज़दूर मुसलमान थे जबकि इस सरकारी फैक्टरी के प्रबन्धन में सभी कश्मीरी पंडित थे। 1907 में स्थापित यह फैक्टरी दुनिया में सबसे अधिक रेशम उत्पादन करनेवाली फैक्टरी थी। यह विद्रोह आधुनिक भारत के इतिहास में सबसे पहले कामगार विद्रोहों

में से एक है। प्रबन्धन ने तनख़्वाहों में तो मामूली वृद्धि कर दी लेकिन आन्दोलन के नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया। इस पर मज़दूरों ने हुज़ूरीबाग़ में एकत्र होकर विरोध प्रदर्शन शुरू किया तो प्रताप सिंह की सेनाओं ने उसका कड़ाई से दमन किया। हड़ताल के नेताओं को कड़ी सजाएँ दी गईं, उत्पीड़न किया गया और कई नेताओं को मौत के घाट उतार दिया गया तो कई मज़दूरों को झील में डुबो कर मार दिया गया। इन सबके दौरान ब्रिटिश रेज़िडेंट वहाँ था और उसने मज़दूरों के हित में कोई क़दम उठाने की जगह प्रताप सिंह को परोक्ष समर्थन ही दिया।[94]

इस घटना के कुछ दिनों बाद ही 1924 में कश्मीर आए वायसराय लॉर्ड रीडिंग को सौंपे एक ज्ञापन में माँग की गई कि राज्य सेवाओं में मुसलमानों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाए, मुस्लिम किसानों को ज़मीन का मालिकाना अधिकार दिया जाए, मुसलमानों की शिक्षा की स्थिति बेहतर बनाने के लिए उचित क़दम उठाये जाएँ, बेगार प्रथा पूरी तरह से ख़त्म की जाए, सहकारी विभाग के कार्यक्षेत्र को बढ़ाया जाए और सरकार के क़ब्ज़े की सभी मस्जिदों को मुसलमानों को सौंपा जाए।[95] इस ज्ञापन पर कई जागीरदारों और दो मीरवायज़ों* सहित कई महत्त्वपूर्ण लोगों के हस्ताक्षर थे। ज़ाहिर है कि अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं के बावजूद कश्मीरी मुसलमानों के लिए ब्रिटिश शासन उम्मीद का केन्द्र बना हुआ था और सुधार के दावों के बावजूद शोषक व्यवस्थाएँ बदस्तूर जारी थीं। इस माँगपत्र की जाँच के लिए एक अंग्रेज़, एक हिन्दू और एक मुस्लिम सदस्य वाली कमेटी बनाई गई जिसने यह रिपोर्ट दी कि ये माँगें निराधार थीं,[96] तो इस ज्ञापन पर हस्ताक्षर करनेवाले जामिया मस्जिद के मीरवायज़ का नाम दरबारियों की सूची से काट दिया गया, उनकी जागीरें ज़ब्त कर ली गईं। 1925 में सादुद्दीन शॉल को कश्मीर से निष्काषित कर दिया गया[97] और उनके साहबज़ादे ख़्वाज़ा नूर शाह नक़्शबन्दी को तहसीलदार के पद से इस्तीफ़ा देने पर मजबूर किया गया। आग़ा सैयद हुसैन जलाली को भी सरकारी पद छोड़ना पड़ा और जागीरें ज़ब्त हुईं। शेख़ अब्दुल्ला उस समय लाहौर में थे जहाँ निष्कासित नेताओं से उनकी मुलाक़ात हुई थी। बाद में शेख़ ने अपनी जीवनी में इस आन्दोलन पर टिप्पणी करते हुए लिखा :

> हालाँकि यह आन्दोलन महत्त्वपूर्ण था लेकिन इसने आम मुसलमानों को अपने साथ नहीं लिया। उन्हें भरोसे में लेने या उनकी सहानुभूति हासिल करने के लिए कुछ नहीं किया, इसलिए इसका जनता पर कोई असर नहीं पड़ा।[98]

---

* पहले, मीरवायज़ जामिया मस्जिद और दूसरे, शाह हमदानी के खानकाह—लम्बे समय तक इन दोनों मीरवायज़ों का कश्मीर की राजनीति और समाज में लगभग एक जैसा सम्मान रहा। हालाँकि सूफ़ीवाद का असर कम होने के साथ-साथ मीरवायज़ हमदानी का प्रभाव लगातार कम होता गया और आज मीरवायज़ के रूप में जामिया मस्जिद के मीरवायज़ को ही जाना जाता है।

स्मिथ के पूर्वोद्धृत कथन को याद करें तो अभी तक यह छोटा-सा पढ़ा-लिखा वर्ग अपने साथ व्यापक जनता को जोड़ नहीं सका था। उसके लिए सामाजिक-धार्मिक मुद्दों की ज़रूरत थी।

तेज़ी से बदलते इतिहास में यह मौक़ा 1931 में आया।

संदर्भ

1. देखें, वही, पेज 199
2. देखें, पेज 191, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स, जियालाल किलाम,* उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003
3. देखें, पेज 562, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* पृथ्वी नाथ कौल बम्ज़ाई, मेट्रोपॉलिटन बुक कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1962, सूफ़ी-726
4. देखें, वही, पेज 562
5. देखें, पेज 54, *कश्मीर बिहाइंड द वेल,* एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, दिल्ली, 2002 (मूरक्राफ्ट के हवाले से)
6. देखें, पेज 191-193, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003
7. देखें, वही, पेज 196-97
8. देखें, पेज 137, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
9. देखें, वही, पेज 117 से 159
10. देखें, पेज 18, *कश्मीर सोल्ड एंड स्नैच्ड,* एम.एल. कपूर, जम्मू, 1968
11. देखें, पेज 7, द *स्ट्रगल फ़ॉर कश्मीर,* माइकल ब्रेखर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1953 में उद्धृत
12. देखें, *हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर : कल्चरल एंड पॉलिटिकल,* पी.एन. बज़ाज़, पहला संस्करण, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 1954
13. देखें, पेज 4, द *स्ट्रगल फ़ॉर कश्मीर,* माइकल ब्रेखर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1953 में उद्धृत
14. देखें, पेज 778, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* डॉ. जी.एम.डी. सूफ़ी, खंड 1, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1974
15. देखें, पेज 14, *डीमिस्टिफाइंग कश्मीर,* नवनीता चड्ढा बेहरा, पीयर्सन लॉन्गमैन, वाशिंगटन, 2007

16. देखें, पेज 210,
17. देखें, पेज 283, *इनसाइड कश्मीर*, प्रेमनाथ बज़ाज़, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, तीसरा संस्करण, 2011
18. देखें, पेज 45 और 52, द *कश्मीरी पंडित्स*, थैकर, स्पिंक एंड कम्पनी, कलकत्ता, 1924
19. देखें, पेज 179, *इंटर कम्यूनल रिलेशंस इन जम्मू एंड कश्मीर (1846, 1931)*, निर्मल के. सिंह, जे.के. बुक हाउस, जम्मू, 1991
20. देखें, पेज 40, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्जेक्ट्स*, मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, 2007
21. देखें, वही पेज 190
22. देखें, पेज 30, *अ गजेटियर ऑफ़ कश्मीर*, बेट्स चार्ल्स एलिसन, गवर्नमेंट ऑफ़ कलकत्ता प्रेस, कलकत्ता, 1873
23. देखें, पेज 62-63, *लैंग्वेंज ऑफ़ बिलांगिंग, इस्लाम, रीज़नल आइडेंटिटी एंड द मेकिंग ऑफ़ कश्मीर*, चित्रलेखा जुत्शी, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली, 2003
24. देखें, पेज 86, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्जेक्ट्स*, मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, 2007
25. देखें, वही, पेज 99
26. देखें, वही, पेज 100
27. देखें, पेज 15, *डेंजर इन कश्मीर*, जोसेफ़ कोर्बेल, प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1954
28. देखें, पेज 190, *टिंडेल बिस्को ऑफ़ कश्मीर : एन ऑटोबायग्राफ़ी*, सीली,सर्विस एंड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन, 1954
29. देखें, पेज 103, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्जेक्ट्स*, मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, 2007
30. देखें, वही, 176-77
31. देखें, पेज 188, *टिंडेल बिस्को ऑफ़ कश्मीर : एन ऑटोबायग्राफ़ी*, सीली, सर्विस एंड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन, 1954
32. मृदु राय द्वारा उद्धृत, पेज 281-283
33. देखें, पेज 779, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर*, डॉ. जी.एम.डी. सूफ़ी, खंड 1, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1974
34. देखें, पेज 13, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर*, जी.एच. ख़ान, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशंन, दिल्ली, 1980
35. देखें, *कश्मीर मिसगवर्नमेंट : एन अकाउंट ऑफ़ द इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल ऑपरेशन ऑफ़ द पीपल ऑफ़ कश्मीर बाय द महाराजाज गवर्नमेंट*, ऑनलाइन संस्करण
36. देखें, *प्रेलिमिनेरी रिपोर्ट ऑफ़ सेटलमेंट ऑपरेशंस इन कश्मीर एंड जम्मू*, ए. विग्नेट, डब्ल्यू. वाल एंड कम्पनी, लाहौर, 1988

37. देखें, पेज 245, द *कैम्ब्रिज़ इकॉनमिक हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया,* सम्पादक : धर्मा कुमार और तपन राय चौधरी, खंड 2 (1757-1970), ओरिएंट लॉन्गमैन, दिल्ली, 1984
38. देखें, पेज 211, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003
39. देखें, पेज 13, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, दिल्ली, 1980
40. देखें, पेज 15, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर,* एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
41. देखें, पेज, 48-49, *व्हेयर थ्री एम्पायर्स मीट,* इ.एफ. नाइट, रूपा पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017
42. देखें, पेज 19, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, दिल्ली, 1980
43. देखें, पेज 48, *व्हेयर थ्री एम्पायर्स मीट,* इ.एफ़. नाइट, रूपा पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017
44. देखें, पेज 19, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, दिल्ली, 1980
45. देखें, पेज 241, द *फ्लीइंग पापुलेशन ऑफ़ साउथ एशिया : सेलेक्शन फ्रॉम रिफ़्यूज़ी वाच,* (सं) शिबाजी प्रतिम बासु, एंथेम प्रेस, नई दिल्ली, 2008
46. देखें, पेज 62, *हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर, कल्चरल एंड पॉलिटिकल,* पी.एन. बज़ाज़, पहला संस्करण, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 1954
47. देखें, पेज 19, *व्हेयर थ्री एम्पायर्स मीट,* इ.एफ़. नाइट, रूपा पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017
48. देखें, पेज 151, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्ज़ेक्ट्स,* मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, 2007 (वाल्टर लॉरेंस द्वारा रेज़िडेंट निस्बत को 1889 में लिखे पत्र से उद्धृत)
49. देखें, पेज 31, *व्हेयर थ्री एम्पायर्स मीट,* इ.एफ़. नाइट, रूपा पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017
50. देखें, वही, पेज 809
51. देखें, पेज 63-64, *लैंग्वेज ऑफ़ बिलॉगिंग : इस्लाम, रीज़नल आइडेंटिटी एंड द मेकिंग ऑफ़ कश्मीर,* चित्रलेखा ज़ुत्शी, परमानेंट ब्लैक, दूसरा संस्करण, 2015
52. देखें, पेज 73, *हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर, कल्चरल एंड पॉलिटिकल,* पी.एन. बज़ाज़, पहला संस्करण, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 1954

53. देखें, पेज 86, चित्रलेखा जुत्शी, *लैंग्वेज ऑफ़ बिलांगिंग : इस्लाम, रीज़नल आइडेंटिटी एंड मेकिंग ऑफ़ कश्मीर,* परमानेंट ब्लैक, दूसरा संस्करण, 2015
54. देखें, पेज 23, *इंटर कम्यूनल रिलेशंस इन जम्मू एंड कश्मीर (1846, 1931),* निर्मल के. सिंह, जे.के. बुक हाउस, जम्मू, 1991
55. देखें, वही, पेज 34
56. देखें, पेज 19, *व्हेयर थ्री एम्पायर्स मीट,* इ.एफ़. नाइट, रूपा पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017
57. देखें, वही
58. देखें, पेज 73, *माई फ्रोज़ेन टर्बुलेंस इन कश्मीर,* जगमोहन, दूसरा संस्करण, 1991, अलाइड पब्लिशर्स लिमिटेड, नई दिल्ली
59. देखें, पेज 38, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, तीसरा संस्करण, 2011
60. देखें, पेज 238, *कश्मीर इन सनलाइट एंड शेड,* टिंडल बिस्को, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, 2015
61. देखें, वही, पेज 45,
62. देखें, *लोकनीति* के 6 सितम्बर, 2016 के अंक में प्रकाशित तुषार गुप्त का आलेख, *ट्राजेक्ट्री ऑफ़ लैंड रिफ़ॉरम्स इन जे. एंड के एंड इट्स आउटकम्स*
63. देखें, पेज 341, *कल्चरल हेरिटेज ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* (सं) एस.एस. तोशखामी और के. वारिकू, पेंटागन प्रेस, नई दिल्ली, 2009
64. देखें, पेज 23, *साउथ एशियन पॉलिटिक्स एंड रिलीजन* में डोनाल्ड ई. स्मिथ का लेख *इमर्जिंग पैटर्न्स ऑफ़ रेलिजन एंड पॉलिटिक्स,* (सं) डोनाल्ड ई. स्मिथ, प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, यू.एस.ए., 1969
65. देखें, पेज 229, *द वैली ऑफ़ कश्मीर,* वाल्टर लारेंस, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1895
66. देखें, पेज 252, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, तीसरा संस्करण, 2011
67. देखें, पेज 135, *हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर, कल्चरल एंड पॉलिटिकल,* पी.एन. बज़ाज़, पहला संस्करण, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 1954
68. देखें, पेज 176, *लैंग्वेंज ऑफ़ बिलांगिंग, इस्लाम, रीज़नल आइडेंटिटी एंड द मेकिंग ऑफ़ कश्मीर,* चित्रलेखा जुत्शी, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली, 2003
69. देखें, पेज़ 21, *व्हेयर थ्री एम्पायर्स मीट,* इ.एफ़. नाइट, रूपा पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017

70. देखें, पेज 219, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003
71. देखें, पेज 42, *कश्मीर पॉलिटिक्स एंड इम्पीरियलिस्ट मनेवर,* एन.एन. रैना, पैट्रियॉट पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1988
72. देखें, पेज 291-293, *इंटर कम्यूनल रिलेशंस इन जम्मू एंड कश्मीर (1846, 1931),* निर्मल के. सिंह, जे.के. बुक हाउस, जम्मू, 1991
73. देखें, विदेश विभाग की फ़ाइल नंबर 20 में नियुक्त यूरोपीय और यूरेशियाई अधिकारियों की सूची
74. देखें, जम्मू और कश्मीर राज्य की राजनीतिक फ़ाइल संख्या 104/एफ़-53, 1909
75. देखें, विदेश विभाग की फ़ाइल नंबर जनरल बी, संख्या 183, जुलाई, 1909 में नियुक्त यूरोपीय और यूरेशियाई अधिकारियों की सूची
76. देखें, वही
77. देखें, पेज 22, *पीपल, प्रिंसेज़ एंड पैरामाउंट पॉवर : सोसायटी एंड पॉलिटिक्स इन इंडियन प्रिंसली स्टेट्स,* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, सम्पादक : रॉबिन जेफ़्री, दिल्ली, 1978
78. देखें, पेज 218, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003
79. देखें, पेज 176, चित्रलेखा जुत्शी, *लैंग्वेंज ऑफ़ बिलांगिंग : इस्लाम, रीज़नल आइडेंटिटी एंड मेकिंग ऑफ़ कश्मीर,* परमानेंट ब्लैक, दूसरा संस्करण, 2015
80. देखें, पेज 197-98
81. देखें, पेज 83, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, तीसरा संस्करण, 2011
82. देखें, पेज 28, *कश्मीर इन क्रूसिबल,* पी.एन. बज़ाज़, पाम्पोश पब्लिकेशन, दिल्ली, 1967
83. देखें, पेज 801, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* डॉ. जी.एम.डी. सूफ़ी, खंड 1, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1974
84. देखें, पेज 219, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003
85. देखें, पेज 22, *पीपल, प्रिंसेज़ एंड पैरामाउंट पॉवर : सोसायटी एंड पॉलिटिक्स इन इंडियन प्रिंसली स्टेट्स,* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, सम्पादक : रॉबिन जेफ़्री, दिल्ली, 1978
86. देखें, पेज 220, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003

87. देखें, पेज 80, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, तीसरा संस्करण, 2011
88. देखें, https://archive.org/stream/in.ernet.dli.2015.54064/2015.54064.Life-And-Work-Of-Mohan-Lal-Kashmiri-1812-1877_djvu.txt (आख़िरी बार 10/09/2019 को देखा गया)
89. देखें, पेज 175-77, द *कश्मीरी ब्राह्मंस (पंडित्स) अपटू 1930 : कल्चरल चेंज इन द सिटीज़ ऑफ़ नॉर्थ इंडिया,* हेनरेट एम. सेंडर (विस्कोंसिन मेडिसन विश्वविद्यालय से किया गया शोध-कार्य)
90. देखें, वही, पेज 184-188
91. देखें, पेज 55-57, *पॉलिटिकल अवेकनिंग इन कश्मीर,* रविन्दरजीत कौर, एपीएच पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1996
92. देखें, वही, पेज 59 और http://www.koausa.org/Leaders/Kashyap-Bandhu.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
93. देखें, पेज 17, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, तीसरा संस्करण, 2011
94. देखें, पेज 8, द *स्टोरी ऑफ़ कश्मीर,* तारिक़ अली, कश्मीर : द केस फ़ॉर फ्रीडम, सम्पादक : पंकज मिश्र, वर्सो, लन्दन, न्यूयॉर्क, 2011
95. देखें, पेज 28, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर,* एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
96. देखें, पेज 84, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, तीसरा संस्करण, 2011
97. देखें, पेज 29, *कश्मीर इन क्रूसिबल,* पी.एन. बज़ाज़, पाम्पोश पब्लिकेशन, दिल्ली, 1968
98. देखें, पेज 14, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार,* शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993

अध्याय-5

बनते-बिखरते आख्यान

[1931-1934]

जम्मू और कश्मीर राज्य अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझ रहा है। मुसलमानों की बड़ी जनसंख्या पूरी तरह से अशिक्षित है। ग़रीबी और बेहद ख़राब आर्थिक हालात से जूझ रही है और प्रशासन उनसे मूक जानवरों की तरह व्यवहार करता है। सरकार और जनता के बीच कोई सम्पर्क नहीं है। जनता की परेशानियों को सुनने के लिए कोई समुचित अवसर नहीं है। ख़ुद प्रशासनिक मशीनरी को नीचे से ऊपर तक पूरी तरह से सुधारे जाने तथा आधुनिक और दक्ष बनाये जाने की आवश्यकता है। इसे जनता की ज़रूरतों और परेशानियों के प्रति कोई संवेदना नहीं है।

पंडित कश्मीर के बौद्धिक समाज का निर्माण करते हैं लेकिन उनका भी इस रूप में दमन होता था कि न तो सेवाओं में उनको महत्त्व दिया जाता है, न ही उनकी ऊर्जा का उपयोग व्यापार या फैक्टरियों में किया जाता था। इस उपेक्षा का नतीजा यह हुआ कि वे भी असन्तुष्ट थे और यह एक समस्या थी जिसका समाधान आवश्यक था।

राज्य में शायद ही कोई जनमत है। जहाँ तक प्रेस का सवाल है तो उस पर व्यावहारिक रूप से पूरी तरह पाबन्दी है और इस वजह से राज्य-प्रशासन अपनी आलोचना से होनेवाले लाभों से वंचित है।[1]

—एल्बियान मुखर्जी
मार्च, 1929 में कश्मीर के विदेश तथा
राजनीतिक मामलों के मंत्री

नौकरियों और प्रतिनिधित्व के लिए कश्मीरी मुसलमानों की माँगों और नये सामाजिक-राजनीतिक आलोड़नों ने कश्मीरी पंडित समाज में खलबली-सी मचा दी। लगातार बढ़ती बेरोज़गारी के बीच नौकरियों की यह जंग दोनों समुदायों के बीच एक शक्ति-संघर्ष (पॉवर स्ट्रगल) में बदल गई। मुल्की-ग़ैरमुल्की संघर्ष करते कश्मीरी पंडितों ने कभी नहीं सोचा था कि पंजाबियों के बाद उनके मुक़ाबले के लिए बहुसंख्यक मुसलमान खड़े हो जाएँगे—वे मुसलमान, जिन्हें शैक्षणिक योग्यता में उन्होंने हमेशा

ख़ुद से कमतर माना था। शेख़ अब्दुल्ला ने लिखा है : 'राज्य नागरिक से उनका अभिधार्थ केवल कश्मीरी पंडित से था। क्योंकि सिर्फ़ वही थे जिन्हें शिक्षा का लाभ मिला था और जो सरकारी नौकरी के लिए योग्य थे।'[2]

यह रोचक है कि अपने आन्दोलनों को राष्ट्रीय आन्दोलन का नाम देनेवाले पंडितों ने मुसलमानों द्वारा अपने अधिकारों की माँग को 'साम्प्रदायिक माँग' बताया, किलाम और बज़ाज़ जैसे प्रगतिशील पंडित भी तमाम सहानुभूति के बावजूद इस प्रवृत्ति से बच नहीं पाते। नब्बे के बाद के राजनीतिक-बौद्धिक विमर्श में तो इस पूरे संघर्ष को हिन्दू बनाम मुसलमान में बदल दिया गया है। रोचक है यह तथ्य कि कभी 'मुल्की-ग़ैरमुल्की' आन्दोलन छेड़नेवाले पंडितों का एक हिस्सा आज 35-ए के हटाने पर ख़ुशी मनाता नज़र आता है तो जम्मू का वह डोगरा समाज भी, जिसे राज्य उत्तराधिकार क़ानून का सबसे ज़्यादा फ़ौरी लाभ हुआ था। अवधारणा पर आधारित इसी इतिहास-दृष्टि का असर है कि *ऑवर मून हैज़ ब्लड क्लॉट्स* में राहुल पंडित 1931 के उभार को 'एक साम्प्रदायिक घटना' कहकर निपटा देते हैं तो मीरा कान्त अपने उपन्यास *एक कोई था कोई नहीं-सा* में ग्लांसी कमीशन की सिफ़ारिशों के बाद हुए पंडितों के 'रोटी आन्दोलन' की पृष्ठभूमि में कश्मीरी पंडितों की दुर्दशा पर तो बात करती हैं लेकिन 1931 की घटनाओं का ज़िक्र नहीं करतीं। आश्चर्य तो कांग्रेस के बड़े नेता, कश्मीर में कैबिनेट मंत्री और इन्दिरा गांधी के लम्बे समय तक क़रीबी रहे कश्मीरी पंडित माखनलाल फोतेदार को पढ़कर होता है जो 1931 के आन्दोलन को याद करते हुए बस इतना ज़िक्र करते हैं कि अंग्रेज़ों की शह पर महाराजा के ख़िलाफ़ आन्दोलन कर रहे थे![3] एक मध्यमार्गी माने जानेवाली और लम्बे समय से केन्द्रीय सत्ता में रही पार्टी से जुड़े ही नहीं बल्कि इन्दिरा गांधी जैसी प्रधानमंत्री के लम्बे समय तक क़रीबी और सचिव रहे व्यक्ति के 'राजनीतिक संस्मरण' में इतनी बचकानी और पूर्वग्रहग्रस्त टिप्पणी असल में कश्मीर के राजनीतिक-सामाजिक जीवन के इस बेहद महत्त्वपूर्ण मोड़ की पंडित समुदाय की अभिकल्पित सामूहिक स्मृति और अवधारणा से उपजी है। ऐसे ही डॉ. भीमराव अम्बेडकर की इस आन्दोलन को लेकर जो समझ है, वह चौंकाती ही नहीं, दुखी भी करती है। वह कहते हैं : 'मुसलमानों ने कश्मीर में प्रतिनिधि सरकार के लिए संघर्ष इसलिए किया क्योंकि कश्मीर में प्रतिनिधि सरकार से तात्पर्य हिन्दू राज्य से मुस्लिम अवाम के लिए सत्ता हस्तान्तरण था।'[4] वैसे तो *पाकिस्तान अथवा भारत के विभाजन* में अम्बेडकर आज़ादी की लड़ाई में मुसलमानों के गौरवशाली योगदान* और हिन्दू-मुस्लिम एकता के सारे आख्यान को ही गौण बना देते हैं लेकिन उनका यह कथन बहुत स्पष्ट बताता है कि कश्मीर के मामले

---

* अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ भारतीय संघर्ष में मुसलमानों की भागीदार पर विस्तार से जानने के लिए पाठक शान्तिमोय रे द्वारा लिखित और इस लेखक द्वारा अनूदित *आज़ादी की लड़ाई और भारतीय मुसलमान* (प्रकाशक : नेशनल बुक डिपो) पढ़ सकते हैं।

में अम्बेडकर की जानकारी कितनी कम या फिर कितनी पूर्वग्रहग्रस्त है। उनका यह सरलीकरण निज़ाम की सत्ता के ख़िलाफ़ संघर्ष करनेवाले तिलंगाना आन्दोलन में मुस्लिम क्रांतिकारियों के योगदान को ही नहीं नकारता बल्कि ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ान के संघर्ष को भी बड़ी आसानी से भुला देता है। जब सेक्यूलर और प्रगतिशील माने जानेवाले लोग ऐसे विचार रखते थे तो अब भारतीय हिन्दुत्ववादी दक्षिणपंथ का हिस्सा हो चले पंडितों के आख्यानों का तो कहना ही क्या!

लेकिन इस सवाल का जवाब तो आपको ढूँढ़ना ही होगा कि जिस घाटी में 85 प्रतिशत राजस्व देनेवाले, बेगार के लिए मजबूर, हर तरह के दमन के शिकार राज्य की 96 फ़ीसद आबादी मुसलमानों की थी, वहाँ अपने अधिकारों की माँग के लिए सड़क पर कौन उतरता? और जहाँ दमन और उपेक्षा का आधार धर्म था, वहाँ उस दौर में प्रतिरोध में एकता का आधार धर्म कैसे नहीं बनता? इसमें बाक़ी देश के लिए मुसलमान को दलित-पिछड़े-आदिवासी से जोड़कर देखिए, शायद चीज़ें बेहतर समझ आएँ। शेख़ अब्दुल्ला एक क़िस्सा सुनाते हैं। 1938 में जब पंडित जवाहरलाल नेहरू कश्मीर गए तो कश्मीरी पंडितों से बातचीत में उन्होंने मुसलमानों को सामाजिक अछूत न समझने की अपील की। अगले दिन पंडितों का एक प्रतिनिधिमंडल उनसे मिलने आया और कहा कि आप मुसलमानों को अलग करने की बात करते हैं लेकिन हमारे यहाँ शादियों से मुसलमान ज़मीन पर पानी का छिड़काव करते हैं। नेहरू ने हँसकर कहा, 'वे आपकी शादियों में ज़मीन पर पानी छिड़क सकते हैं लेकिन वे आपके साथ खाना नहीं खा सकते।[5] जो भी हो, अब कश्मीर बदल रहा था और पंडितों को इसमें अपनी भूमिकाएँ तलाशनी थीं।

हरि सिंह : संक्रमण काल में सीमित प्रगतिशीलता

1925 में प्रताप सिंह की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठे हरि सिंह डोगरा वंश के पहले ऐसे शासक थे जिनकी आधुनिक शिक्षा-दीक्षा हुई थी और ताजपोशी के बाद जिस तरह की घोषणाएँ उन्होंने कीं, वे पहली नज़र में उस दौर के हिसाब से क्रांतिकारी नज़र आती हैं—मैं एक हिन्दू हूँ लेकिन अपनी जनता के शासक के रूप में मेरा एक ही धर्म है—न्याय। यही नहीं, वह ईद के आयोजनों में भी शामिल हुए और 1928 में जब श्रीनगर शहर बाढ़ में डूब गया तो वह ख़ुद दौरे पर निकले। वेकफील्ड के हवाले से सर्राफ़ बताते हैं कि अपने शासन के शुरुआती दौर में वह चमचागीरी के इतने ख़िलाफ़ थे कि उन्होंने एक सालाना ख़िताब 'ख़ुशामदी टट्टू' तय किया था जिसके तहत बन्द दरबार में हर साल सबसे बड़े चमचे को चाँदी और काँसे के भीख माँगते टट्टू की प्रतिमा दी जाती थी।[6] यही नहीं, राजतिलक समारोह में उन्होंने जो घोषणाएँ की थीं, उनमें जम्मू और कश्मीर घाटी में 50-50 तथा गिलगिट और

लद्दाख में 10-10 स्कूल खोलने तथा इसके निर्माण के लिए लकड़ी जंगलात महकमे से मुफ़्त दिये जाने, खालसा ज़मीनों को शामलात में देने, जम्मू और घाटी में 3-3 चल डिस्पेंसरियाँ खोलने, तकनीकी शिक्षा का बारामूला, अनंतनाग, लेह, किस्तवार, साम्बा, मीरपुर और भदरवाह तक विस्तार करने, श्रीनगर में एक अस्पताल खोलने, पीने के पानी की व्यवस्था के अलावा विवाह की न्यूनतम उम्र लड़कों के लिए 18 और लड़कियों के लिए 14 वर्ष करने और बच्चों के लिए टीकाकरण की व्यवस्था शामिल थी। कृषि राहत अधिनियम बनाया जिसने किसानों को महाजनों के चंगुल से आज़ाद होने में मदद की। अनिवार्य शिक्षा के लिए नियम बनाये जिससे 'ज़बरी स्कूल' खुले और सभी के लिए बच्चों को स्कूल भेजना ज़रूरी बना दिया गया। 31 अक्टूबर, 1932 को एक आधिकारिक घोषणा करके राज्य के सभी मन्दिरों को दलितों के लिए खोल दिया। यह घोषणा गांधी के आन्दोलन से भी पहले हुई थी और शायद देश में पहली। यह इतना क्रांतिकारी निर्णय था कि रघुनाथ मन्दिर के मुख्य पुजारी ने इसके विरोध में इस्तीफ़ा दे दिया![7] ज़ाहिर है, शुरुआत शानदार थी और उम्मीदें जगाने वाली भी। लेकिन न तो हरि सिंह अपने समय की सीमाओं के पार जा सकते थे, न ही वह दुनिया भर में आ रहे बदलावों को अनन्त काल के लिए कश्मीर से दूर रख सकते थे।

राज्य उत्तराधिकार क़ानून बन जाने पर कश्मीरी पंडितों को लगा था कि अब वे ऊँची नौकरियों में भी जगह बना पाएँगे। लेकिन हुआ यह कि पंजाबियों और बाहरी लोगों की जगह हिन्दू डोगरा राजपूतों ने ले ली। प्रेमनाथ बज़ाज़ कहते हैं :

> हालाँकि राज्य नागरिकता की परिभाषा के स्वीकार ने दमित जनता की उभरती हुई चेतना की उम्मीदों को एक हद तक पूरा किया लेकिन इस बात के लक्षण दिखने लगे थे कि यह सभी समस्याओं का हल नहीं हो सकता। राजकुमार की अनियंत्रित तानाशाही एक दुधारी हथियार की तरह थी। इस बात में कोई दो राय नहीं है कि राज्य नागरिकता का क़ानून पास करके महाराजा हरि सिंह ने बाहरी लोगों का भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद ख़त्म कर दिया था लेकिन उनके गद्दी पर बैठते ही एक तरह का राजपूत कुलीनतंत्र स्थापित हो गया। औसत प्रतिभा के राजपूत राज्य के विभिन्न विभागों के प्रमुख बन गए। सेना पूरी तरह डोगराओं, ख़ास तौर पर राजपूतों के लिए आरक्षित कर दी गई और राजपत्रित पदों पर साठ प्रतिशत से अधिक डोगराओं का क़ब्ज़ा हो गया। यह अपमानजनक भेदभाव जल्द ही असहनीय हो गया, अस्पष्ट आवाज़ें प्रतिरोध में उठने लगीं।[8]

यह दौर दुनिया भर में उथल-पुथल का था। तीस के दशक की मन्दी से कश्मीर भी अछूता नहीं रहा। ज़मीन और चावल की क़ीमतें बहुत गिर गईं और किसान भुखमरी की कगार पर पहुँच गए। पश्चिमी देशों में हस्तशिल्प की माँग गिरने से

व्यापार मुश्किल हो गया और देसी बाज़ार इस कमी को पूरा कर पाने में असमर्थ थे। शिल्पकार कंगाली के हालात में पहुँच गए।[9]

इस दौर में एक नई समस्या भी कश्मीर में महत्त्वपूर्ण बन गई थी। भू-बन्दोबस्त की व्यवस्था के बाद ऋणग्रस्तता बहुत बढ़ गई थी। लॉरेंस के भू-बन्दोबस्त के पहले कश्मीर में ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या लगभग अनुपस्थित थी। शेष भारत में प्रभावी भूमिका निभानेवाले साहूकार और बनिये कश्मीर के ग्रामीण समाज में नहीं थे। इसकी जगह सभी बड़े गाँवों में वानी या बाकल थे जो अक्सर रोज़मर्रा का सामान बेचनेवाले छोटे दुकानदार थे और 'वाद' व्यवस्था के ज़रिये वक़्त-ज़रूरत पर कृषकों को ऋण दिया करते थे। इस्लामी सिद्धान्तों के अनुसार ब्याज नहीं लिया जाता था और किसान इसके बदले अनाज, फल और कम्बल जैसी वस्तुएँ दिया करते थे जिनका मूल्य बाज़ार भाव से कम लगाया जाता था। कुछ गाँवों में पंडित भी इस व्यवसाय में लगे हुए थे लेकिन लॉरेंस के अनुसार, गाँवों में कृषि ऋणग्रस्तता जैसी कोई गम्भीर समस्या नहीं थी[10] लेकिन भू-बन्दोबस्त व्यवस्था में लगान का एक हिस्सा नक़द के रूप में देने की व्यवस्था के बाद वहाँ ग्रामीण अर्थव्यवस्था में ऋण की समस्या काफ़ी बढ़ गई। 1926-27 तक 70 फ़ीसदी से अधिक किसान ऋण की समस्या से ग्रस्त हो चुके थे। इस बीच वहाँ ऐसे हिन्दुओं का एक वर्ग उग आया था जो बड़े पैमाने पर इस धंधे में शामिल हो गए थे। यह बात इस तथ्य से भी साबित होती है कि जब 1926-27 में हरि सिंह ने ऋणग्रस्त किसानों की समस्या के मद्देनज़र कृषक सहायता अधिनियम बनाकर यह सुनिश्चित किया कि किसी भी हाल में ब्याज दर 50 फ़ीसदी से अधिक नहीं होना चाहिए तो इसका सबसे तीखा विरोध हिन्दुओं के दबदबे वाली जम्मू और कश्मीर प्रतिरोध समिति और हिन्दू युवक सभा ने यह कहते हुए किया कि 'यह हिन्दू समुदाय के हितों पर कुठाराघात है और न्याय तथा बराबरी के सिद्धान्त के प्रतिकूल है क्योंकि यह एक समुदाय की क़ीमत पर दूसरे को लाभ पहुँचाता है।' ज़ाहिर है, क़र्ज़ के इस मकड़जाल में फ़ायदा उठाने वाले थे हिन्दू समुदाय के व्यापारी और क़र्ज़ का जुआ आम मुस्लिम किसानों के कन्धों पर था। हालाँकि इस नियम के बावजूद कश्मीरी किसान को क़र्ज़ से मुक्ति नहीं मिली। साहूकारों ने नये रास्ते ढूँढ़ लिये जिसमें मूलधन को दुगुना करके लिखा जाता था।[11] इस दौर में गाँवों से शहरों की तरफ़ विस्थापन भी बढ़ा और फलस्वरूप शहरी जनसंख्या में तेज़ी से वृद्धि हुई। 1931 आते-आते जहाँ झेलम घाटी के प्रत्येक शहर की औसत जनसंख्या 15,510 हो गई, वहीं हर गाँव की औसत जनसंख्या केवल 377 रह गई।[12] नई अर्थव्यवस्था में मुद्रा का चलन बढ़ा और निर्यात आधारित उद्योगों में बढ़ोतरी होने से घाटी में सामाजिक संतुलन भी बदला। औपनिवेशिक शासकों की नज़र में जनसंख्या में वृद्धि कश्मीर में समृद्धि का प्रतीक थी, लेकिन यह समृद्धि कश्मीरी जनता तक नहीं पहुँची। मज़दूरी बढ़ी लेकिन शाली (धान) के

दाम उससे कई गुना बढ़ गए। शॉल व्यापारियों और जागीरदारों वाले पुराने कुलीन वर्ग का महत्त्व कम हो गया लेकिन इस नई अर्द्धऔपनिवेशिक व्यवस्था में राजस्व विभाग के कर्मचारियों का महत्त्व कमोबेश पहले जैसा बना रहा, जबकि कश्मीर घाटी के उच्च स्तरीय प्रशासक, जिनमें हिन्दुओं और ख़ास तौर पर डोगराओं का वर्चस्व था, नये भू-कुलीन बन गए। किसानों को, जिनकी बहुसंख्या मुसलमानों की थी, इस नई व्यवस्था से कोई लाभ तो नहीं हुआ लेकिन किसान अब कश्मीर के विमर्श में महत्त्वपूर्ण रूप से शामिल हुए और उनकी माँगें आनेवाले समय के आन्दोलनों में महत्त्वपूर्ण बनकर उभरीं।[13] बन्दोबस्त के कारण राज्य में अनाज पर महाराजा का एकाधिकार समाप्त होने से, उनके मूल्य बाज़ार पर आधारित हुए, तो ब्रिटिश अधिकारियों की नज़र में यह उदार अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ा हुआ क़दम ज़रूर था लेकिन कर्मचारियों के असहयोग और तत्कालीन स्थितियों के साथ मूल्यों में वृद्धि और शहरों में अनाज की अनुपलब्धता से कई बार संकट जैसी स्थिति उत्पन्न हुई और अक्सर राज्य को अनाज की उपलब्धता सुनिश्चित कराने के लिए हस्तक्षेप करना पड़ा। पहले विश्वयुद्ध के कारण आई मुश्किलात के चलते 1921 में तो एक भयावह अनाज-संकट आया। अनाज विक्रय करनेवाले 'गल्लादारों' के नये वर्ग ने अनाज की क़ीमतें कई गुना बढ़ा दीं और जमकर लाभ कमाया। इस अवसर पर प्रशासन ने हस्तक्षेप किया तो स्थिति सुधरने के बजाय बिगड़ती चली गई। प्रशासनिक कर्मचारियों और गल्लादारों की लूट ने किसानों की रीढ़ तोड़ दी। 1921 में इस पर नियंत्रण के लिए अनाज नियंत्रण बोर्ड बनाया गया जिसने अनाज के अधिकतम मूल्य निर्धारित करने के साथ-साथ उसके समुचित वितरण के लिए सहकारी स्टोर भी खोले लेकिन जागीरदारों, गल्लादारों और दलालों की मिलीभगत से यह योजना भी अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकी। उद्योग धंधों की बन्दी से तबाह शहरी ग़रीब के लिए राशन द्वारा दिया जा रहा आठ त्राक शाली एक बार में ख़रीद पाना सम्भव नहीं हुआ तो उन्होंने अपने राशन टिकट बेच दिये और अन्ततः इसका लाभ धनिक लोगों को मिला जिन्होंने अनाज की जमाख़ोरी कर कालाबाज़ारी करनी शुरू कर दी। कश्मीरी मुसलमानों ने महाराजा से माँग की कि 'राशन कुल जनसंख्या में समुदायों की हिस्सेदारी के अनुसार बाँटा जाए', साथ ही उन्होंने आरोप लगाया कि 'कश्मीरी पंडित समुदाय अपने मुस्लिम भाइयों की क़ीमत पर इस स्थिति को अपने पक्ष में मोड़ने पर आमादा है।'[14]

इन नीतियों के चलते असन्तोष उपजना ही था और उसका विरोध भी स्वाभाविक था। शुरुआत उसी वर्ग से होनी थी जो पढ़ा-लिखा था। देखा जाए तो डोगरा शासन के ख़िलाफ़ घाटी में विद्रोह का पहला स्वर एक कश्मीरी पंडित हरगोपाल ने ही उठाया था। 1876 में अतिवृष्टि के चलते कश्मीर में आए अकाल के दौरान यों तो भारी तबाही मची थी लेकिन अधिकारियों ने इस आपदा का उपयोग भी अपनी

तिजोरी भरने में किया था। हरगोपाल कौल ने इसकी शिकायत तत्कालीन महाराजा रणबीर सिंह से की तो कई अधिकारी बर्ख़ास्त हुए।[15] इसके बाद दरबार में उनके ख़िलाफ़ षड्यंत्र शुरू हो गए और उन पर आरोप लगाया गया कि उन्होंने ही अंग्रेज़ों से यह शिकायत की थी कि कई लोगों को उस दौरान डुबो कर मार दिया गया। इस आरोप में उन्हें उनके भाई शालिगराम कौल के साथ जम्मू के बहू फोर्ट में तीन साल के कारावास की सज़ा दी गई। जेल में रहते हुए हरगोपाल कौल ने अपनी प्रसिद्ध मसनवी *गोपालनामा* लिखी जिसमें कश्मीर के हालात और दरबार के षड्यंत्रों का विस्तार से वर्णन किया। उन्होंने राजनीतिक व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए एक और रचना लिखी—*नरसिंह अवतार*। सालिग राम ने भी दो मसनवियाँ—*सुन्दर बदनू* और *ससी पुन्नू*—लिखीं और *दास्तान-ए-जगत रूप* का बड़ा हिस्सा भी।[16] दोनों भाई जेल में सुरंग खोदकर भागने में सफल रहे[17] और लाहौर जाकर *रावी* नाम का अख़बार निकाला। *रावी* के बन्द हो जाने के बाद उन्होंने *देश*, *रिफ़ॉर्मर* और *पब्लिक न्यूज़* नाम से अख़बार निकाले।[18] सालिगराम ने लाहौर से ही *ख़ैरख़्वाह-ए-कश्मीर* नामक अख़बार निकाला। इसमें कश्मीर के हालात पर तो बात होती थी लेकिन मूलत: यह सनातन धर्म के आदर्शों की वकालत करता था। इसके साथ ही उन्होंने *मूर्ति-मंडन* और *धारिण उपदेश* नामक दो पुस्तिकाएँ भी लिखीं जो सनातन धर्म की ही प्रतिष्ठा स्थापित करती थीं। दोनों भाइयों ने रणबीर सिंह के शासन की नीतियों के ख़िलाफ़ कई लेख लिखे[19] लेकिन प्रताप सिंह के शासनकाल में वे वापस लौटे और जिस समय अंग्रेज़ों ने प्रताप सिंह से सत्ता के सारे अधिकार छीन लिये थे, पंडितों ने उनके पक्ष में देशभर में अभियान चलाया। लाहौर से गोपीनाथ कौल के सम्पादन में निकलने वाले उर्दू अख़बार *अख़बार-ए-आम* ने इसमें बड़ी भूमिका निभाई तो हरगोपाल कौल ने अपने अख़बारों—*रावी बेनज़ीर* और *सुबह-ए-कश्मीर*—में लगातार अंग्रेज़ी षड्यंत्र को बेपर्द किया।

1894 में हरगोपाल कौल ने 'सनातन धर्म सभा' की स्थापना की जिसका उद्देश्य 'समुदाय की सुरक्षा को मज़बूत करना और अपनी दमित प्रतिष्ठा को हासिल करने के लिए इसे पुनर्जाग्रत करना' था। उन्नीसवीं सदी के अन्त में कश्मीरी पंडितों के बीच अंग्रेज़ी शिक्षा और पंजाब से आए आर्य समाजी आन्दोलन का काफ़ी प्रभाव पड़ा था। पंडित समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के लिए इसी साल 'समाज सुधाकर' नाम का संगठन बनाया गया। पंडित सूरज काक मट्टू इस संगठन के प्रमुख थे और हरगोपाल कौल सचिव। अमरनाथ काक की इन दोनों संगठनों में बेहद महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इस संगठन ने शादियों में अंधाधुंध ख़र्चे, मांसाहार, बाल विवाह आदि के ख़िलाफ़ और विधवा विवाह के पक्ष में अभियान चलाया। इस अभियान का कश्मीरी पंडित समाज पर असर तो पड़ा लेकिन जल्द ही कट्टरपंथी पंडितों ने इसे बेअसर कर दिया।[20] असल में ये आन्दोलन

आर्य समाज आन्दोलन का मुक़ाबला करने के लिए शुरू किये गए थे लेकिन अधिक शुद्ध ब्राह्मण दिखने के लिए उन्होंने मुस्लिम समाज से दूरी बनानी शुरू की तो कश्मीर का सामाजिक ताना-बाना और अधिक वैमनस्यपूर्ण होना ही था।[21] हालाँकि आर्य समाज की शाखा घाटी में 1910 में 'आर्यकुमार सभा' के नाम से स्थापित हुई जिसमें कई पंडित भी शामिल हुए। इसका कश्मीरी समाज पर कोई गहरा असर तो नहीं पड़ा लेकिन चूँकि आर्य समाजी ख़ुद को राष्ट्रवादी कहते थे और अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ थे, इसलिए कश्मीर में राष्ट्रवाद का अर्थ न केवल आर्य समाजी बल्कि हिन्दू तौर-तरीक़े भी स्थापित हुए। आर्य समाज की हिन्दू पुनरुत्थानवादी नीतियों ने मुसलमानों को स्वाभाविक रूप से इस आन्दोलन से दूर कर दिया। उनके लिए राष्ट्रवाद का मतलब 'हिन्दू राष्ट्रवाद' हुआ तो राज्य की राजनीति पर इसका गहरा असर होना ही था। आर्य समाज के प्रभाव से उत्पन्न हिन्दू पुनरुत्थानवाद के इस उभार ने मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर कर दिया।[22]

इसका सबसे विडम्बनापूर्ण उदाहरण ख़िलाफ़त आन्दोलन (1919-24) के समय देखा गया था जब मूलतः पंडितों के नेतृत्व में चले इस आन्दोलन में मुसलमानों ने बहुत कम संख्या में भागीदारी की थी और बहुसंख्या अंग्रेज़ों के साथ खड़ी नज़र आई[23] जबकि पूरे भारत के मुसलमानों ने इसमें ख़ूब बढ़-चढ़ के हिस्सा लिया था। वैसे न तो राज्य में तब तक कांग्रेस की कोई शाखा थी, न ही वहाँ ख़िलाफ़त आन्दोलन का स्वरूप बाक़ी देश की तरह बायकाट और असहयोग आन्दोलन वाला था। इसकी जगह वहाँ स्थानीय मुद्दे प्रमुख बने और इस प्रथम विश्वयुद्धोत्तर काल में बढ़ी हुई क़ीमतों के प्रतिकार के प्रतीक के रूप में पंडितों ने 'मांस की क़ीमतों में बढ़ोतरी के ख़िलाफ़' आन्दोलन शुरू किया। साथ ही उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता, गो-रक्षा, और कश्मीरी जनता के भाईचारे की ज़रूरत पर ज़ोर दिया।[24] 1927 में जब कानपुर में ऑल इंडिया पीपल्स कॉन्फ्रेंस की पहली बैठक हुई तो इसकी सदारत एक कश्मीरी पंडित मोहनलाल कौल ने की। मोहनलाल को ब्रिटिश रेज़िडेंट की शिकायत पर राज्य से निकाल दिया गया था। इस बैठक में पंडित द्वारकानाथ खाचरू भी थे और इसमें रजवाड़ों के ख़िलाफ़ प्रस्ताव पास किया गया था।[25] कई छात्रों ने असहयोग आन्दोलन में हिस्सा लिया तो लाला लाजपत राय के बुलावे पर डेढ़ सौ से अधिक छात्र गोजरानवाला गए थे। जब मई, 1930 में महात्मा गांधी को गिरफ़्तार किया गया तो 6 मई, 1930 को हज़ारों कश्मीरी पंडित और सिखों ने आमिर कदल में विरोध प्रदर्शन किया। हड़ताल की गई और महाराजगंज में विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। 7 मई को छात्रों ने कॉलेज में हड़ताल कर दी और फिर से आमिर कदल पर एकत्र हुए। इस दौरान 'महात्मा गांधी की जय' के साथ-साथ 'महाराजा बहादुर की जय' के भी नारे लगाये गए। ज़ाहिर है, यहाँ विरोध केवल अंग्रेज़ी सरकार का था।[26] लेकिन इन आन्दोलनों में मुसलमानों ने कोई भागीदारी

नहीं की। राज्य में दोनों धर्मों के बीच बढ़े वैमनस्य का असर यह हुआ कि राज्य के मुसलमान अंग्रेज़ों के क़रीब गए। जियालाल किलाम बताते हैं कि उसी दौर में उन्होंने और ग्वाशालाल कौल ने सरकारी नीतियों के ख़िलाफ़ पंजाब के अख़बारों में लेख लिखे थे और हस्तलिखित पर्चे तैयार करके बाँटे थे। यही नहीं, कश्मीर के बाहर सम्पर्क स्थापित होने के बाद वह पंजाब रियासती प्रजानियुक्त मंडल के महासचिव हुए थे जो वहाँ के कामगारों का संगठन था। लाहौर में रह रहे कश्मीरी पंडित कश्यप बन्धु ने वहाँ प्रवासी कश्मीरियों के लिए लेबर बोर्ड का गठन किया था। ये सभी प्रवासी मज़दूर मुसलमान थे। इस बोर्ड ने दिल्ली निवासी कश्मीरी पंडित प्यारे मोहन दत्तात्रेय की सदारत में एक बड़ी कॉन्फ्रेंस कराई थी जो काफ़ी असरकारी रही और सरकार ने अपना पक्ष रखने के लिए बाक़ायदा प्रसार विभाग स्थापित किया।[27]

मुस्लिम समाज में उथल-पुथल

मुस्लिम समाज भी लम्बे समय तक इन बदलावों से अछूता नहीं रह सकता था। 1921-31 के बीच शिक्षित युवकों की संख्या में वृद्धि के लिहाज़ से कश्मीरी मुसलमानों ने सभी समुदायों की तुलना में सबसे तीव्र वृद्धि हासिल की। तब तक राजकीय कामकाज की भाषा बन चुकी उर्दू-शिक्षित युवाओं की संख्या में 9912 फ़ीसद की वृद्धि हुई। हालाँकि यह वृद्धि मूलतः श्रीनगर और शहरी इलाक़ों तक ही सीमित थी। लेकिन इसी गति से रोज़गारों में वृद्धि न होने से शिक्षितों में यह वृद्धि बेरोज़गारों की संख्या की वृद्धि में तब्दील हुई। हालात ऐसे थे कि 1931 के सेंसस में अलग-अलग समुदायों के बेरोज़गारों की गणना का ख़याल छोड़ना पड़ा।[28] देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में पढ़ते हुए छात्रों का ख़िलाफ़त आन्दोलन, नमक सत्याग्रह और स्वाधीनता संग्राम की हलचलों ने अपने तरीक़े से प्रभावित किया ही था और अपने लोगों के उत्पीड़न के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए उनमें एक हिम्मत भी दी थी। राज्य में संगठन बनाने या प्रेस की कोई आज़ादी न होने के कारण कश्मीर में तो राजनीतिक संगठन या अख़बार नहीं स्थापित हो सके लेकिन पंजाब में, जहाँ कश्मीरी विद्यार्थियों और प्रवासियों की बड़ी संख्या थी, *इंक़लाब, सियासत, सनराइज़, मुस्लिम आउटलुक, फ़ारूक़* और *अफज़ाल* जैसे कई अंग्रेज़ी और उर्दू अख़बार शुरू किये गए। 1896 में ही लाहौर में प्रवासी कश्मीरियों द्वारा 'मजलिस कश्मीरी मुसलमान' स्थापित हुआ था। 1901 में 'मुस्लिम कश्मीरी कॉन्फ्रेंस' की स्थापना हुई और 1911 में इसे अखिल भारतीय स्वरूप देते हुए 'आल इंडिया मुस्लिम कॉन्फ्रेंस' नाम दिया गया। 1924 में इसने श्रीनगर में अधिवेशन करने की अनुमति माँगी लेकिन महाराजा ने अनुमति देने से इनकार कर दिया। अल्लामा इक़बाल

सहित कई प्रतिष्ठित लोग इससे जुड़े थे। इस संगठन ने कश्मीर के आन्दोलनों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।[29] पंजाब में पढ़नेवाले छात्र इनके सम्पर्क में आते थे। शेख़ अब्दुल्ला ने लाहौर में अपने छात्र जीवन में इनसे सम्पर्क का विस्तार से ज़िक्र किया है तो अलीगढ़ में पढ़ते हुए गांधी और कांग्रेस के आन्दोलनों से सम्पर्क का। ज़ाहिर है, पंडित छात्रों की तरह ही कश्मीर से बाहर पढ़ने गए मुस्लिम छात्र भी नये विचार अपने साथ लेकर लौट रहे थे।

ऐसे ही कुछ शिक्षित बेरोज़गार युवकों ने 1930 में श्रीनगर के फ़तेह कदल में मुफ़्ती ज़ियाउद्दीन के घर पर 'रीडिंग रूम पार्टी' शुरू की जिसमें वे साथ बैठकर देश-दुनिया और अपनी समस्याओं पर बहस किया करते थे। कुछ दिनों तक अनौपचारिक रूप से काम करने के बाद मोहम्मद रज़ब को इसका अध्यक्ष और शेख़ अब्दुल्ला को महासचिव चुना गया। ये युवक देश के अंग्रेज़ी और उर्दू अख़बारों में कश्मीर के हालात पर पत्र लिखा करते थे।[30] इन युवाओं में क़ाज़ी सैफ़ुद्दीन, पीरज़ादा ग़ुलाम रसूल, पीरज़ादा अहमद शाह, मुफ़्ती जलालुद्दीन, ए. फ़ज़ीली, हकीम ग़ुलाम मुर्तज़ा, और मौलवी बशीर अहमद आदि शामिल थे।[31] शॉल उद्योग से जुड़े एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार में पिता की मौत के तीन महीने बाद जन्मे शेख़ अब्दुल्ला अलीगढ़ विश्वविद्यालय से रसायन शास्त्र में एम.एस-सी करके आए थे लेकिन बहुत कोशिश के बावजूद उन्हें बस इस्लामिया हाईस्कूल में 60 रुपये प्रतिमाह की मुदर्रिसी मिल सकी थी। रीडिंग रूम के युवाओं का सबसे बड़ा मुद्दा नौकरी था।[32]

इससे पहले 1929 की गर्मियों में कुछ मॉडरेट मुसलमानों का एक समूह नौकरियों में मुसलमानों के अधिक प्रतिनिधित्व के सवाल पर महाराजा हरि सिंह से मिलने गया जिसमें जनरल समन्दर ख़ान और शेख़ अब्दुल अज़ीज़ शामिल थे। एक आधिकारिक रिपोर्ट के मुताबिक़ महाराजा इस माँग से सहमत थे और उन्होंने निजी रूप से नौकरियों में 50 प्रतिशत आरक्षण का भरोसा दिया था। हालाँकि इस पर आगे कोई प्रगति नहीं हुई तो कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। इसके बाद हरि सिंह 1930 में गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेने इंग्लैंड चले गए और अपनी अनुपस्थिति में प्रशासन चलाने की ज़िम्मेदारी तीन सदस्यों की एक कैबिनेट को दे दी जिसमें तत्कालीन प्रधानमंत्री जी.ई.सी. वेकफील्ड, ग़ैर-कश्मीरी हिन्दू पी.के. वाटल और एक डोगरा राजपूत जनरल जनक सिंह थे। इस कैबिनेट का सचिव भी एक डोगरा राजपूत ठाकुर करतार सिंह था : यानी इसमें एक भी कश्मीरी या मुसलमान शामिल नहीं था। इस कैबिनेट के सदस्यों के बीच शत्रुता और अविश्वास इस स्तर का था कि वे एक दूसरे की जासूसी कराने से भी नहीं चूके। इसी कैबिनेट ने सरकारी भर्तियों के लिए लोक सेवा भर्ती बोर्ड की स्थापना की। इस बोर्ड ने राजपत्रित पदों पर भर्ती के लिए कुछ नियम बनाये जिसके तहत उम्मीदवारों को कुछ काग़ज़ात

प्रस्तुत करने थे और एक प्रतियोगी परीक्षा देनी थी। यही नहीं, संस्कृत की परीक्षा पास करना आवश्यक बनाया गया जबकि फ़ारसी को शामिल नहीं किया गया। रीडिंग रूम के सदस्यों ने 'भर्ती की इस प्रक्रिया का असल मक़सद मुसलमानों की भर्ती में रोड़े डालना' बताते हुए एक ज्ञापन दिया। 11 सितम्बर को रीडिंग रूम के दो प्रतिनिधि आमंत्रित किये गए। शेख़ अब्दुल्ला उनमें से एक थे। बैठक में कैबिनेट के तीनों सदस्य उपस्थित थे लेकिन बहस के बाद शेख़ अब्दुल्ला के सुझावों को बोर्ड ने पूरी तरह से अस्वीकार कर दिया। युवक राज्य के गृहमंत्री आग़ा सैयद हुसैन से मिले लेकिन उन्होंने अपनी मजबूरी प्रकट करते हुए कहा कि इस मामले में तो शिक्षा मंत्री भी कुछ नहीं कर सकते थे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उन्हें यह भी नहीं पता था कि इस मामले में कैबिनेट ने युवकों के ज्ञापन का क्या जवाब दिया था। ज़ाहिर है, युवाओं को इससे गहरी निराशा हुई।[33] चूँकि कश्मीर में अख़बारों पर पूरी तरह से पाबन्दी थी इसलिए अपनी बात लोगों तक पहुँचाने के लिए उन्होंने सभी मुद्दे एक पर्चे में छापकर श्रीनगर में बँटवाये और नौकरियों में मुसलमानों की स्थिति को लेख के रूप में संकलित कर लाहौर से निकलने वाले अख़बार *इंक़लाब* में प्रकाशित करवाया। यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य जोड़ दिया जाना ज़रूरी है। श्रीनगर का कुलीन मुस्लिम वर्ग इस ज्ञापन की ख़बर मिलते ही चौकन्ना हो गया था और मुंशी असदुल्लाह वकील, ख़्वाज़ा अब्दुल रहीम बांदे, मिर्ज़ा ग़ुलाम मुस्तफ़ा और मुफ़्ती शरीफ़ुद्दीन जैसे रईस कैबिनेट के सदस्यों के समक्ष यह कह आए थे कि वे महाराजा के प्रति पूर्ण रूप से निष्ठावान हैं। यही नहीं, उन्होंने ज्ञापन पर हस्ताक्षर करनेवालों के ख़िलाफ़ कड़ी कार्यवाही की भी माँग की थी।[34]

लगभग इसी समय जम्मू में इन्हीं उद्देश्यों को लेकर 'यंग मैन मुस्लिम एसोसिएशन' भी सक्रिय था। इसमें क़ाजी गौहर रहमान, सैयद गुलज़ार हुसैन, अल्लारक्खा सागर, ग़ुलाम अहमद ग़ोरी और मौलवी हैदर शाह शामिल थे। जब एक दूसरे की कार्यवाहियों की ख़बरें पंजाब के अख़बारों के ज़रिये पहुँचीं तो इन दोनों संगठनों ने मिलकर काम करने का निश्चय किया। कश्मीर में ग़ुलाम अहमद अशाई ने मुसलमानों की समस्याओं को उठाने के उद्देश्य से कश्मीर मुस्लिम एसोसिएशन बनाया था। शेख़ इस संगठन का भी हिस्सा बने और उन्हें संगठन का सचिव चुना गया तथा अशाई अध्यक्ष बने। इसके सदस्यों में हकीम ग़ुलाम मुर्तज़ा, ख़्वाज़ा अली शाह, हकीम अली, ख़्वाज़ा मोहम्मद रज़ब, पीरज़ादा ग़ुलाम रसूल, हकीम ग़ुलाम सफ़दर, ख़्वाज़ा अहसान उल्लाह आदि शामिल थे।[35]

जुलाई, 1931 की घटनाओं पर जाने से पहले रुककर एक ज़रूरी सवाल पर बात कर लेते हैं। हमने देखा है कि घाटी में पंडित और मुसलमान, दोनों

बिरादरी के पढ़े लिखे युवाओं की सबसे बड़ी माँग थी—नौकरी। फिर इस माँग को लेकर वे कोई संयुक्त संघर्ष क्यों नहीं विकसित कर सके? यह सवाल इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि नौकरियों में जिन्हें वरीयता दी जा रही थी, वे पहले पंजाबी और दूसरे, बाहरी लोग थे तो हरि सिंह के समय में जम्मू के डोगरा। यही नहीं, बड़ी संख्या में अंग्रेज़ भी ऊँचे पदों पर काबिज़ थे। ऐसे ही सेना में भी घाटी के पंडितों और मुसलमानों दोनों को ही बाहर रखा गया था। तो यह बहुत स्वाभाविक लगता है कि घाटी के दोनों प्रमुख समुदाय यह लड़ाई संयुक्त रूप से लड़ते। लेकिन इसके ठीक विपरीत हम देखते हैं कि दोनों के बीच नौकरियों में हिस्सेदारी को लेकर तीखा संघर्ष होता है। ग़ौर से देखें तो इसके कारण कश्मीर के इतिहास में है तो दूसरी तरफ़ उस समय की राजनीतिक-सामाजिक हक़ीक़त में। डोगराओं के ख़िलाफ़ कुछ कहना सीधे महाराजा के ख़िलाफ़ होता तो अंग्रेज़ों की भर्ती के ख़िलाफ़ बोलना तो उस समय बेहद ख़तरनाक हो सकता था। इसलिए सत्तासीन वर्ग के प्राधिकार को स्वीकार करते हुए दोनों को ही उनसे बची हुई छोटी नौकरियों में हिस्सेदारी की लड़ाई ही लड़नी थी जिसमें दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी बनकर सामने आए। दूसरी तरफ़ लम्बे दौर में पंडितों और मुसलमानों के बीच जो रिश्ता बना था, वह सहयोगी का नहीं था। जहाँ कश्मीरी मुसलमान के लिए पंडित सत्ता के शोषक तंत्र का प्रतीक था, वहीं पंडितों के लिए अपनी मेरिट का अहंकार उसे कुलीन मुस्लिम वर्ग के साथ दोस्ताना सम्बन्धों में तो सहज रख सकता था लेकिन आम मुसलमान को बराबरी की दृष्टि से देखना सम्भव नहीं था। कश्मीरी पंडितों के लिए शैक्षणिक और प्रशासनिक सेवाओं में दबदबा जैसे जन्मसिद्ध अधिकार था।[36] वे यह स्वीकार ही नहीं कर सकते थे कि मुसलमान उनके बराबर योग्य हो सकते हैं या प्रशासनिक सेवाओं में उनका कोई हक़ बनता है। इसे ग़ौर से देखने पर शेष भारत में ग़ैर-दलित और दलितों के बीच का रिश्ता याद आना स्वाभाविक है जहाँ मेरिट की अवधारणा वास्तविक मेरिट से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। राज्य उत्तराधिकार क़ानून बन जाने के बाद राज्य की सबऑर्डिनेट सेवाओं के लिपिकीय पदों पर पंडितों का लगभग एकाधिकार हो चुका था और वे मुसलमानों को इसमें हिस्सेदारी देने को कैसे तैयार हो सकते थे? इसलिए सहयात्री की जगह कश्मीरी मुसलमान उनके लिए एक नये प्रतिद्वंद्वी की तरह ही सामने आता है। 'कश्मीरियत' और हिन्दू-मुस्लिम एकता की तमाम कहानियों के बीच प्रेमनाथ बज़ाज़ का यह बताना आपको चकित कर सकता है कि दोनों समुदायों के बीच कोई सामाजिक सहकार नहीं था। वे एक दूसरे से दूर रहते थे और शायद ही उनके बीच कोई संवाद था।[37] मुसलमानों में यह एक आम अवधारणा थी कि पंडित जानबूझकर उन्हें नौकरी और शिक्षा से बाहर रखने के लिए कोशिशें करते हैं।[38] 1929 में उच्च शिक्षा के लिए नियत

12 वज़ीफ़ों में केवल 1 मुस्लिम छात्र को दिया गया तो 1931 में नॉर्मल स्कूलों में प्रशिक्षण के लिए दिये गए 205 वज़ीफ़ों में मुसलमानों को केवल 73 मिले।* ऐसे में स्वाभाविक था, मुस्लिम युवा उपेक्षित महसूस करते और अलग से अपनी माँगें उठाते। आख़िर जहाँ लगभग 96 फ़ीसद आबादी मुसलमानों की थी और लगातार वंचना तथा शोषण का शिकार थी, वहाँ प्रतिरोध के लिए धर्म के अलावा और क्या आधार बन सकता था?

आपको कश्मीर के इस दौर के इतिहास की किसी भी किताब में कई-कई पन्ने इन उदाहरणों से भरे मिलेंगे कि बाहरी, विशेष तौर पर लाहौर के प्रेस ने कैसे कश्मीर में 'साम्प्रदायिक उभार' में भूमिका निभाई। लाहौर के संगठनों—अहमदिया और अहरार आन्दोलनों की भूमिका पर भी लम्बी व्याख्याएँ मिलेंगी,** लेकिन इन सभी में इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है कि पंडितों ने 'कश्मीर कश्मीरियों के लिए' के आन्दोलन के समय भी बाहरी प्रेस का सहारा लिया था और आल इंडिया पीपुल्स कॉन्फ्रेंस सहित अनेक 'बाहरी' मंचों का सहारा ही नहीं लिया गया था बल्कि कश्मीर से बाहर बसे पंडितों ने इसमें अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाई थी। आख़िर जिस राज्य में प्रेस और राजनीतिक संगठन बनाने पर पाबन्दी हो, वहाँ आन्दोलनकारियों के पास और क्या रास्ता हो सकता था और जो रणनीति पंडितों के लिए सही थी, वह मुसलमानों के लिए ग़लत कैसे हो गई? जहाँ एक स्वर से लाहौर से निकलने वाले *ज़मींदार,**** *सियासत, इंक़लाब, अल्फ़ाज़* और *लाहौर क्रॉनिकल* जैसे अख़बारों को 'मुस्लिम प्रेस' कहा जाता है, वहीं लाहौर से ही निकलने वाले *मिलाप, अमर* और *गुरुघंटाल* को 'हिन्दू प्रेस' क्यों नहीं कहा जाना चाहिए? अगर देखा जाए तो दोनों में मौलिक फ़र्क़ बस इतना था कि जहाँ पहली श्रेणी के अख़बार महाराजा के ख़िलाफ़ थे और मुस्लिम नज़रिये से बात करते थे, वहीं दूसरी श्रेणी के अख़बार महाराजा के समर्थक और हिन्दू नज़रिये से बात करते थे। उदाहरण के लिए *मिलाप* की दो रिपोर्ट्स को देखा जा सकता है जिसमें वह शेख़ अब्दुल्ला को 'बदशक्ल व्यक्ति' कहता है जो सफाचट रहता है, पैंट पहनता है और बचा साका ढब की टोपी पहनता है। ऐसे ही कश्मीर में प्रचलित एक कैलेंडर में शेख़ को कश्मीर का गांधी कहा जाने पर उसकी टिप्पणी थी : इसे 'बचा साका' कहा जाना चाहिए—कश्मीर की शान्ति का विनाशक।[39] लेकिन जहाँ मुस्लिम साम्प्रदायिकता के प्रभाव पर बात की जाती है, वहीं हिन्दू

* ग्लांसी कमीशन की रिपोर्ट से

** पाठक प्रेमनाथ बज़ाज़ की *इनसाइड कश्मीर* या *द हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर: कल्चरल एंड पॉलिटिकल*, जियालाल किलाम, निर्मल सिंह आदि की पूर्वोद्धृत पुस्तकों के अलावा मेरी किताब *कश्मीरनामा : इतिहास और समकाल* में इसे बहुत विस्तार से पढ़ सकते हैं।

*** कश्मीर में 'ज़मींदार' का अर्थ किसान से है, जबकि उत्तर भारत में जिन्हें जमींदार कहा जाता है, उसके समानार्थी वहाँ जागीरदार है।

साम्प्रदायिक तत्त्वों की भूमिका पर अक्सर चुप्पी साध ली जाती है।* पैरी एंडरसन अपनी किताब *इंडियन आइडियोलॉजी* में उन दिनों के राष्ट्रीय आन्दोलन में जिस हिन्दूवादी प्रवृत्ति के गहरे प्रभाव की बात करते हैं, वह कम-से-कम कश्मीर के सन्दर्भ में साफ़ दिखाई देता है।

और 'कश्मीर कश्मीरियों के लिए' का नारा आख़िर सिर्फ़ कश्मीरी पंडितों के लिए तो नहीं हो सकता था? फिर अगर घाटी में 95 प्रतिशत और पूरे जम्मू-कश्मीर में 76 प्रतिशत आबादी वाले मुसलमान अगर नौकरियों में अपने लिए पचास फ़ीसदी आरक्षण की माँग कर रहे थे तो इसे साम्प्रदायिक माँग कैसे कहा जा सकता है? हालाँकि ग़ुलाम नबी गिलकर जैसे लोग भी थे जो इसे पूरी तरह धार्मिक मामला मानते थे और महाराजा को हटाकर कश्मीर में किसी मुस्लिम सुलतान की ताजपोशी के पक्षधर थे, लेकिन उस समय उनका प्रभाव कुछ ख़ास नहीं था।[10] उस दौर में *पयाम-ए-सदाक़त* नामक अख़बार में लिखे एक लेख 'हम क्या चाहते हैं' में शेख़ अब्दुल्ला का लिखा देखिए :

> हम इस धरती से ग़रीबी, बेरोज़गारी और अन्याय का ख़ात्मा करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि कोई किसी का ग़ुलाम न रहे और देश में शान्ति बनी रहे। हम धर्मों के बीच की समस्याएँ समाप्त करना चाहते हैं, ताकि राज्य में एक न्यायपूर्ण व्यवस्था चल सके। हम चाहते हैं कि महाराजा बहादुर का शासन मजबूत रहे जिससे बाहरी और भीतरी ख़तरों का सामना कर सके। राजा और प्रजा को पिता और पुत्र की तरह होना चाहिए। सभी को भाइयों की तरह रहना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब दमित मुसलमानों को भी उसी स्तर पर पहुँचाया जा सके जो अन्य भाइयों—पंडितों, डोगराओं और राजपूतों—ने हासिल किया है। हम चाहते हैं कि राज्य में महाराजा बहादुर का शासन जारी रहे।[11]

एक आदर्शवादी युवा के इस बयान में 'दमित मुसलमानों' को 'दलितों' से प्रतिस्थापित करके देखिए तो यह बयान आपको सोशल ज़स्टिस का उदाहरण लगेगा। अगर नहीं लगता है तो स्वाभाविक रूप में मूल बयान आपको साम्प्रदायिक लग सकता है। लेकिन यह तथ्य तो अपनी जगह रहेगा ही। अगर रंग दमन का कारण होगा तो रंगभेद के ख़िलाफ़ लड़ाई में एकता रंग के आधार पर होगी। जाति दमन का आधार होगी तो इसके ख़िलाफ़ संघर्ष में एकता का आधार जाति होगी। जेंडर दमन का आधार है तो फेमिनिज़्म ने उसे एकता का अधिकार बनाया। इसलिए धर्म के दमन का आधार होने पर यह स्वाभाविक था कि धर्म दमन के विरोध का आधार

---

* उदाहरण के लिए 1931 के आन्दोलन के कारणों की जाँच पर केन्द्रित अपने बेहतरीन शोध 'इमरजेंस ऑफ़ पॉलिटिकल अवेकनिंग' में यू.के. ज़ुत्शी आर्थिक कारणों से लेकर अंग्रेज़ों की साज़िशों के साथ-साथ मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर भी बात करते हैं लेकिन हिन्दू साम्प्रदायिक तत्त्वों की भूमिका पर कोई बात नहीं करते।

बनता और यह भी स्वाभाविक था कि साम्प्रदायिक विभाजन के गहराते जाने के उस दौर में साम्प्रदायिक ताक़तें उसमें हस्तक्षेप करतीं और उसका फ़ायदा भी उठातीं।

1931 का आन्दोलन : साम्प्रदायिक उभार या जन-आन्दोलन?

1931 का आन्दोलन कश्मीर के आधुनिक इतिहास का वह मोड़ है जहाँ से आख्यानों में स्पष्ट विभाजन दिखना शुरू हो जाता है। कश्मीरी पंडितों के तत्कालीन और ख़ास तौर पर नब्बे के बाद के आख्यानों में ही जुलाई, 1931 के महत्त्व और रेखांकन में काफ़ी फ़र्क़ आ जाता है। आप इसका अन्दाज़ा इस बात से भी लगा सकते हैं कि जहाँ कश्मीरी मुसलमान इसे 'शहीद दिवस' के रूप में मनाते रहे हैं, वहीं पंडितों ने इधर इसे 'काला दिवस' के रूप में मनाना शुरू कर दिया है। इन आख्यानों में वे सूत्र हैं जो इसके बाद कश्मीर में अलग-अलग तरह के राष्ट्रवाद के विकास और नब्बे का दशक आते-आते उस माहौल की पूर्वपीठिका बने जिसके चलते घाटी युद्धक्षेत्र में परिणत हो गई और पंडितों को बड़ी संख्या में पलायन करना पड़ा। यह आन्दोलन जितना इतिहास में है, उतना ही कश्मीर के मुसलमानों और पंडितों की सामूहिक स्मृतियों और अवधारणाओं में भी। इस विवेचना के पहले 1931 के घटनाक्रम को संक्षेप में देख लेते हैं।

अप्रैल में जम्मू में दो ऐसी घटनाएँ हुईं जिन्होंने कश्मीर में सतह के नीचे पल रहे असन्तोष को हवा दे दी और साथ ही धार्मिक प्रवृत्ति की होने के कारण ये घटनाएँ घाटी के मुसलमानों के लिए एक स्वर में आवाज़ उठाने का बहाना भी बनीं। पहली घटना 29 अप्रैल, 1931 को जम्मू में हुई। ईद के समारोह के दौरान जब इमाम ख़ुतबा पढ़ने लगे तो खेमचन्द नामक एक पुलिस अधिकारी ने उन्हें ऐसा करने से रोका, जबकि ख़ुतबा परम्परा से हमेशा इस मौक़े पर पढ़ा जाता था। मुसलमानों ने इसे अपने धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप क़रार दिया और विरोध प्रदर्शन शुरू हो गए। अभी इस मुद्दे की आग बुझी भी नहीं थी कि जुलाई में जम्मू की पुलिस लाइन में एक और घटना घटी। प्रेमनाथ बज़ाज़ बताते हैं कि एक हिन्दू हेड कांस्टेबल लाभोराम ने अपने अधीनस्थ एक मुस्लिम कांस्टेबल के समय से काम पर न आने के कारण उसका बिस्तर उठाकर फेंक दिया जिसमें उसके बिस्तर में रखा पंजसुरा (क़ुरान का एक हिस्सा) भी फिंक गया।[42] लेकिन ख़ुतबा वाली घटना पर सभी लेखक जहाँ एकराय हैं, वहीं इस घटना को लेकर पर्याप्त मतभेद है। हसनैन ने बिस्तर फेंकने की घटना का ज़िक्र न करते हुए मुस्लिम कांस्टेबल के नमाज़ पढ़ते समय हिन्दू हेड कांस्टेबल द्वारा क़ुरान (पंजसुरा नहीं) फेंके जाने की बात कही है।[43] एम.जे. अकबर ने लाहौर के आल कश्मीर मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के सालाना जलसे से लौटते युवाओं के आन्दोलन के दौरान एक कांस्टेबल के क़ुरान फेंकने की बात कही है।[44] शेख़ अब्दुल्ला ने अपनी

जीवनी में लिखा है कि लाभोराम ने अपने एक साथी के झोले से क़ुरान निकालकर फाड़ दी।[15] मृदु राय पुलिस विभाग की तत्कालीन पाक्षिक रिपोर्ट के हवाले से बताती हैं कि उस समय अफ़वाह थी कि एक हिन्दू पुलिस हेड कांस्टेबल ने अपने अधीनस्थ कांस्टेबल को नमाज़ पढ़ने से रोका और फिर क़ुरान का अपमान किया गया। लेकिन पाया गया कि घटना को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बयान किया गया है।[16]

ऐसा लगता है कि वे अफ़वाहें कभी नहीं थमीं। प्रेस और छापेखाने पर पूरी तरह से पाबन्दी के कारण लोगों ने जो जाना, वह अफ़वाहों या फिर पंजाब से छपने वाले हिन्दू/मुस्लिम अख़बारों से ही जाना। आज़ादी के पहले और बाद में भी प्रेस पर नियन्त्रण के कारण अफ़वाहों का कश्मीर में अलग ही महत्त्व है। कहा जाता है कि कश्मीर में ख़बर भले ग़लत हो जाए, अफ़वाहें सच होती हैं। तो अफ़वाहों का असर भी होना था और साम्प्रदायिक ताक़तों के लिए इसका फ़ायदा उठाना भी स्वाभाविक ही था। एक और तथ्य को यहाँ जान लेना आवश्यक है। गोलमेज़ सम्मेलन के दौरान हरि सिंह के भाषणों ने ब्रिटिश शासन को काफ़ी चौंकाया था। उन्होंने ख़ुद को पहला भारतीय ही नहीं बताया था बल्कि कुछ ऐसी बातें भी कही थीं जो ब्रिटिश शासन के लिए सहनीय नहीं थीं।[17] यही नहीं, अपने शासकीय व्यवहार में प्रताप सिंह से उलट ब्रिटिश रेज़िडेंसी को वह महत्त्व नहीं देते थे। ज़ाहिर है, अंग्रेज़ ऐसे व्यवहार से नाख़ुश थे। इधर सविनय अवज्ञा आन्दोलन से बाहर रहे साम्प्रदायिक मुस्लिम संगठन उन्हें कांग्रेस के ख़िलाफ़ अपने तत्कालीन सहयोगी के रूप में मिले थे। प्रेमनाथ बज़ाज़ सहित कई लेखकों का मानना है कि अपनी इसी नीति के तहत अंग्रेज़ों ने न केवल इस आन्दोलन को नियंत्रित करने में समुचित सहयोग ही नहीं दिया बल्कि जम्मू-कश्मीर में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा भी दिया। यह भी सच है कि देश के अनेक हिस्सों और ख़ास तौर पर पंजाब के विभिन्न संगठनों और अख़बारों ने इस आन्दोलन को भड़काने में अहम भूमिका निभाई। यह कहना बलराज मधोक या फिर उनके वैचारिक सहयोगियों के लिए बेहद सुविधाजनक भी है, लेकिन क्या यह उन अत्याचारों और साम्प्रदायिक नीतियों की उपस्थिति में सम्भव था जिसकी वजह से कश्मीरी मुसलमान ख़ुद को लगातार उपेक्षित, पीड़ित और हिन्दू आबादी के सम्मुख भेदभाव से ग्रसित व्यवहार का शिकार महसूस कर रहे थे? आख़िर इस सच को परदे के पीछे कैसे भेजा जा सकता है कि अंग्रेज़ों ने जिस चीज़ का फ़ायदा उठाया, वह थी—मुस्लिम समुदाय के प्रति राज्य की उपेक्षा और दमन की नीति?

जम्मू की ख़बर जब श्रीनगर पहुँची तो दीवारें 'इस्लाम ख़तरे में है' के नारे से पट गईं। जगह-जगह तक़रीरें होने लगीं जिनमें दोनों मीरवायज़ साथ आए और शेख़ अब्दुल्ला न केवल जनता को मंत्रमुग्ध कर देनेवाले एक शानदार वक्ता की तरह उभरे बल्कि इस प्रक्रिया में यह आन्दोलन कुलीन वर्ग के हाथ से निकलकर युवाओं तक पहुँच गया और घाटी के गाँवों-क़स्बों तक फैल गया। घटना में निर्णायक मोड़

तब आया जब हरि सिंह यूरोप यात्रा से लौट आए और उन्होंने मुस्लिम प्रतिनिधियों से सीधे बात करने का निश्चय किया। जम्मू के यंग मैन मुस्लिम एसोसिएशन की तरफ़ से मिस्त्री याक़ूब अली, सरदार ग़ौहर रहमान, चौधरी ग़ुलाम अब्बास और शेख़ अब्दुल हमीद को प्रतिनिधि चुना गया जबकि कश्मीर से प्रतिनिधि चुनने के लिए 21 जून, 1931 को इस आन्दोलन की सबसे बड़ी सभा ख़ानकाह-ए-मौला में बुलाई गई। इस ऐतिहासिक सभा में मीरवायज़ यूसुफ़ शाह भी शामिल हुए। किसी मीरवायज़, कश्मीर ने पहली बार ख़ानकाह-ए-मौला में प्रवेश किया था। इसमें शिया, सुन्नी, अहमदिया, हनफ़ी, वहाबी सहित मुस्लिम समाज के सभी तबके शामिल हुए। राष्ट्र के प्रति वफ़ादारी की कसमें खाई गईं और सात प्रतिनिधि चुने गए—मीरवायज़ मौलाना यूसुफ़ शाह, मीरवायज़ हमदानी, ख़्वाजा सैदुद्दीन शॉल, आग़ा सैयद हुसैन शाह जलाली, ख़्वाजा ग़ुलाम अहमद अशाई, मुंशी शहाबुद्दीन और शेख़ अब्दुल्ला।[48] इस बैठक के बाद प्रतिनिधियों ने सभा को सम्बोधित किया। मौलाना यूसुफ़ शाह ने मुसलमानों के तमाम हक़-ओ-हुक़ूक के लिए मिलकर काम करने का आह्वान किया तो शेख़ अब्दुल्ला ने अपने इस पहले सार्वजनिक राजनीतिक भाषण में मुसलमानों के साथ-साथ कश्मीर की हिन्दू जनता से भी अन्याय के ख़िलाफ़ इस संघर्ष में साथ आने की अपील की। सभा समाप्त होने ही वाली थी कि एक ऐसी घटना घटी जिसने इस आन्दोलन का चेहरा बदल दिया। अब्दुल क़ादिर नामक एक व्यक्ति अचानक मंच पर आया और उसने बेहद भड़काने वाला साम्प्रदायिक भाषण देते हुए 'इस्लाम ख़तरे में है' के नारे के साथ महाराजा के शासन को इस्लाम-विरोधी बताते हुए ईंट का जवाब पत्थर से देने की अपील की और ज्ञापनों तथा माँगपत्रों को बेकार की बात बताते हुए कहा कि पवित्र क़ुरान के अपमान का मसला ऐसी चीज़ों से हल नहीं हो सकता। मुसलमानों से अपने पैरों पर खड़े होकर हथियारों का मुक़ाबला लाठियों और पत्थरों से करने की अपील करते हुए उसने महाराजा के महल की ओर इशारा किया और कहा कि 'अन्याय, क्रूरता और ग़ुलामी के इस निशान को नेस्तनाबूद कर दो।'

उस माहौल में जब अभी राज्य की ओर से एक लाठी भी नहीं चली थी, महाराजा ने आन्दोलन से सीधी बातचीत का प्रस्ताव रखा था, इस तरह का भड़काऊ भाषण देनेवाला कौन था यह? अब्दुल क़ादिर? अक्सर उसे किसी अंग्रेज़ अधिकारी के ख़ानसामे के रूप में कश्मीर आए एक बाहरी व्यक्ति की तरह पेश किया जाता रहा है लेकिन हसनैन ने उसकी पृष्ठभूमि के बारे में विस्तार से लिखा है। श्रीनगर दंगा जाँच कमेटी के हवाले से वह बताते हैं कि अब्दुल क़ादिर दरअसल मौलाना अब्दुल क़ादिर ग़ाज़ी था जो पैन-इस्लामिक आन्दोलन के मौलाना जमाल-उद-दीन अस्तारबादी उर्फ़ अफ़ग़ानी से जुड़े पठान परिवार से सम्बद्ध था। अफ़ग़ानी रूस जाने से पहले कश्मीर होते हुए गया था।[49] इसलिए

बहुत सम्भव है कि अंग्रेज़ी, उर्दू, फ़ारसी और अरबी जाननेवाले अब्दुल क़ादिर का ब्रिटिश अधिकारी का ख़ानसामा बनकर कश्मीर में प्रवेश वहाँ उसकी योजना का हिस्सा था। और यह योजना उस समय पूरी होती भी नज़र आती है। अब्दुल क़ादिर के भाषण के बाद इस आन्दोलन का स्वरूप पूरी तरह से बदल गया। अब तक बातचीत के लिए प्रस्तुत हरि सिंह की सरकार ने इस भाषण को राजद्रोह की श्रेणी में रखते हुए 25 जून, 1931 को अब्दुल क़ादिर को गिरफ़्तार कर लिया। जब कोर्ट में सुनवाई शुरू हुई तो हज़ारों लोग एकत्र होने लगे। शान्ति व्यवस्था पर ख़तरे को भाँपते हुए ज़िला मजिस्ट्रेट ने कोर्ट की कार्यवाही जेल के भीतर करने और उसे कैमरे में रिकॉर्ड करने का निर्देश दिया और लोगों को वहाँ जमा होने से रोक दिया गया। महाराजा ने 9 जुलाई को जनता से शान्ति बनाये रखने के लिए राजनीतिक कार्यवाहियों को रोकने की अपील की लेकिन अगले ही दिन जामिया मस्जिद में एक विशाल सभा हुई जिसमें शेख़ अब्दुल्ला ने कहा कि अब्दुल क़ादिर इस्लाम की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं और उन्हें रिहा किया जाना चाहिए। 13 जुलाई, 1931 को श्रीनगर जेल के भीतर अब्दुल क़ादिर के मुक़दमे के दौरान प्रशासन ने बड़ी संख्या में पुलिस तैनात की। जेल के बाहर बड़ी संख्या में लोग एकत्र होकर अब्दुल क़ादिर की जगह ख़ुद को गिरफ़्तार करने के नारे लगा रहे थे। सेशन जज ने जब भीड़ को जाने के लिए कहा तो लोगों ने नमाज़ के बाद जाने की बात कही। ख़्वाज़ा अब्दुल ख़ालिक शोरा ने नमाज़ पढ़नी शुरू की तो उसी समय पुलिस ने पाँच लोगों को गिरफ़्तार कर लिया। अफ़रा-तफ़री मच गई और पुलिस ने फायरिंग शुरू कर दी। सबसे पहले मरने वाले थे ख़्वाज़ा अब्दुल खालिक़ शोरा। नारे तेज़ हो गए और कश्मीर के इतिहास में पहली बार पत्थरबाज़ी की घटना हुई। बदले में पुलिस ने लगातार गोलियाँ चलाईं, 22 लोग मारे गए और सैकड़ों लोग घायल हुए। शेख़ अब्दुल्ला ने इसकी तुलना जालियांवाला बाग़ कांड से की है। लेकिन भीड़ का ग़ुस्सा अब गोलियों ने दबने वाला नहीं था। *क्रूसिबल ऑफ़ कश्मीर* में प्रेमनाथ बज़ाज़ ने लिखा है कि मरनेवालों में से किसी की भी पीठ पर गोली नहीं लगी थी। भागने की जगह भीड़ जेल में घुस गई और वहाँ रखी चारपाइयों पर शवों को लेकर जामिया मस्जिद की तरफ़ चल पड़े।

यहीं से वह मोड़ शुरू होता है जहाँ से आधुनिक कश्मीर में आख्यानों की बायनरी शुरू होती है। इस बात पर तो सभी एकमत हैं कि रास्ते में तोड़-फोड़ और हिन्दू दुकानों की लूट की भी घटनाएँ हुईं। इतिहास में संख्याओं का अपना महत्त्व होता है और नहीं भी होता है लेकिन प्रोपेगेंडा में संख्या का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। अवधारणाएँ कैसे समय के साथ बनते-बनते रूढ़ हो जाती हैं, जुलाई, 1931 की यह परिघटना इसका बहुत सटीक उदाहरण है।

इस घटना में संख्याओं की राजनीति कश्मीर की राजनीति को और उसमें आए बदलावों को समझने में बहुत मददगार होगी।

हसनैन ने एक प्रत्यक्षदर्शी के हवाले से बताया है कि महाराजगंज में ऐसी घटना नहीं हुई, लेकिन शहर के दूसरे हिस्सों में बीस-बाईस दुकानें लूटी गईं। शेख़ अब्दुल्ला लिखते हैं कि आन्दोलनकारियों ने हिन्दू दुकानदारों से दुकानें बन्द कराने के लिए कहा और उनके मना करने पर असामाजिक तत्त्वों ने लूट-पाट की घटना को अंजाम दिया और बाद में स्थिति सामान्य होने पर लूट का माल बरामद करके दुकानदारों को लौटा दिया गया। रेज़िडेंट की तत्कालीन रिपोर्ट के अनुसार लूटपाट और आगजनी की घटना श्रीनगर के महराजगंज इलाक़े में हुई थी। प्रेमनाथ बज़ाज़ कहते हैं कि घर जलाए जाने, तोड़फोड़ और मारपीट की इन घटनाओं में तीन हिन्दू मारे गए और बड़ी संख्या में लोग घायल हुए। हालाँकि उनका मानना है कि यह काम जुलूस में शामिल कुछ गुंडा तत्त्वों द्वारा किया गया और बड़े नेताओं को ज्योंही यह ख़बर मिली, इस पर क़ाबू करने की कोशिशें की गईं।[50] उस घटना के समय कश्मीरी पंडित राजनीति में बेहद सक्रिय जियालाल किलाम के यहाँ इस घटना पर बस एक चलती-फिरती टिप्पणी है। उसी दौर में कश्मीरी पंडितों के मुद्दों पर किलाम के साथ ही लगातार बाहरी अख़बारों में लिख रहे और 1931 में 'ए.पी.आई.' और 'रायटर्स' के संवाददाता रहे ग्वाशालाल कौल 1963 में प्रकाशित अपनी किताब (संशोधित और संवर्धित संस्करण) में इस घटना को फ़ुटनोट में बस इतनी सी जगह देते हैं : 'लूट और आगजनी हुई (दो दिन बाद शहर में घूमते हुए इन पंक्तियों का लेखक भी इस ग़ुस्से का शिकार हुआ)।'[51] 1979 में छपी अपनी किताब में पृथ्वीनाथ टिक्कू भी लूट की घटनाओं का ज़िक्र करते हैं और मरनेवाले पंडितों की संख्या 3 तथा घायलों की संख्या 163 बताते हैं।[52] 1974 में छपी किताब में बलराज मधोक इस संख्या को 'हज़ारों' में पहुँचा देते हैं।[53] लेकिन नब्बे के दशक के बाद यह संख्या ही नहीं बढ़ती जाती बल्कि इस घटना का महत्त्व भी बढ़ता जाता है और यह जैसे नब्बे के दशक में हुए पंडितों के विस्थापन की पूर्वपीठिका भी बना दी जाती है। कश्मीर में मनाए जानेवाले 'शहीद दिवस' के बरअक्स यह 'काला दिवस' बन जाता है। *ए.एन.आई.* में 13 जुलाई, 2018 में छपे पनुन कश्मीर के बयान में इसे 'संगठित धार्मिक नरसंहार' कहा गया तो इसी बयान के *अमर उजाला* में छपे हिस्से में कहा गया : '13 जुलाई, 1931 को हिन्दुओं को खदेड़ने का काम शुरू हो गया। विचरनाग, महाराजगंज, हरि सिंह हाई स्ट्रीट, बोहरी कदल और कनीकोट में हिंसक घटनाएँ हुईं।' हिन्दू जनजागृति समिति की वेबसाइट पर छपे इस बयान में कहा गया है : '13 जुलाई, 1931 का दिन हिन्दू समुदाय और कश्मीर के महाराजा के ख़िलाफ़ अंग्रेज़ों के भड़कावे पर रचे गए बड़े षड्यंत्र का प्रतीक है और इसे जम्मू-कश्मीर मुस्लिम कॉन्फ्रेंस द्वारा अंजाम दिया गया था। इस दिन लूट, आगजनी और 'दर्ज़नों' हिन्दुओं की हत्या हुई। इस बयान में पूरा आख्यान

बदलते हुए कहा गया है कि 'हिन्दू समुदाय के ख़िलाफ़ बड़े पैमाने पर हुई हिंसा के चलते गोलीबारी हुई, जिसमें कुछ दंगाइयों को जान से हाथ धोना पड़ा।'[54] ख़ुद को मीडिया में कश्मीर एक्सपर्ट की तरह पेश करनेवाले सुशील पंडित भी इसी आख्यान को आगे बढ़ाते हुए 2015 में छपे एक लेख में इस संख्या को 'हज़ारों' पहुँचा देते हैं, लाखों की लूट की बात करते हैं और जेल परिसर में हुई गोलीबारी में मारे गए लोगों का तथ्य छिपा जाते हैं। वह दंगे का क्षेत्र 'बोहरी कदल से लेकर अली कदल तक' विस्तृत करते हैं और इसमें सफा कदल, गंजी, ख़ुद और नवा कदल को शामिल कर देते हैं।[55] 2014 में इसी दिन छपी ख़बर में पनुन कश्मीर के बयान में आमिर कदल का नाम भी उन जगहों में शामिल है जहाँ दंगे हुए। इन सभी बयानों में यह कहा गया कि '1931 के बाद से ही कश्मीरी हिन्दू इस दिन को काला दिवस के रूप में मनाते हैं।'

तथ्य यह है कि कश्मीर से जुड़ी किसी महत्त्वपूर्ण किताब में—चाहे वह किसी मुस्लिम लेखक की हो या फिर कश्मीरी पंडित की—तो छोड़िए, नब्बे के दशक के पहले की जितनी रिपोर्ट्स मैं देख पाया, उसमें इस दिन को 'काले दिवस' के रूप में मनाने का कोई ज़िक्र नहीं मिलता। ज़ाहिर है, अगर ऐसा हुआ भी होगा तो पंडितों के बहुत छोटे से किसी समूह में, बहुत छोटे स्तर पर ही, जिसे क़ाबिल-ए-ज़िक्र नहीं समझा गया होगा। हालाँकि आश्चर्यजनक यह है कि कश्मीर में सक्रिय रहे जनसंघी नेता बलराज मधोक की किताब में भी इसका ज़िक्र नहीं है! आख्यान को हिन्दू-मुस्लिम बायनरी में बाँटने का ही खेल है कि सामन्ती महाराजा को भी सिर्फ़ 'हिन्दू' में रिड्यूस कर दिया जाता है। आख़िर कौन-सा रजवाड़ा था जहाँ तत्कालीन राजाओं-सुल्तानों-नवाबों का विरोध नहीं हो रहा था? और हमने देखा है कि रजवाड़ों के आन्दोलनकारियों के संगठन 'आल इंडिया पीपल्स कॉन्फ्रेंस' के पहले सम्मेलन की सदारत भी एक कश्मीरी पंडित ने की थी और इसका सचिव भी एक कश्मीरी पंडित को ही चुना गया था। इस घटना के बाद भी अनेक कश्मीरी पंडित राजतंत्र के ख़िलाफ़ आन्दोलनरत रहे थे। वैसे एक और मज़ेदार बात यह है कि मधोक से लेकर सुशील पंडित तक इस आन्दोलन को 'मुस्लिम कॉन्फ्रेंस' का आन्दोलन बताते हैं, जबकि मुस्लिम कॉन्फ्रेंस का गठन इस घटना के तीन महीने बाद अक्टूबर में हुआ था![56] शायद रीडिंग रूम के आन्दोलनकारी कहने से इस साम्प्रदायिक बायनरी में कम वज़न पड़ता। लगातार इसे लाहौर के मुस्लिम कट्टरपंथियों के समर्थन के चलते साम्प्रदायिक कहते हुए यह तथ्य भुला दिया जाता है कि लाहौर की हिन्दू महासभा ने इस घटना पर बयान देते हुए न केवल इसकी भर्त्सना की थी बल्कि 'मुस्लिम प्रतिक्रियावादियों' का कारनामा बताते हुए भारत सरकार से इसके दमन तथा 'हिन्दू समुदाय को अपने प्रभावों का उपयोग कर अख़बारों में कश्मीर राज्य के ख़िलाफ़ प्रतिक्रियावादियों को बरहना करने की अपील' की थी। यही नहीं, महासभा ने इस मुद्दे पर आम सभाएँ भी की थीं और अपने जलसों में ऐसे अनेक बयान जारी किये थे।[57]

वैसे इसका दूसरा पक्ष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। जी.एच. ख़ान बताते हैं कि भीड़ को एक पंजाबी व्यापारी लाला भगत किशन चन्द ने बुरा-भला कहा और विवाद बढ़ा तो एक मुस्लिम तांगावाला मारा गया। इसके बाद भीड़ ने उसकी और उसके कुछ साथियों की दुकानें लूट लीं। पंडितों ने साथ दिया तो मामला बढ़ गया। इसके लिए वह स्रोत के रूप में *तारीख़-ए-हुर्रियात-ए-कश्मीर* (ले. पीर मोहम्मद अफ़ज़ल मख़्दूमी) का ज़िक्र करते हैं।[58] ख़ालिद अहमद बशीर अपनी किताब में साबित करते हैं कि ऐसा कुछ हुआ ही नहीं था बल्कि कश्मीरी पंडितों ने झूठी शिकायतें की थीं, अपना माल छिपाकर चोरी किया हुआ बता दिया था और कुछ मुसलमानों की भी हत्या हुई थी। इन सबको सिद्ध करने के लिए वह लाहौर के मुस्लिम अख़बारों को आधार बनाते हैं जबकि हिन्दू अख़बारों में छपी ख़बरों को पूरी तरह निराधार बताते हैं और इसकी काट में और कुछ नहीं, मुस्लिम अख़बारों को ही साक्ष्य की तरह प्रस्तुत करते हैं। फिर अन्ततः अब्दुल माजिद ज़रगर के कहे को अन्तिम सत्य की तरह प्रस्तुत करते हैं, जो न तो उस घटना के प्रत्यक्षदर्शी थे, न ही अपने इस दावे के पक्ष में कोई सबूत पेश करते हैं कि 'उस दिन कुछ भी नहीं हुआ था।' यही नहीं, वह शायद यह भूल जाते हैं कि 'कुछ होने' की ओर इशारा तो ख़ुद शेख़ अब्दुल्ला कर चुके हैं।[59] उनके लिए यह सुविधाजनक हो सकता है लेकिन कोई भी निरपेक्ष पाठक यह समझ सकता है कि दोनों ही तरफ़ के अख़बार उस दौर में भी अपने-अपने पक्ष को सही साबित करने के लिए तब भी वैसे ही अफ़वाह फैला रहे थे, जैसे आज दोनों तरफ़ की वकालत करनेवाले लेखक। तो 1931 की यह परिघटना अपने होने में जितनी महत्त्वपूर्ण है, उससे अधिक उस अवधारणा में है, जो कश्मीर में साम्प्रदायिक कशमकश बढ़ने के साथ रूढ़ ही नहीं हो गई बल्कि इतिहास के रूप में परोसी जा रही है।

वैसे इस घटना का एक और पक्ष है—यह इलाक़ा मूलतः कश्मीरी पंडित और पंजाबी हिन्दू व्यापारियों का था। ये व्यापारी सूद पर धन देने का धंधा भी करते थे और भीड़ ने वे काग़ज़ात लूटकर फाड़ डाले थे।[60] यहाँ यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि विचरनाग मूलतः छोटे कर्मचारियों और सूद पर क़र्ज़ देनेवाले पंडितों का इलाक़ा था। बाद में दलाल कमीशन को दिये गए बयान में वहाँ के एक निवासी कैलाश बट ने कहा कि 'दंगाइयों में मेरे कई क़र्ज़दार थे।' उन्होंने इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि क़र्ज़ सम्बन्धी काग़ज़ात पूरी तरह से नष्ट कर दिये जाएँ[61] और बाद में ग्लांसी कमीशन की जाँच में पाया गया कि डोगरा सेना द्वारा मुस्लिम दुकानदारों और कुलीनों के घर लूटे जाने की भी घटनाएँ हुई थीं।

प्रेमनाथ बज़ाज़ सहित ज़्यादातर समकालीन लेखकों का मानना है कि माहौल को सँभालने में डोगरा प्रशासन पूरी तरह नाकाम रहा। दलाल कमेटी ने पुलिस प्रमुख को

एक 'अयोग्य डोगरा' अधिकारी कहा।[62] दमन की कार्यवाहियाँ की गईं, शेख़ अब्दुल्ला सहित 6 प्रमुख नेताओं और हज़ारों आन्दोलनकारियों को जेल में डाल दिया गया। अगले 19 दिन कश्मीर में आम हड़ताल रही। कश्मीर में शहरों से लेकर गाँवों तक सैकड़ों विरोध सभाएँ आयोजित हुईं जिनमें महिलाएँ और बच्चे भी शामिल हुए। श्रीनगर से 26 मील दूर संगम में झेलम पर बना पुल जला दिया गया। हड़ताल ख़त्म कराने की सरकार की हर कोशिश बेकार हुई तो अन्ततः मीरवायज़ मोहम्मद यूसुफ़ शाह, ख़्वाज़ा नूर शाह नक़्शबन्दी, ग़ुलाम अहमद अशाई और मौलवी अब्दुल्ला वकील की सहायता ली गई। सरकार ने नेताओं की रिहाई के बदले उनसे भविष्य में राष्ट्रद्रोही कार्यवाहियों में न शामिल होने का लिखित आश्वासन माँगा। नेताओं के हौसले बढ़ चुके थे। उन्होंने लिखा—न्याय की माँग को विद्रोह नहीं कहा जा सकता। सरकार ने इसे ही काफ़ी माना और इक्कीस दिनों बाद शेख़ और अन्य लोगों को रिहा कर दिया गया। 14 जुलाई को ही इन घटनाओं की जाँच के लिए जस्टिस बरज़ोर दलाल की अध्यक्षता में तीन जजों की एक कमेटी बनाई गई। इसी दौरान मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद कश्मीर आए और शेख़ अब्दुल्ला से मुलाक़ात भी हुई। तेज बहादुर सप्रू ने भी कश्मीर आकर महाराजा से मुलाक़ात की और बड़ा दिल रखकर उदार तरीक़ों से इस आन्दोलन की माँगों पर विचार करने को कहा। महाराजा ने वेकफील्ड को हटाकर एक कश्मीरी पंडित राजा हरिकृष्ण कौल को कश्मीर का प्रधानमंत्री नियुक्त किया।

बाहरी हवाएँ, भीतरी बवंडर और बढ़ती दूरियाँ

कश्मीरी मुसलमानों के समर्थन में लाहौर में अल्लामा इक़बाल की सदारत में एक कमेटी बनाई गई और 14 अगस्त को कश्मीर दिवस घोषित कर देश भर में प्रोपेगेंडा शुरू कर दिया गया। कश्मीर में पूरे दिन की हड़ताल रही तो पंजाब की कई जगहों—सूरत, शिमला, दिल्ली और बम्बई—में आयोजन हुए। अगले दिन महाराजा से मिलकर एक ज्ञापन सौंपा गया जिसमें एक तरफ़ महाराजा के प्रति स्वामी-निष्ठा व्यक्त की गई तो दूसरी तरफ़ हिन्दू अधिकारियों और प्रधानमंत्री की शिकायतें दर्ज कराई गईं। कश्मीरी पंडितों ने इसकी तीखी आलोचना की और एक हिन्दू प्रधानमंत्री को हटाने तथा महाराजा को कमज़ोर करने की साज़िश बताया। अन्ततः सैयद सर नवाब मेहर अली के हस्तक्षेप से आन्दोलनकारियों और शासन के बीच अस्थायी सुलह हुई जिसमें आन्दोलनकारियों ने राज्य में निष्ठा व्यक्त करते हुए आगे आन्दोलन न करने का वादा किया और महाराजा ने आन्दोलन के दौरान गिरफ़्तार लोगों को रिहा करने तथा बर्ख़ास्त कर्मचारियों को बहाल करने का निर्णय लिया। कश्मीरी मुसलमानों के बड़े वर्ग ने इसे अपने नेताओं का समर्पण बताया तो पंडितों ने 'साम्प्रदायिक और गुंडा' तत्त्वों से सुलह करने तथा उनके समुदाय

की सलाह न लेने पर क्षोभ प्रकट किया।[63] उनके तीन प्रतिनिधियों ने महाराजा को एक ज्ञापन सौंपा। उनमें से एक प्रेमनाथ बज़ाज़ बताते हैं कि प्रधानमंत्री ने उसका जो जवाब दिया, उसमें इसी बात पर सवाल खड़े कर दिये गए कि ये तीनों लोग समुदाय के प्रतिनिधि हैं! अपनी ही बिरादरी के प्रधानमंत्री से यह उम्मीद तो नहीं ही रही होगी। पंडितों ने इसके ख़िलाफ़ आन्दोलन शुरू कर दिया तो उनके प्रमुख नेता कश्यप बन्धु को गिरफ़्तार कर लिया गया। हालाँकि आन्दोलन जल्द ही शान्त हो गया और प्रधानमंत्री ने अपना जवाब वापस लेते हुए कुछ छोटी-मोटी माँगें मान लीं। मुसलमानों ने इस घटना को पंडितों के छल की तरह लिया और पहले से ही साम्प्रदायिक माहौल और बदतर हो गया।[64] जी.एच. ख़ान इस दौरान कश्मीरी पंडितों द्वारा भड़काऊ भाषणों का ज़िक्र करते हैं लेकिन इसके लिए हाफ़िज़ मोहम्मद इस्माइल की किसी अप्रकाशित डायरी का उल्लेख करते हैं, जिसे ढूँढ़ और प्रमाणित कर पाना मेरे लिए सम्भव नहीं है।[65]

मुस्लिम समुदाय भी अस्थायी सुलह के अमल से सन्तुष्ट नहीं था। 21 सितम्बर को इस्लामिया हाई स्कूल के सालाना जलसे के लिए चन्दा इकट्ठा करते हुए शेख़ अब्दुल्ला को गिरफ़्तार कर लिया गया। माहौल फिर से तनावपूर्ण हो गया। 24 सितम्बर, 1931 को जो हुआ, उसे 13 जुलाई का दुहराव जैसा ही कहा जा सकता है। लोग बड़ी संख्या में देशी हथियार और मछली पकड़ने वाली बंसी लेकर सड़कों पर उतर गए। बंसी को कश्मीरी में नारचू कहते हैं और इसी के नाम पर इसे 'नारचू पलटन' कहा जाता है।[66] लेकिन पिछली ग़लतियाँ नहीं दुहराई गईं। किसी हिन्दू को कोई नुकसान पहुँचाना तो दूर बल्कि ज़रूरत पड़ने पर उन्हें सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाया गया और पोस्टर लगाये गए कि मुसलमानों की हिन्दुओं से कोई दुश्मनी नहीं है बल्कि हमारा जिहाद महाराजा के शासन के ख़िलाफ़ है।[67] हिन्दू दुकानदारों ने भी अपनी दुकानें बन्द रखीं। उन घटनाओं के चश्मदीद प्रेमनाथ बज़ाज़ का मानना है कि यह आन्दोलन सुनियोजित नहीं बल्कि स्वत:स्फूर्त था। लेकिन इससे शान्तिपूर्वक निपटने की जगह श्रीनगर में धारा 19-एल लगाकर व्यवस्था सेना को सौंप दी गई। यह क़ानून बर्मा सशस्त्र विद्रोह को दबाने के लिए बनाये गए एक क़ानून की तर्ज़ पर बना था। राज्य सेना को सौंप दिया गया, सिविल प्रशासन को भंग कर दिया गया। इस घटना की जाँच के लिए बनी मिडलटन कमेटी ने इस दौरान प्रदेश भर में भारी दमन के ब्यौरे दिये हैं। ग्यारह दिनों बाद 5 अक्टूबर को महाराजा के जन्मदिन पर यह धारा हटा दी गई, आम माफ़ी जारी की गई और दोनों पक्षों से अपनी माँगें रखने को कहा गया।

न केवल पंडितों बल्कि सिखों, डोगराओं और राजपूतों ने भी माँगपत्र भेजे। किलाम अपने माँगपत्र के एक हिस्से को उद्धृत करते हुए बताते हैं कि इस बीच पंडितों का नेतृत्व शेख़ अब्दुल्ला और बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद के सम्पर्क में था। इस

माँगपत्र में कहा गया था कि 'ये माँगें दूसरे समुदायों से अलग एकदम साम्प्रदायिक नहीं हैं। मुसलमानों से बहुत पहले उन्होंने प्रशासन के आधुनिकीकरण, विधानमंडल और स्वतंत्र प्रेस की माँग की थी। वे अपने राष्ट्रवाद से पीछे नहीं हट सकते। हाल में वे ज़्यादा नहीं बोलते रहे हैं क्योंकि 'मुसलमानों के अपने दावे पूरी तरह से साम्प्रदायिक आधारों पर और साम्प्रदायिक उद्देश्यों वाले हैं। कश्मीरी पंडित किसी भी अन्य समुदाय की ही तरह संवैधानिक सरकार के लिए उत्सुक हैं लेकिन वे उतना ही उत्सुक इस बात के लिए भी हैं कि इसकी संरचना साम्प्रदायिकता नामक कैंसर से ग्रस्त न हो।'[68] प्रेमनाथ बज़ाज़ इसका अगला हिस्सा उद्धृत करते हैं : 'हम नौकरियों के मामले में न्यायपूर्ण व्यवहार और किसी के प्रति कोई पक्षपात नहीं चाहते; सेना में पंडितों की भर्ती पर लगी रोक ख़त्म होनी चाहिए और उनके सभी शिक्षित बेरोज़गारों को नौकरी मिलनी चाहिए क्योंकि यह राज्य का फ़र्ज़ है कि काम करने के इच्छुक हर बालिग़ पुरुष को रोज़गार उपलब्ध कराए।'[69] इस माँग का एक और हिस्सा था जिसे वे दोनों छोड़ देते हैं : 'अपने देश को साम्प्रदायिक विवादों का अड्डा बनाये जाने की जगह हम स्वतंत्र प्रेस और प्रतिनिधित्व के अधिकार के लिए मंच के बिना काम चलाना बेहतर समझते हैं।'[70]

इस बयान में कई ऐसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं जो पंडितों की तत्कालीन मानसिकता को व्यक्त करते हैं। पहली तो यही कि मुसलमानों की हर माँग को 'साम्प्रदायिक' क़रार कर वे किसी तरह से नौकरियों में उनके लिए आरक्षण की मुख़ालिफ़त कर रहे थे। अगर पंडित समुदाय अपने लिए सेना में भर्ती और सभी बालिग़ युवाओं के लिए नौकरी की माँग को साम्प्रदायिक नहीं अपितु राष्ट्रवादी कह रहा था तो मुसलमानों की अपने लिए नौकरियों की माँग 'साम्प्रदायिक' कैसे हो सकती है? जियालाल किलाम द्वारा उद्धृत हिस्सा पढ़ते हुए आप मेरिट के उस गुरूर का एहसास कर सकते हैं जिसके चलते पंडित अवचेतन में नौकरियों और विशेषाधिकारों पर मुसलमानों के तुलना में अपने प्राधिकार का एहसास भरा हुआ था तो आख़िरी हिस्से में आप 1931 के आन्दोलन के बाद मुसलमानों के उभार से घबराए हुए मानस की उस आशंका को परिलक्षित कर सकते हैं जो एक प्रस्तावित विधानमंडल में बहुमत से डरकर महाराजा के शासन में अपने लिए विशेषाधिकार का आकांक्षी है।

मुसलमानों ने अपने माँगपत्र में प्रातिनिधिक विधानमंडल, धार्मिक स्वतंत्रता, प्रेस की आज़ादी, सभी नागरिकों को समान अधिकार, घाटी में सभी लोगों को जम्मू वालों की तरह ही हथियार रखने का अधिकार, महाराजा के प्रीवीपर्स पर नियंत्रण के साथ-साथ नौकरियों में भर्ती के लिए न्यूनतम योग्यता निर्धारित करने और मुसलमानों को सभी नौकरियों में सत्तर फ़ीसद आरक्षण देने की माँग थी। ऐसे ही सिखों ने अपने माँगपत्र में सेना में भर्ती के लिए राज्य उत्तराधिकार क़ानून न

लागू करने की माँग की थी। ज़ाहिर है, सभी समुदायों ने अपने-अपने लिए नौकरियों और सुविधाओं की माँग की थी जो स्वाभाविक भी था। इनमें से किसी को भी साम्प्रदायिक कहना उचित नहीं होगा।

इन सभी माँगों पर विचार करने के लिए 12 नवम्बर, 1931 को महाराजा ने बी.जे. ग्लांसी की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया। यह निर्णय अंग्रेज़ी सरकार के दबाव में लिया गया था और महाराजा भी शुरू में इसके समर्थन में नहीं थे। इसमें चार नॉन-ऑफिशियल सदस्य चुने गए—घाटी से ख़्वाजा जी.ए. अशाई और पंडित प्रेमनाथ बज़ाज़ तथा जम्मू से चौधरी ग़ुलाम अब्बास और लोकनाथ शर्मा। मुसलमानों ने अपने माँगपत्र में गोकशी के क़ानून और धर्म परिवर्तन करनेवाले हिन्दुओं को सम्पत्ति से बेदख़ल करनेवाले क़ानून का विरोध किया था जिसे हिन्दू समुदाय अपने धार्मिक मामलों में दख़ल बता रहा था। ग्लांसी आयोग ने इसे अपनी कार्यसूची में शामिल किया तो जम्मू में इसका काफ़ी विरोध हुआ।[71] इस समय तक हिन्दू महासभा के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. बी.एस. मुंजे कश्मीर में काफ़ी रुचि लेने लगे थे। आयोग को लिखे गए अपने पत्र में उन्होंने लिखा कि गो-हत्या क़ानूनों और हिन्दू उत्तराधिकार क़ानून के मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए क्योंकि यह केवल एक राज्य नहीं, पूरे देश का मामला है। 12 जनवरी को हिन्दुओं ने आयोग का पूर्ण बहिष्कार कर दिया और घाटी के पंडितों ने बज़ाज़ से बाहर आने के लिए कहा। बज़ाज़ तो नहीं माने लेकिन 23 जनवरी को शर्मा इससे बाहर आ गए और आयोग ने तीन ग़ैर-आधिकारिक सदस्यों के साथ ही अपनी कार्यवाही पूरी की। बज़ाज़ को पंडितों ने गद्दार घोषित कर अपना प्रतिनिधि मानने से इनकार कर दिया।[72] हालाँकि 22 मार्च को आयोग की जो रिपोर्ट आई, उसमें उत्तराधिकार क़ानून में कोई बदलाव नहीं किया गया। असल में लगता है कि पंडित यह मानकर चल रहे थे कि अंग्रेज़ों के दबाव में बना यह आयोग नौकरियों के मामले में उनकी नहीं सुनेगा। वह भीतर से जानते थे कि अपने बहुमत, उपेक्षा और पिछड़ेपन के कारण मुसलमानों की माँगें जायज़ थीं और ग्लांसी आयोग में उसे जगह मिलनेवाली थी। हुआ भी यही। इसी बीच कौल को हटाकर फ़रवरी, 1932 में महाराजा ने एक अंग्रेज़ लेफ्टिनेंट कर्नल ई.जे.डी. कॉविन को प्रधानमंत्री नियुक्त किया तो पंडितों का यह शक और मज़बूत हो गया कि कमीशन उनके ख़िलाफ़ काम करेगा।

हालाँकि आयोग ने मुस्लिम पूजास्थलों की मिल्क़ियत, बेगार, भूमि समस्या, औद्योगीकरण सहित अनेक मामलों पर अपनी संस्तुतियाँ दी थीं लेकिन असल बवाल नौकरियों को लेकर था। इस मामले में आयोग ने तीन प्रमुख संस्तुतियाँ कीं :

1. न्यूनतम योग्यता अनावश्यक रूप से बहुत ऊँची नहीं तय की जानी चाहिए।
2. सभी रिक्तियाँ प्रभावी तरीक़े से विज्ञापित की जानी चाहिए और ऐसा ही वज़ीफ़ों के लिए भी करना चाहिए।

3. इस बात के लिए प्रभावी प्रयास किये जाने चाहिए कि नियुक्तियों के लिए एक व्यवस्था हो और उसकी निगरानी के लिए एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि किसी समुदाय के हित प्रभावित न हों।[73]

महाराजा ने सिद्धान्त रूप में आयोग की संस्तुतियाँ स्वीकार कर लीं लेकिन पंडित समाज को यह अपने विशेषाधिकारों पर हमला लगा। उन्होंने सबसे बड़ा सवाल उठाया 'योग्यता' का। न्यूनतम अर्हता तय करने के ख़िलाफ़ उन्होंने तर्क दिया कि यह कैसे न्यायसंगत है कि एक ग्रैजुएट किसी पद पर न चुना जाए और हाई स्कूल पास इसलिए चुन लिया जाए कि न्यूनतम अर्हता दसवीं पास ही है? यहाँ दो तथ्य याद कर लिये जाने ज़रूरी हैं। पहला तो यह कि हमने देखा है कि डोगरा समुदाय के लगभग अनपढ़ लोगों को भी राज्य में अत्यन्त ऊँचे पदों पर बिठाया गया था और इसका कोई विरोध नहीं हुआ था। दूसरा तथ्य निर्मल सिंह देते हैं। वह बताते हैं कि ऐसे पदों पर भी मुसलमानों की संख्या बेहद कम थी जिनमें शैक्षणिक योग्यता की कोई ख़ास ज़रूरत नहीं थी। उदाहरण के लिए 1925-26 में राज्य के तीन जंगलात डिविज़नों में कुल 969 फ़ारेस्ट गार्ड थे जिनमें हिन्दुओं की संख्या 62.5 प्रतिशत और मुसलमानों की 30 प्रतिशत थी। कस्टम और एक्साइज़ विभाग में केवल 17 फ़ीसद मुसलमान थे। उच्च पदों पर तो योग्यता की बात फिर भी समझी जा सकती है लेकिन तीसरी-चौथी श्रेणी की नौकरियों में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व न होने को लेकर क्या तर्क दिया जा सकता है![74] निर्मल सिंह अपने शोध में स्वीकार करते हैं कि नौकरियों में मुसलमानों की भागीदारी उनकी योग्यता के बरअक्स भी कम थी।[75]

रोटी आन्दोलन : अलग राज्य की पहली माँग

पंडितों ने इसके ख़िलाफ़ आन्दोलन शुरू कर दिया। महाराजा के समक्ष एक माँगपत्र प्रस्तुत किया गया जिसमें मेरिट को सरकारी नौकरियों में भर्ती का आधार बनाये रखने, हिन्दुओं के लिए विशेष वज़ीफ़े और सुविधाएँ, खेती के लिए ज़मीन तथा कृषक का दर्जा, धर्मार्थ फंड का उनकी भलाई के लिए विस्तार, उनकी बेरोज़गारी की समस्या दूर करने के लिए उद्योगों की स्थापना, सरकारी स्कूलों में लड़कियों की शिक्षा के लिए हिन्दी को माध्यम के रूप में लागू करने, सरकारी ठेकों में उन्हें वरीयता देने, किसान सहायता क़ानून में बदलाव, पवित्र दिनों पर मांस की बिक्री पर रोक जैसी माँगें शामिल थीं।[76] जब इन माँगों को कोई तवज्जो नहीं मिली तो मई के महीने में 'रोटी आन्दोलन' शुरू किया। इस आन्दोलन में गांधीवादी तरीक़े अपनाए गए जिसमें दफ़्तरों में पिकेटिंग की जाती और नारा लगाया जाता कि हमारी रोटियाँ छिन गईं। वैसे मज़ेदार बात यह है कि

जम्मू में तो रोटी प्रमुख भोजन था लेकिन घाटी में रोटी कभी प्रचलन में नहीं रही और उनका मुख्य भोजन चावल ही रहा है। 5 मई को इसके डिक्टेटर पंडित कश्यप बन्धु को शीतलनाथ पर आपत्तिजनक भाषण देने के लिए गिरफ़्तार कर लिया गया। उसी दिन दामोदर भट्ट और वेदलाल वकील को भी गिरफ़्तार कर लिया गया। इसके बाद सभी हिन्दू दुकानदारों ने हड़ताल कर दी और जल्द ही इसमें पंडित छात्र भी शामिल हो गए। सचिवालय तथा अकाउंटेंट जनरल के दफ़्तरों के सामने प्रदर्शन किये गए तो इससे जुड़े छात्रों को कॉलेज से निकाल दिया गया। नतीजतन आन्दोलन और भड़क गया। 20 मई को छात्र सचिवालय, बिजली विभाग, खाद्य आपूर्ति विभाग, अकाउंटेंट जनरल आदि के दफ़्तरों में घुस गए और फ़ाइलों को तितर-बितर कर दिया तथा कर्मचारियों के काम में बाधा पहुँचाई। इन आन्दोलनकारियों को बेंत से पिटाई और कारागार की सज़ा मिली। आन्दोलन ढीला पड़ा तो बच्चों ने कमान सँभाली। 'बाल सभा' के बैनर तले छोटी उम्र के स्कूली पंडित बच्चों ने पूरे श्रीनगर में नारेबाज़ी और प्रदर्शन करने शुरू कर दिये। हालाँकि इस पर भी जल्द ही क़ाबू पा लिया गया और थाने में बिठाने तथा बेंतों से पिटाई जैसी सजाएँ दी गईं।[77] शेख़ अब्दुल्ला बताते हैं कि इस आन्दोलन के दौरान पंडितों के लिए कुलगाम इलाक़े में एक अलग राज्य की माँग के लिए महाराजा को पत्र लिखा गया था।[78] इस रूप में यह नब्बे के दशक के बाद शुरू हुए 'पनुन कश्मीर' की पूर्वपीठिका माना जा सकता है। वैसे एक पखवाड़े के भीतर ही यह आन्दोलन समाप्त हो गया और इसके नेताओं ने संवैधानिक तरीक़ों से सरकार के समक्ष अपनी माँगें रखने हेतु शपथ-पत्र प्रस्तुत कर दिया। इन माँगों में एक का ज़िक्र रोचक होगा। पंडितों ने माँग की थी कि सभी शिक्षित पंडितों को तीस साल की नौकरी की गारंटी दी जाए! तेज बहादुर सप्रू ने कश्यप बन्धु को लिखे पत्र में कहा :

> हालाँकि एक माँग ऐसी है जो एकदम नई है और मेरा ध्यान उस पर गया क्योंकि ऐसी माँग पहले कभी मेरे सामने नहीं आई है। एंग्लो-इंडियन समुदाय की तर्ज़ पर आप लोगों ने यह माँग की है कि आपको तीस साल के रोज़गार की गारंटी दी जाए। अब एंग्लो-इंडियन समुदाय की इस माँग पर सरकार जो भी करे लेकिन मैं आप लोगों को बताना चाहता हूँ कि आपकी इस माँग पर अन्य समुदायों की सहमति नहीं हो सकती। जहाँ तक मेरा सवाल है, मुझे यह माँग सैद्धान्तिक रूप से अनुचित लगती है और इसका पूरा होना बहुत मुश्किल है।[79]

यहाँ यह बात भी स्पष्ट होती है कि जहाँ शेख़ अब्दुल्ला और उनके साथी सहयोग के लिए अल्लामा इक़बाल सहित कश्मीर के बाहर के मुस्लिम समुदाय के पास जा रहे थे, तो वहीं पंडित तेज बहादुर सप्रू से लेकर हिन्दू महासभा तक के

पास। गौरतलब है कि इक़बाल और सप्रू, दोनों की जड़ें कश्मीर में थीं। इसे बाहरी लोगों की साज़िश के रूप में सरलीकृत करने की जगह हमें दोनों समुदायों की मानसिकता की रोशनी में देखना ज़्यादा मदद करेगा। एक तरफ़ उपेक्षा और शोषण का शिकार मुस्लिम समुदाय था जो अपनी बहुसंख्या के बावजूद जारी वंचना से मुक्ति के लिए राज्य के बाहर सहयोगियों की तलाश में था तो उस दौर में पंडितों के सबसे बड़े नेता कश्यप बन्धु हिन्दू सभा, पटना को लिखे पत्र में कह रहे थे :

> जिस तरह ग्लांसी आयोग हिन्दू धर्म को नुकसान पहुँचा रहा है, यह स्पष्ट है कि मुसलमानों को ख़ुश करने के लिए यह देश से हिन्दुत्व की जड़ें उखाड़ने के लिए मुतमईन है...आप लोग कृपया अपनी आवाज़ उठाकर पूरे हिन्दू समाज को आन्दोलित करें ताकि वे ग्लांसी आयोग की कार्यवाहियों के ख़िलाफ़ उठ खड़े हों।[80]

कभी अपनी विशिष्ट पहचान के संरक्षण के लिए अलग 'कश्मीरी पंडित' पहचान की माँग करनेवाले समाज का अपने रोज़गार के सबसे प्रमुख साधन शासकीय नौकरी के छिन जाने और सामाजिक प्रभुत्व के कम होते जाने के भय से ग्रस्त पंडित समाज की कश्मीर के बहुसंख्यक मुस्लिम समाज के बरअक्स ख़ुद को अखिल भारतीय बहुसंख्यक राष्ट्रीयता से जोड़ने की यह कोशिश आपको 1947 के बाद और फिर नब्बे के दशक के बाद और तेज़ दिखाई देगी। इसी तलाश में पंडित की जगह ब्राह्मण शब्द का प्रयोग फिर से दिखाई देना शुरू होता है। ऐसे ही कश्मीर यात्रा के समय मुझे हब्बा कदल के एक मकान पर 'ब्राह्मण महामंडल' का बोर्ड मिला जिसका स्थापना-वर्ष 1915 है।

हालाँकि ग्लांसी आयोग के ख़िलाफ़ इस आन्दोलन का कोई ख़ास असर नहीं हुआ लेकिन बज़ाज़ के ग्लांसी आयोग से बाहर न आने और उन जैसे अपेक्षाकृत प्रगतिशील युवाओं के असफल होने का सबसे बड़ा असर यह हुआ कि पंडितों का नेतृत्व इन रौशनदिमाग़ युवाओं के हाथ से निकलकर साम्प्रदायिक तत्त्वों के हाथ में आ गया।[81] दूसरी तरफ़ कट्टरपंथी और कुलीन मुस्लिम समाज शेख़ अब्दुल्ला से धीरे-धीरे दूर हो रहा था। मीरवायज़ (जामिया मस्जिद) के समर्थकों और शेख़ समर्थकों की उस दौर में शुरू हुई लड़ाई तो बहुत लम्बी चली जिसमें शेख़ समर्थकों को 'शेर' और मीरवायज़ के समर्थकों को 'बकरा' कहा गया। मीरवायज़ ने मुस्लिम कॉन्फ्रेंस से जल्द ही किनारा कर लिया। चूँकि मीरवायज़ मौलाना यूसुफ़ डोगरा राज के प्रति शेख़ की तुलना में अधिक सहृदय दिख रहे थे तो पंडितों का साम्प्रदायिक धड़ा उनके साथ खड़ा हुआ।[82] सहज ही था कि दोनों तरफ़ की दक्षिणपंथी ताक़तें इसका फ़ायदा उठातीं, तो कश्मीर हिन्दू महासभा से लेकर अहमदियाओं, अहरारों और मुस्लिम लीग तक के खेल का हिस्सा बना।

किलाम 'रोटी आन्दोलन' को कोई तवज्जो न देते हुए लिखते हैं कि इसके बाद

ब्राह्मण महामंडल का हब्बा कदल स्थित कार्यालय

मुसलमानों ने 'आल इंडिया मुस्लिम्स कॉन्फ्रेंस' गठित की और पंडितों ने 'पंडित कॉन्फ्रेंस।' शेख़ अब्दुल्ला ने मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के पहले जलसे की सदारत की और किलाम ने 'पंडित कॉन्फ्रेंस' की।[83] आश्चर्यजनक है कि 'पंडित कॉन्फ्रेंस' का अक्सर कोई ज़िक्र नहीं मिलता है। वह आगे बताते हैं कि शेख़ अब्दुल्ला ने 'पंडित कॉन्फ्रेंस' के जलसे में हिस्सा लिया था और उनके वक्तव्य से ख़ुश हो उन्हें माला पहनाकर स्वागत किया था। यहाँ रुककर मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के पहले सालाना जलसे में शेख़ अब्दुल्ला के भाषण का एक हिस्सा देख लेना बेहतर होगा :

> मुस्लिम कॉन्फ्रेंस साम्प्रदायिक संगठन नहीं है और इसका अस्तित्व राज्य में रहनेवाले सभी समुदायों के लिए फ़ायदेमन्द होगा। हमने आन्दोलन की शुरुआत में ही यह घोषणा की थी कि कश्मीरी आन्दोलन एक साम्प्रदायिक आन्दोलन नहीं है, बल्कि सारी जनता के परेशानियों को दूर करने के लिए है। मैं अपने हिन्दू और सिख भाइयों को यह आश्वस्त करना चाहता हूँ कि हम उनकी मुश्किलात को भी वैसे ही दूर करने के लिए तैयार हैं, जैसे हमने मुसलमानों की मुसीबतों को दूर किया है। हमारे देश की प्रगति तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम आपस में सद्भावपूर्वक न रहें। यह तभी सम्भव है जब हम एक दूसरे के अधिकारों का सम्मान करें।

असल में ऐसा लगता है कि इस पूरी सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया में दोनों पक्षों के युवा और तुलनात्मक रूप से प्रगतिशील तत्त्वों ने धीरे-धीरे यह महसूस करना शुरू कर दिया था कि राजशाही में उन्हें अपने पूरे हक़ कभी नहीं मिल सकते और बिना साझा संघर्ष के कोई बड़ी लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। जियालाल किलाम इसे 'राष्ट्रवाद का बीजारोपण' कहते हैं। इस प्रक्रिया में दोनों समुदायों के युवाओं का आपसी सहयोग और सहकार बढ़ता हुआ दिखता है जिसकी परिणति 6 साल बाद मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के नेशनल कॉन्फ्रेंस में तब्दील होने में होनी थी। लेकिन अभी कई इम्तहान बाक़ी थे।

संदर्भ

1. देखें, पेज 650, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* पृथ्वीनाथ कौल बमजाई, मेट्रोपालिटन बुक कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1962, एम.एफ़. हसनैन, पेज 35
2. देखें, पेज 571, द *ब्लेज़िंग चिनार,* शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : मोहम्मद अमीन, दूसरा संस्करण, गुलशन पब्लिकेशन, श्रीनगर, 2016
3. देखें, पेज 4, द *चिनार लीव्स : अ पॉलिटिकल मेमायर,* एम.एल. फोतेदार, हार्पर कॉलिन्स पब्लिकेशन इंडिया, 2015
4. देखें, पेज 236, *पाकिस्तान अथवा भारत का विभाजन,* डॉ. बी.आर. अम्बेडकर (अनु : धम्ममित्र सत्यप्रकाश), दूसरा संस्करण, सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
5. देखें, पेज 572, द *ब्लेज़िंग चिनार,* शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : मोहम्मद अमीन, दूसरा संस्करण, गुलशन पब्लिकेशन, श्रीनगर, 2016
6. देखें, पेज 344-45, खंड 1, *कश्मीरी फ़ाइट फ़ॉर फ्रीडम,* एम.वाय. सर्राफ़, पहला संस्करण, फेरोज़ूनो पब्लिशर, लाहौर, 1977
7. देखें, पेज 89-91, द *ट्रेजेडी ऑफ़ कश्मीर,* एच.एल. सक्सेना, नेशनलिस्ट पब्लिशर्स, दिल्ली, 1975
8. देखें, पेज 87-88, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, तीसरा संस्करण, 2011
9. देखें, पेज 53, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज इन कश्मीर,* डी.एन. धर, कनिष्क पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2001
10. देखें, पेज 5, द *वैली ऑफ़ कश्मीर,* वाल्टर लारेंस, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,लन्दन, 1895
11. देखें, पेज 171, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्जेक्ट्स,* मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, 2007

12. देखें, पेज 114, चित्रलेखा जुत्शी, *लैंग्वेज ऑफ़ बिलांगिंग : इस्लाम, रीज़नल आइडेंटिटी एंड मेकिंग ऑफ़ कश्मीर,* परमानेंट ब्लैक, दूसरा संस्करण, 2015
13. देखें, वही, पेज 104-05
14. देखें वही, पेज 112-13
15. देखें, पेज 97, के.एल. कल्ला, *एमिनेंट पर्सनालिटीज़ ऑफ़ कश्मीर,* डिस्कवरी पब्लिशिंग ग्रुप, नई दिल्ली, 1997
16. देखें, पेज 169, ब्रिज प्रेमी, *सम वेलनोन कश्मीरी पंडित्स इन लाहौर,* वितस्ता एनुअल नम्बर, कोलकाता, 2017
17. देखें, पेज 215, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003
18. देखें, पेज 98, के.एल. कल्ला, *एमिनेंट पर्सनालिटीज़ ऑफ़ कश्मीर,* डिस्कवरी पब्लिशिंग ग्रुप, नई दिल्ली, 1997
19. देखें, पेज 12, *कश्मीर, ट्रेल एंड ट्रावेल,* प्यारेलाल कौल, सुमन पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1996
20. देखें, पेज 308, *सोशियो इकॉनमिक हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* गुलशन पब्लिशर्स, पी.एन.के. बमजाई, श्रीनगर, 2007
21. देखें, पेज 244-51, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्ज़ेक्ट्स,* मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, 2007
22. देखें, पेज 82-83, *इंटर-कम्यूनल रिलेशंस इन जम्मू एंड कश्मीर,* निर्मल सिंह, जे.के. बुक हाउस, जम्मू, 1991
23. देखें, पेज 166, चित्रलेखा जुत्शी, *लैंग्वेंज ऑफ़ बिलांगिंग : इस्लाम, रीज़नल आइडेंटिटी एंड मेकिंग ऑफ़ कश्मीर,* परमानेंट ब्लैक, दूसरा संस्करण, 2015
24. देखें, पेज 450, *कश्मीर'स फ़ाइट फ़ॉर फ्रीडम,* खंड, 1, मोहम्मद यूसुफ़ सर्राफ़, फेरोज़ोनो लिमिटेड, लाहौर, 1977
25. देखें, http://www.indiandefencereview.com/spotlights/why-kashmiri-pandits-became-the-targets-of-islamists/ (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
26. देखें, पेज 100-101, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1980
27. देखें, पेज 223, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003
28. देखें, *सेंसस ऑफ़ इंडिया,* 1931 के भाग-1 एक के वाल्यूम XXIV के पेज 257, 161 और 224 (यहाँ चित्रलेखा ज़ुत्शी की पूर्वोद्धृत पुस्तक के पेज 158 से)

29. देखें, पेज 21, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर*, एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
30. देखें, पेज 17, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार*, शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
31. देखें, पेज 36, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर*, एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
32. देखें, पेज 148, द *हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर : कल्चरल एंड पॉलिटिकल*, प्रेमनाथ बज़ाज़, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, 1954
33. देखें, पेज 102-03, *इनसाइड कश्मीर*, प्रेमनाथ बज़ाज़, द कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, श्रीनगर, 1941
34. देखें, पेज 37, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर*, एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
35. देखें, द *हिस्ट्री ऑफ़ स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर : कल्चरल एंड पॉलिटिकल*, प्रेमनाथ बज़ाज़, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, 1954
36. देखें, पेज 245, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्जेक्ट्स*, मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, 2007
37. देखें, पेज 98, *इनसाइड कश्मीर*, प्रेमनाथ बज़ाज़, गुलशन पब्लिशर्स, तीसरा संस्करण, श्रीनगर, 2011
38. देखें, वही, पेज 99
39. देखें, पेज 321, *कश्मीर : एक्स्पोज़िंग द मिथ बिहाइंड द नैरेटिव*, ख़ालिद बशीर अहमद, सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017
40. देखें, पेज 40, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर*, एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
41. वही
42. देखें, पेज 120-21, *इनसाइड कश्मीर*, प्रेमनाथ बज़ाज़, द कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, श्रीनगर, 1941
43. देखें, पेज 40, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर*, एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
44. देखें, पेज 70, *कश्मीर बिहाइंड द वेल*, एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, दिल्ली, 2002
45. देखें, पेज 21, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार*, शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
46. देखें, पेज 258, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्जेक्ट्स*, मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, 2007

47. देखें, पेज 154, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर,* पी.एन.के. बमजाई, मेट्रोपोलिटन बुक कम्पनी, दिल्ली, 1962
48. देखें, पेज 21, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार,* शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
49. देखें, पेज 43, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर,* एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1988,
50. देखें, पेज 132-33, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, द कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, श्रीनगर, 1941
51. देखें, पेज 126, *कश्मीर थ्रू द एजेज़,* ग्वाशा लाल कौल, क्रॉनिकल पब्लिशिंग हाउस, श्रीनगर, 1963
52. देखें, पेज 110, *स्टोरी ऑफ़ कश्मीर,* पृथ्वीराज टिक्कू, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1979
53. देखें, पेज 33, बलराज मधोक, *बंगलिंग इन कश्मीर,* हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1974
54. देखें, https://www.hindujagruti.org/news/111409.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
55. देखें, https://www.dailyo.in/politics/july-13-jammu-and-kashmir-kashmiri-pandits-martyrs-day/story/1/4963.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
56. देखें, पेज 118, *स्टोरी ऑफ़ कश्मीर,* पृथ्वीराज टिक्कू, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1979
57. देखें, पेज 185-86, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, दिल्ली, 1980
58. देखें, वही, पेज 132-33
59. देखें, पेज 129-133, *एक्स्पोज़िग द मिथ बिहाइंड द नैरेटिव,* ख़ालिद अहमद बशीर, सेज, दिल्ली, 2017
60. देखें, पेज 259, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्ज़ेक्ट्स,* मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली-2007
61. देखें, पेज 580, चित्रलेखा जुत्शी, *लैंग्वेंज ऑफ़ बिलांगिंग : इस्लाम, रीज़नल आइडेंटिटी एंड मेकिंग ऑफ़ कश्मीर,* परमानेंट ब्लैक, दूसरा संस्करण, 2015
62. देखें, पेज 110, *स्टोरी ऑफ़ कश्मीर,* पृथ्वीराज टिक्कू, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1979
63. देखें, पेज 139-152, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1980

64. देखें, पेज 144-45, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, द कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, श्रीनगर, 1941
65. देखें, पेज 152-153, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1980
66. देखें, पेज 111, *स्टोरी ऑफ़ कश्मीर,* पृथ्वीराज टिक्कू, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1979
67. देखें, पेज 155, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1980
68. देखें, पेज 226, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1951, संशोधित संस्करण, 2003
69. देखें, पेज 168, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, द कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, श्रीनगर, 1941
70. देखें, पेज 186, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1980
71. देखें, पेज 169, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, द कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, श्रीनगर, 1941
72. देखें, पेज 130, *स्टोरी ऑफ़ कश्मीर,* पृथ्वीराज टिक्कू, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1979
73. देखें, बज़ाज़, 171-76 और ख़ान, 186-90
74. देखें, पेज 196-97, *इंटर कम्यूनल रिलेशंस इन जे. एंड के.,* निर्मल के. सिंह, जे.के. बुक हाउस, जम्मू, 1991
75. देखें, वही, पेज 196-97 और 241
76. देखें, पेज 279, *ट्रेजेडी ऑफ़ कश्मीर,* एच.एल. सक्सेना, नेशनलिस्ट पब्लिशर, दिल्ली, 1975, जी.एच. ख़ान, पेज 190
77. देखें, पेज 190-92, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइट एंड लाइफ़ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1980
78. देखें, पेज 571, *द ब्लेज़िंग चिनार,* शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : मोहम्मद अमीन, दूसरा संस्करण, गुलशन पब्लिकेशन, श्रीनगर-2016
79. देखें, वही, पेज 193
80. देखें, पेज 276-77, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्जेक्ट्स,* मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली-2007 में उद्धृत
81. देखें, पेज 174, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, द कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, श्रीनगर, 1941

82. देखें, पेज 269, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्जेक्ट्स,* मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, 2007

83. देखें, पेज 227, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी पंडित्स,* जियालाल किलाम, उत्पल पब्लिकेशन, दिल्ली, (प्रथम संस्करण, 1951) संशोधित संस्करण, 2003

अध्याय-6

संक्रमण काल में पंडित समाज

[1934-1947]

> कुछ मुसलमान यह ग़लत सोच रखते हैं कि राज्य में रहनेवाले सभी 8 लाख ग़ैर-मुस्लिम ऐश-ओ-आराम की ज़िन्दगी जीते हैं। असल में, उनमें से कुछ हज़ार ही अमीर हैं बाक़ी सभी आपकी ही तरह एक ग़ैर-ज़िम्मेदार सरकार के हाथों भारी करों, ऋणों और भुखमरी के मारे हुए हैं। हम केवल 80 लाख मुसलमानों के लिए ज़िम्मेदार सरकार की माँग नहीं कर रहे,बल्कि प्रदेश की सौ प्रतिशत जनता के लिए हमारी यह माँग है। इस तरह मैं बीस प्रतिशत सिख, हिन्दू, बौद्ध और दलित जातियों को इस संघर्ष में साझेदारी के लिए आमंत्रण देता हूँ।[1]
>
> —शेख़ अब्दुल्ला 1938 में

तूफ़ान ठहरने के बाद का मंज़र यों तो बड़ा साफ़ लगता है लेकिन धूल और गर्द की एक परत-सी जम जाती है और तेज़ हवा और बारिश देखने की अभ्यस्त आँखों को यह शान्ति-भरा दृश्य देखने के लिए फिर से समायोजन करना होता है। 1932 कश्मीर के इतिहास में ऐसे ही एक तूफ़ान की तरह से आया था जिसने वहाँ के सामाजिक-राजनीतिक जीवन को हिलाकर रख दिया था। अपनी अत्यल्प आबादी के बावजूद पंडितों ने घाटी के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अपनी मेधा और राज्यसत्ता के अनुरूप ढलने की क्षमता से जो असर बनाया था, यह तय था कि अब वह लम्बे समय तक जारी नहीं रह सकता था; न ही यह सम्भव था कि खेती-किसानी में लगा मुस्लिम समुदाय दासता के उस भाव में सदा-सर्वदा रहता जिसका वर्णन जी.एच. ख़ान जैसे लोगों ने किया है। जिस दौर में भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के ख़िलाफ़ फ़ैसलाकुन लड़ाई लड़ी जा रही थी, रूस में क्रान्ति हो चुकी थी और दुनिया भर में सामन्ती तथा औपनिवेशिक सत्ताओं से मुक्ति-संघर्ष चल रहा था, यह सम्भव ही नहीं था कि कश्मीर में यह व्यवस्था अनन्तकाल तक बनी रहती। शेख़ अब्दुल्ला के नेतृत्व में हुआ यह कि कश्मीर में मुसलमानों का नेतृत्व कुलीन मीरवायज़ और जागीरदारों के हाथ से निकलकर शेख़, बख़्शी और सादिक़ जैसे उन युवाओं के हाथ में आ गया जो ख़ुद उस जनता के बीच से आए

थे और जिनका कोई राजनीतिक प्रशिक्षण भी नहीं था। बीसवीं सदी के पहले दशक में शिक्षा के प्रसार के चलते मुस्लिम समाज में जो एक नया मध्यवर्ग पैदा हुआ था, उससे निकले ये युवा स्वाभाविक रूप से परिवर्तन के वाहक थे। डोगरा शासन जहाँ छोटे से कुलीन मुस्लिम वर्ग को आसानी से सन्तुष्ट रख सकता था, वहीं इस मध्यवर्ग की आकांक्षाएँ पूरा कर पाना उसके लिए सम्भव नहीं था और इस नये नेतृत्व ने अपना समर्थन उन किसानों और श्रमिकों में तलाशा जो हिन्दू और मुस्लिम, दोनों तरह के कुलीन वर्ग के लिए अब तक अस्पृश्य थे। इस पूरी प्रक्रिया में धर्म एक बड़ा तत्त्व था। एक तरफ़ यह एक 'जोड़नेवाला तत्त्व' बना क्योंकि कश्मीर में शासक भी हिन्दू था और शासन के वे कारिंदे भी, जो शोषण के तंत्र का औज़ार बनते थे। दूसरी तरफ़, केवल मुसलमानों को साथ लेकर चलते हुए यह मुक्तिसंघर्ष जीता नहीं जा सकता था। देखा जाए तो ये दो पहलू एक-दूसरे के प्रति विरोधाभास भी पैदा करते हैं। कश्मीर में सहयोग के लिए यह नया मुस्लिम नेतृत्व कश्मीरी पंडितों की ओर ही जा सकता था और ऐसा करते ही ज़रूरी था कि वह एकता के आधार को धर्म से बदलकर सामन्ती और औपनिवेशिक शासन से मुक्त करता। हालाँकि शेख़ अब्दुल्ला ने 1931 के आन्दोलन से पहले भी हिन्दुओं से साथ आने की अपील की थी[2] जिसे 1938 के मुस्लिम कॉन्फ्रेंस में और स्पष्टता से दुहराते हुए उन्होंने हिन्दू और मुस्लिम प्रतिक्रियावादी वर्गों को एक-सा बताते हुए दमनकारी सत्ता के ख़िलाफ़ मुक्ति की आकांक्षा रखनेवाले हिन्दुओं और सिखों के एक साथ आने की ज़रूरत पर बल दिया था[3] और हम नेशनल कॉन्फ्रेंस के गठन से पहले ही हिन्दुओं और सिखों के एक हिस्से का इस नेतृत्व के साथ सहकार देखते भी हैं।[4]

लेकिन इतनी सीधी लगनेवाली यह प्रक्रिया इतनी सीधी थी नहीं। एक तरफ़ तो परम्परागत नेतृत्व इतनी आसानी से अपना दावा छोड़नेवाला था नहीं, दूसरी तरफ़ यह उम्मीद थोड़ी ज़्यादा ही कही जाएगी कि ग्लांसी आयोग की रिपोर्ट के बाद अपने विशेषाधिकारों और नौकरियों के खोने के भय से आक्रामक हुआ पंडित समाज मुसलमानों के साथ कोई साझा मोर्चा बनाता। यही नहीं, धर्म के शेर की सवारी के अपने नियम होते हैं। इस पर चढ़ना तो आसान नहीं ही है, उतरना और भी मुश्किल। शुरुआत में पंडितों को अपने संघर्ष में साथ आने की अपील करनेवाले शेख़ ने अपनी अपील का कोई असर न होने के बाद 1931-32 के दौरान पूरी तरह से कश्मीरी पंडित विरोधी रुख़ अपनाया था। गाँवों में कश्मीरी पंडितों के प्रभुत्व के ख़िलाफ़ संघर्ष चलाते हुए यह स्वाभाविक भी था। उस दौर के उनके बयानों में पंडितों को मुसलमानों का दुश्मन, साँपों से भी अधिक ख़तरनाक बताया गया तो एक भाषण में उन्हें बाहर निकालने और जनता से उनसे बदला लेने की बात भी थी।[5] इसलिए जब 1935 के आसपास उनके सुर बदलते हैं तो एक तरफ़ पंडितों के लिए उन पर भरोसा करना आसान नहीं था तो दूसरी तरफ़ शेख़ के प्रतिद्वंद्वी

नेतृत्व के लिए भी मुस्लिम अवाम को यह समझाना आसान था कि शेख़ बदल रहे हैं। वैसे भी एकताएँ कभी व्यक्तियों की सदिच्छाओं से नहीं होती, वे अगर होती हैं तो ठोस सामाजिक-राजनीतिक हक़ीक़तों के चलते।

उधर देश में कांग्रेस और मुस्लिम लीग की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं से भी कश्मीर बहुत दिनों तक दूर नहीं रह सकता था। ख़ास तौर पर मुस्लिम बहुमत के चलते मुस्लिम लीग के लिए तो कश्मीर बेहद महत्त्वपूर्ण था ही। तो इन सब चक्रव्यूहों से गुज़रती कश्मीरी राजनीति ने वे समीकरण बनाये जिनकी छायाओं, प्रतिछायाओं से भारत, पाकिस्तान और ख़ुद कश्मीर आज तक मुक्त नहीं हो पाया है।

बड़ा संघर्ष और साथ आने की ज़रूरत

1934-38 का दौर नवगठित मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के लिए ग्लांसी आयोग की सिफ़ारिशों को लागू कराने का दौर था। इस दौर में ग्लांसी आयोग में हिन्दुओं के प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुए और फिर उनकी अपील के बावजूद आयोग से बाहर आने से इनकार करके जात-बाहर हुए पंडित प्रेमनाथ बज़ाज़, दोनों समुदायों के बीच पहली कड़ी बने। मज़ेदार यह है कि जहाँ उस समय ग्लांसी आयोग में उनकी भूमिका के चलते उन्हें पंडित-बहुल इलाक़े से अपना घर छोड़ना पड़ा, शारीरिक हिंसाएँ झेलनी पड़ीं, वहीं ख़ास तौर पर नब्बे के दशक के बाद से उनसे नफ़रत करनेवाले ऐसे मुस्लिम कट्टरपंथियों की कोई कमी नहीं जो उन्हें मुस्लिम कॉन्फ्रेंस को नेशनल कॉन्फ्रेंस में बदलवाकर मुस्लिम आन्दोलन को तोड़ने का इलज़ाम लगाते हैं।[6] लेकिन उस दौर में दोनों समुदायों के बीच बने सहकार के बेहद वस्तुनिष्ठ कारण थे। पहली बात तो यही कि ग्लांसी आयोग की सिफ़ारिशें जिस तरह लागू हुईं, उससे न तो राज्य प्रशासन में प्रभावी रूप से मुसलमानों का कोई प्रभुत्व स्थापित किया,[7] न ही इन सिफ़ारिशों के बाद नौकरी में आए मुस्लिम कर्मचारियों/अधिकारियों का आम जन के प्रति व्यवहार किसानों तथा आम मुसलमानों को राहत दिलाने वाला था। वे भी अपने पूर्ववर्ती पंडितों की तरह भ्रष्ट और शोषक साबित हुए।[8] जनता एक छोटे से वर्ग के नौकरी में आ जाने या फिर साहबों/मातहतों का धर्म बदल जाने भर से सन्तुष्ट नहीं हो सकती थी। उसकी आकांक्षाएँ अब बढ़ चुकी थीं और अब वह ठोस परिवर्तन चाहती थी जो उनके जीवन में बदलाव ला सके।

प्रजा-सभा इसकी एक बड़ी वाहक हो सकती थी लेकिन बहुत जल्द यह स्पष्ट हो गया कि उससे जिस प्रातिनिधिक मंच की उम्मीद थी, वह उसे पूरा करने में सभा पूरी तरह से अक्षम थी। इस सभा में सारे कार्यकारी अधिकार महाराजा के पास थे। कुल 75 सदस्य होने थे जिनमें से केवल 33 सदस्य सीधे जनता द्वारा चुने जाने थे, 12 आधिकारिक सदस्य होने थे और 30 सदस्य महाराजा द्वारा मनोनीत। धार्मिक

प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त से इन 33 सदस्यों में से 21 मुसलमान, 10 हिन्दू और 2 सिख प्रतिनिधि होने थे, लेकिन स्पष्ट है कि बहुमत मनोनीत और आधिकारिक सदस्यों का ही था। यही नहीं, इन चुनावों में वोट देने का अधिकार भी सिर्फ़ पढ़े-लिखे या 400 रुपये प्रति वर्ष से अधिक की आयवाले पुरुषों तक ही सीमित था। इस तरह 90 प्रतिशत से अधिक कश्मीरी जनता इस प्रजा-सभा के परिक्षेत्र से बाहर थी।[9] ज़ाहिर है कि इस प्रजा-सभा के लिए मुस्लिमों के लिए आरक्षित 19 सीटें जीतने* के बावजूद अपनी मर्ज़ी का कोई फ़ैसला करवा पाना असम्भव था। इसके लिए उन्हें शेष चुने हुए सदस्यों की सहायता की ज़रूरत थी। वैसे प्रजा-सभा के भीतर एक मंच पर साथ होने से एक फ़ायदा यह भी हुआ कि इन अलग-अलग धार्मिक समुदाय के प्रतिनिधियों की मेल-मुलाक़ात सम्भव हुई और एक संवाद स्थापित हुआ।[10] सिख प्रतिनिधि सरदार बुध सिंह के आमंत्रण पर शेख़ अब्दुल्ला उनके साथ जम्मू गए और वहाँ हिन्दुओं और सिखों के जीवन को क़रीब से देखा। उनकी इस यात्रा पर टिप्पणी करते हुए सरदार बुध सिंह ने अपनी किताब *जागीरशाही का पोस्ट मार्टम* में लिखा है कि जब शेख़ साहब ने वहाँ मुस्लिमों और ग़ैर-मुस्लिमों की दुर्दशा देखी तो उनकी आँखों में आँसू आ गए और उन्होंने कहा कि वह सभी शोषितों के साथ खड़े होंगे तथा नेशनल कॉन्फ्रेंस की स्थापना करेंगे।[11]

1935 की शुरुआत से ही इसके असर दिखने लगे। मुस्लिम कॉन्फ्रेंस ने उन पंडितों से सम्बन्ध सुधारने का निर्णय लिया, जो उनके संघर्ष में साथ आ सकते थे और इस तरह सभी धर्मों को साथ लेकर डोगरा राज के ख़िलाफ़ संघर्ष छेड़ना तय हुआ। शेख़ अब्दुल्ला ने इसी के तहत लोगों को शिक्षित करने के लिए प्रेमनाथ बज़ाज़ के साथ मिलकर नई मिली प्रेस की आजादी का लाभ उठाकर 'हमदर्द' नामक अख़बार निकालना शुरू किया। इसका लोकार्पण प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता सैफ़ुद्दीन किचलू ने किया। अपने भाषण में उन्होंने धर्म और राजनीति के घालमेल की निन्दा की और हिन्दू-मुस्लिम एकता की अपील। इस तरह घाटी में पहली बार कांग्रेस की विचारधारा पहुँची और *हमदर्द* इसका मुखपत्र बना।[12] साल भर के बहस-मुबाहिसे के बाद नवम्बर, 1935 में श्रीनगर में हुए मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के सालाना जलसे में सरदार बुध सिंह, जियालाल किलाम और प्रेमनाथ बज़ाज़ को न्योता भेजा गया। इस जलसे में सदर चुने गए जम्मू के नेता और कॉन्फ्रेंस में शेख़ के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण माने जानेवाले ग़ुलाम मोहम्मद अब्बास ने सिखों और हिन्दुओं से पुरानी कड़वाहट भुलाकर राज्य के लोगों के आर्थिक और राजनीतिक हित की लड़ाई में मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के साथ आने की अपील की।[13]

सिखों और पंडितों के एक हिस्से ने इस पहल का स्वागत किया। 1931 के आन्दोलन के बाद बाहर से मिलनेवाले समर्थन का उत्साह आन्दोलन के ख़त्म

* मुस्लिम कॉन्फ्रेंस ने 20 सीटों पर उम्मीदवार खड़े किये थे लेकिन एक का पर्चा तकनीकी आधार पर ख़ारिज हो गया था।

होने के साथ धीरे-धीरे ख़त्म हो चुका था और दोनों पक्ष जानते थे कि उन्हें ही साथ रहना सीखना है। एक-तिहाई आबादी वाले हिन्दुओं में कम-से-कम घाटी के सिखों और पंडितों के लिए यही बेहतर था कि मुस्लिम समुदाय से उन्हें सुरक्षा का आश्वासन मिले, साथ ही यह भी उनके सम्मुख स्पष्ट था कि डोगरा राज में अपने संवैधानिक अधिकारों की लड़ाई वे भी मुसलमानों से अलग होकर नहीं कर सकते थे। इसलिए 1936 में जब मुस्लिम कॉन्फ्रेंस ने 'ज़िम्मेदार सरकार' की अपनी माँग को लेकर आन्दोलन शुरू किया तो कॉन्फ्रेंस के निमंत्रण पर 8 मई के जलसों में हिन्दुओं तथा सिखों की भागीदारी उसकी आशा से बढ़कर रही।[14] बज़ाज़ बताते हैं कि श्रीनगर, पुंछ और जम्मू* जैसी जगहों पर इन आयोजनों की आम सभाओं की अध्यक्षता ग़ैर-मुस्लिमों ने की। बमजाई कहते हैं कि 'एक सच्ची राष्ट्रवादी पार्टी के निर्माण की आवश्यकता लोगों के बीच 'ज़िम्मेदार सरकार दिवस' को लेकर शानदार उत्साह से ही महसूस हुई।[15] इस पूरी प्रक्रिया में प्रेमनाथ बज़ाज़ लगातार गांधी और नेहरू के सम्पर्क में थे जिन्होंने कश्मीर में सभी समुदायों को मिलकर सामन्तवाद और उपनिवेश-विरोधी संघर्ष चलाने की सलाह दी थी।

लेकिन प्रजा-सभा के भीतर विरोध का पहला स्वर उठा सरदार बुध सिंह की ओर से जिन्होंने नवम्बर, 1936 को इसे एक 'खिलौना विधान सभा' बताते हुए इस्तीफ़ा दे दिया। इसके बाद मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के सभी सदस्यों ने 28 नवम्बर को प्रजा-सभा से इस्तीफ़ा दे दिया। सरदार बुध सिंह कश्मीर में सामाजिक-आर्थिक सुधारों की शुरुआत करनेवाले सबसे पहले नेता थे। 1925 में ही उन्होंने राज्य सरकार के उपायुक्त पद से इस्तीफ़ा देकर राज्य की पहली राजनीतिक पार्टी, 'किसान मज़दूर पार्टी', का गठन किया था। उन्होंने इसके पहले ही जलसे में बेगार प्रथा के ख़िलाफ़ अभियान चलाया था। इस जलसे को चौधरी ग़ुलाम अब्बास ने भी सम्बोधित किया था और दोनों ही गिरफ़्तार हुए थे।[16] 1936 में जी.एम. सादिक़ और प्रेमनाथ बज़ाज़ ने 'जम्मू एंड कश्मीर यूथ लीग' की स्थापना की थी जिसका उद्देश्य धार्मिक भेदभाव के बिना देश की आज़ादी के लिए काम करना था।[17] 1937 में बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद और जी.एम. सादिक़ के नेतृत्व में मज़दूरों की एक बड़ी रैली हुई जिसमें सभी समुदायों के मज़दूर शामिल हुए। उसे प्रेमनाथ बज़ाज़ ने भी सम्बोधित किया।[18] ट्रेड यूनियन आन्दोलनों के नेता के रूप में सादिक़, बख़्शी, मोइनुद्दीन कारा के

---

* किताब की विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए मैंने जम्मू और पुंछ में उस दौरान हुए घटनाक्रम का विस्तार में ज़िक्र नहीं किया है, हालाँकि उन इलाक़ों में तीस के दशक और उसके बाद भी जो घटनाएँ हुईं, उन्होंने जम्मू और कश्मीर की तात्कालिक और भावी राजनीति पर गहरा असर डाला। उत्सुक पाठक मेरी किताब 'कश्मीरनामा' या फिर प्रेमनाथ बज़ाज़, जी.एच. ख़ान, एम.ऍफ़. हसनैन आदि की पूर्वोद्धृत किताबें पढ़ सकते हैं।

साथ एन.एन. रैना ने प्रमुख भूमिका निभाई।[19] इसी साल किसानों और मज़दूरों को संगठित करने के लिए अगस्त के महीने में किसान और मज़दूर सभा की स्थापना हुई।[20] 1938 में राज्य में ख़्वाज़ा मोहम्मद उमर बट तथा पंडित रघुनाथ वैष्णवी ने कांग्रेस पार्टी की स्थापना की जिसमें कुछ प्रगतिशील युवा शामिल हुए लेकिन यह मूलत: श्रीनगर तक ही सीमित रही।[21] इसके पहले प्रजा-सभा के चुनावों के तुरन्त बाद एक 'हिन्दू प्रोग्रेसिव पार्टी' का गठन हुआ था। यह पार्टी हिन्दू मुस्लिम एकता, ज़िम्मेदार सरकार का समर्थन और ब्रिटिश उपनिवेशवाद की मुख़ालफ़त को लक्ष्य बनाया था।[22] इस तरह कश्मीर में एक ग़ैर-साम्प्रदायिक जनपक्षधर राजनीतिक दल के निर्माण के लिए वस्तुगत परिस्थितियाँ तैयार हो चुकी थीं। ज़ाहिर है कि कश्मीर में प्रगतिशील विचारधारा अपने अलग-अलग रूपों में प्रवेश कर रही थी और जगह भी बना रही थी और शेख़ अब्दुल्ला इससे अछूते नहीं रह सकते थे। 1938 के अन्त में हुए मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के सालाना जलसे में शेख़ ने कहा :

> हम चाहते हैं कि हमारे घर की व्यवस्था के लिए हम आज़ाद हों और किसी विदेशी या कोई आन्तरिक तानाशाह हमारे स्वाभाविक जन्मसिद्ध अधिकारों में हस्तक्षेप न करे। यही माँग 'ज़िम्मेदार सरकार' की माँग है जिसके लिए हमने क़ुर्बानियाँ दी हैं और जिसे हम हर हाल में हासिल करेंगे। इस 'ज़िम्मेदार सरकार' को हासिल करने के लिए पहली शर्त है कि जो राज्य की वर्तमान व्यवस्था द्वारा ग़ुलामों और ग़ुरबत की ज़िन्दगी जीने के लिए मजबूर कर दिये गए हैं, इसमें शामिल हों। वे लोग कौन हैं? वे केवल मुस्लिम या केवल हिन्दू या केवल सिख नहीं हैं, न ही केवल अछूत या केवल बौद्ध हैं बल्कि वे सभी हैं, जो इस राज्य में रहते हैं।[23]

असल में कश्मीर में श्रमिक आन्दोलन अलग से विकसित होने की जगह मुस्लिम कॉन्फ्रेंस और फिर नेशनल कॉन्फ्रेंस के भीतर ही विकसित हुआ और इन आन्दोलनों ने दोनों समुदायों को क़रीब लाने में बड़ी भूमिका निभाई। लेकिन यह सोच लेना कि इस पूरे दौर में साम्प्रदायिक ताक़तें शान्त बैठी थीं, सही नहीं होगा। हाईकोर्ट द्वारा गोकशी की सज़ा 7 साल से घटाकर एक साल कर दिये जाने के ख़िलाफ़ जम्मू के हिन्दुओं ने कविराज विष्णु गुप्ता के नेतृत्व में हड़ताल कर दी। आग में घी डालने पंडित मदन मोहन मालवीय भी पहुँच गए। महाराजा ने हिन्दुओं की माँग स्वीकार करते हुए सज़ा को फिर से 7 साल करने का फ़ैसला किया। इधर श्रीनगर में कश्मीरी पंडित युवक सभा के अध्यक्ष शिव नारायण फ़ोतेदार ने बयान दिया कि 'हिन्दू गाय की वैसे ही पूजा करते हैं, जैसे मुसलमान मुहम्मद साहब की।' इसे इस्लाम का अपमान मानते हुए मौलाना यूसुफ़ शाह ने 27 जून, 1937 को एक मोर्चा निकाला जिस पर पुलिस ने लाठी चार्ज किया। सैकड़ों लोग

घायल हुए। बोहरी कदल के पास पुलिस ने गोलियाँ चलाईं जिसमें एक व्यक्ति की मौत हो गई और कई लोग घायल हुए। मीरवायज़ को उनके कई साथियों के साथ गिरफ़्तार कर लिया गया। फोतेदार की माफ़ी के बावजूद जम्मू और पुंछ में दंगे भड़क गए जिन्हें रोकने में शेख़ अब्दुल्ला, प्रेमनाथ बज़ाज़ और सरदार बुध सिंह ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।[24]* सिखों की शुरू से ही कश्मीर में साम्प्रदायिक सद्भाव स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। 1932 के तनावपूर्ण माहौल में जब 22 सितम्बर को स्कूली बच्चों ने 'स्वास्थ्य दिवस' के अवसर पर जुलूस निकाला तो कनी कदल के पास दोनों समुदाय के छात्रों में बवाल हो गया, मामला बढ़ा और लूट तथा आगजनी तक जा पहुँचा। नतीजा पूरे शहर में तनाव।

यहाँ रुककर गोकशी के मामले पर एक ज़रूरी तथ्य नोट कर लेना बेहतर होगा। निर्मल सिंह बताते हैं कि कश्मीर में गोकशी की कोई परम्परा नहीं थी। वहाँ के मुसलमान भी गोमांस नहीं खाते थे। लेकिन सिख शासन और फिर डोगरा शासन में पाबन्दी लगाने के बाद गायों की हत्याएँ विद्रोह के रूप में हुईं, हालाँकि घाटी में ऐसी घटनाओं की तादाद बेहद कम थी।[25]

मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के भीतर भी ऐसी ताक़तों की कोई कमी नहीं थी जो ऐसी पहल के ख़िलाफ़ थी और हिन्दुओं और सिखों को कॉन्फ्रेंस से दूर ही रखना चाहती थीं। ज़िम्मेदार सरकार दिवस के अवसर पर हिन्दुओं और सिखों को न्योता भेजे जाने के फ़ैसले को अमली जामा पहनाने के लिए भी लम्बी बहस चली थी। डी.एन. धर लिखते हैं :

> मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के भीतर नये विचारों ने संगठन में दरारें बड़ी कर दी थीं। मुल्लावाद ख़ुद को स्थापित करना चाहता था जिसे आधुनिक विचारों वाला युवा नेतृत्व स्वीकार नहीं कर सकता था। आपसी तकरार, आरोप-प्रत्यारोप, एक दूसरे के ख़िलाफ़ भाषणबाज़ी की परिणत मुल्लावाद को कॉन्फ्रेंस से बाहर का रास्ता दिखाने में हुई।[26]

वहीं दूसरी तरफ़ कश्मीरी पंडित युवक सभा और गोकशी आन्दोलन की कोख से जन्मी जम्मू की हिन्दू सिख नौजवान सभा ने इस आन्दोलन में हिस्सा लेने से इनकार कर दिया था।[27] कश्मीरी पंडितों के बीच सबसे अधिक प्रभावी संगठन 'हिन्दू युवक सभा' के मुखपत्र *मार्तंड* ने लिखा : 'मुस्लिम कॉन्फ्रेंस साम्प्रदायिक मुसलमानों का संगठन है जिसका जन्म मुस्लिम अधिकारों की रक्षा के लिए हुआ है...जब तक उसके सदस्य मुस्लिम कॉन्फ्रेंस से सम्बन्ध तोड़कर एक राष्ट्रीय संगठन नहीं बना लेते, उनसे किसी संयुक्त कार्यवाही की आशा नहीं की जा सकती जबकि

---

* शेख़ अब्दुल्ला ने ज़िक्र किया है कि शिव नारायण फोतेदार ने एक किताब लिखी जिसमें हज़रत मुहम्मद के प्रति घृणास्पद टिप्पणियाँ की गईं।

जम्मू की 'राजपूत सभा' ने इसका हल महाराजा बहादुर द्वारा ही किया जाना सम्भव बताया।[28] इसका जवाब देते हुए सरदार बुध सिंह ने कहा :

> यह सोचना पागलपन है कि 'ज़िम्मेदार सरकार' की माँग कोई धार्मिक माँग है। कोई धार्मिक या साम्प्रदायिक संगठन इस माँग को हासिल नहीं कर सकता। यह एक राष्ट्रीय माँग है और इसीलिए सबकी साझा माँग है।[29]

यह समय आते-आते शेख़ अब्दुल्ला और मुस्लिम कॉन्फ्रेंस की इस पहल के चलते सरदार बुध सिंह और प्रेमनाथ बज़ाज़ ही नहीं, जिया लाल किलाम, कश्यप बन्धु, रघुनाथ वैष्णवी जैसे अनेक प्रगतिशील हिन्दू और सिख भी सामन्ती तानाशाही के ख़िलाफ़ संयुक्त संघर्ष की ज़रूरत से मुतमईन होने लगे थे। लेकिन यह कह पाना मुश्किल है कि व्यापक पंडित समाज पर इनका कितना असर था। जी.एच.ख़ान बताते हैं कि ग़ैर-मुस्लिम समाज में इस दौर में ध्रुवीकरण अधिक था और ज़्यादातर लोग प्रतिक्रियावादियों के पक्ष में थे।[30]

शेख़-नेहरू-कश्मीर-भारत : नये संघर्ष, नई राह

1939 आते-आते शेख़ अब्दुल्ला की जवाहरलाल नेहरू से मुलाक़ात हो चुकी थी। कश्मीरी पंडित नेहरू की घाटी के पंडितों में कितनी प्रतिष्ठा थी, इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि महाराजा को सौंपे गए ज्ञापन में कश्यप बन्धु ने लिखा था कि 'पंडित नेहरू के आगे अंग्रेज़ थर-थर काँपते हैं।' 1937 में शेख़ उनसे तब मिले जब वह लाहौर से उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश की यात्रा पर जा रहे थे वे उनके साथ उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश में कई दिन गुज़ारे। शेख़ लिखते हैं :

> पंडित जी ने हमारे आन्दोलन में रुचि दिखाई और यह सलाह दी कि हम अपनी सदस्यता हर समुदाय के लिए खोल दें। मैंने उन्हें और बादशाह ख़ान को कश्मीर आने का न्योता दिया। थोड़े समय बाद, भारत में 'द स्टेट पीपल्स कॉन्फ्रेंस' की स्थापना हुई जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल थे। यह स्पष्ट था कि अगर कश्मीरी नेताओं को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का समर्थन चाहिए तो उसे अपना नाम बदल कर नेशनल कॉन्फ्रेंस करना होगा।[31]

लेकिन इसे दो व्यक्तियों की दोस्ती का परिणाम या किसी की सदाशयता/सदिच्छा का परिणाम बताना अनैतिहासिक दृष्टि का परिचायक होगा। हमने कश्मीर में विकसित हुई वस्तुनिष्ठ परिस्थितियाँ देखी ही हैं। शेख़ कश्मीर से बाहर निकलकर यह देख पा रहे थे कि कश्मीर का संघर्ष सिर्फ़ कश्मीर में लड़कर नहीं जीता जा सकता। डोगरा शासन को हटाए बिना कश्मीर की जनता को उसके कष्टों से मुक्ति नहीं दिलाई जा सकती थी और डोगरा शासन के ख़िलाफ़ किसी

संघर्ष को ब्रिटिश-सत्ता एक सीमा से आगे नहीं जाने दे सकती थी। इसीलिए वह लड़ाई अन्ततः ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के ख़िलाफ़ अखिल भारतीय संघर्ष का हिस्सा होनी थी। नेशनल कॉन्फ्रेंस के पहले ही अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में शेख़ अब्दुल्ला ने कहा :

> हमारा राज्य उन 584 रियासतों में से एक है जिनमें 8 करोड़ लोग रहते हैं। हमारा संघर्ष एक बेहतर जीवन के लिए उनके संघर्ष का ही एक हिस्सा है। कोई ताक़त उन 8 करोड़ लोगों को उतनी आज़ादी लेने से नहीं रोक सकती जितनी ब्रिटिश भारत के लोगों को मिली है।[32]

इसके लिए उन्हें चुनाव कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच करना था। यह कहना भी जल्दबाज़ी होगी कि शेख़ ने कांग्रेस को चुन लिया था। आख़िर जब जिन्ना पहली बार कश्मीर आए तो शेख़ ने उनका स्वागत किया था। लेकिन जिन्ना उस समय तक पाकिस्तान को लेकर इतने कट्टर हो चुके थे कि मुस्लिम कॉन्फ्रेंस की सभा में खुलेआम उन्होंने शेख़ और उनके समर्थकों को गुंडा कहा तो शेख़ ने लगभग धमकीवाले अन्दाज़ उन्हें नियंत्रण रखने के लिए कहा। असल में सिख शासन के दौरान पंजाबी सामन्तों का जो ख़ौफ़ था, शेख़ उसे बख़ूबी जानते थे। उन्हें यह समझ आ रहा था कि लीग पर जिन पंजाबी सामन्तों का प्रभुत्व था, वह कश्मीर के किसानों की मुक्ति के सपने को कभी पूरा नहीं होने देंगे जबकि कांग्रेस की उदारवादी लोकतांत्रिक नीतियों के तहत वह कश्मीर में प्रगतिशील सुधारों को लेकर आश्वस्त थे। उनका यह शक तब और मज़बूत हुआ जब 22 मार्च, 1940 में मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन के दौरान आल इंडिया पीपुल्स कॉन्फ्रेंस की तर्ज़ पर ही आल इंडिया स्टेट्स मुस्लिम लीग की स्थापना की। शेख़ अब्दुल्ला इस अधिवेशन में अतिथि की हैसियत से शामिल हुए। राशिद तासीर ने *तहरीक-ए-हुर्रियत-ए-कश्मीर* में यह मज़ेदार तथ्य बताया है कि इस अधिवेशन में अध्यक्ष चुने गए हैदराबाद के नवाब यारजंग ने अपने भाषण में 'ज़िम्मेदार सरकार' की अवधारणा की वकालत तो की लेकिन हैदराबाद को इससे दूर रखने के लिए कहा। वहाँ से लौटकर शेख़ ने अलग-अलग जगहों पर आयोजित अनेक सभाओं में लीग और उसकी नीतियों की तीखी आलोचना की। इन भाषणों में उन्होंने मध्यमार्गी रुख़ अपनाते हुए महाराजा को आश्वासन दिया कि वह उनका शासन उखाड़ फेंकना नहीं चाहते हैं बल्कि उनके अधीन एक ज़िम्मेदार सरकार चाहते हैं। इसी दौरान एसोसिएटेड प्रेस को दिये गए बयान में उन्होंने न केवल मुस्लिम लीग के भारत विभाजन के प्रस्ताव का विरोध करते हुए इसे असम्भव बताया बल्कि मुसलमानों को कांग्रेस के झंडे तले आने की अपील भी की।[33] वैसे सावरकर जिन्ना की यात्रा के तुरन्त बाद 1944 में श्रीनगर पहुँचे थे। कश्मीरी पंडितों की 'युवक सभा' की

मीटिंग में उन्होंने 'हिन्दू राष्ट्र' की पूरी अवधारणा समझाई। युवक सभा के अध्यक्ष पंडित शिवनारायण फोतेदार ने उनसे कहा : 'हमारी परम्परा धार्मिक सहिष्णुता और बंधुत्व की है। आपकी बातें हमारी परम्परा के ख़िलाफ़ हैं और कश्मीर के पंडित आपकी बातें सुनने को तैयार नहीं हैं।'[34]

1939 के मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के अधिवेशन में पार्टी का नाम बदलकर 'नेशनल कॉन्फ्रेंस' करने का प्रस्ताव पास हुआ। मौलाना आज़ाद ने कहा : 'सर्नाल से पूरे अनंतनाग ज़िले के खेतों को पानी मिलता है। यह ख़ुशक़िस्मती है कि अब इस मंच से बहनेवाली आज़ादी की गंगा कश्मीर के चालीस लाख लोगों की आज़ादी की प्यास बुझाएगी।' जनता ने नारा लगाया : 'शेर-ए-कश्मीर का क्या इरशाद, हिन्दू मुस्लिम सिख इत्तिहाद'। शेख़ अब्दुल्ला ने अपने अध्यक्षीय भाषण में राजा द्वारा किये गए सुधारों को राज्य की जनता से धोखा बताया और जनता की एकता पर ज़ोर देते हुए ज़िम्मेदार प्रशासन की माँग की। इस ऐतिहासिक अधिवेशन में 'राष्ट्रीय माँग' को अपने प्रस्ताव के रूप में स्वीकार कर लिया गया। 'ज़िम्मेदार सरकार दिवस' के बाद शेख़ और बज़ाज़ पर नये प्रधानमंत्री गोपाल स्वामी आयंगर द्वारा कड़ा रवैया अपनाने के चलते साझा संघर्ष के लिए तैयार की गई इस 'राष्ट्रीय माँग' की ड्राफ्टिंग कमेटी में ग़ुलाम अहमद सादिक़, सरदार बुध सिंह, कश्यप बन्धु, जियालाल किलाम, मिर्ज़ा अफ़ज़ल बेग़ और प्रेमनाथ बज़ाज़ शामिल थे। नेशनल कॉन्फ्रेंस का निशान चुना गया लाल झंडे पर हल का निशान, जो राज्य की किसान-बहुल जनता के लिए क्रांतिकारी परिवर्तनों का प्रतीक था।

झंडे की एक दिलचस्प कहानी पाराशर सुनाते हैं। नेशनल कॉन्फ्रेंस के निर्माण के वक़्त कश्यप बन्धु ने प्रस्ताव दिया कि कांग्रेस के तिरंगे झंडे को ही नेशनल कॉन्फ्रेंस का झंडा चुन लिया जाए, और इसे स्वीकार भी कर लिया गया तथा और पार्टी के दफ़्तर 'मुजाहिद मंज़िल' पर इसे फहराया भी गया। लेकिन बाद में चौधरी ग़ुलाम मोहम्मद अब्बास ने इस बात का विरोध किया। मामला पहली आमसभा में उठा तो प्रेमनाथ धर ने लाल झंडे पर चिनार के पत्ते का सुझाव दिया जिसे सबने स्वीकार कर लिया। इसके बाद पुंछ के लाला रूपलाल वकील ने चिनार के पत्ते की जगह हल का सुझाव दिया और अन्ततः इसे ही स्वीकार किया गया। उसी दिन सुर्ख़ झंडे पर हल के निशान वाला झंडा 'मुजाहिद मंज़िल'* पर फहराया गया[34] और तब से वही नेशनल कॉन्फ्रेंस का झंडा है।

अधिवेशन के अन्त में शेख़ अब्दुल्ला ने नेशनल कॉन्फ्रेंस के तीन प्रमुख उद्देश्य घोषित किये : राज्य के विभिन्न समुदायों के बीच एकता और सत्यनिष्ठा

---

* 'मुजाहिद मंज़िल' झेलम किनारे हमदानी की ख़ानकाह के पीछे और पत्थर मस्जिद के ठीक सामने स्थित है। बाद में नेशनल कॉन्फ्रेंस का दफ़्तर यहाँ से ज़ीरो ब्रिज पर चला गया, हालाँकि उसका नाम भी 'मुजाहिद मंज़िल' ही रखा गया।

को मज़बूत करना, नेशनल कॉन्फ्रेंस को राज्य की जनता का संगठन बनाना और यह सुनिश्चित करना कि नेशनल कॉन्फ्रेंस एक ऐसा संगठन हो जिसका संविधान और कार्यक्रम जनता के कल्याण के लिए हों।[36] इन परिवर्तनों के चलते आगे चलकर हिन्दू समाज के अनेक नेताओं ने नेशनल कॉन्फ्रेंस में भरोसा जताया। पूर्व में उल्लिखित नामों के अलावा घाटी से एस.एल. सर्राफ़, डॉ. एस.एन. पेशिन, डी.पी. धर और जम्मू से आर.पी. सर्राफ़, त्रिलोचन दत्त, गिरधारी लाल डोगरा और बलराज पुरी जैसे नेता नेशनल कॉन्फ्रेंस से जुड़े।[37]

नेशनल कॉन्फ्रेंस के निर्माण से लेकर आज़ादी के समय तक का वक़्त कश्मीर की राजनीति में उथल-पुथल का वक़्त ही हो सकता था। शेख़ के इस निर्णय से मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्त्वों की नाराज़गी लाज़िम थी। उन पर हिन्दुओं के हाथों बिक जाने से लेकर कांग्रेस और ब्रिटिश एजेंट तक होने और भ्रष्टाचार का आरोप तो उन पर लगा ही, साथ ही नेशनल कॉन्फ्रेंस को चुनौती देने के लिए उनके कई पूर्व सहयोगियों ने अलग-अलग रास्ते चुन। एम.ए. साबिर, ग़ाज़ी अमानुल्लाह ख़ान, ख़्वाज़ा ग़ुलाम नबी, मिर्ज़ा ग़ुलाम मोइउद्दीन, अब्दुल अज़ीज़ मीरपुरी जैसे लोगों ने 'इस्लाम ख़तरे में है' का नारा बुलन्द किया। सैयद आशिक़ हुसैन के नेतृत्व में कश्मीर में मुस्लिम लीग की शाखा स्थापित की गई। मोहम्मद यूसुफ़ क़ुरैशी ने 'मुस्लिम यंगमैन' नाम का संगठन बनाया तो ख़्वाज़ा सदर-उद-दीन मुज़ाहिद ने 'यंगमैन्स मुस्लिम एसोसिएशन' बनाई। दोनों पक्षों के बीच हिंसक झड़पें तक हुईं।[38] 1939 में मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के नेशनल कॉन्फ्रेंस में बदलने का समर्थन करनेवाले ग़ुलाम मुहम्मद अब्बास ने भी मुस्लिम लीग के प्रभाव में अगले ही साल मुस्लिम कॉन्फ्रेंस को जीवित कर दिया और न केवल आल इंडिया स्टेट्स मुस्लिम लीग के उस अधिवेशन में कश्मीर के प्रतिनिधि के तौर पर शामिल हुए थे बल्कि जुलाई, 1941 में उसकी कार्यकारिणी के सदस्य भी चुने गए थे।[39] मीरवायज़ उनके साथ तो थे ही। इन तत्त्वों ने लगातार कश्मीरी मुसलमानों के बीच शेख़ अब्दुल्ला को कांग्रेस और हिन्दुओं के एजेंट तथा गद्दार की तरह बदनाम करने की कोशिश की। हालत यह कि दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान अनंतनाग में हुई कार्यसमिति की बैठक में कांग्रेस के बयान के समर्थन का प्रस्ताव पास किया गया तो उनके विरोधियों ने ज़ोर-शोर से इसका इस्तेमाल शेख़ को कांग्रेस का पिट्ठू बताने में किया।[40] अपनी जीवनी में शेख़ लिखते हैं :

> मुझे मुसलमानों का विरोध झेलना पड़ा। मज़लिस-ए-अहरार ने हमारे संगठन में घुस आए अपने कुछ लोगों के ज़रिये हमारा संगठन नष्ट करने की कोशिश की। जम्मू में लोग नेशनल कॉन्फ्रेंस छोड़ रहे थे। हम हिन्दुओं और मुसलमानों के पुरातनपंथी धड़ों की दो चक्कियों के बीच पिस रहे थे।[41]

यहाँ यह बता देना भी प्रासंगिक होगा कि हिन्दू-सिख नौजवान सभा ने भी नेशनल कॉन्फ्रेंस बनने से पहले एक बैठक बुलाकर यह चर्चा की थी कि बेहतर इसमें शामिल होना होगा या एक नई पार्टी बनाना। बैठक बेनतीजा रही लेकिन इन संगठनों ने नेशनल कॉन्फ्रेंस से दूरी बनाये रखी।[42]

ऐसे समय में कश्मीरी पंडितों का रुख़ क्या था? प्रेमनाथ बज़ाज़ ने द *हिस्ट्री फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर* में कहा है कि नेशनल कॉन्फ्रेंस में आने के बावजूद कश्मीरी पंडितों का अधिकांश हिस्सा हद से हद हिन्दू राष्ट्रवादी ही बन सका था और नेशनल कॉन्फ्रेंस के ज़रिये जल्द से जल्द अपनी आकांक्षाएँ पूरी करना चाहता था।[43] इस बयान को जस का तस स्वीकार कर लेना सुविधाजनक तो है लेकिन बज़ाज़ के अतिउत्साही स्वभाव की रोशनी में इसे ज़रा सावधानी से पढ़ा जाना बेहतर होगा। बेहतर हो कि आगे बढ़ने से पहले विषयांतर के ख़तरे के साथ बज़ाज़ के बारे में थोड़ी बात कर ली जाए। बज़ाज़ का अपना जीवन अन्तर्विरोधों से भरा रहा है। 1939 में नेशनल कॉन्फ्रेंस बनते समय वह शेख़ के सबसे बड़े झंडाबरदार नज़र आते हैं। वह उन्हें 'कश्मीर संघर्ष का सबसे बड़ा नायक' ही नहीं बताते बल्कि उन्हें 'कश्मीर का गांधी' बताते हुए एक पुस्तिका भी लिखते हैं। जब किलाम और कश्यप बन्धु जैसे पंडितों ने शेख़ के ख़िलाफ़ साम्प्रदायिक नीतियों का आरोप लगाकर पार्टी छोड़ी तब भी वह शेख़ के साथ रहे लेकिन भाषा-विवाद के समय वह अचानक यह स्टैंड लेते हैं कि 'अब कार्यकारिणी राष्ट्रीय नहीं रही'। इसके बाद वह एक शत्रु की तरह शेख़ पर हमला करते हैं। उन्हें साम्प्रदायिक बताते हैं। यहाँ तक कि वह नेहरू की भी कड़ी आलोचना करते हैं और कांग्रेस के साथ शेख़ के जाने को 'क्रान्ति की राह से भटकाव' बताते हैं। *इनसाइड कश्मीर* में वह अपने प्रवेश के ठीक पहले तक शेख़ को साम्प्रदायिक बता ही चुके हैं तो ऐसा लगता है, शेख़ अब्दुल्ला कोई डेढ़ साल जो उनकी संगत में रहे, बस, उसी दौर में वह खरे क्रांतिकारी रहे! नेशनल कॉन्फ्रेंस से निकलने के तुरन्त बाद उनका रुख़ वाकई आश्चर्यजनक है। वह वैसे तो एम.एन. रॉय के साथ जाकर 'कश्मीर सोशलिस्ट पार्टी' का गठन करते हैं लेकिन अपने स्टैंड में वह पूरी तरह मुस्लिम लीग के साथ नज़र आते हैं और धार्मिक आधार पर कश्मीर के पाकिस्तान में विलय का समर्थन करते हैं। 1947 में भारत में कश्मीर के विलय और क़बायली हमले को लेकर उनका रवैया यह है कि 'महाराजा ने कांग्रेस और कश्मीर के राष्ट्रवादियों की मदद से क्रान्ति के रथ की गति मोड़ दी।' अब गांधी भी उनके लिए कश्मीर के आक्रमणकारी हो जाते हैं। कभी हिन्दू मुस्लिम एकता और कश्मीरी राष्ट्रवाद के पैरोकार बज़ाज़ का यह रुख़ न तो राष्ट्रवादी है, न अन्तरराष्ट्रीयतावादी। 1954 में लिखी द *स्ट्रगल फ़ॉर हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर* में उन्होंने शेख़ और दूसरे लोगों की आलोचना से आगे बढ़कर जो निन्दा की है,

वह चौंकाने वाली है। इस तीखे भारत विरोध के चलते शेख़ ने उन्हें पहले जेल में रखा और फिर कश्मीर से निष्कासित कर दिया। इस दौर में वह दिल्ली आ गए और थोड़े दिनों तक यहाँ-वहाँ भटकने के बाद हौजख़ास के अपने बँगले में रहे। शेख़ ने उन पर अंग्रेज़ों का एजेंट होने का आरोप लगाया था जिसे टिक्कू ने भी दुहराया है। मज़ेदार है कि 1967 में लिखी *कश्मीर इन क्रूसिबल* के ब्लर्ब में लिखते हैं—मुझे यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं है कि जब आज़ादी मिली तो मेरे विचार से पाकिस्तान में विलय के अलावा कश्मीर के पास कोई विकल्प नहीं था। लेकिन बाद की घटनाओं ने मेरे विचार बदल दिये...। अगर घाटी पाकिस्तान के क़ब्ज़े में चली गई तो भारत की विघटनकारी शक्तियाँ तबाही मचा देंगी। इसलिए सुरक्षा तभी हो सकती है जब नियंत्रण रेखा को ही क़ायम रखा जाए बल्कि इसे अन्तरराष्ट्रीय सीमा बना दिया जाए। अब वह धर्म को राष्ट्र निर्माण का आधार भी नहीं मानते। कश्मीर की राजनीति में उनकी वापसी 1977 में होती है जब वह जनता पार्टी के सदस्य बनकर शेख़ का विरोध करने पहुँचे। हालाँकि उनकी उपस्थिति का कोई असर नहीं पड़ा।

शेख़ अब्दुल्ला ने अपनी जीवनी में बज़ाज़ पर लालची होने का आरोप लगाया है। शेख़ मीरवायज़ से लेकर मुस्लिम लीग के समर्थन और फिर एम.एन. रॉय की पार्टी में जाने को उनके इस लालच का प्रमाण बताते हैं और दिल्ली में उनके आलीशान बंगले 'गश-ए-आग़र' का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि पाकिस्तान का समर्थन भी उन्होंने इसी वजह से किया और फिर जब वहाँ से सम्भावना ख़त्म हो गई तो विरोध करने लगे। ग़ालिब के प्रसिद्ध शेर का एक हिस्सा—'कुछ नहीं है तो अदावत ही सही'—याद करते हुए बज़ाज़ पर अपने उपसंहार में शेख़ कहते हैं :

> उन्होंने मेरे बारे में अक्सर लिखा है और हर बार जब वह यह करते हैं तो अपनी निजी पसन्द या नापसन्द के नज़रिये से। कहते हैं, एक रणनीति तभी सही है जब वह सफल हो। इसलिए बज़ाज़ अपने बयान अक्सर ख़ुद ही बदल देते हैं। ज़ाहिर तौर पर वह जब राजनीति की जगह दूसरे विषयों पर लिखते हैं तब वह अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में होते हैं। इसीलिए 1976 में अपने निजी मतभेदों को अलग रखते हुए मैंने उन्हें जम्मू और कश्मीर कल्चरल एकेडमी के अध्यक्ष के रूप में ऑनरेरी फ़ेलो बनाया। हमारे सम्पर्क 1976 तक किसी तरह बने रहे लेकिन 1976 में जब उनके परिवार से जुड़े एक मामले में प्रशासनिक वजहों से काम नहीं हो सका तो वह मुझसे बेहद नाराज़ हो गए और 1977 में मेरे ख़िलाफ़ 'महान' जनता पार्टी के साथ हो गए। तब वह जयप्रकाश नारायण, मोरारजी देसाई, जगजीवन राम, अटल बिहारी बाजपेयी आदि के बारे में जीवन भर जो कहते रहे, वह सब भूल गए। लेकिन हुआ यूँ कि वह मोर्चा असफल हुआ। बज़ाज़ ने रातोरात श्रीनगर से भागकर दिल्ली में गश-ए-आग़र में पनाह ली जहाँ से वह मेरे ख़िलाफ़ झूठी रिपोर्टों के आधार पर किताबें लिखते रहते हैं और इस तरह मुझसे अपनी दुश्मनी निभाते रहते हैं।[14]

बज़ाज़ का उदाहरण जानबूझकर मैंने इसलिए दिया है कि कश्मीर के इतिहास के बेहद गम्भीर और ज़रूरी लेखक होने के कारण बज़ाज़ न केवल अक्सर चर्चा में आते हैं बल्कि कई बार उन्हें लगभग इकलौते प्रगतिशील कश्मीरी पंडित की तरह पेश किया जाता है। 1947 के पहले पाकिस्तान से विलय के समर्थक और शेख़ तथा नेहरू की कटु आलोचना के कारण कश्मीरी राजनीति का भी एक हिस्सा उन्हें आदर्श की तरह पेश करता है या फिर एक 'ऐसे क्रान्तिकारी की तरह जिसे समझा नहीं गया।'[45] शेख़ अब्दुल्ला की आलोचना भी अकेली नहीं। कश्मीर में उन्हें 'मुस्लिम आन्दोलन को बहकाने वाले से लेकर पंडितों को धोखा देनेवाले' के रूप में याद करनेवालों की भी कोई कमी नहीं। इस पर बात करना तो विषयांतर होगा लेकिन बाक़ी सब अलग रखें तो भी यह तो बहुत स्पष्ट है कि कश्मीरियत का आख्यान रचते हुए अक्सर उन्हें और उन जैसे कुछ प्रगतिशील लोगों को कश्मीरी पंडितों के प्रतिनिधि माना जाना बहसों के लिए सुविधाजनक तो है लेकिन असल में यह एक भ्रम है। बाक़ी समाजों की तरह पंडित समाज में भी ऐसे लोग हमेशा ही अल्पसंख्यक रहे लेकिन इसके ठीक विपरीत यह सरलीकरण भी उतना ही ख़तरनाक होगा कि पंडित समाज एक साम्प्रदायिक समाज था। ऐसे सरलीकरणों से आगे कश्मीर का आम मुसलमान और पंडित बाक़ी समाजों की तरह ही अपने समय और अपने स्वार्थों से संचालित आम लोगों का समाज था/है जिसने वहाँ की जटिल वस्तुगत परिस्थितियों के अनुसार प्रतिक्रियाएँ दीं।

इसीलिए न तो शेख़ अब्दुल्ला अपने हालात से अछूते रह सकते थे, न ही पंडित। शेख़ की ताक़त थी मुस्लिम जनमत और वह उसे खोकर निष्प्रभावी हो जाते। वहीं दूसरी तरफ़ मुस्लिम लीग, कांग्रेस, डोगरा राजा और अंग्रेज़ों के बीच बनते-बिगड़ते समीकरणों के बीच कश्मीरी पंडितों के लिए अपने भविष्य की चिन्ता भी उतनी ही स्वाभाविक थी। एक मुस्लिम राष्ट्र में उनके लिए कोई भविष्य नहीं हो सकता था तो ज़ाहिर था कि वे अपना भविष्य भारत और कांग्रेस में ढूँढ़ते। नेशनल कॉन्फ्रेंस उनके लिए इसीलिए मुफ़ीद थी कि वह भारत और कांग्रेस के साथ खड़ी थी और जब-जब शेख़ मुस्लिम जनमत के समर्थन के लिए अतिरिक्त प्रयास करते तो पंडितों के लिए स्थितियाँ सहज नहीं रह जाती थीं।

भाषा-विवाद : हिन्दी-उर्दू यानी हिन्दू-मुसलमान और उपेक्षित कश्मीरी

ऐसे हालात पैदा होने का सबसे बड़ा बहाना बना—भाषा-विवाद। आयंगर की सलाह पर हरि सिंह ने कश्मीर में देवनागरी लिपि शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयोग में लाने के लिए डॉ. ज़ाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक शैक्षणिक पुनर्गठन कमेटी बनाई लेकिन कमेटी ने देवनागरी को शिक्षा के माध्यम बनाये जाने के विपरीत अनुशंसा की। महाराजा और आयंगर ने कमेटी की अनुशंसा को दरकिनार करते

हुए आदेश निकाला कि (1) सामान्य भाषा आसान उर्दू होगी लेकिन लिखने और पढ़ने के लिए फ़ारसी और देवनागरी, दोनों ही लिपियों का प्रयोग होगा। विद्यालयों की किताबें दोनों ही लिपियों में प्रकाशित होंगी, (2) जहाँ 15 प्रतिशत से अधिक छात्र दोनों में से किसी एक लिपि को चुनेंगे, वहाँ के शिक्षकों के लिए दोनों ही लिपियाँ जानना ज़रूरी होगा और (3) विद्यालय के शिक्षकों के लिए दोनों लिपियों को जानना ज़रूरी होगा। न जाननेवाले शिक्षकों को एक वर्ष के भीतर यह भाषा सीखनी होगी तथा नई भर्तियों के लिए ये दोनों भाषाएँ जानना अनिवार्य होगा।[46]

28 दिसम्बर, 1939 को मीरपुर में आयोजित कार्यकारिणी में यह प्रस्ताव पास किया गया कि 'हिन्दुस्तानी* को फ़ारसी या देवनागरी लिपि में लोक सेवा के गजेटेड अधिकारियों के लिए होनेवाली परीक्षा में अनिवार्य विषय की तरह अपनाया जाना चाहिए।' देखा जाए तो यह शासन के आदेश से कुछ ख़ास अलग नहीं है। लेकिन जब मुस्लिम कॉन्फ्रेंस की ओर से मीरवायज़ ने इसे शासन के हिन्दूकरण की कोशिश बताते हुए इस्लाम-विरोधी बताया तो नेशनल कॉन्फ्रेंस का स्टैंड बदल गया। अपने भाषणों में शेख़ अब्दुल्ला ने न केवल इसे इस्लाम-विरोधी बताते हुए तुरन्त वापस लेने की माँग की बल्कि उन्होंने ईद मिलाद के अवसर पर कहा कि इस्लाम सूरज है और बाक़ी धर्म सितारे। जियालाल किलाम और कश्यप बन्धु ने कार्यकारिणी में यह मुद्दा उठाया और शेख़ अब्दुल्ला के इससे पीछे हटने से इनकार करने तथा यह कहने पर कि वह पहले और आख़िर में मुसलमान हैं, नेशनल कॉन्फ्रेंस छोड़ दी,[47] ** प्रेमनाथ बज़ाज़ ने भी इसी तथ्य का ज़िक्र किया है।[48] हालाँकि चित्रलेखा ज़ुत्शी के अनुसार, जवाहरलाल नेहरू की कश्मीर-यात्रा के दौरान स्वागत समिति के गठन में विवाद के चलते शेख़ अब्दुल्ला से हुई अनबन ही दोनों के नेशनल कॉन्फ्रेंस छोड़ने की वजह थी।[49]

वैसे देखा जाए तो सरकार का यह क़दम सभी कश्मीरियों के लिए दिक़्क़त-तलब था क्योंकि देवनागरी न तो वहाँ के हिन्दुओं की परिचित लिपि थी, न मुसलमानों की। दोनों की आम बोलचाल की भाषा कश्मीरी के लिए इसमें कोई जगह नहीं थी। देखा जाए तो कश्मीरी भाषा नेशनल कॉन्फ्रेंस ही नहीं, प्रशासन और बाक़ी सभी पक्षों के विमर्श से बाहर थी, हालाँकि मीरवायज़ ने यह ज़रूर कहा था कि अगर जनता की भाषा ही लागू करनी है तो कश्मीरी को लागू करना चाहिए। हमारी आम बोली

---

* यह अवधारणा गांधी की थी जिसमें हिन्दू-उर्दू के आसान और आमफ़हम शब्दों को एक साथ मिलाकर हिन्दुस्तानी भाषा को भारत में प्रचलित किये जाने की बात थी।

** शेख़ का यह कथन बाद में जियालाल किलाम के एक अगस्त, 1940 को श्रीनगर के अख़बार 'अल इस्लाह' में छपे एक बयान के आधार पर अक्सर उद्धृत किया जाता है। यह बयान उन्होंने नेशनल कॉन्फ्रेंस छोड़ने के फ़ैसले को न्यायसंगत बताने के लिए दिया था। हालाँकि तीन साल बाद ही वह कश्यप बन्धु और फोतेदार के साथ नेशनल कॉन्फ्रेंस में लौट आए थे।

कश्मीरी है और आम भाषा फ़ारसी।[50] फ़ारसी की जगह उर्दू लागू करने पर विरोध का झंडा उठानेवाले कश्मीरी पंडितों ने भी इस बार ऐसा कोई विरोध नहीं किया और उनमें से कुछ ने तो इसे अपना खोया हुआ प्रभाव स्थापित करने का ज़रिया मानते हुए हिन्दी परिषद और हिन्दू लीग बनाकर श्रीनगर में हिन्दी पढ़ना सिखाने की कोशिशें शुरू कर दीं।[51]* भाषा-नीति के इस साम्प्रदायिक रूप का असर यह हुआ कि आज भी कश्मीर में मुस्लिम देवनागरी लिपि से अपरिचित हैं और वह कश्मीर घाटी में सिर्फ़ बोलचाल की भाषा बनकर रह गई।

कश्मीर में नेहरू और प्रगतिशील पथ पर नेशनल कॉन्फ्रेंस

एक महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम में शेख़ के बुलावे पर 30 मई, 1940 को पंडित नेहरू ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ान, मोहम्मद यूनुस आदि के साथ श्रीनगर पहुँचे जहाँ नेशनल कॉन्फ्रेंस ने उनका ज़ोरदार स्वागत किया। छत्ताबल से आमिर कदल तक नौका जुलूस निकाला गया। अगले दिन हुज़ूरी बाग़ में नेहरू तथा अन्य नेताओं के स्वागत में एक बड़ी सभा हुई। स्वागत भाषण देते हुए शेख़ ने नेहरू को 'कश्मीर का शानदार बेटा' बताया और हिन्दुओं तथा मुसलमानों की भारी उपस्थिति वाली भीड़ की ओर इशारा करके कहा कि 'बाहर के अख़बारों में हमारे आन्दोलन को बदनाम किया जा रहा है, हम पर हमले किये जा रहे हैं लेकिन यहाँ आप देख सकते हैं कि हमारा आन्दोलन किनके लिए हैं और हम किनके प्रतिनिधि हैं।' नेहरू ने जनता को अपना संघर्ष जारी रखते हुए कहा कि राज्य भारत से असम्बद्ध नहीं रह सकते, न यहाँ कोई हिन्दू राज्य बन सकता है, न मुस्लिम राज्य और जो भी सरकार बनेगी, वह भारतीय जनता की सरकार होगी। उन्होंने हिन्दुओं से अपना साम्प्रदायिक दृष्टिकोण छोड़कर नेशनल कॉन्फ्रेंस में शामिल होने को कहा। ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ान ने ख़ुद को कश्मीर का पड़ोसी बताते हुए संघर्ष में भागीदारी और बलिदान की अपील की।[52]

उस समय तक भारत और दुनिया में कम्यूनिस्ट विचारों की धमक पहुँच चुकी थी। रूस में कम्यूनिस्ट शासन की स्थापना के साथ ही एक समतावादी समाज का स्वप्न दुनिया भर के युवाओं को आकर्षित कर रहा था। ब्रिटिश शासकों द्वारा बोल्शेविक साहित्य और विचारों को प्रतिबन्धित करने की सारी कोशिशों के बावजूद भारत में कम्यूनिस्ट विचार पाँव पसार रहा था। हमने देखा है कि कश्मीर में किसानों और

---

* मुस्लिम संगठनों और नेशनल कॉन्फ्रेंस के तीखे विरोध के बावजूद आयंगर और महाराजा ने यह नीति जारी रखी। एम.डी. सूफ़ी ने लिखा है कि करण सिंह का समय आते-आते राजकाज में उर्दू की जगह संस्कृतनिष्ठ हिन्दी प्रभावी हो चुकी थी। शेरगढ़ी को राजगढ़ कहा जाने लगा। वज़ीर अमात्य हो गए। शपथग्रहण, इरशाद और फ़रमान संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में होने लगे थे। आर.एस. पंडित के हवाले से सूफ़ी लिखते हैं कि हरि सिंह के समय में जैसे 'राजतरंगिणी' की परम्परा जारी थी (सूफ़ी 831)।

मज़दूरों के लिए संघर्ष करनेवाले कई संगठन और युवा नेशनल कॉन्फ्रेंस में शामिल हुए थे और अपने झंडे के लिए क्रान्ति का प्रतीक लाल रंग ही चुना गया था। शेख़ ख़ुद न तो मार्क्सवादी थे, न ही उन्होंने वामपंथ का कोई गहरा अध्ययन किया था, लेकिन समतावादी नीतियों के प्रति उनका झुकाव स्पष्ट था।[53] 1937 में शेख़ कह रहे थे :

> हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही मज़दूर पूँजीवादियों के एक जैसे शिकार होते हैं। हमारे स्वाधीनता संग्राम के पिछले 6 सालों में सबसे ज़्यादा बलिदान कश्मीर के मज़दूर वर्ग ने ही दिया है लेकिन बदले में उसे कुछ नहीं मिला। यह उन शिक्षित मुसलमानों के लिए शर्म की बात है जिन्हें इस संघर्ष के चलते नौकरियाँ मिल गई हैं, वे ग़रीब मुसलमानों का कोई ख़याल नहीं करते। किसान और मज़दूर राज्य का ख़ज़ाना अपने लहू और पसीने से भरते हैं और दूसरे वह ख़र्च करते हैं। बेरोज़गार हिन्दू भी वैसे ही अपने ही समुदाय के पूँजीवादियों द्वारा कुचले जाते हैं। बहरहाल, एक दिन ये हालात नहीं रहेंगे। अब वह वक़्त बहुत तेज़ी से क़रीब आ रहा है जब सभी मज़दूर और किसानों का एक साझा मंच बनाया जाएगा। इसलिए हम मज़दूर सभा और इसके नेताओं को हर मुमकिन समर्थन देंगे।[54]

प्रख्यात कम्यूनिस्ट नेता फ़ैज़ अहमद पारचा 1929 में कश्मीर में बस गए थे। 1931 में पंडित राधेनाथ कौल, 1937 में ख़्वाजा मोहम्मद अशरफ़ कश्मीर आ गए थे और 1937 में एम.ए. फ़ारूक़ी की सहायता से श्रीनगर में युवाओं के बीच गतिविधियाँ शुरू कर दी थीं। जम्मू में कम्यूनिस्ट आन्दोलन के नेता थे धनवंतरि। इस समूह में सक्रिय युवाओं में ग़ुलाम मोहम्मद सादिक़, पी.एन. जलाली, पीर याह्या सिद्दीक़ी, जे.एन. ज़ुत्शी, डी.पी. धर और हरनाम सिंह थे। 1940 में मोहतरिमा महबूबा अहमद अली शाह और पंडित निरंजन नाथ सक्रिय हुए तथा फ़ज़ल इलाही क़ुर्बान की श्रीनगर यात्रा के दौरान पार्टी की भी स्थापना की गई जिसका ज़िला सचिव बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद को बनाया गया, हालाँकि बाद में पार्टी-विरोधी गतिविधियों के लिए उन्हें निकाल दिया गया। उनके समूह में मोहम्मद यूसुफ़ धर, मोतीलाल मिस्त्री और ओंकारनाथ धर शामिल थे। ये सभी नेशनल कॉन्फ्रेंस में शामिल हुए और 1938-50 के बीच उसकी नीतियों को प्रभावित भी किया।[55] आम तौर पर यह मान्यता है कि वह 'नया कश्मीर' का दस्तावेज़ तैयार कराने में बी.पी.एल. बेदी की बड़ी भूमिका थी जो सत्ता में आने के बाद नेशनल कॉन्फ्रेंस का वैचारिक आधार बनी। 1943 में मीरपुर में हुई नेशनल कॉन्फ्रेंस के चौथे वार्षिक अधिवेशन में न केवल रूस का समर्थन करते हुए रूसी जनतांत्रिक शक्तियों के साथ एकजुटता प्रदर्शित की गई और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के भारत की जनता को धार्मिक आधार पर बाँटने के प्रयास की आलोचना की गई बल्कि शेख़ अब्दुल्ला ने स्पष्ट कहा कि 'कुछ चालाक लोग 'इस्लाम ख़तरे में है' का नारा लगाकर ध्यान बाँटना चाहते हैं जबकि भारत की असली समस्या धार्मिक नहीं, आर्थिक है।' इसी अवसर पर

उन्होंने अपना वह प्रसिद्ध वक्तव्य दिया जो उनके शत्रुओं के लिए हमला करने का बहाना बना तो कश्मीर के साथ भारत के सम्बन्धों का आधार भी। उन्होंने कहा :

> एक मुसलमान की तरह हमें भरोसा होना चाहिए कि हिन्दुस्तान हमारा घर है। हम इस ज़मीन से ही जन्मे हैं और इसी में मरेंगे। हिन्दुस्तान हमारा मादर-ए-वतन है और यही हमारा मादर-ए-वतन रहेगा। यह हमारा फ़र्ज़ है कि अपने मादर-ए-वतन और अपने घर को ग़ैर-मुल्कियों से आज़ाद कराएँ।[56]

इस अधिवेशन के थोड़े समय बाद ही जून, 1943 में जियालाल किलाम और शिवनारायण फोतेदार कार्यकारिणी की बैठक में विशेष आमंत्रित सदस्य के रूप में शामिल हुए और फिर पार्टी में शामिल हो गए। बाद में पंडित कश्यप बन्धु भी पार्टी में लौट आए और शेख़ के कहने पर पार्टी के आधिकारिक मुखपत्र *ख़िदमत* के सम्पादक की ज़िम्मेदारी सँभाल ली।[57]

अगली आधी सदी कश्मीर में नेशनल कॉन्फ्रेंस के नेतृत्व में घाटी के मुसलमानों और पंडितों ने एक तरफ़ साझा लड़ाई लड़ी तो ख़ास तौर पर जम्मू में दोनों तरफ़ की साम्प्रदायिकता ने माहौल को ज़हरीला बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़ी प्रजा-सभा (जो बाद में जनसंघ में बदल गई) जम्मू में तो सक्रिय थी ही, घाटी की युवक सभा पर भी उसका पूरा असर था। लेकिन इन सबके बीच नेशनल कॉन्फ्रेंस लगातार डोगरा राज के सामन्ती शासन और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ जियालाल किलाम, कश्यप बन्धु, डीपी धर, सरदार बुध सिंह, एन. एन. रैना जैसे नेताओं को साथ लेकर तीखा संघर्ष कर रही थी। हमने देखा है कि 1944 में जिन्ना को कश्मीर से असन्तुष्ट और निराश होकर लौटना पड़ा था तो दूसरी तरफ़ शेख़ के ख़िलाफ़ होने के बावजूद युवक सभा के अध्यक्ष शिवनारायण फोतेदार ने सावरकर को बैरंग लौटा दिया था। 1946 में जब शेख़ अब्दुल्ला ने 'कश्मीर छोड़ो' का नारा दिया तो इस लड़ाई में मुसलमानों और पंडितों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ाई लड़ी।[58] 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन के प्रस्ताव में शेख़ ने कहा : 'अखिल जम्मू और कश्मीर नेशनल कॉन्फ्रेंस ने हमेशा हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन किया है और हमेशा इस बात को रेखांकित किया है कि भारत की आज़ादी की राह में सबसे बड़ा रोड़ा इन दो समुदायों के बीच अविश्वास और दूरी है। इसलिए एकता के लिए किये गए हर प्रयास को हम पवित्र मानते हैं। हम अपने दिल की गहराई से हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता चाहते हैं। अपने विवाद सुलझाना मुस्लिम लीग और कांग्रेस का आपसी मसला है। भारत की आज़ादी रजवाड़ों की आज़ादी के लिए आवश्यक है।'[59] जब नारा लगा—अमृतसर बैनामा तोड़ दो/कश्मीर हमारा छोड़ दो—तो शेख़ गिरफ़्तार हुए। नेहरू उनका केस

लड़ने श्रीनगर को निकल पड़े। रास्ते में ही उन्हें रोककर डाकबँगले में रात भर रखा गया तो देश भर में बवाल मच गया। *हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड* ने लिखा :

> कश्मीर के बौने फ्यूहरर ज़रा-सी सत्ता और ताक़त के नशे में कुछ ज़्यादा ही डूब गए हैं। उन्होंने अपने भयावह कुकर्मों की पूँछ को पंडित जवाहरलाल के ख़िलाफ़ मूर्खतापूर्ण ग़ुस्से से छिपा लिया है जिसकी परिणति देश के प्रिय नेता की गिरफ़्तारी में हुई है।

डी.डी. ठाकुर हरि सिंह की इस कार्यवाही को नेहरू के उनसे सम्बन्ध ख़राब होने का सबसे बड़ा कारण बताते हैं और मानते हैं कि इस घटना ने भविष्य की घटनाओं पर गहरा प्रभाव डाला।[60]

नेहरू और शेख़ इस पूरे दौर में साथ रहे—दोस्तों की तरह, कॉमरेडों की तरह और कश्मीर में 'शेर-ए-कश्मीर का क्या इरशाद/हिन्दू मुस्लिम सिख इत्तिहाद' का नारा लगता रहा...। अब तक शत्रु समान था लेकिन उस शत्रु के परिदृश्य से दूर चले जाने के बाद बदलना इसे आज़ादी के बाद था। इसमें पंडितों को अपनी भूमिकाएँ भी निभानी थीं और अपना पक्ष भी तय करना था।

संदर्भ

1. देखें, पेज-88, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर,* एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
2. देखें, पेज 179, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, द कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, श्रीनगर, 1941
3. देखें, वही, पेज 193
4. देखें, पेज 107, *कश्मीर एंड द फ्रीडम मूवमेंट,* परमानन्द पाराशर, सरूप एंड संस, दिल्ली, 2004
5. मृदु राय द्वारा राजनीतिक विभाग के दस्तावेज़ों से उद्धृत, पेज 273, *हिन्दू रूलर्स एंड मुस्लिम सब्जेक्ट्स,* मृदु राय, परमानेंट ब्लैक, 2007
6. देखें, हिन्दुस्तान टाइम्स के 16 जुलाई, 2017 के अंक में प्रकाशित पारोमिता घोष का लेख
7. देखें, पेज 104, *कश्मीर एंड द फ्रीडम मूवमेंट,* परमानन्द पाराशर, सरूप एंड संस, दिल्ली, 2004
8. देखें, पेज 187, *इनसाइड कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, द कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, श्रीनगर, 1941

9. देखें, पेज 29, पी.आई.डी. पारिमू, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर, अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड*, चिनार पब्लिशर्स, अहमदाबाद
10. देखें, पेज 70, *कश्मीर एंड पॉवर पॉलिटिक्स*, पी.एन.के. बमज़ाई, गुलशन बुक्स, 2011 (पुन:प्रकाशन, पहला संस्करण, 1966)
11. यहाँ *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर*, एफ़.एम. हसनैन के पेज 83 से
12. देखें, पेज 323, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर*, जी.एच. ख़ान, लाइफ़ एंड लाइट पब्लिशर्स, दिल्ली, 1980
13. देखें, पेज 107, *कश्मीर एंड द फ्रीडम मूवमेंट*, परमानन्द पाराशर, सरूप एंड संस, दिल्ली, 2004
14. देखें, पेज 16, *शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला*, एस.आर. बख़्शी, अनमोल पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1998
15. देखें, पेज 71, *कश्मीर एंड पॉवर पॉलिटिक्स*, पी.एन.के. बमज़ाई, गुलशन बुक्स, 2011 (पुन:प्रकाशन, पहला संस्करण, 1966)
16. देखें, पेज 16, *अक्रॉस द लाइन ऑफ़ कंट्रोल*, लव पुरी, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, 2012
17. देखें, पेज 112, *कश्मीर एंड द फ्रीडम मूवमेंट*, परमानन्द पाराशर, सरूप एंड संस, नई दिल्ली, 2004
18. देखें, पेज 16, *शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला*, एस.आर. बख़्शी, अनमोल पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1998
19. देखें, पेज 65, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज़ इन कश्मीर*, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2001
20. देखें, पेज 192, *इनसाइड कश्मीर*, प्रेमनाथ बज़ाज़, द कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, श्रीनगर, 1941
21. देखें, पेज-88, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर*, एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
22. देखें, पेज 114, *कश्मीर एंड द फ्रीडम मूवमेंट*, परमानन्द पाराशर, सरूप एंड संस, नई दिल्ली, 2004
23. देखें, पेज-88, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर*, एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
24. देखें, वही, पेज 87
25. देखें, पेज 53, इंटर *कम्यूनल रिलेशंस इन जम्मू एंड कश्मीर (1846, 1931)*, निर्मल के. सिंह, जे.के. बुक हाउस, जम्मू, 1991
26. देखें, पेज 61, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज़ इन कश्मीर*, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2001

27. देखें, पेज 119-20, *कश्मीर एंड द फ्रीडम मूवमेंट,* परमानन्द पाराशर, सरूप एंड संस, नई दिल्ली, 2004
28. देखें, पेज 325, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइफ़ एंड लाइट पब्लिशर्स, दिल्ली, 1980
29. देखें, वही, पेज 269
30. देखें, वही, पेज 268
31. देखें, पेज 49, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार, शेख़ अब्दुल्ला,* अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
32. देखें, पेज 65, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज़ इन कश्मीर,* डी.एन. धर, कनिष्क पब्लिशर, डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2001
33. देखें, पेज 208-09, अध्याय 5, *डोगरा राज एंड द स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर,* मोहम्मद यूसुफ़ गनाई, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, कश्मीर यूनिवर्सिटी
34. देखें, पेज 71, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज़ इन कश्मीर,* डी.एन. धर, कनिष्क पब्लिशर, डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2001
35. देखें, पेज 152, *कश्मीर एंड द फ्रीडम मूवमेंट,* परमानन्द पाराशर, सरूप एंड संस, नई दिल्ली, 2004
36. देखें, पेज 199-200, अध्याय 5, *डोगरा राज एंड द स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर,* मोहम्मद यूसुफ़ गनाई, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, कश्मीर यूनिवर्सिटी
37. देखें, पेज 17, *शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला,* एस.आर. बख़्शी, अनमोल पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1998
38. देखें, पेज 97, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर,* एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
39. देखें, पेज 208-09, अध्याय 5, *डोगरा राज एंड द स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर,* मोहम्मद यूसुफ़ गनाई, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, कश्मीर यूनिवर्सिटी
40. देखें, पेज 21, *शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला,* एस.आर. बख़्शी, अनमोल पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1998
41. देखें, पेज 51, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार, शेख़ अब्दुल्ला,* अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
42. देखें, पेज 357, *फ्रीडम मूवमेंट इन कश्मीर,* जी.एच. ख़ान, लाइफ़ एंड लाइट पब्लिशर्स, दिल्ली, 1980
43. देखें, पेज 176, द *हिस्ट्री फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली,1954
44. देखें, पेज 159, द *ब्लेज़िंग चिनार, शेख़ अब्दुल्ला,* अनुवाद : मोहम्मद अमीन, दूसरा संस्करण, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, 2016

45. हिन्दुस्तान टाइम्स के 16 जुलाई, 2017 के अंक में प्रकाशित पारोमिता घोष का लेख
46. देखें, पेज 181-186, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर,* एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
47. देखें, पेज 545-46, खंड 1, *कश्मिरीज़ फ़ाइट फ़ॉर फ्रीडम,* एम.वाय. सर्राफ़, फेरोज़ूंस लिमिटेड, लाहौर-1977
48. देखें, पेज 181, द *हिस्ट्री फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर,* प्रेमनाथ बज़ाज़, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली-1954
49. देखें, पेज 266, चित्रलेखा जुत्शी, *लैंग्वेंज ऑफ़ बिलांगिंग : इस्लाम, रीज़नल आइडेंटिटी एंड मेकिंग ऑफ़ कश्मीर,* परमानेंट ब्लैक, दूसरा संस्करण, 2015
50. देखें, वही पेज 270-72
51. देखें, वही, पेज 272
52. देखें, पेज 107-08, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर,* एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
53. देखें, पेज 23, *शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला,* एस.आर. बख़्शी, अनमोल पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1998
54. देखें, पेज 61, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज इन कश्मीर,* डी.एन. धर, कनिष्क पब्लिशर, डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2001
55. देखें, पेज 111-12, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर,* एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
56. देखें, वही, पेज 116
57. देखें, पेज 228, अध्याय 5, *डोगरा राज एंड द स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर,* मोहम्मद यूसुफ़ गनाई, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, कश्मीर यूनिवर्सिटी
58. देखें, पेज 35, *कश्मीर इन क्रूसिबल,* प्रेमनाथ बज़ाज़, पाम्पोश पब्लिकेशन, 1967
59. देखें, पेज 253, अध्याय 5, *डोगरा राज एंड द स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम इन कश्मीर,* मोहम्मद यूसुफ़ गनाई, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, कश्मीर यूनिवर्सिटी
60. देखें, पेज 63, *माय लाइफ़,* डी.डी. ठाकुर, लेक्सिस नेक्सिस, गुडगाँव, 2017

अध्याय-7

विभाजन, परिवर्तन और विडम्बनाएँ

नये देश में नये समीकरण

[1947-1949]

मैं यह सोचने के लिए बाध्य हूँ कि महाराजा और काक इस सम्भावना पर बहुत गम्भीरता से विचार कर रहे हैं कि यदि भारत सरकार बनती है तो वह उसमें शामिल नहीं होंगे। मुझे आशंका है कि महाराजा का दृष्टिकोण यह है कि एक बार जब ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता समाप्त हो जाएगी तो कश्मीर आज़ाद हो जाएगा और उसे अपने पैरों पर खड़ा होना होगा। और यह कि तब वफ़ादारी का सवाल नहीं रह जाएगा और कश्मीर रूस सहित किसी भी ताक़त के साथ समझौता करने के लिए आज़ाद होगा।[1]

[14 नवम्बर, 1946 को तत्कालीन ब्रिटिश रेज़िडेंट द्वारा वायसराय को भेजी गई रिपोर्ट से]

अंग्रेज़ों के आने से पहले भारत नाम का कोई एक देश नहीं था। एक भूभाग था जिसकी संस्कृतियों में कई समान बिन्दु थे और जो छोटे-बड़े रियासतों में बँटा था—और हर रियासत का अपना एक अलग देश था। लेकिन आज़ादी की लम्बी लड़ाई की प्रक्रिया में भारतीय राष्ट्रवाद का विकास हुआ और एक देश की भावना बलवती हुई। ज़ाहिर है कि यह भी एकरेखीय नहीं हो सकता था। धार्मिक और भौगोलिक विभिन्नताओं ने इसमें एक भूमिका निभाई और अन्ततः इस भूभाग का हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में बँटवारा हुआ। किताब की विषयवस्तु के हिसाब से भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन या फिर बँटवारे का विस्तृत विवेचन तो विषयान्तर होगा लेकिन इस बँटवारे पर थोड़ी-सी बात करनी ज़रूरी है।

बँटवारे के जिस आधार पर सबसे अधिक बात होती है, वह है धार्मिक आधार। ज़ाहिर है, मुस्लिम लीग ख़ुद को मुसलमानों का रहनुमा क्लेम करती थी और पाकिस्तान उसने 'मुसलमानों का देश' के रूप में ही माँगा था। लेकिन इसके बरअक्स कांग्रेस ने कभी 'हिन्दुओं का रहनुमा' होने का दावा नहीं किया बल्कि वह हमेशा

से ही हर धर्म और जाति के प्रतिनिधित्व की बात करती रही। इसलिए भारत को 'हिन्दुओं का देश' क्लेम नहीं किया गया। साफ़ कहा गया कि यह एक लोकतांत्रिक और सेक्यूलर देश होगा जिसमें सबके लिए जगह होगी। 'हिन्दुओं का देश' का दावा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ या फिर हिन्दू महासभा जैसे संगठनों ने किया जिनकी भारत के मुक्ति-संग्राम में कोई भूमिका नहीं थी लेकिन हिन्दू-मुसलमान की इस बायनरी में वे अचानक महत्त्वपूर्ण ताक़त की तरह उभरे। बाक़ी धर्मों का मामला बहुत ज़ोर नहीं पकड़ सका क्योंकि पंजाब और पश्चिमी भारत में सिख और मुसलमानों की पारम्परिक प्रतिद्वंद्विता के कारण हिन्दुओं और सिखों की एकता बनी और मुसलमान अन्य बना या कहें, मुसलमानों के लिए सिख और हिन्दू साझा अन्य बने। हालाँकि मज़बूत अकाली आन्दोलन के भारत के साथ मतभेद आगे जाकर उभरे और अस्सी के दशक में सिख अलगाववाद की पंजाब और देश ने भारी क़ीमत चुकाई। ईसाई वैसे भी संख्या में बहुत कम और बिखरे हुए थे इसलिए उनका सवाल कोई महत्त्वपूर्ण सवाल बन नहीं सकता था, ख़ास तौर से तब जब अधिकांश ब्रिटिश नागरिकों ने यहाँ बसने की जगह लौटना तय किया। लेकिन धर्म के साथ ही भूगोल का सवाल भी बेहद महत्त्वपूर्ण था। इसीलिए हम देखते हैं कि पश्चिम और पूरब में तो मुस्लिम-बहुल इलाक़ों को पाकिस्तान के साथ जाने में कोई समस्या नहीं हुई लेकिन हैदराबाद या जूनागढ़ जैसे इलाक़ों के मुस्लिम शासकों के पाकिस्तान समर्थक रुख़ को कूटनीतिक और सैन्य, दोनों स्तर पर निष्प्रभावी कर दिया गया।

सिद्धान्त रूप में देखें तो रजवाड़ों के सामने दो विकल्प थे : भारत या पाकिस्तान में विलय अथवा अपनी आज़ादी। ज़्यादातर रजवाड़े अपना शासन बनाये रखना चाहते थे लेकिन नये हालात में यह दूसरा विकल्प सिर्फ़ काग़ज़ी था। हाउस ऑफ़ कॉमंस में जुलाई, 1947 में बोलते हुए ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली ने यह उम्मीद ज़ाहिर की कि 'उचित समय में सभी रजवाड़े इन दोनों देशों में से किसी एक देश में शामिल हो जाएँगे।' आगे वह जोड़ते हैं : 'यदि कोई शासक आज़ादी पर ब-ज़िद है तो उसे मेरी सलाह यह होगी कि कुछ वक़्त लीजिए और फिर से सोचिए। मुझे उम्मीद है कि जल्दी में ऐसा कोई निर्णय नहीं लिया जाएगा जिसे बदला न जा सके।' उसी महीने हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स में बोलते हुए भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट्स लॉर्ड लिस्टोवेल ने कहा कि 'ब्रिटिश सरकार किसी भी राज्य के स्वतंत्र अन्तरराष्ट्रीय अस्तित्व को मान्यता प्रस्तावित नहीं करती है।' भारत में 25 जुलाई, 1947 को रजवाड़ों के प्रतिनिधियों की एक बैठक चैम्बर ऑफ़ प्रिंसेज़ में बोलते हुए लॉर्ड माउंटबेटन ने भौगोलिक बाध्यताओं को नज़रअन्दाज़ करने के बरअक्स उनको चेताते हुए कहा कि 'आप न तो उस जनता से भाग सकते हैं जिसके कल्याण के लिए आप ज़िम्मेदार हैं और न ही उस देश की सरकार से—जो आपके पड़ोस में है।'[2]

अब दुर्योग कहें या संयोग, कश्मीर तत्कालीन भारतीय उपमहाद्वीप का इकलौता वह इलाक़ा था जहाँ ये सारी विडम्बनाएँ एकसाथ उपस्थित थीं। भौगोलिक रूप से देखें तो उसकी सीमाएँ भारत और पाकिस्तान, दोनों से साझा थीं। जनसंख्या का बहुलांश मुस्लिम था और शासक हिन्दू। इतिहास के इस मोड़ पर शेख़ अब्दुल्ला और महाराजा हरि सिंह के साथ दो कश्मीरी पंडित महत्त्वपूर्ण भूमिकाओं में थे—आज़ाद हिन्दुस्तान के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और महाराजा हरि सिंह के प्रधानमंत्री रामचन्द्र काक। नेहरू के बारे में तो ख़ैर, बात होती ही है और आगे भी होगी लेकिन काक के बारे में बहुत कम बात होती है। काक और कश्मीर की भावी स्थिति को लेकर उनके नज़रिये पर थोड़ी-सी बात कर लेना न केवल उस दौर और विलय की बारीक़ियों को समझने के लिए बल्कि उस इतिहास की सीमाओं को समझने के लिए भी सुविधाजनक होगा जिसे हिन्दू-मुस्लिम बायनरी के सहारे तैयार किया जाता है।

रामचन्द्र काक और संक्रमण काल का संकट

5 जून, 1893 को जन्मे रामचन्द्र काक ने श्रीप्रताप कॉलेज, श्रीनगर से स्नातक किया और फिर आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया के तत्कालीन महानिदेशक सर जॉन मार्शल से अगले 5 सालों तक पुरातत्त्व का प्रशिक्षण लिया। इसके बाद उन्हें जम्मू और कश्मीर नवगठित पुरातत्त्व और शोध विभाग का निदेशक बनाया गया और साथ ही महाराजा के समृद्ध पुस्तकालय की ज़िम्मेदारी भी दी गई। अगले दस साल उन्होंने पुरातत्त्व के क्षेत्र में उल्लेखनीय काम किया। उनकी किताब *एंशियंट मान्यूमेंट्स ऑफ़ कश्मीर* के पुरातात्त्विक स्रोतों के आधार पर लिखी गई पहली और बेहद महत्त्वपूर्ण किताब है। 1937 में उन्हें प्रशासन में लाया गया और वह मुख्य सचिव नियुक्त हुए।[3] 1942-45 तक वह हरि सिंह के मंत्रिमंडल में मिनिस्टर इन वेटिंग के हैसियत से रहे और जून, 1945 में प्रधानमंत्री बनाये गए। एक दशक से अधिक समय के डोगरा राज में प्रधानमंत्री पद तक पहुँचने वाले वह पहले और आख़िरी कश्मीरी-भाषी कश्मीरी पंडित थे। इसके पहले 30 के दशक में प्रधानमंत्री रहे हरिकिशन कौल पंजाब से लाए गए थे।[4] ज़ाहिर है, यह आधुनिक कश्मीरी इतिहास का सबसे उलझा हुआ और महत्त्वपूर्ण समय था और काक के निर्णय कश्मीर के भविष्य के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण होने वाले थे।

अगर हिन्दू-मुस्लिम बायनरी में देखें तो डोगरा राजपूत महाराजा और कश्मीरी पंडित प्रधानमंत्री के रहते विलय का सबसे स्वाभाविक विकल्प एक हिन्दू-बहुल देश भारत के साथ विलय। लेकिन इतिहास ऐसे सरलीकरणों से नहीं चलता तो क़िस्सा काफ़ी अलग है। नेशनल कॉन्फ्रेंस के 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन के दौरान कश्मीरी

प्रशासन के प्रमुख काक शेख़ की गिरफ़्तारी के लिए भी ज़िम्मेदार थे और फिर शेख़ की वकालत के लिए श्रीनगर आ रहे जवाहरलाल नेहरू को रोकने के लिए भी। नेहरू की गिरफ़्तारी का असर गहरा पड़ा था और जब वायसराय ने हरि सिंह को इस कार्यवाही पर चेतावनी दी तो अपनी ग़लती स्वीकार कर हरि सिंह ने काक को बम्बई भेजा जहाँ उन्होंने सरदार पटेल से मिलकर माफ़ी माँगी और नेहरू के प्रदेश में प्रवेश पर प्रतिबन्ध को समाप्त कर दिया गया। इसके बाद 24 जून को नेहरू शेख़ की पैरवी के लिए श्रीनगर पहुँचे। लेकिन सारी कोशिशों के बावजूद 10 सितम्बर, 1946 को शेख़ अब्दुल्ला को देशद्रोह के अपराध में तीन भाषणों के लिए तीन-तीन साल का कारावास और पाँच-पाँच सौ का जुर्माना लगाया गया। सरदार बुध सिंह और मौलाना मसूदी सहित सैकड़ों अन्य कार्यकर्ताओं को भी कारावास की सज़ाएँ दी गईं।[5] ज़ाहिर है, काक और नेहरू एक दूसरे की गुडबुक में नहीं थे। वजह भी कोई निजी नहीं हो सकती थी। काक की निष्ठा और प्रतिबद्धताएँ डोगरा राज के प्रति थीं तो नेहरू की नये बनते भारतीय गणराज्य में, इसलिए उनके लिए बेहतर सहयोगी थे शेख़ अब्दुल्ला। हरि सिंह का मानना था कि उनके पुरखों की सन्धि ब्रिटिश साम्राज्य से हुई थी और उनकी विदाई के बाद स्वाभाविक रूप से वह न केवल इस सन्धि से आज़ाद हो जाएँगे बल्कि कश्मीर पर उनका शासन का अधिकार भी अक्षुण्ण रहेगा। वह न तो बदले हुए राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय हालात को समझने की कोशिश कर पा रहे थे, न ही कश्मीरी जनता के उभार को। हालाँकि उनके सम्मुख यह तो स्पष्ट था कि भारत या पाकिस्तान से दुश्मनी करके कश्मीर का सुरक्षित रहना सम्भव नहीं, तो वह दोनों देशों से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने की कोशिश कर रहे थे। काक के 1956 में लिखे एक लम्बे नोट से उस समय के हालात और ख़ास तौर पर काक और हरि सिंह के रुख़ के बारे में पता चलता है। यह नोट तत्कालीन राज्य पुलिस प्रमुख रिचर्ड पॉवेल के काग़ज़ात में लन्दन की ब्रिटिश लाइब्रेरी में उपलब्ध है। हाल ही में प्रकाशित किताब *जम्मू एंड कश्मीर: डिलेमा ऑफ़ एक्सेशन* में राजा रामन ने यह पूरा नोट शामिल किया है। बदले हुए हालात में लिखे इस नोट पर पूरी तरह भरोसा करना तो एकदम सही नहीं होगा। यह सम्भव है ही कि इसे काक ने ख़ुद को पाक-साफ़ साबित करने के लिए लिखा हो, लेकिन इसमें कई एक ऐसे रोचक तथ्य हैं जो उस समय के हालात को समझने में मदद करते हैं।

काक कहते हैं कि 'विलय का मुद्दा दो बार उठा। पहली बार 1946 में, जब कैबिनेट मिशन भारत आया और दूसरी बार 1947 में, जब आज़ादी मिली। दोनों बार राज्य का स्टैंड एक ही था। राज्य किसी भी हालत में विलय नहीं चाहता था। इस नोट के अनुसार भारत से विलय को लेकर महाराजा और प्रधानमंत्री की राय एक ही थी और वह विलय के समर्थन में नहीं थी।' काक के लिए इसका स़बसे बड़ा कारण 'राज्य के मामलात में नेहरू का रवैया' था।[6] यह रवैया ज़ाहिर तौर पर शेख़ अब्दुल्ला का समर्थन और कश्मीर में लोकतांत्रिक राज्य

की स्थापना था। काक के रिश्ते पटेल से अच्छे थे लेकिन जब बम्बई में उनके बेटे दयाल भाई के घर पर उन्होंने मुलाक़ात की तो पटेल और गांधी, दोनों ने ही उन्हें शेख़ को छोड़ने की सलाह दी, लेकिन वह इसके लिए तैयार नहीं हुए।

18 जून, 1947 को माउंटबेटन की श्रीनगर-यात्रा के दौरान हरि सिंह का व्यवहार उनके रवैये का परिचय देता है। चार दिनों की प्रतीक्षा के बाद भी वह उनसे अकेले में नहीं मिले। पूरे वक़्त वह या तो बीमारी का बहाना करते रहे या फिर इधर-उधर की बातें।[7] काक बताते हैं कि माउंटबेटन से उन्होंने स्पष्ट रूप से पूछा था—आप कश्मीर का किस गणराज्य में विलय चाहते हैं? माउंटबेटन ने जवाब दिया—यह तो आपको तय करना है। आप अपनी भौगोलिक अवस्थिति, राजनीतिक अवस्थिति और जनता के धार्मिक संघटन को ध्यान में रखते हुए फ़ैसला लीजिए। काक ने जवाब दिया—इसका मतलब तो यह हुआ कि आप हमें पाकिस्तान में विलय की सलाह दे रहे हैं! यह हम नहीं कर सकते। और चूँकि कश्मीर की हक़ीक़त यह है इसलिए हम भारत से भी विलय नहीं कर सकते। दूसरे अल्फ़ाज़ में, चूँकि कश्मीर पाकिस्तान से विलय नहीं कर सकता है तो हिन्दुस्तान से भी विलय नहीं कर सकता।[8] हालाँकि बर्डवुड का मानना है कि रामचन्द्र काक लगातार पाकिस्तान के सम्पर्क में थे और पाकिस्तानी प्रशासन उन्हें प्रलोभन दे रहा था।[9] बलराज मधोक भी काक के दावे को बहुत महत्त्व नहीं देते और हरि सिंह को भारत समर्थक साबित करते हुए कश्मीर को स्वतंत्र रखने के स्वप्न को काक की महत्त्वाकांक्षा का परिणाम बताते हैं![10] ज़ाहिर है, डोगरों से भरी प्रजा परिषद के समर्थक मधोक के लिए डोगरा राजा हरि सिंह को भारत समर्थक बताना और एक कश्मीरी पंडित काक को सारी गड़बड़ का ज़िम्मेदार बता देना अपनी साम्प्रदायिक राजनीति के लिए अधिक सहज था। आख़िर, उस दौर में प्रजा परिषद और बाद में जनसंघ को घाटी के अन्दर पंडितों में आधार बनाने में कोई सफलता नहीं मिली थी और जम्मू उनका गढ़ था। यहाँ एक मानीखेज़ तथ्य यह है कि जब शेख़ ने क़बायली हमले के बाद काक को गिरफ़्तार किया तो श्रीनगर बार के कश्मीरी पंडित वकीलों ने उनका केस लेने से भी मना कर दिया और अन्ततः उन्हें एम.एल. क़ुरैशी का सहारा लेना पड़ा।[11]

बहुत बाद में 1984 में लैरी कॉलिन्स और डोमनिक लैपियर को दिये गए एक साक्षात्कार में माउंटबेटन ने स्वीकार किया कि उन्होंने हरि सिंह से कहा था कि वह चाहते हैं कि कश्मीर का पाकिस्तान में विलय हो क्योंकि वहाँ की बहुसंख्य आबादी मुसलमान थी लेकिन हरि सिंह ने कहा कि वह किसी क़ीमत पर पाकिस्तान से विलय नहीं करेंगे लेकिन वह भारत से भी नहीं मिलना चाहते थे क्योंकि उन्हें लगता था कि शायद जनता इसे स्वीकार न करे। माउंटबेटन उसी साक्षात्कार में बताते हैं कि 'मैं ईमानदारी से कहूँगा कि मैं चाहता था कि कश्मीर

का पाकिस्तान से विलय हो लेकिन रेडक्लिफ़ ने कश्मीर का विलय भारत से सम्भव कराके हमें बड़ी मुसीबत में डाल दिया।[12]

असल में भौगोलिक लिहाज़ से भी देखें तो कश्मीर के दो प्रमुख सम्पर्क मार्ग थे—वाया लाहौर, रावलपिंडी और मुरी से होकर मुज़फ़्फ़राबाद तथा श्रीनगर और सियालकोट, जम्मू तथा बनिहाल दर्रे से होकर श्रीनगर। एक तीसरा रास्ता गुरुदासपुर से था जो बेहद टूटा-फूटा था। लाहौर और सियालकोट का पाकिस्तान में जाना तय था। ऐसे में बस गुरुदासपुर से जानेवाला रास्ता ही बचता था। जनसंख्या के लिहाज़ से गुरुदासपुर पर भी पाकिस्तान का हक़ बन सकता था। लेकिन अन्तत: रावी के सहारे गुरुदासपुर को दो हिस्सों में कुछ इस तरह बाँटा गया कि कश्मीर से सम्पर्क का मार्ग भारत में रह गया।[13] वैसे, अंग्रेज़ी अफ़सरों और दूसरे प्रमुख लोगों के कश्मीर के पाकिस्तान में विलय के समर्थन की यह कोई अकेली घटना नहीं थी। *ओरिजिंस ऑफ़ अ डिस्प्यूट : कश्मीर, 1947* में प्रेमशंकर झा बताते हैं कि जम्मू और कश्मीर के स्टेट फोर्सेज़ के प्रमुख मेजर जनरल स्कॉट ने निजी रूप से महाराजा पर दबाव बनाने की कोशिश की थी कि वह पकिस्तान के साथ विलय कर लें।[14] उस समय के सबसे प्रभावी अंग्रेज़ी अख़बार द *स्टेट्समैन* के सम्पादक इयान स्टीफेंस ने क़बायली हमले के चलते महाराजा के विलय-पत्र पर हस्ताक्षर के तुरन्त बाद, भारतीय सेना के कश्मीर में प्रवेश का विरोध करते हुए, 28 अक्टूबर, 1947 को लिखे अपने बेहद महत्त्वपूर्ण सम्पादकीय 'ख़तरनाक चालें' में कहा : 'इस अस्वाभाविक उलझन का तार्किक निष्कर्ष तो यह होना चाहिए था कि जूनागढ़ के शासक को और उचित समय में हैदराबाद के शासक को भारतीय संघ में शामिल होने के लिए मन बनाना चाहिए था और कश्मीर को पाकिस्तान में शामिल होने के लिए,[15] तो गिलगिट-बाल्टिस्तान पर पाकिस्तान का झंडा उस समय गिलगिट स्काउट के प्रमुख और इस रूप में महाराजा के वेतनभोगी मेजर ब्राउन ने ही फहरवाया था। उसकी भूमिका का महत्त्व हम इसी तथ्य से समझ सकते हैं कि पाकिस्तान ने उन्हें मरणोपरांत 'सितारा-ए-पाकिस्तान' का सम्मान दिया।[16] इस्लामाबाद के 'नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ़ हिस्टॉरिकल एंड कल्चरल रिसर्च' के प्रोफ़ेसर एमेरिटस डॉ. अहमद हसन दानी बताते हैं कि हुंज़ा के मीर सहित कश्मीरी सेना के अधिकतर अधिकारियों और प्रभावी लोगों के पाकिस्तान के पक्ष में होने के बावजूद 'गिलगिट का भविष्य मेजर विलियम ब्राउन के हाथों में ही था।'[17] अमानुल्ला ख़ान का मानना है कि ब्राउन का यह समर्थन उनकी किसी निजी पसन्दगी का परिणाम नहीं था बल्कि बड़े ब्रिटिश षड्यंत्र का हिस्सा था। ब्रिगेडियर घंसारा सिंह के हवाले से वह बताते हैं कि श्रीनगर में महाराजा से मिलने आए हुंज़ा के मीर, चित्राल के राजा और गिलगिट बाल्टिस्तान के दीगर इलाक़ों के प्रमुखों की एक बैठक सरदार इब्राहिम से हुई थी। अमानुल्ला ख़ान

पाकिस्तानी कर्नल मिर्ज़ा हसन ख़ान के हवाले से यह भी बताते हैं कि यह बैठक ब्रिटिश अधिकारियों ने कराई थी। गिलगिट-बाल्टिस्तान के इस पूरे घटनाक्रम में उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत के ब्रिटिश गवर्नर सीधी रुचि ले रहे थे। उनका यह कहना है कि पाकिस्तान से विलय का फ़ैसला असल में भारत से उसके विलय के काफ़ी पहले ही ले लिया गया था।[18]

लेकिन आश्चर्यजनक है सरदार पटेल की कश्मीर को लेकर कम-से-कम आरम्भिक दौर में अनिच्छा। एम.जे. अकबर ने माउंटबेटन के हवाले से 'सड़े सेबों' का एक क़िस्सा सुनाया है जिसमें वह माउंटबेटन से कहते हैं कि मुझे सभी 565 (उस समय भारत में रजवाड़ों की संख्या) सेब चाहिए लेकिन माउंटबेटन के यह कहने पर कि अगर मैं कुछ वापस लेना चाहूँ तो, वह कहते हैं कि हम 560 से भी काम चला लेंगे। कश्मीर इन्हीं 5 'सेबों' में से था। शायद इसीलिए 1947 के बाद जवाहरलाल द्वारा बार-बार यह ध्यान दिलाये जाने पर कि पाकिस्तान कश्मीर पर क़ब्ज़ा करने के लिए कोई चाल चल सकता है, पटेल ने कोई तवज्जो नहीं दिया। इस सन्दर्भ में उनके सचिव वी.पी. मेनन पर्याप्त इशारा करते हैं :

> पाकिस्तान ने एक स्टैंड स्टिल समझौता किया। लेकिन हम इसके प्रभावों को समझने के लिए वक़्त चाहते थे। हमने राज्य को उसके हाल पर छोड़ दिया। हमने महाराजा से विलय के लिए नहीं कहा जबकि उस समय (विभाजन के बाद) रेडक्लिफ़ अवार्ड के बाद राज्य सड़क मार्ग से हिन्दुस्तान से जुड़ गया था। जनसंख्या के संघटन के चलते वहाँ की अपनी विशिष्ट समस्याएँ थीं। यही नहीं, हमें पहले ही काफ़ी कुछ मिल चुका था और अगर सच कहूँ तो मेरे पास कश्मीर के बारे में सोचने का वक़्त ही नहीं था।[19]

यहाँ तक कि जब महाराजा ने क़बायली हमले के बाद विलय-पत्र का प्रस्ताव भेजा तो भी पटेल का कहना था कि 'हमें कश्मीर के मामले में नहीं उलझना चाहिए। पहले ही हमारे पास काफ़ी राज्य हैं।'[20] उस दौर में माउंटबेटन के सहयोगी रहे एलेन कैम्पबेल ने अपनी किताब *मिशन विथ माउंटबेटन* में लिखा है कि 'सरदार वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में राज्यों से सम्बन्धित मंत्रालय ने अपनी सीमा से बाहर जाकर ऐसी कोई कार्यवाही नहीं की जिससे यह लगे कि कश्मीर को भारत से जोड़ने के लिए कोई दबाव बनाया जा रहा है और पाकिस्तान को यह स्पष्ट सन्देश दिया गया कि अगर कश्मीर उसके साथ जाता है तो भारत को कतई बुरा नहीं लगेगा।'[21] विडम्बना ही है कि आज कश्मीर को लेकर नेहरू को बार-बार कठघरे में खड़ा किया जाता है और कहा जाता है कि अगर पटेल की चलती तो कश्मीर में कोई समस्या नहीं होती, लेकिन अगर इस बिन्दु पर पटेल की चलती तो शायद कश्मीर कभी भारत का हिस्सा ही नहीं होता।

यहाँ रुककर हम कश्मीर में नेशनल कॉन्फ्रेंस सहित अन्य सक्रिय राजनीतिक ताक़तों के रुख़ को भी देख लेते हैं। शेख़ अब्दुल्ला इस बात को लेकर बहुत स्पष्ट थे कि बड़ी ताक़तों से घिरे एक छोटे-से देश के लिए अपनी आज़ादी बरक़रार रख पाना लगभग असम्भव था। यह तभी सम्भव था जब दोनों ताक़तें एक स्वतंत्र कश्मीर के लिए सहमत हों और उसकी स्थिरता की गारंटी दें। यही नहीं, भारत और पाकिस्तान के साथ विलय का सवाल उनके लिए साम्प्रदायिक सवाल नहीं था। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि मुस्लिम लीग पर हमेशा ही सामन्ती ताक़तों का प्रभुत्व रहेगा। ऐसे में 'नया कश्मीर' का दर्शन पाकिस्तान के साथ मिलकर कभी फलीभूत नहीं हो सकता था जबकि एक सेक्यूलर और लोकतांत्रिक भारत में इसे लागू करना सम्भव था।[22] वहीं, भारतीय जनसंघ के पहले अवतार तत्कालीन आल जम्मू एंड कश्मीर राज्य हिन्दू सभा ने मई, 1947 में महाराजा के प्रति अपनी निष्ठा दुहराते हुए एक प्रस्ताव में कहा : 'हम पूरी तरह महाराजा के साथ हैं। वह विलय के मुद्दे पर जो कर रहे हैं या करेंगे, हम पूरी तरह उसके समर्थन में हैं।' इसी महीने में आल जम्मू एंड कश्मीर मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के कार्यकारी अध्यक्ष चौधरी हमीदुल्ला ख़ान ने भी ऐसा ही रुख़ अपनाते हुए कहा कि 'महामहिम को तुरन्त कश्मीर को आज़ाद घोषित कर देना चाहिए और राज्य का संविधान बनाने के लिए एक नई संविधान सभा का गठन करना चाहिए।' उन्होंने एक आज़ाद और लोकतांत्रिक कश्मीर के पहले संवैधानिक प्रमुख के रूप में महाराजा को मुस्लिम समुदाय के पूर्ण सहयोग और समर्थन का आश्वासन देते हुए कहा कि अगर पाकिस्तान सरकार कोई आक्रमण करती है तो राज्य के मुसलमान पाकिस्तान के ख़िलाफ़ हथियार लेकर खड़े होंगे और अगर ज़रूरत पड़ी तो भारत की मदद भी ली जाएगी।[23] इस बयान से साफ़ लगता है कि पाकिस्तान के आक्रमण की सम्भावना हवाओं में थी। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि नेशनल कॉन्फ्रेंस के अलावा उस समय तक कश्मीरी राजनीति का कोई भी हिस्सा भारत में विलय के लिए उत्साहित नहीं था। उस समय तक तो मुस्लिम कॉन्फ्रेंस भी पाकिस्तान के साथ विलय को लेकर कतई उत्साहित नहीं थी। बलराज पुरी बताते हैं कि उस दौर में भारत का समर्थन करनेवालों को, जिनमें वह ख़ुद शामिल थे, हिन्दू कट्टरपंथी धड़ा हिन्दू-विरोधी और ग़द्दार कहकर बुलाता था। भारत से विलय और शेख़ अब्दुल्ला की रिहाई की माँग करनेवाले मुल्कराज सर्राफ़ द्वारा सम्पादित अख़बार *रणबीर* पर जून के महीने में पाबन्दी लगा दी गई।[24] उस दौर में जम्मू विश्वविद्यालय छात्रसंघ के अध्यक्ष रहे वेद भसीन बताते हैं कि 15 अगस्त के बाद जम्मू में महाराजा समर्थक प्रजा-सभा और आर. एस. एस. ने तिरंगा नहीं बल्कि डोगरा राज का झंडा फहराया था। बैनर लगाये गए थे जिन पर लिखा था : महाराजा हरि सिंह के अधीन स्वतंत्र-संप्रभु जम्मू और कश्मीर,

लद्दाख, बाल्टिस्तान देश। ख़ास तौर पर पंडित प्रेमनाथ डोगरा के नेतृत्ववाली प्रजा-सभा वहाँ इस अभियान में सक्रिय थी। ज़ाहिर तौर पर यह सब महाराजा और उनके तत्कालीन प्रधानमंत्री काक के इशारे पर हो रहा था जो भारत के साथ जुड़ना नहीं चाहते थे।[25]

चित्रलेखा ज़ुत्शी सहित कई लोग न केवल 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन को असफल बताते हैं बल्कि उनका दावा है कि उस समय शेख़ की लोकप्रियता बहुत कम हो गई थी। मुस्लिम लीग भी लगातार यह दावा कर रही थी। लेकिन वास्तविकता लाहौर से निकलनेवाले प्रमुख अंग्रेज़ी अख़बार *द डॉन* की 30 अक्टूबर, 1946 को अभिव्यक्त इस कुंठा से ज़ाहिर होती है—शेख़ अब्दुल्ला ने जनता पर अपने प्रभाव का ग़लत इस्तेमाल किया।[26] नेहरू शेख़ की इसी लोकप्रियता के भरोसे कश्मीर का भारत में विलय चाहते थे।

ज़ाहिर है कि इस अनिश्चितता के साथ हरि सिंह बहुत लम्बे समय तक नहीं चल सकते थे। चीज़ें बहुत तेज़ी से बदल रही थीं और ऐसे में दोनों देशों से स्टैंडस्टिल समझौते करके और शेख़ तथा नेशनल कॉन्फ्रेंस के अन्य नेताओं को जेल में रखकर कश्मीर को आज़ाद रखने की काक की कोशिश बेहद नाकाफ़ी थी। काक जुलाई में जिन्ना से भी मिले थे और जिन्ना ने कहा था कि अगर कश्मीर पाकिस्तान में तुरन्त विलय करता है तो उसे काफ़ी फ़ायदा होगा। लेकिन काक के इनकार करने पर जिन्ना ने आश्वस्त किया था कि जब तक कश्मीर हिन्दुस्तान में विलय नहीं करता, उन्हें कोई समस्या नहीं है।[27]

काक एक और मज़ेदार क़िस्सा सुनाते हैं। महाराजा उन दिनों एक स्वामी संत देव के प्रभाव में थे। करण सिंह भी अपनी आत्मकथा में इसका ज़िक्र करते हैं। स्वतंत्र राजा के रूप में जम्मू और कश्मीर पर राज करने के उनके दिवास्वपन का एक और आधार था—राजगुरु संतदेव की भविष्यवाणी! काँगड़ा महाराजा की ससुराल थी और वहाँ के डोगरा राजपूतों और रानी के भाई ठाकुर नचिन्त चन्द पर संतदेव ने अपना पूरा प्रभाव जमा लिया था। उसने भविष्यवाणी की थी कि हरि सिंह पूरे जम्मू और कश्मीर के चक्रवर्ती सम्राट बनेंगे[28] तो महाराजा एक स्वतंत्र डोगरिस्तान की योजना बना रहे थे जिसमें जम्मू और कश्मीर के साथ-साथ काँगड़ा और हिमाचल के कुछ और इलाक़े शामिल होने थे। काक ने इस योजना में रुचि नहीं दिखाई तो वह महाराजा की नज़रों से उतर गए।[29] हालाँकि काक के इन नोट्स पर पूरी तरह भरोसा करना मुश्किल है लेकिन 1 अगस्त, 1947 को गांधी जी की कश्मीर-यात्रा और शेख़ के खुले समर्थन के बाद शायद हरि सिंह की समझ में आ गया था कि फ़ैसले जल्दी लेने पड़ेंगे, तो बलि चढ़ी प्रधानमंत्री काक की। काक बताते हैं कि उन्हें ही नहीं, पूरे प्रशासन को हटा दिया गया। असल में शेख़ अब्दुल्ला की रिहाई में हो रही देरी और कश्मीर की अनिश्चितता को देखकर जवाहरलाल नेहरू ख़ुद

कश्मीर जाना चाहते थे। लेकिन हालात की नाज़ुकी देखते हुए माउंटबेटन नहीं चाहते थे कि वह कश्मीर जाएँ और कोई नया तनाव पैदा हो। महाराजा भी नेहरू की यात्रा को लेकर सशंकित थे। ऐसे में माउंटबेटन के आग्रह पर महात्मा गांधी ने कश्मीर जाने का निर्णय लिया।

काक को हटाने के बाद पहले महाराजा के रिश्तेदार और राजस्व मंत्री रहे 75 वर्षीय मेजर जनरल जनक सिंह कटोच को सेवानिवृत्ति से वापस बुलाकर और फिर तीन महीनों के भीतर ही सीमा-निर्धारण के समय भारत के प्रतिनिधि रहे पूर्वी पंजाब के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश मेहरचन्द महाजन को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। यह आम मान्यता है कि महाजन के नाम का सुझाव भारत सरकार का था। यही नहीं, उस दौर में भारत के साथ सम्पर्क बेहतर बनाने के लिए सड़क, टेलीग्राफ़ तथा रेल मार्गों को बेहतर बनाने के लिए काम किया गया। सितम्बर, 1947 के अन्त में जम्मू और कश्मीर की राज्य सेनाओं के प्रमुख स्कॉट के सेवानिवृत्त होने पर पटेल ने तत्कालीन रक्षा मंत्री बलदेव सिंह से यह अनुशंसा की कि उसकी जगह लेने के लिए भारतीय सेना के लेफ्टिनेंट कर्नल कश्मीर सिंह कटोच को भेजा जाए। स्पष्ट तौर पर यह नियुक्ति भारत के अपने हित में भी थी और इसका स्वीकार महाराजा की ओर से भारत की ओर बढ़ा हुआ क़दम था। इन *क़दमों* से शेख़ अब्दुल्ला से मित्रता के कारण कांग्रेस को अपना शत्रु समझनेवाले महाराजा के लिए यह स्पष्ट संकेत था कि शेख़ को कश्मीर की राजनीति में उचित स्थान देकर भारत के साथ विलय की दशा में उनके हितों का भी पूरा ध्यान रखा जाएगा।[30] गांधी की यात्रा का महत्त्व इस तथ्य की वजह से भी बढ़ जाता है कि उसी दौरान जिन्ना भी लगातार कश्मीर आने की कोशिश कर रहे थे। उन्होंने महाराजा को कई सन्देशे भिजवाये जिनमें स्वास्थ्य-लाभ के कारण से श्रीनगर आने की बात थी। लेकिन महाराजा ने बड़ी विनम्रता से यह कहते हुए मना कर दिया कि वह अभी इस स्थिति में नहीं हैं कि एक महत्त्वपूर्ण पड़ोसी देश के राज्य-प्रमुख के स्वागत के लिए आवश्यक व्यवस्थाएँ कर सकें।[31]

ज़ाहिर है, ऐसे माहौल में काक प्रासंगिक नहीं रह गए थे। क़बीलाई हमले के बाद जब हरि सिंह ने भारत में विलय का फ़ैसला लिया और प्रशासन को शेख़ अब्दुल्ला के ज़िम्मे छोड़ दिया तो शेख़ ने काक को पाकिस्तान समर्थक घोषित कर उन्हें केवल गिरफ़्तार ही नहीं किया बल्कि उसके पहले मूँज की रस्सियों से बाँधकर श्रीनगर की गलियों में घुमाया गया। 1983 में अनाम मौत मरने तक कश्मीर में चर्चा से बाहर रहे काक का ज़िक्र अचानक इधर फिर से शुरू हो गया है। शेख़ के खलनायक बनने के साथ उन्हें एक ऐसे कश्मीरी पंडित की तरह याद किये जाने की कोशिश हुई है जिसने उस दौर में पाकिस्तान का समर्थन किया था,[32] वहीं दूसरी तरफ़ आश्चर्यजनक लगता है कि डोगरा राज के इस इकलौते

कश्मीरी-भाषी पंडित प्रधानमंत्री को कश्मीरी पंडितों की कौसा जैसी वेबसाइट पर नायकों में शामिल नहीं किया जाता!

नये निज़ाम में पंडित और मुसलमान

विलय के बाद के कश्मीरी पंडितों के लिए हालात नये थे और बिलकुल अलग। एक तरफ़ उस डोगरा शासन का पतन हो चुका था जिससे वह धर्म के आधार पर ख़ुद को जोड़ पाते थे और शेख़ अब्दुल्ला के रूप में कोई साढ़े तीन सौ साल बाद कश्मीरी बोलनेवाला मुसलमान कश्मीर की गद्दी पर था तो दूसरी तरफ़ वह एक नये बने देश के बहुसंख्यक समाज के साथ ख़ुद को जोड़ सकते थे जिसका मुखिया एक कश्मीरी पंडित था यानी एक तरफ़ वे अपने राज्य में अल्पसंख्यक थे तो दूसरी तरफ़ एक ऐसे देश के नागरिक थे जिसके बहुसंख्यकों का धर्म उनका भी धर्म था। भारत के इकलौते मुस्लिम-बहुल राज्य और वह भी पाकिस्तान के सीमावर्ती होने के कारण वहाँ के मुसलमान भी एक विशिष्ट स्थिति में थे और मुसलमानों और पंडितों की इस विशिष्टता का असर उनके आपसी सम्बन्धों तथा भारत के साथ उनके भावी सम्बन्धों पर पड़ना ही था। यही नहीं, डोगरा शासन के पतन और जम्मू और कश्मीर में एक कश्मीरी के सत्ता-प्रमुख बनने के साथ ही जम्मू तथा कश्मीर घाटी के रिश्तों में भी बदलाव अवश्यम्भावी था। आख़िर कश्मीर को जम्मू से जोड़नेवाली इकलौती कड़ी डोगरा शासन था और अब तक जम्मू का कश्मीर पर जो आधिपत्य था, उसके समीकरण पलट चुके थे। कश्मीरियों के लिए यह सैकड़ों वर्षों की ग़ुलामी से मुक्ति थी[33]* तो जम्मू वालों के लिए यह कश्मीर पर जम्मू के डोगरा राज की समाप्ति। वैसे तो अब तक जम्मू भी मुस्लिम बहुल इलाक़ा था लेकिन विभाजन के दौर में जिस तरह आर.एस.एस. और जम्मू में सक्रिय दक्षिणपंथी ताक़तों ने चार लाख के क़रीब मुसलमानों को जम्मू छोड़ने पर मजबूर किया (इनमें से आधे से अधिक मार दिये गए),[34] उसने जम्मू की डेमोग्रेफी बदल दी और पंजाब से आए शरणार्थियों के अतिरिक्त सहयोग से जम्मू धीरे-धीरे हिन्दू कट्टरपंथ के गढ़ में तब्दील हो गया। कश्मीर और जम्मू के बीच हालात और माहौल का अन्तर देखने के लिए पी. एल.डी. बमज़ाई द्वारा वर्णित एक घटना का ज़िक्र काफ़ी होगा :

> क़बायली हमलावरों के अत्याचारों से पीड़ित होकर उनके क़ब्ज़े वाले इलाक़े से बहुत सारे सिख और हिन्दू घाटी में आ गए थे। बेघर और भूखे ये लोग श्रीनगर के लिए ख़तरनाक हो सकते थे। उन्हें अनंतनाग के कैम्पों में रखा गया था। हालाँकि

* 5 नवम्बर, 1951 को जम्मू और कश्मीर विधान सभा के पहले अधिवेशन में शेख़ अब्दुल्ला का बयान।

वहाँ भी कुछ अप्रिय घटनाएँ हुईं तो नेशनल कॉन्फ्रेंस के इमरजेंसी प्रशासन ने उन्हें जम्मू भेजने का इंतज़ाम किया। ईंधन न होने से किसी मोटर का इंतज़ाम असम्भव था। अन्ततः इमरजेंसी सरकार के कार्यकर्ताओं के कहने पर कुछ मुस्लिम ताँगावाले वाले इस जोखिम भरी यात्रा के लिए तैयार हो गए, जो साम्प्रदायिक दंगों से त्रस्त जम्मू और आसपास के इलाक़ों से भली भाँति परिचित थे। उन्होंने अपने यात्रियों को सुरक्षित उनके गंतव्य पर पहुँचा दिया लेकिन अफ़सोस, वापसी में सभी ताँगेवालों का क़त्ल कर दिया गया।[35]

इन नये हालात में जम्मू जहाँ किसी कश्मीरी मुसलमान से शासित होने की जगह जल्दी से जल्दी हिन्दू-बहुल भारत के साथ पूरी तरह जुड़ जाना चाहता था, वहीं शेख़ अब्दुल्ला के नेतृत्व में कश्मीर अपनी विशिष्ट पहचान को बचाए रखने के लिए स्वायत्तता की माँग कर रहा था। जो अनुच्छेद 370 कश्मीरियों के लिए अपने स्वाभिमान की प्रतीक बनी, उसका जम्मू से पुरज़ोर विरोध हुआ और यह प्रक्रिया तथा इसका असर अब भी रुका नहीं है।

क़बीलाई आक्रमण की आड़ में पाकिस्तान का कश्मीर पर हमला* इन नये हालात की पहली अग्निपरीक्षा थी।

---

* हालाँकि पाकिस्तान लगातार इस हमले में अपना हाथ होने से इनकार करता रहा है लेकिन अब इस बात के पर्याप्त सबूत हैं कि इस हमले में पाकिस्तान की सत्ताधारी मुस्लिम लीग और सेना की भूमिका थी। उदाहरण के लिए बर्डवुड लिखते हैं : 'कुछ भी हो, मैं कभी नहीं समझ पाया कि इस सवाल (क़बायली आक्रमण में पाकिस्तान की भूमिका) को रहस्य बना देने में क्या बुद्धिमत्ता है! पाकिस्तान में मेरी अपनी जाँच से कुछ निष्कर्ष निकलते हैं। पहली बात यह कि किसी ब्रिटिश अफ़सरों को इसकी कोई जानकारी नहीं दी गई थी। असल में यह एक नीति बनाई गई थी कि उनको अँधेरे में रखा जाए ताकि बाद में शर्मिंदगी न हो...। दूसरी यह कि कुछ वरिष्ठ अधिकारी इस अभिप्राय को अच्छी तरह जानते थे और उन्होंने नज़रअंदाज़ कर दिया...। अन्त में यह कि सीमांत प्रदेश के मुख्यमंत्री ने, जिनका कश्मीर से पारिवारिक सम्बन्ध था, इसे अपना आशीर्वाद और अप्रश्नेय समर्थन दिया था, जिसके बिना यह कार्यवाही सम्भव नहीं होती। ज़ाहिर तौर पर उनका मानना था कि क़बायली हमला कश्मीर को पाकिस्तान में विलय करने पर मजबूर कर देगा।' यही नहीं, पाकिस्तानी सेना के लेफ्टिनेंट जनरल गुल हसन ख़ान, जो उस समय पाकिस्तानी सेना के कैप्टन और जिन्ना के ए.डी.सी. रहे, 1993 में प्रकाशित अपने संस्मरण में लिखते हैं : 'क़ायदे आज़म ने अपनी सूझबूझ से 27 अक्टूबर, 1947 को कराची से लाहौर जाने का निर्णय लिया। जम्मू और कश्मीर से नज़दीकी के अलावा लाहौर से वह प्रधानमंत्री लियाक़त अली के सम्पर्क में रह सकते थे जो उस समय रक्षा मंत्री भी थे। पंजाब के राज्यपाल सर फ्रेंसिस मंडे और प्रधानमंत्री के साथ एक बैठक में क़ायदे आज़म ने नियमित सेना द्वारा कश्मीर पर क़ब्ज़े की अपनी योजना बताई थी' और 1997 में जिन्ना पर आयोजित बी.बी.सी. के एक टेलीविज़न कार्यक्रम में शौक़त हयात ख़ान ने दावा किया कि 'क़बायलियों के हमले की योजना को ख़ुद क़ायदे आज़म ने संस्तुत किया था।'

इस हमले के मुतल्लिक दो तथ्यों का ज़िक्र कर लेना बेहतर होगा। पहला तो जैसाकि क़बीलाई हमले की ख़बर मिलने पर उस समय *पाकिस्तान टाइम्स* के सम्पादक और सुप्रसिद्ध प्रगतिशील शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने लिखा : 'हम देख सकते थे कि सब खो दिया गया है...। यहाँ कश्मीर के पाकिस्तान में विलय की सारी सम्भावनाएँ ख़त्म हो गईं।'[36] हरि सिंह की सेना इस आक्रमण का मुक़ाबला करने में सक्षम नहीं थी और बिना विलय के भारतीय मदद सम्भव नहीं थी तो आनन-फानन में विलय-पत्र पर हस्ताक्षर हुए, शेख़ को रिहा किया गया और भारतीय सेना के आने तक नेशनल कॉन्फ्रेंस की मिलिशिया ने क़बायलियों का मुक़ाबला किया और अन्ततः कश्मीर का एक हिस्सा तो पाकिस्तान के पास रह गया लेकिन घाटी भारत के हिस्से में आई। युद्धविराम के बाद 31 दिसम्बर, 1948 को यह 'सीज़फ़ायर लाइन बनी' और फिर शिमला-समझौते के बाद इसे 'लाइन ऑफ़ कंट्रोल' या 'नियंत्रण रेखा' कहा गया। दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य था डोगरा साम्राज्य की सत्ता की औपचारिक विदाई। मेनन की सलाह पर 26 अक्टूबर को महाराजा हरि सिंह श्रीनगर से जम्मू आ गए।* अपने साथ वह 48 मिलिटरी ट्रकों में अपने सारे क़ीमती सामान ले आए जिसमें हीरे-जवाहरात से लेकर पेंटिंग्स और कालीन-गलीचे सब शामिल थे। यही नहीं, उस समय जब क़बायली हमले का सामना करने के लिए गाड़ियों की लगातार ज़रूरत थी, वह अपने साथ कश्मीर का पेट्रोल का सारा कोटा लेते आए थे।[37] इस तरह 1846 में गुलाब सिंह के जम्मू से श्रीनगर जाने के साथ हुआ डोगरा-वंश का सफ़र इस वापसी के साथ अपने अन्तिम पड़ाव पर पहुँच गया। शायद उन्हें एहसास था कि अब लौटकर श्रीनगर में शासक की तरह आना नहीं होगा इसलिए वह अपने साथ परिवार, रिश्तेदार, धन-सम्पत्ति और क़ीमती साज़-ओ-सामान लेकर चले थे। वह फिर कभी लौटकर श्रीनगर नहीं गए और जब 20 जून, 1949 को उन्हें सत्ता से औपचारिक रूप से बेदख़ल कर दिया गया तो वह बम्बई चले गए जहाँ उनके ढेरों यार-दोस्त और पसन्दीदा रेसकोर्स था। श्रीनगर छोड़ने से पहले महाराजा ने एक अन्तरिम सरकार बनाकर शेख़ अब्दुल्ला को उसकी कमान सौंप दी थी।[38] हालाँकि महाजन अब भी कश्मीर के प्रधानमंत्री थे लेकिन शेख़ अब्दुल्ला को प्रशासन का महानिदेशक बनाया गया और इस तरह प्रशासन की पूरी ज़िम्मेदारी अब उन पर ही थी।[39]

---

* अक्सर हरि सिंह के श्रीनगर से पलायन को लेकर बहुत लानत-मलामत की जाती है। लेकिन विक्टोरिया स्कोफ़ील्ड ने महाराजा के एडीसी दीवान सिंह के हवाले से लिखा है कि उन्हें मेनन ने कहा : 'श्रीनगर में आपका रहना मूर्खतापूर्ण होगा। जब हमलावर इतने क़रीब हैं, वे क़ब्ज़ा कर सकते हैं और आपसे कोई भी बयान दिलवा सकते हैं,' इसलिए राजा ने श्रीनगर छोड़कर जम्मू जाना तय किया (पेज 54, *कश्मीर इन कॉन्फ्लिक्ट*)।

इस वक़्फ़े में एक और बड़ी घटना घट चुकी थी। कश्मीर को हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रयोगशाला की तरह देखनेवाले महात्मा गांधी की 30 जनवरी, 1948 को दिल्ली में हिन्दू कट्टरपंथी संगठनों से जुड़े नाथूराम गोडसे ने हत्या कर दी थी। उनके जाने के बाद कांग्रेस के भीतर सेक्यूलरिज़्म का एक बड़ा आधार ढह गया था। अपनी जीवनी में शेख़ गांधी को बार-बार याद करते हैं। शेख़ का गांधी के प्रति भरोसा इतना बड़ा था कि उन्हें हमेशा यह लगता रहा कि गांधी जीवित होते तो उन्हें गिरफ़्तार नहीं किया जा सकता था। यह घटना देश में हिन्दू कट्टरपंथ के मज़बूत और आक्रामक होते जाने का भी सबूत थी जिसने कालान्तर में कश्मीर की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों को अपनी तरह से प्रभावित भी किया।

नई शुरुआत : शेख़ अब्दुल्ला और आगे

राजतंत्र की समाप्ति के बाद नई शुरुआत शानदार हुई थी। बर्बर क़बायलियों के ख़िलाफ़ कश्मीरी पूरी ताक़त और एकता के साथ खड़े हुए थे। नेशनल कॉन्फ्रेंस की मिलिशिया में सभी धर्मों के पुरुष और महिलाएँ शामिल हुई थीं, संघर्ष किया था और बलिदान दिये थे। 19 वर्षीय नेशनल कॉन्फ्रेंस कार्यकर्ता मक़बूल शेरवानी की कहानी तो बेहद प्रसिद्ध है। उस समय कश्मीर में उपस्थित विश्वप्रसिद्ध फ़ोटोग्राफ़र मार्गरेट बर्क व्हाइट ने अपने संस्मरण में इसे बेहद संजीदगी से दर्ज किया है :

> बारामूला में क़स्बे के निवासियों ने मुझे एक युवा दुकानदार के बारे में बताया जिसने धार्मिक सहिष्णुता के अपने विश्वास के लिए क़ुर्बानी दी थी। उसकी शहादत लगभग कॉन्वेंट की दीवारों के साये में हुई और श्रद्धालु कश्मीरियों की नज़र में वह तेज़ी से संत का दर्जा हासिल कर रहे थे।
>
> मीर मक़बूल शेरवानी लोकतांत्रिक आन्दोलन में शेख़ अब्दुल्ला के साथी रहे थे और अब्दुल्ला की तरह उन्होंने भी जनता के अधिकारों के संघर्ष के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता की ज़रूरत पर बल दिया था। क़स्बे के लोगों ने मुझे जो जानकारी दी, उसके अनुसार वह निश्चित रूप से रॉबिनहुड जैसे होने चाहिए जिसने करों की ऊँची दर न अदा कर पानेवाले किसानों की लड़ाई लड़ी, किसी ग़रीब को पीटती पुलिस से भिड़ गए और उनके शोषण के ख़िलाफ़ जनता के संघर्ष संगठित किये।
>
> जब हमलावरों ने कश्मीर पर हमला किया और वहाँ के लोगों को आतंकित कर दिया तो शेरवानी ने, जिसे घाटी के हर गली-कूचे के बारे में पता था, परदे के पीछे काम करना शुरू किया और भारतीय सेना तथा नेशनल कॉन्फ्रेंस की मिलिशिया

की मदद का भरोसा दिलाकर गाँव के लोगों का मनोबल बढ़ाते हुए उन्हें धर्म से ऊपर उठकर एकताबद्ध तरीक़े से प्रतिकार करने के लिए प्रेरित किया। तीन बार उसने चतुराई से फैलाई गई अफ़वाहों के सहारे प्रलोभन देकर भारतीय सेना के हाथ पड़वा दिया लेकिन चौथी बार वह विफल हुए और पकड़े गए। क़बायली उन्हें क़स्बे के चौराहे पर राइफल की बटों से पीटते हुए एक सेब की दुकान के अहाते में ले गए। लोगों के बीच शेरवानी की लोकप्रियता से परिचित हमलावरों ने उन्हें सार्वजनिक रूप से यह कहने के लिए कहा कि पाकिस्तान ही मुसलमानों के लिए सर्वश्रेष्ठ विकल्प है। जब उन्होंने ऐसा करने से मना कर दिया तो उन्हें रस्सियों से मारा गया। उनके हाथ दोनों तरफ़ क्रॉस की तरह फैले थे।

क़बायलियों ने इसके बाद जो किया, वह आश्चर्यजनक चीज़ थी। मैं नहीं जानती कि इन बर्बर ख़ानाबदोशों ने ऐसी चीज़ कैसे सोच ली! सम्भव है, उन्हें यह ठीक ऊपर की पहाड़ी पर स्थित सेंट जोसेफ़ के चैपल में लगी ईसामसीह की प्रतिमा को देखकर सूझा हो। उन्होंने शेरवानी के हाथ के पंजों पर कीलें ठोंक दीं और उनके माथे पर टिन के एक टुकड़े पर यह लिखकर चिपका दिया कि 'एक ग़द्दार की सज़ा मौत है'।

एक बार फिर शेरवानी चीख़े : 'हिन्दू-मुस्लिम इत्तिहाद ज़िन्दाबाद' और क़बायलियों ने उनकी देह में चौदह गोलियाँ उतार दीं।[40]

शेरवानी कश्मीर में एक नायक की तरह प्रतिष्ठित हुए। भारतीय सेना हर साल उनकी वीरता को याद करती है। उनके नाम से बारामूला में एक मेमोरियल हॉल बनवाया गया और फिल्म्स डिविजन ने उन पर एक वृत्तचित्र भी बनाया है। मुल्कराज आनन्द ने उन पर आधारित एक उपन्यास लिखा है—*'डेथ ऑफ़ अ हीरो'*, जो 1955 में प्रकाशित हुआ। ऐसा ही एक क़िस्सा बारामूला के मास्टर अब्दुल अज़ीज़ का है। जब क़बायलियों ने ग़ैर-मुस्लिम औरतों का बलात्कार करने की कोशिश की तो अब्दुल अज़ीज़ ने क़ुरान हाथ में लेकर क़सम खाई कि उनके जीते-जी कोई उन औरतों को छू भी नहीं पाएगा। हत्यारों ने अन्ततः उन्हें भी मार डाला।[41] क़बायलियों के इस आक्रमण में 274 हिन्दू, 343 मुसलमान और 7 ईसाई मारे गए थे।[42] बलराज मधोक इस हमले में डोगरा सैनिकों के गुणगान के अलावा लगातार यह बताते हैं कि क़बायलियों के हाथों एक मक़बूल शेरवानी के अलावा सिर्फ़ हिन्दू मारे गए थे![43] साम्प्रदायिक अंधत्व के शिकार होकर वह न केवल अब्दुल अज़ीज़ बल्कि उन सैकड़ों मुसलमानों और हिन्दुओं को भूल जाते हैं जो इस लड़ाई में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़े थे। कश्मीर की पहली महिला आई.ए.एस. सुधा कौल ने अपने संस्मरण में अपने चाचा की भागीदारी और पड़ोस के एक युवा पंडित की इस संघर्ष में शहादत का ज़िक्र किया है।[44] इस आन्दोलन में

महिलाओं की भी अलग से एक ब्रिगेड बनी थी जिसमें फ्रीडा बेदी* सहित वामपंथ से जुड़ी ढेरों महिलाओं के साथ सामान्य महिलाएँ भी जुड़ी थीं।[45] इसे याद करते हुए व्हाइटहेड ने ख़्वाज़ा अहमद अब्बास का कहा याद किया है: 'यह वह वक़्त था जब लेखक अपनी किताबों को जी रहे थे, और कवि अपनी कविताओं के लिए मरने को तैयार थे।'[46]

जिस दौर में पूरे भारत में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे, उस समय कश्मीर में न तो किसी पंडित को अपनी ज़मीन छोड़नी पड़ी, न ही किसी तरह का साम्प्रदायिक तनाव झेलना पड़ा। गांधी उन दिनों अपनी प्रार्थना सभाओं में लगातार कश्मीर को एक उम्मीद की किरण की तरह बता रहे थे।[47] अपवाद होंगे ही, लेकिन इस आरम्भिक दौर में कश्मीरियों में एक उत्साह का माहौल था, ख़ुदमुख़्तार होने का एहसास और भविष्य से उम्मीद। सुधा कौल उस दौर का ज़िक्र करते हुए कहती हैं :

> ...अब सब एक कश्मीरी मुस्लिम राजनीतिक नेता के हाथ में था। हम शेख़ अब्दुल्ला को 'कश्मीर का शेर' कहते थे। वह शेर पाकिस्तान की कोई परवाह न करते हुए आज़ाद हिन्दुस्तान में शामिल हुआ।
>
> सदियों में पहली बार अब हमारे पास अपनी धरती का राज्य-प्रमुख था। लेकिन शेख़ अब्दुल्ला सिर्फ़ इतने ही नहीं थे, वह एक लोकनायक थे जिन्होंने भारतीय सेना को बुलाकर अपनी धरती को क़बायलियों से बचाया था। थोड़े से उथल-पुथल भरे दिनों में हमने अहिंसक तौर से राजतंत्र को लोकतंत्र से प्रतिस्थापित कर दिया था। हमारे पास अपना लोकतांत्रिक नेता था और अब हम भारतीय गणतंत्र का हिस्सा थे।[48]

ज़ाहिर है, इसमें 'भारतीय गणतंत्र का हिस्सा' होना कश्मीरी पंडितों के लिए एक अतिरिक्त सुरक्षा और सुकून का मामला था। पाकिस्तान से कश्मीर के विलय की दशा में उनके लिए उस दौर में पलायन ही एक रास्ता हो सकता था, जैसा जम्मू के मुसलमानों या फिर मीरपुर के हिन्दुओं और सिखों को करना पड़ा। हिन्दू बाहुल्य वाले भारतीय गणतंत्र के साथ वे अपनी धार्मिक पहचान के साथ जुड़ सकते थे, जुड़े भी लेकिन

---

* इंग्लैंड में जन्मी फ्रीडा बेदी को ऑक्सफ़ोर्ड में पढ़ते हुए एक भारतीय बी. पी. एल. बेदी से प्रेम हुआ और वामपंथ से प्रभावित इस युगल ने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में हिस्सेदारी की। दोनों लाहौर और कश्मीर में बेहद सक्रिय रहे और शेख़ अब्दुल्ला के क़रीबी। नेशनल कॉन्फ्रेंस के 'नया कश्मीर डोक्यूमेंट' के निर्माण में ही नहीं बल्कि 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन में भी दोनों की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। एंड्रयू व्हाइटहेड ने फ्रीडा की बेहद रोचक और भावुक जीवनी लिखी है—*द लाइव्स ऑफ़ फ्रीडा*।

उन्होंने अपनी स्थानीय पहचान और विशिष्टता को भी बनाये रखा। शायद एक विशिष्ट इलाक़ाई संस्कृति वाले अल्पसंख्यक समाज के लिए यह सबसे मुफ़ीद स्थिति हो सकती थी। यह एक विशिष्ट स्थिति थी जहाँ वह राज्य के भीतर अल्पसंख्यक थे लेकिन देश के बहुसंख्यक समुदाय का हिस्सा थे। यह स्थिति इसके अलावा सिर्फ़ पंजाब में थी जहाँ हिन्दू राज्य के भीतर अल्पसंख्यक और देश के स्तर पर बहुसंख्यक समुदाय के हिस्सा थे। हमने देखा कि वहाँ भी आगे चलकर अस्सी के दशक में भयावह समस्याएँ पैदा हुईं। इस 'स्थानीय पहचान और विशिष्टता' को बनाये रखना कश्मीरी मुसलमान के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था लेकिन इस नये भारतीय गणतंत्र की धार्मिक बहुलता के मद्देनज़र कश्मीर में बहुसंख्यक और देश में अल्पसंख्यक कश्मीरी मुसलमान के लिए अपनी धार्मिक पहचान को लेकर एक शक-सुबहा और भय स्वाभाविक था, ख़ास तौर से तब, जब अपने एकदम बग़ल जम्मू में वे हिन्दू साम्प्रदायिकता का भयानक खेल देख-सुन रहे थे। धार्मिक दंगे और साम्प्रदायिकता नये नहीं थे लेकिन बदली हुई भौगोलिक-राजनीतिक स्थितियों में नये दक्षिण एशिया में इनकी गतिकी उन्हें आसानी से भारतीय गणराज्य के भीतर अपने भविष्य के लिए आशंकित कर सकती थी। इसीलिए पाकिस्तान यों कितना भी पराया हो लेकिन धर्म एक ऐसा कारक था जो कश्मीरी मुसलमान के लिए वह अजनबियत पैदा नहीं करता था जो कश्मीरी हिन्दू के मन में स्वाभाविक थी। इसका मतलब न हिन्दुस्तान से कोई नफ़रत थी, न आजकल ज़रूरत से ज़्यादा प्रचलित हो गया पद 'देशद्रोह।' यह उस दौर के राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल का सहज उत्पाद थी जहाँ 'हिन्दू' भारत से और 'मुसलमान' पाकिस्तान से जोड़ दिया गया था और कश्मीरियों के लिए तो लाहौर या रावलपिंडी सहज रूप से दिल्ली या लखनऊ से अधिक परिचित शहर थे। इस कशमकश और असमंजस को मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के नेशनल कॉन्फ्रेंस में बदलने के हामी और हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रखर समर्थक तथा कश्मीर के राष्ट्रीय कवि माने जानेवाले महजूर की उस दौर की एक कविता में देखा जा सकता है :

नेशनल कॉन्फ्रेंस की दुकान से नमक ख़रीदने गया
कहा गया हिन्दुस्तान में शामिल हो जाओ
इसने मेरे पूरे वजूद को हिला दिया
दिल मेरा पाकिस्तान के साथ है
हिन्दुस्तान पर क़ुर्बान मेरी रूह मेरी जान
दिल मेरा पाकिस्तान के साथ है।" *

* यहाँ उस दौर में कश्मीर की बदहाल अर्थव्यवस्था और ख़ास तौर पर नमक की कमी को भी समझा जा सकता है। नमक राशन की दुकानों पर मिलता था और उन दुकानों का नियन्त्रण नेशनल कॉन्फ्रेंस के पास था।

इस कविता के लिए महजूर गिरफ़्तार भी हुए थे लेकिन इस कशमकश के बावजूद उस दौर में कुल मिलाकर कश्मीर के भीतर जो भाव प्रबल था, उसे उसी दौर में लिखे महजूर के इस शेर से समझा जा सकता है :

हिन्दू थामेंगे पतवार और मुसलमान चप्पू चलाएँगे
इस तरह साथ हम इस देश की नाव आगे ले जाएँगे[*50]

असल में मुक्ति-संघर्ष के लम्बे दौर में कश्मीर में तीन तरह के राष्ट्रवाद विकसित हुए : पहला, 'मुस्लिम राष्ट्रवाद' जो 1947 के दौर में कमज़ोर भले दिख रहा हो लेकिन उसकी जड़ें गहरी थीं। मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के नेशनल कॉन्फ्रेंस में परिवर्तित होने के बावजूद मीरवायज़ सहित कश्मीर और ख़ास तौर पर श्रीनगर के जामिया मस्जिद के आसपास के नये विकसित मध्यवर्ग में इसका एक प्रभाव था। मीरवायज़ तो क़बायली आक्रमण के पहले ही उस इलाक़े में चले गए थे जिसे अब 'पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर' कहा जाता है और बाद में वहाँ के राष्ट्रपति भी बने। उनके जाने के बाद उनके भतीजे को मीरवायज़ बनाया गया। बाद के दौर में इस विचारधारा का नेतृत्व 'जमा'त-ए-इस्लामी, कश्मीर' के हाथ में रहा जिसने ख़ुद को पाकिस्तान और भारत, दोनों ही की जमा'तों से अलग रखा और कश्मीरी समाज में वही भूमिका निभाई जो आर.एस.एस. ने उत्तर भारतीय या यों कहें, भारतीय समाज में। दूसरा, 'कश्मीरी राष्ट्रवाद' जो नेशनल कॉन्फ्रेंस के इर्द-गिर्द विकसित हुआ था और जिसने 'कश्मीरियत' नाम का एक नया पद विकसित किया, जो धार्मिक पहचानों के ऊपर इलाक़ाई पहचान को तरजीह देता था। अपनी प्रकृति में वह काफ़ी हद तक कांग्रेस के समानांतर था जो समाजवाद के प्रति मोटा-मोटी झुकाव के बावजूद किसी एक विचार या धर्म के प्रति पूरी तरह से प्रतिबद्ध होने की जगह ऐसे उदारवादी लोगों का एक ढीलाढाला 'राष्ट्रवादी' संगठन था जिसमें लगभग दक्षिणपंथी से लेकर वामपंथी तक शामिल थे लेकिन जिसका नेतृत्व बहुसंख्यक धार्मिक समूह के हाथ में ही रहा। इन दो राष्ट्रवादों के साथ 'हिन्दू राष्ट्रवाद' भी विकसित हुआ जो उस दौर में बहुत साफ़ दिखता तो नहीं, लेकिन जम्मू में प्रजा परिषद और जनसंघ के साथ ख़ुद को आबद्ध करता है और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा का पोषण करता है। यह राष्ट्रवाद ख़ुद को व्यापक अखिल भारतीय हिन्दू राष्ट्रवाद के साथ धीरे-धीरे जोड़ता जाता है और नब्बे के दशक के बाद पूरी तरह से ख़ुद को उसमें समाहित कर देता है। हम देखेंगे कि अपनी इलाक़ाई पहचान और श्रेष्ठताबोध को चिह्नित करने के लिए जिस 'कश्मीरी पंडित' नाम को हासिल

---

* महजूर की दोनों कविताओं का अंग्रेज़ी से अनुवाद मेरा

किया गया था, उसे धीरे-धीरे व्यापक भारतीय पहचान में मिलाकर 'ब्राह्मण' और हिन्दू में तब्दील किया गया।

भारत से जुड़ने के बाद का कश्मीरी इतिहास इन्हीं तीनों के बीच की अन्त:क्रियाओं का इतिहास है।

संदर्भ

1. देखें, पेज 106, *कश्मीर : अ डिस्प्यूटेड लेगेसी*, एलिएस्टर लैम्ब, 1846-90, रॉक्सफोर्ड बुक्स, हर्टफोर्डशायर, 1991
2. देखें, पेज 65, *पाकिस्तान ऑकुपाइड कश्मीर : द अनटोल्ड स्टोरी*, सम्पादक: वीरेन्द्र गुप्ता और आलोक बंसल, इंस्टीच्यूट फ़ॉर डिफेंस स्टडीज़ एंड एनालिसिस, मानस प्रकाशन, दिल्ली, 2016
3. https://www.boloji.com/articles/16343/author-of-independent-kashmir-rc-kak (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
4. http://old.himalmag.com/component/content/article/66-forgotten-men-of-kashmir.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
5. देखें, पेज 139, *फ्रीडम स्ट्रगल इन कश्मीर*, एफ़.एम. हसनैन, रीमा पब्लिशिंग हाउस, 1988, दिल्ली
6. देखें, पेज 123, *जम्मू एंड कश्मीर : डिलेमा ऑफ़ एक्सेशन*, राधा राजन, वायस ऑफ़ इंडिया, दूसरा संस्करण, नई दिल्ली, 2018
7. देखें, पेज 45, पी.आई.डी. पारिमू, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर, अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड*, चिनार पब्लिशर्स, अहमदाबाद
8. देखें, पेज 128, *जम्मू एंड कश्मीर : डिलेमा ऑफ़ एक्सेशन*, राधा राजन, वायस ऑफ़ इंडिया, दूसरा संस्करण, नई दिल्ली, 2018
9. देखें, पेज 46, *टू नेशंस एंड कश्मीर*, लॉर्ड क्रिस्टोफ़र बर्डवुड, रॉबर्ट हेल लिमिटेड, लन्दन, 1956
10. देखें, पेज 42-43, *बंगलिंग इन कश्मीर*, बलराज मधोक, हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1974
11. देखें, पेज 39, *इलेक्शंस इन जम्मू एंड कश्मीर*, जी.एन. गौहर, मानस पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2002
12. देखें, पेज 37, *माउंटबेटन एंड इंडिपेंडेंट इंडिया*, लैरी कॉलिन्स और डोमनिक लैपियर, विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2015

13. देखें, पेज 98-99, *कश्मीर बिहाइंड द वेल,* एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, दिल्ली, छठा संस्करण, 2011
14. देखें, पेज 65, *पाकिस्तान ऑकुपाइड कश्मीर : द अनटोल्ड स्टोरी,* सम्पादक : वीरेन्द्र गुप्ता और आलोक बंसल, इंस्टीच्यूट फ़ॉर डिफेंस स्टडीज़ एंड एनालिसिस, मानस प्रकाशन, दिल्ली, 2016
15. देखें, पेज 183-84, *बीइंग द अदर : द मुस्लिम्स इन इंडिया,* सईद नक़वी, अलिफ़ बुक कम्पनी, दिल्ली, 2016
16. देखें, पेज 113, *अनरेवेलिंग द कश्मीरी नॉट, अमन एम. हिंगोरानी,* सेज पब्लिकेशन इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, 2016
17. देखें, पेज, *हिस्ट्री ऑफ़ नॉर्दर्न एरियाज़ ऑफ़ पाकिस्तान,* डॉ. ए.एच. दानी, नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ़ हिस्टारिकल एंड कल्चरल रिसर्च, दूसरा संस्करण, 1991
18. देखें, पेज 118-122, *गिलगिट, बाल्टिस्तान : ए डिस्प्यूटेड टेरिटरी ऑर अ फ़ॉसिल ऑफ़ इंट्रीग्यूज़,* अमानुल्ला ख़ान, जावेद (प्रा.) प्रिंटर्स, गिलगिट, 1999
19. देखें, पेज 355, *इंटीग्रेशन ऑफ़ द इंडियन स्टेट्स,* वी.पी. मेनन, ओरियेंट ब्लैक्स्वान, दूसरा संस्करण, 2016, दिल्ली
20. देखें, पेज 60, *बियाण्ड हेडलाइंस,* कुलदीप नैयर, रोली बुक्स, दिल्ली-2012
21. देखें, पेज 261, *मिशन विथ माउंटबेटन,* एलन कैम्पबेल जॉनसन, जैको पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1951
22. देखें, पेज 83, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार,* शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
23. देखें, पेज 5, *कश्मीर आफ़्टर इंसरजेंसी,* बलराज पुरी, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, तीसरा संस्करण, 2008, दिल्ली
24. देखें, वही, पेज 6
25. देखें, https://kashmirlife.net/riots-changed-jak-politics-768/ (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
26. देखें, पेज 16, *द स्ट्रगल फ़ॉर कश्मीर,* माइकल ब्रेखर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1953
27. देखें, पेज 129, *जम्मू एंड कश्मीर : डिलेमा ऑफ़ एक्सेशन,* राधा राजन, वायस ऑफ़ इंडिया, दूसरा संस्करण, नई दिल्ली, 2018
28. देखें, पेज 43, *द स्ट्रगल फ़ॉर कश्मीर,* माइकल ब्रेखर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1953
29. देखें, पेज 146, *जम्मू एंड कश्मीर : डिलेमा ऑफ़ एक्सेशन,* राधा राजन, वायस ऑफ़ इंडिया, दूसरा संस्करण, नई दिल्ली, 2018

30. देखें, पेज 69-70, *पाकिस्तान ऑकुपाइड कश्मीर : द अनटोल्ड स्टोरी*, सम्पादक : वीरेन्द्र गुप्ता और आलोक बंसल, इंस्टीच्यूट फ़ॉर डिफेंस स्टडीज़ एंड एनालिसिस, मानस प्रकाशन, दिल्ली, 2016
31. देखें, वही, पेज 71
32. देखें, 23 फ़रवरी, 2018 के कश्मीर वाच में छपा एम.जे. असलम का लेख *रामचन्द्र काक : कश्मीर्स अनसंग हीरो*
33. देखें, पेज 102, *कश्मीर एन शेर ए कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड*, पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
34. पेज 123, *कश्मीर : अ डिस्प्यूटेड लेगेसी, एलिएस्टर लैम्ब, 1846-90*, रॉक्सफोर्ड बुक्स, हर्टफोर्डशायर, 1991
35. देखें, पेज 102, *कश्मीर एन शेर ए कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड*, पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
36. देखें, पेज 47, *कश्मीर इन कॉन्फ्लिक्ट : इंडिया, पाकिस्तान एंड द अनएंडिंग वार*, विक्टोरिया स्कोफ़ील्ड, आई.बी. टारिस एंड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन, 2003
37. देखें, *हॉफवे टू फ्रीडम*, मागरिटा बर्क-व्हाइट, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे, 1949
38. देखें, पेज 54, *कश्मीर इन कॉन्फ्लिक्ट : इंडिया, पाकिस्तान एंड द अनएंडिंग वार*, विक्टोरिया स्कोफ़ील्ड, आई.बी. टारिस एंड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन, 2003
39. देखें, पेज 97, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार*, शेख़ अब्दुल्ला अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
40. देखें, पेज 163-64, *हॉफवे टू फ्रीडम*, मागरिटा बुर्के-व्हाइट, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे-1949
41. देखें, पेज 80, *जम्मू एंड कश्मीर : अ विक्टिम*, दया सागर, ओसेन बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2015
42. देखें, पेज 150, *द स्ट्रगल फ़ॉर कश्मीर*, माइकल ब्रेखर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1953
43. देखें, पेज 64, *द बंगलिंग इन कश्मीर*, बलराज मधोक, हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1974
44. देखें, पेज 65, *द टाइगर लेडीज़ : अ मिरर ऑफ़ कश्मीर*, रिव्यू, बोस्टन, अमेरिका, 2002
45. देखें, पेज 177, *द लाइव्स ऑफ़ फ्रीडा*, एंड्रयू व्हाइटहेड, स्पीकिंग टाइगर, दिल्ली, 2019
46. देखें, वही, पेज 179

47. देखें, पेज 159, *कम्यूनल राइट्स इन पोस्ट इंडिपेंडेंट इंडिया*, सम्पादक : असग़र अली इंजिनियर, कम्यूनल पॉलिटिक्स इन जम्मू एंड कश्मीर, रियाज़ पंजाबी, दूसरा संस्करण, यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1997

48. देखें, पेज 29, द *टाइगर लेडीज़ : अ मिरर ऑफ़ कश्मीर*, रिव्यू, बोस्टन, अमेरिका-2002

49. *पोएट ऑफ़ रेसिस्टेंस*, आशिक़ हुसैन भट, कश्मीर लाइफ़, 1 जुलाई, 2013

50. देखें, पेज 33, *पार्चमेंट ऑफ़ कश्मीर* (सम्पादक : नायला अली ख़ान) में एम.आई. ख़ान का लेख *इवोल्यूशन ऑफ़ माइ आइडेंटिटी*, पल्ग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 2012

अध्याय-8

नया निज़ाम पुरानी मुश्किलात

देश, प्रदेश और कश्मीरी पंडित

[1949-1982]

इस राज्य का कोई मुसलमान चाहे वह सत्ता के बाहर हो या सत्ता में, अपराधी है। अगर डिफ़ेंस ऑफ़ इंडिया क़ानून या दूसरे काले क़ानूनों में यहाँ का मुसलमान हज़ारों में गिरफ़्तार हो या सैकड़ों फायरिंग में मार दिये जाएँ तो इतने बड़े देश में कोई इस अत्याचार के ख़िलाफ़ आवाज़ नहीं उठाएगा लेकिन अगर एक हाकिम किसी ग़ैर-मुस्लिम को नाराज़ भी कर दे तो भारत की पूरी हिन्दू जनता उसके ख़िलाफ़ खड़ी हो जाएगी।

—ग़ुलाम मोहम्मद सादिक़
1967 में परमेश्वरी हांडू मामले के बाद

अगर सरकार पंडितों के साथ सम्मानजनक व्यवहार नहीं कर सकती तो इसे हमारे विस्थापन के लिए व्यवस्था करनी चाहिए...हम मर जाएँगे लेकिन अपने पुरखों की ज़मीन नहीं छोड़ेंगे।

—माखन लाल हरकारा'
परमेश्वरी हांडू मामले पर बनी
कश्मीरी हिन्दू एक्शन कमेटी के एक नेता

आज़ादी और डोगरा राज की विदाई के साथ कश्मीर ने एक नये युग में प्रवेश किया। एक तरफ़ कश्मीर की गद्दी पर चक साम्राज्य के अन्त के तीन सदी से भी अधिक समय के बाद कोई कश्मीरी बैठा था तो दूसरी तरफ़ अब कश्मीर औपचारिक रूप से और अपनी सहमति से भारत का हिस्सा था। ज़ाहिर है, इस हिस्सा होने में भी वह विशिष्ट था। अनुच्छेद 370 उसे विशिष्ट बनाती थी। यहाँ इस पर विस्तार से बात करना विषयान्तर होगा लेकिन कम-से-कम उस दौर में 370 को लेकर कश्मीर घाटी के भीतर पंडितों और मुसलमानों, दोनों में ही पूरी सहमति दिखाई देती है। 35-ए तो बीस के दशक में चले पंडितों के आन्दोलन 'कश्मीर कश्मीरियों के

लिए' से हासिल किये गए 'राज्य उत्तराधिकार क़ानून' का ही नया रूप था जिसमें कश्मीरी नौकरियाँ और ज़मीन कश्मीरियों के लिए ही आरक्षित की गई थीं। इस्लामी निज़ाम की माँग करनेवाली 'मुस्लिम कॉन्फ्रेंस' के अधिकांश बड़े नेता पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में चले गए थे और 'हिन्दू-मुस्लिम इत्तेहाद' का नारा लगानेवाली नेशनल कॉन्फ्रेंस सत्ता में थी।

चालीस के दशक में बना 'नया कश्मीर दस्तावेज़'* नये शासन के लिए पथप्रदर्शक था और सबसे पहले ज़ोर दिया गया 'भूमि-सुधार' पर। अपनी जीवनी में शेख़ अब्दुल्ला लिखते हैं :

---

* बी.पी.एल. बेदी, फ्रीडा बेदी सहित नेशनल कॉन्फ्रेंस के वामपंथी धड़े को यह डॉक्यूमेंट तैयार करने का श्रेय दिया जाता है। यह डॉक्यूमेंट दो हिस्सों में है : राज्य का संविधान और राष्ट्रीय आर्थिक योजना। संविधान को 7 हिस्सों में बाँटा गया है : नागरिकता, राष्ट्रीय विधान सभा, मंत्रिमंडल, शासक, न्याय, स्थानीय प्रशासन और राष्ट्रीय भाषा। जनता को प्रेस की बैठक करने तथा संगठन बनाने और धरने प्रदर्शन की आज़ादी सुनिश्चित की गई। क़ानून द्वारा सभी को सैन्य प्रशिक्षण देने तथा क़ानून द्वारा सैन्य बल गठन के साथ सभी नागरिकों को काम का अधिकार सुनिश्चित करने की बात कही गई। धर्म का भेदभाव न करते हुए यह संविधान सभी नागरिकों को शिक्षा, स्वास्थ्य और सुरक्षा के साथ सार्वत्रिक मतदान अधिकार के तहत राज्य की विधान सभा का चुनाव सुनिश्चित करने की गारंटी देता है। इस संविधान की एक बड़ी ख़ूबी महिलाओं को वोट देने, चुनाव लड़ने तथा शिक्षा की व्यवस्था है। स्थानीय प्रशासन के लिए इसमें जनता द्वारा चुनी जनपंचायतों की व्यवस्था है। भाषा के सवाल पर जहाँ कश्मीरी, डोगरी, बाल्टी, दादरी, पंजाबी, हिन्दी और उर्दू को राज्य की भाषाएँ बनाया गया, वहीं उर्दू को सम्पर्क भाषा का दर्जा देने की बात कही गई।

राष्ट्रीय आर्थिक योजना को उत्पादन, परिवहन, वितरण, जनसुविधाओं तथा मुद्रा और वित्त में विभाजित किया गया। इनका उद्देश्य जनता को एक उचित जीवन स्तर सुनिश्चित करना था। कृषि से सम्बन्धित योजना में जागीरदारी प्रथा समाप्त कर ज़मीन जोतने वाले को देना और जंगलों को जनता के नियंत्रण में लाना था। राष्ट्रीय कृषि योजना को लागू करने के लिए राष्ट्रीय कृषि काउंसिल की स्थापना का प्रस्ताव किया गया। राज्य के आर्थिक संसाधनों पर जनता का अधिकार दिया गया तो एक राष्ट्रीय लोक स्वास्थ्य काउंसिल बनाकर जनता के लिए स्वास्थ्य और राष्ट्रीय शिक्षा काउंसिल बनाकर प्राइमरी से उच्च शिक्षा तक और तकनीकी शिक्षा का संजाल स्थापित करने की बात की गई जिसमें बिना किसी धार्मिक, लैंगिक और इलाक़ाई भेदभाव के सबके लिए शिक्षा सुनिश्चित करने की बात की गई। यही नहीं, राष्ट्रीय गृहनिर्माण काउंसिल बनाकर लोगों को घर उपलब्ध कराने, रेडियो स्टेशन, फ़िल्म इंडस्ट्री और कला तथा संस्कृति संस्था बनाने जैसे प्रस्ताव शामिल थे। इसकी प्राथमिकताएँ इसमें संलग्न तीन चार्टरों से समझी जा सकती हैं जो किसानों, मज़दूरों और महिलाओं से सम्बद्ध थे। यह कश्मीर में ही नहीं, दक्षिण एशिया के तत्कालीन माहौल में भी एक आगे बढ़ा हुआ क़दम और इस रूप में निश्चित रूप से क्रांतिकारी था। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि मुस्लिम लीग तो छोड़िए कांग्रेस में भी कई नेता इसके ख़िलाफ़ थे। केवल नेहरू ने इसका समर्थन किया। घाटी में आम तौर से इससे समर्थन मिला लेकिन कश्मीरी पंडितों के दक्षिणपंथी संगठन युवक सभा और दक्षिणपंथी मुसलमानों के संगठन मुस्लिम कॉन्फ्रेंस ने इसका विरोध किया था (देखें, *पार्चमेंट ऑफ़ कश्मीर* में गुल मोहम्मद वानी का लेख—'पॉलिटिकल एसर्शन ऑफ़ कश्मीरी आइडेंटिटी', पेज 129)।

हमारे शोषण की सबसे स्पष्ट निशानी देखी जा सकती है हमारे किसानों के रूप में जो दिन-रात खेतों में खटता है और जब अनाज पक जाता है तो जागीरदार आकर सारा अनाज ले जाता है और उसे भूखों मरने के लिए छोड़ जाता है। इसकी वजह से ज़्यादातर किसान जाड़ों में पहाड़ों और मैदानों में चले जाते थे जहाँ मेहनत करके वे अपने लिए भोजन जुटा पाते थे। हालात को सुधारने के लिए हमने भूमि-सुधारों पर ध्यान दिया जिसकी संकल्पना हमने अपने सांस्थानिक और आर्थिक संविधान 'नया कश्मीर' में की थी।[2]

बी.एन. जलाली 'नया कश्मीर' के बारे में कहते हैं कि यह 'सोवियत डॉक्यूमेंट का कॉर्बन कॉपी' था[3] लेकिन कम्यूनिस्टों से शेख़ के रिश्ते मज़ेदार थे। जी.एम. सादिक़, बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद और एन. एन. रैना वामपंथी राजनीति से केवल प्रभावित ही नहीं थे बल्कि बेहद सक्रिय भी थे। सादिक़ तो ए.आई.एस.एफ़. के पटना सम्मलेन में विशेष अतिथि के रूप में भी बुलाए गए थे। 1936 में भारत में प्रगतिशील लेखक संगठन के गठन के बाद कश्मीर में भी इसकी इकाई गठित हुई थी। इससे जुड़े एक प्रमुख लेखक थे प्रेमनाथ परदेसी।[4] 1942 में कश्मीर में कम्यूनिस्टों ने अपने साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए एक दुकान खोली थी और 1945 तक वहाँ पीपुल्स डेली की ढाई सौ से अधिक प्रतियाँ बिकती थीं। रैना घाटी के भीतर कम्यूनिस्टों के नेता थे, लेकिन सी.पी.आई. ने उन्हें वहाँ अलग काम करने की जगह नेशनल कॉन्फ्रेंस के साथ काम करने के लिए कहा। शेख़, जिनका मुख्य आधार किसान और बुनकरों सहित निम्नवर्गीय कश्मीरी थे, कम्यूनिस्ट विचारधारा के आर्थिक पक्ष से सहज प्रभावित हुए और इसीलिए 'नया कश्मीर' जैसा संविधान उनके अनुकूल था। लेकिन शेख़ के लिए सीधे-सीधे उनसे रिश्ता रखना मुश्किल था। एक वजह तो यही रही होगी कि शेख़ कम्यूनिस्टों के नास्तिकता के विचार से सहमत नहीं हो सकते थे, आख़िर क़ुरान की आयतें उनके भाषणों का एक ज़रूरी हिस्सा होती थीं। इसके अलावा, 1942 के दौरान शेख़ ने कम्यूनिस्टों के 'एंटी फ़ासिस्ट स्टूडेंट्स फ्रंट' का खुला समर्थन इसलिए नहीं किया कि उन दिनों कांग्रेस और सी.पी.आई. के रिश्ते दोस्ताना नहीं थे और शेख़ कांग्रेस को नाराज़ नहीं कर सकते थे।[5]

हालाँकि कश्मीर के कम्यूनिस्ट आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण किरदार रहे पीर गयासुद्दीन बताते हैं कि 1942 में लाहौर के कम्यूनिस्ट नेता फ़ज़ल इलाही क़ुर्बान की सदारत में हुई एक बैठक में, लेनिन की थीसिस के अनुसार, यह निर्णय लिया गया था कि अलग पार्टी बनाने की जगह नेशनल कॉन्फ्रेंस के साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन से जुड़ा जाए।[6] जलाली इसका एक और मज़ेदार कारण बताते हैं। उन्होंने कभी अपनी आवाज़ ऊँची करके नारा नहीं लगाया कि हम कम्यूनिस्ट हैं, हालाँकि सब जानते थे, यहाँ तक कि शेख़ साहब भी जानते थे लेकिन हम शेख़ साहब को ग़लत जगह छेड़ना नहीं चाहते थे क्योंकि वह क़िसी.अन्य समानान्तर राजनीतिक गतिविधि को लेकर बेहद संवेदनशील

थे।[7] कश्मीर ने शेख़ साहब की इस प्रवृत्ति की भी भारी क़ीमत चुकाई है। गौहर संविधान सभा के चुनावों में नेशनल कॉन्फ्रेंस द्वारा सभी 75 सीटें 'जीत' लेने पर गौहर टिप्पणी करते हुए कहते हैं :

> अगर भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी उग्र राष्ट्रवाद से ऊपर उठकर इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक मोड़ पर कश्मीर के मनोविज्ञान का फ़ायदा उठाती और विश्व कम्यूनिस्ट आन्दोलन के पक्ष में तथा कामगार वर्ग के हित में खड़ी होती तो वह इस राजनीतिक शून्य को भर सकती थी। हालाँकि पार्टी का कोई जनाधार नहीं था लेकिन ठीक-ठाक कैडर था। उस समय शायद वह कोई सीट नहीं जीत पाती लेकिन एक शानदार भारत-समर्थक और जनपक्षधर ताक़त की तरह उभर सकती थी।[8]

जब शेख़ ने कश्मीर का प्रशासन सँभाला तो आर्थिक मोर्चे पर संकट और बड़े थे। भूमि-सुधारों पर नज़र डालने से पहले थोड़ा उन संकटों को देख लेना ज़रूरी होगा, जिनकी वजह से भूमि-सुधारों ने कश्मीरी समाज पर ज़्यादा गहरा और बहुआयामी असर डाला। क़बायली हमलों और उसके बाद चले युद्ध ने कश्मीर में भारी तबाही मचा दी थी। 1950 में जारी एक आधिकारिक रिपोर्ट के अनुसार इसमें 42,136 लोग बेघर हो गए थे, डेढ़ करोड़ से अधिक की सम्पत्तियाँ नष्ट हो गई थीं और 50 लाख के क़रीब जानवरों का नुकसान हुआ था। साथ ही, कोई 300 शैक्षणिक संस्थाएँ इस हमले से प्रभावित हुईं। यही नहीं, पाकिस्तान से कश्मीर को जोड़नेवाली झेलम घाटी रोड क़बायलियों के हाथ में पड़ने और उनके द्वारा सभी सम्पर्क मार्ग तोड़ दिये जाने से कश्मीर का विदेश व्यापार लगभग ठप हो गया।

1947-48 में पिछले 25 सालों का सबसे भयानक जाड़ा पड़ा और उसने स्थितियों को और बदतर बना दिया। इन सबके चलते पर्यटकों ने कश्मीर का रुख़ नहीं किया और पहले से बदहाल अर्थव्यवस्था और बदहाल होती गई। विदेशी माँग ठप होने से कारीगरों के लिए मुश्किल पैदा हो गई तो आवश्यक सामग्री की आपूर्ति बन्द होने से जनता को बड़ी परेशानियों का सामना करना पड़ा[9] जिसकी एक बानगी पिछले अध्याय के अन्त में महजूर की कविता में इंगित 'नमक की कमी' के रूप में आपने देखी है। तनावपूर्ण स्थितियाँ शुरू में कश्मीर में निवेश की राह में बाधा बनीं,[10] मामला संयुक्त राष्ट्र में पहुँचने के बाद कश्मीर लगातार विदेशी निगाहों में रहा और पाकिस्तान का परोक्ष-प्रत्यक्ष हस्तक्षेप भी लगातार रहा जिसकी वजह से भारत के केन्द्रीय नेतृत्व के लिए कश्मीर हमेशा एक संवेदनशील मसला बना रहा। इन सबने मिलकर कश्मीर में गवर्नेंस को लगातार मुश्किल बनाया। भूमि-सुधारों और उनके प्रभावों को इस रोशनी में भी देखा जाना ज़रूरी है।

भूमि-सुधार : दुधारी तलवार

सत्ता में आने के बाद शेख़ अब्दुल्ला की सरकार ने एक झटके में मुआफ़ीदारों* और मुक्करीख़्वारों** को मिलने वाली सुविधाएँ समाप्त कर दीं।[11] 1950 में लाये गए 'बिग लैंडेड एस्टेट्स अबोलिशन एक्ट' (ख़ात्मा-ए-चकदारी) के तहत :

(1) भूमि की अधिकतम सीमा 182 कैनाल (22.75 हेक्टेयर) तय कर दी गई। इसमें बाग़ानों, चरागाहों, जलाऊ और न जोतने योग्य बेकार भूमि को शामिल नहीं किया गया।

(2) बँटाई पर खेती करनेवाले किसानों को ज़मीन का मालिकाना हक़ दिया गया।

(3) जिन किसानों को ज़मीन उपलब्ध कराई गई, उनके लिए 160 कैनाल की सीमा निर्धारित की गई जिसमें पहले से मालिकाने की ज़मीन भी शामिल थी।

(4) मुआवज़े के सवाल पर पहले यह व्यवस्था दी गई कि राज्य की विधान सभा इसे बाद में तय करेगी। विधान सभा में फ़ैसला लिया गया कि किसी तरह का मुआवज़ा नहीं दिया जाएगा। इस तरह जम्मू और कश्मीर भारत का इकलौता राज्य बन गया जहाँ बड़े ज़मींदारों को ज़मीनों के बदले कोई मुआवज़ा नहीं दिया गया।

(5) पुंछ क्षेत्र के सभी ग़ैर-मौरूसी काश्तकारों को उनकी ज़मीनों का मालिकाना हक़ दे दिया गया।

(6) ऊधमपुर में शिकार के लिए आरक्षित की गई ज़मीनों का आरक्षण समाप्त कर दिया गया और किसानों को उन ज़मीनों पर खेती करने की अनुमति दी गई।

(7) शिकार के नियमों में बदलाव करके जंगलों के आसपास के गाँवों के किसानों को उन जंगली जानवरों पर गोली चलाने के अधिकार दिये गए जो उनकी खेती को नुकसान पहुँचाते थे और

(8) 13 अप्रैल, 1947 के बाद ज़मीन के अन्तरण के सभी आदेश और डिक्रियों को अमान्य घोषित कर दिया गया ताकि इस क़ानून की मूल भावना से खिलवाड़ न हो सके।

---

* मुआफ़ी धार्मिक और ग़ैर-धार्मिक, दोनों तरह की होती थी। धार्मिक मुआफ़ियों में भू-राजस्व का एक-तिहाई मुआफ़ीदार द्वारा नक़द में लिया जाता था और दो-तिहाई वस्तु के रूप में। ग़ैर-धार्मिक मुआफ़ियों के लिए पूरा भू-राजस्व नक़द या वस्तु रूप में ली जा सकती थी। सरकार ने ग़ैर-धार्मिक मुआफ़ियों को पूरी तरह ख़त्म कर दिया और धार्मिक मुआफ़ियों के लिए वस्तु के रूप में लगान वसूलने पर रोक लगा दी।

** जिन्हें राज्य से पेंशन मिलती थी।

इसके अलावा 1953 में राज्य सरकार ने मुआवज़ा की व्यवस्था ख़त्म कर दी और किसानों को अपना अतिरिक्त अनाज अपनी इच्छा से बेचने की आज़ादी दे दी।[12] इसी के साथ लगान की दर आधे से एक-तिहाई कर दी गई। ऋण माफ़ी के लिए ऋण समाधान न्यायालय बनाये गए और एक ही झटके में कुल ऋण 80 प्रतिशत घटाकर 2.4 मिलियन से 1.2 मिलियन रुपये कर दिया गया।[13]

भूमि-सुधारों के लिए शेख़ की व्यग्रता इसी बात से समझी जा सकती है कि इन्हें लागू करने से पहले उन्होंने विधान सभा के गठन या चुनाव की प्रतीक्षा भी नहीं की थी और यह घोषणा लाल चौक की आम सभा में हुई। घाटी की किसान-बहुल मुस्लिम जनता के लिए ये क़दम क्रांतिकारी परिवर्तन लानेवाला था। एक झटके में वे उन ज़मीनों के मालिक बन गए थे जिन पर वर्षों से वह दूसरों के लिए मेहनत करते आ रहे थे। इसने नये भारतीय राज्य के प्रति कश्मीरी किसानों के मन में एक भरोसा भी पैदा किया। शेख़ को यह डर था कि पंजाबी जागीरदारों के प्रभाववाला पाकिस्तान उनके उस 'नये कश्मीर' के सपने को कभी पूरा नहीं करेगा जिसमें जोतनेवाले को ज़मीन देने और एक बराबरी वाला समाज निर्मित करने का ख़्वाब देखा गया था।[14] 1947 के पहले भी शेख़ कई बार यह कह चुके थे कि पाकिस्तान का हिस्सा होते हुए भूमि-सुधार सम्भव नहीं होंगे, इस क़दम से उन्होंने इस बात के दूसरे हिस्से को सही साबित किया कि भारत के साथ होते हुए इस सपने को पूरा किया जा सकता है। ब्रेखर बताते हैं कि 'कश्मीरियों की बहुसंख्या इन सुधारों से लाभान्वित हुई है और उनमें से कई ने, जिनसे लेखक ने साक्षात्कार किया, उन्होंने पाकिस्तान के प्रति, जहाँ ऐसा कोई भूमि-सुधार नहीं हुआ, अपना भय ज़ाहिर किया कि उससे मिलने पर हाल में उन्हें मिली ज़मीनें जागीरदारों को वापस दी जा सकती हैं या 'नया कश्मीर' के और प्रावधान लागू करना असम्भव हो जाएगा।[15] भूमि-सुधार के प्रभावों पर बहुत विस्तार से जाने की जगह हम पचास के दशक में भारत में भूमि-सुधारों का अध्ययन करने आए कृषि अर्थशास्त्री डेनियल थोर्नर के निष्कर्ष देखे जा सकते हैं :

> कश्मीर में भूमि-सुधारों ने जागीरें ख़त्म कर दीं और सभी बड़े जागीरदारों की स्थिति कमज़ोर कर दी। इसने ख़ास तौर पर उन व्यक्तियों को लाभ पहुँचाया जो गाँवों में पहले से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी और समृद्ध थे। इसने छोटे बँटाईदारों और भूमिहीन मज़दूरों को सबसे कम लाभ पहुँचाया जो गाँवों में सबसे बड़ी संख्या में थे। जागीरदारों को मुआवज़ा न देकर कश्मीर उस आर्थिक बोझ से बच गया था जो भारत के अनेक राज्यों के लिए बेहद कठिन साबित हुआ। कश्मीर में भूमि-सुधारों के समग्र प्रभाव को समझने के लिए इसे वहाँ के गाँवों के रोज़-ब-रोज़ के जीवन के सन्दर्भ में देखना होगा।[16]

लेकिन, इस प्रक्रिया में जिन वर्गों की ज़मीनें छिन गई थीं, उनकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक रूप से अलग होनी थी। सुमान्त्रा बोस लिखते हैं :

> ग्रामीण कश्मीर के रूपांतरण के दूरगामी राजनीतिक प्रभाव थे। सैकड़ों हज़ार नये सशक्तीकृत किसान परिवार इस रूपांतरण के प्रमुख कारक शेख़ अब्दुल्ला को मसीहा मानने लगे। लाल पृष्ठभूमि में किसानों के प्रमुख औज़ार हल के पीले निशान वाला नेशनल कॉन्फ्रेंस का झंडा मुक्त किसानों के बीच उनके अडिग समर्थन को स्पष्ट दिखाता था। हालाँकि जम्मू के कुछ इलाक़ों में भूमि-सुधारों के लागू होने से एक दृढ़ सामाजिक-राजनीतिक प्रतिक्रिया का आन्दोलन शुरू हुआ जो अब भी जारी है।'[17]

एजाज़ अशरफ़ वानी उद्धृत तो बोस को ही करते हैं लेकिन उसमें 'कश्मीरी पंडितों' को जोड़ देते हैं।[18] शेख़ अपनी जीवनी में इसे लेकर काफ़ी तल्ख़ नज़र आते हैं—न केवल हिन्दू जागीरदारों के प्रति बल्कि पटेल के प्रति भी, जो इन सुधारों के सख़्त ख़िलाफ़ थे। शेख़ बताते हैं कि इसका मुख्य कारण था कि उन्हें यह बताया गया था कि ये सुधार मुख्यत: ग़ैर-मुस्लिमों को प्रभावित करेंगे।[19] जम्मू में इसके विरोध की एक बानगी करण सिंह द्वारा 22 दिसम्बर, 1952 को जवाहरलाल नेहरू को भेजे गए नोट *जम्मू के हालात* में मिलती है। आर्थिक स्थितियों पर टिप्पणी करते हुए वह लिखते हैं :

> दुर्भाग्य से 'द बिग लैंडेड एस्टेट्स अबालिशन एक्ट' जम्मू प्रांत में सन्तोषजनक नहीं साबित हुआ है...। राज्य की नीति किसान के पक्ष में है—चाहे वह सही हो या ग़लत। नतीजतन जिनके पास ज़मीन है, वे पूरी तरह नष्ट हो गए हैं। उन्हें कोई मुआवज़ा नहीं दिया गया है और वस्तुत: उनके पास कोई ज़मीन नहीं बची है जिससे वे अपने परिवार को खिला सकें। छोटे जागीरदार, जिनमें से अधिकतर राजपूत हैं, उन पर सबसे बुरा असर है क्योंकि उनके पास कोई बचत नहीं है और जो पूरी तरह से ज़मीन पर निर्भर हैं।[20]

इस रिपोर्ट में 182 कैनाल की सीमा को जम्मू के लिए अनुपयुक्त होने का तर्क देते हुए वह जम्मू के लिए अलग मापदंड की माँग भी करते हैं। वैसे करण सिंह और नेहरू के पत्राचार को ग़ौर से पढ़ते हुए यह बहुत साफ़ देखा जा सकता है कि करण सिंह लगातार शेख़ की शिकायत कर रहे हैं (उदाहरण के लिए देखें पेज 19, 39, 86, 95)। पूर्वोद्धृत नोट में वह डोगरा-विरोधी नीतियों को जम्मू-विरोधी बताते हैं (पेज 78) और अपने लिए सारी उम्र राजप्रमुख नियुक्त किये जाने (पेज 37) तथा पूर्व डोगरा राज की सेना को अपने नियंत्रण में रखने की माँग करते (पेज 9) नज़र आते हैं। वैसे करण सिंह ख़ुद अपनी ज़मीनों को बचाने के लिए जम्मू-कश्मीर सरकार से मुक़दमे में फँसे थे। डल झील और चश्माशाही के किनारों पर उनकी काफ़ी ज़मीन

थी जिसे राज्य सरकार ने इस अधिनियम के तहत अतिरिक्त बताकर ज़ब्त कर लिया था जबकि वह इसे बाग़ान बताकर अपना हक़ जता रहे थे।[21] मीर क़ासिम मानते हैं कि दिल्ली और शेख़ के बीच अविश्वास भूमि-सुधारों के बाद ही शुरू हुआ।[22]

तथ्यों को देखें तो इस आरोप में कोई दम नहीं लगता कि भूमि-सुधार हिन्दू-विरोधी थे। जम्मू-कश्मीर में उस दौर में 233 मुस्लिम जागीरदार थे तो 173 ग़ैर-मुस्लिम जागीरदार लेकिन 467 मुकर्ररी मुसलमानों के समकक्ष 1860 ग़ैर-मुस्लिम मुकर्ररी थे। एक और आँकड़ा इस पूरे परिदृश्य को समझने में मददगार हो सकता है। घाटी के भीतर 100 कैनाल से अधिक ज़मीन के मालिकों में 8408 ग़ैर-मुस्लिम थे तो 82748 मुस्लिम। अब अगर इसके साथ 100 कैनाल से कम ज़मीन वाले किसानों का धर्मवार विभाजन देख लें तो वस्तुस्थिति ठीक से समझी जा सकती है। 2,60,541 मुस्लिम किसान ऐसे थे जिनके पास 100 कैनाल से कम ज़मीन थी जबकि केवल 18,692 ग़ैर-मुस्लिम किसान ऐसे थे जिनके पास 100 कैनाल से कम ज़मीन थी।[23] घाटी में उस समय लगभग 4 प्रतिशत ग़ैर-मुस्लिम और 96 प्रतिशत मुस्लिम आबादी को ध्यान में रखें तो हालात बहुत साफ़ हो जाते हैं। डोगरा राज में ख़ास तौर पर स्वजातीय डोगराओं को जिस तरह लाभ पहुँचाया गया था, उससे जम्मू क्षेत्र में ज़मीनों की मिल्कियत स्वाभाविक रूप से उनके पास ही थी। इन सुधारों की प्रक्रिया का हिस्सा रहे मीर क़ासिम अपनी जीवनी *माय लाइफ एंड टाइम्स* में बताते हैं कि जम्मू में इस सुधार से हरिजनों को बहुत फ़ायदा हुआ था। ब्रेखर बताते हैं कि कुल सात लाख लाभार्थियों में से ढाई लाख जम्मू क्षेत्र के दलित थे।[24] लेकिन ज़ाहिर तौर पर उच्च वर्ग को ही धर्म का प्रतिनिधि मान लिया जाता है या यों कहें कि उच्च वर्ग ही धर्म का फ़ायदा उठा पाता है तो कश्मीरी पंडित और डोगरा राजपूत जागीरदारों के नुकसान को हिन्दुओं का नुकसान साबित कर देना कोई अस्वाभाविक नहीं था।

यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि भूमि-सुधारों में प्रजा परिषद से जुड़े अनेक लोगों की ज़मीन गई थी और चूँकि क़र्ज़ देने के धंधे में भी वे ही थे तो क़र्ज़ माफ़ी का नुकसान भी उन्हें ही हुआ था जबकि इसके लाभार्थी ग़रीब और वंचित लोग थे। नतीजतन पहले तो उन्होंने डोगरा शासन को बनाये रखने की कोशिश की लेकिन वह अब सम्भव नहीं था तो भारतीय संविधान के अन्दर सम्पत्ति के अधिकार के तहत इसे चुनौती देने की कोशिश की गई लेकिन अनुच्छेद 370 के कारण यह भी सम्भव नहीं हुआ जिसके तहत भारतीय संविधान का यह प्रावधान वहाँ लागू नहीं होता था। इसके विरोध में उन्होंने एक तरफ़ संविधान सभा के चुनावों का बहिष्कार किया तो दूसरी तरफ़ चुनावों के बाद उसे 'जम्मू के हिन्दुओं के सन्दर्भ में ग़ैर-प्रातिनिधिक' बताया। शेख़ के प्रति उनकी नफ़रत का एक उदाहरण शेख़ द्वारा मुखर्जी को लिखे एक ख़त में मिलता है। उन्होंने उसमें प्रजा परिषद की कार्यकारिणी के सदस्य

ऋषि कुमार कौशल के एक बयान का ज़िक्र किया है कि हम शेख़ अब्दुल्ला और नेशनल कॉन्फ्रेंस के अन्य कार्यकर्ताओं को ख़त्म कर देंगे। हम उनका ख़ून चूस लेंगे। हम इस सरकार को जड़ से उखाड़ देंगे और कश्मीर भेज देंगे। यह राज हमें पसन्द नहीं।[25] फ़रवरी, 1952 के आरम्भ में और फिर नवम्बर-दिसम्बर, 1953 तथा मार्च, 1953 के अन्त में 'डायरेक्ट एक्शन' का आह्वान किया गया। आश्चर्यजनक है कि यह शब्दावली सीधे जिन्ना से ली गई थी। उस दौरान जम्मू और कश्मीर राज्य के झंडे का विरोध करते हुए, 370 का विरोध करते हुए, जम्मू और कश्मीर के भारत में पूर्ण विलय की माँग करते हुए जम्मू में लूटपाट और हिंसा की भयानक घटनाएँ हुईं।[26] 1965 में जब एक साक्षात्कार में *शबिस्तान उर्दू डाइजेस्ट* के एक पत्रकार ने शेख़ अब्दुल्ला से पूछा कि 1953 में नेहरू से उनके सम्बन्ध क्यों ख़राब हुए तो वह बताते हैं कि 'जागीरदारी के ख़ात्मे और किसानों के ऋण-माफ़ी को अंजाम दिया गया तो नुकसान हिन्दू-मुसलमान, दोनों ही तरह के जागीरदारों का हुआ लेकिन हिन्दू जागीरदारों के सीधे दिल्ली से सम्पर्क थे और इसे हिन्दू-विरोधी साबित कर दिया गया जो बेहद दुर्भाग्यपूर्ण था...। मुझे ब्रिटिश एजेंट, कम्यूनिस्ट एजेंट और अमेरिकी एजेंट कहा गया। एक षड्यंत्र के तहत मुझे गिरफ़्तार कर लिया गया।'[27]

हालाँकि भूमि-सुधारों और ऋण-माफ़ी का असर कश्मीरी पंडितों के उस समूह पर तो पड़ा ही था जिसके पास बड़ी ज़मीनें और जागीरें थीं। सुधा कौल अपने संस्मरण में याद करती हैं कि कैसे किसानों के अपनी ज़मीन का मालिक बनने के बाद गाँव से अनाज लाद के आनेवाले गधों की संख्या कम होकर बस दो-तीन रह गई हैं।[28] मुझसे बातचीत में घाटी में रह रहे कश्मीरी पंडितों के संगठन कश्मीरी पंडित संघर्ष समिति के नेता संजय टिक्कू ने कर्ज़-माफ़ी के कारण अपने श्वसुर के 87,000 रुपये डूब जाने की बात बताई। ऐसे ही कश्मीर के एक प्रतिष्ठित परिवार से ताल्लुक़ रखनेवाली डॉ. विमला धर ने भी भूमि-सुधार के चलते अपने एक चाचा के आर्थिक नुकसान का ज़िक्र किया। कुछ बड़े पंडित जागीरदारों के नुकसान के बारे में हम पहले पढ़ चुके हैं। ज़ाहिर है कि बड़े भूपति और सूद के धंधे में लगे पंडितों को इस प्रक्रिया में नुकसान हुआ ही होगा, फिर भी विरोध की इस पूरी प्रक्रिया में कश्मीरी पंडितों की सीधी भागीदारी तो कहीं नहीं दिखती लेकिन जम्मू में इस साम्प्रदायिक तनाव, श्यामाप्रसाद मुखर्जी की श्रीनगर में मृत्यु और उसके बाद की घटनाओं से वे अछूते नहीं रह सकते थे। भूमि-सुधार के मनोवैज्ञानिक असर का अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि ख़ुद को कश्मीर के समाजवाद का प्रतिनिधि घोषित करनेवाले प्रेमनाथ बज़ाज़ भूमि-सुधार के ख़िलाफ़ किसी तार्किक प्रणाली की जगह एकदम भावनात्मक विरोध दर्ज कराते हुए पंडितों की ज़मीन छिन जाने का दुःख व्यक्त करते हैं। वह बताते हैं कि घाटी के भीतर 30 प्रतिशत ज़मीनें पंडितों की थीं लेकिन यह बताना भूल जाते हैं कि जहाँ आबादी केवल 4 फ़ीसद

हो, वहाँ 30 फ़ीसद ज़मीनों पर क़ब्ज़ा समाजवाद के किस सिद्धान्त से न्यायसंगत था? ख़ुद कश्मीरी किसानों की बदहाली के क़िस्से बखान चुके बज़ाज़ जब यह कहते हैं कि 'भूमि-सुधार से कश्मीरी पंडित सड़क पर आ गए', तो न केवल वह एक ग़लत तथ्य दे रहे हैं बल्कि सारे समाजवाद को किचन गार्डन में धकेलकर प्रजा परिषद की भाषा बोलते लग रहे हैं। ऐसे ही जब नौकरियों के अभाव में 8000 कश्मीरी पंडितों के पलायन की बात करते हुए वह कहते हैं कि 'इनमें से अधिकांश बहुत जल्दी मर जाएँगे'[29] तो वह न केवल शेख़ के विरोध में अंधे होकर यह भूल रहे हैं कि आज़ादी के बाद कश्मीर से ही नहीं, देश के अनेक भागों से महानगरों में नौकरी के लिए भारी संख्या में पलायन हुआ है बल्कि यह भी कि इतिहास में नौकरी की तलाश में कश्मीरी पंडित पहले भी मैदानों तक आए थे। वैसे वह ख़ुद 1947 में पाकिस्तान-समर्थन के कारण निष्कासित होने के बाद दिल्ली में एक लम्बा जीवन जीकर अस्सी के दशक में दुनिया-ए-फ़ानी से विदा हुए। यह और भी आश्चर्यजनक है कि बज़ाज़ दलितों (मूल पुस्तक में हरिजनों) के बारे में बात करते हुए भूमि-सुधार का ज़िक्र तक नहीं करते![30] ख़ैर, वह एक महत्त्वपूर्ण स्थापना यह देते हैं कि शेख़ जब कांग्रेस के साथ रहे तभी पंडितों ने उनका खुला समर्थन किया[31] और जम्मू और कश्मीर के हिन्दुओं ने शेख़ का नेतृत्व तब ही पूरी तरह स्वीकार किया जब शेख़ ने क़बायली हमले के मुक़ाबले के लिए भारतीय सेना को आमंत्रित किया।[32] नई दिल्ली में 2 सितम्बर, 2003 को कश्मीरी पंडितों पर हुई कॉन्फ्रेंस की रिपोर्ट की सम्पादक अवंति भाटी लिखती हैं :

> यह कार्यवाही (भूमि-सुधार) हालाँकि अपने-आपमें न्यायसंगत और शानदार थी लेकिन उन पंडितों के लिए एक बड़ा आघात थी जो बड़े जागीरदार थे या जिनकी आजीविका खेती थी। इस अधिनियम का अर्थ था—ज़मीनें उनसे ले ली गईं और किसानों को सौंप दी गईं, जिनका बड़ा हिस्सा बहुसंख्यक समुदाय से था...। इस विशेष मामले में बहुसंख्यक समुदाय के जागीरदारों ने धार्मिक भावनाओं का दोहन करके अपने किसानों से जाली समझौते किये और अपनी ज़मीनें बचा लीं। अल्पसंख्यक समुदाय कुछ नहीं कर पाया। इस तरह 1950 के दशक में ही कश्मीरी पंडितों के दिमाग़ में एक अलगाव का भाव जड़ जमाने लगा।[33]

हालाँकि भाटी बहुसंख्यकों द्वारा अपनी ज़मीनें बचा लेने के दावे के समर्थन में कोई साक्ष्य नहीं देतीं लेकिन यह तो लगता ही है कि भूमि-सुधारों के बाद शेख़ के प्रति यह सम्मान और समर्पण समाप्त होने लगा। इस सन्दर्भ में बलराज मधोक को पढ़ना रोचक है। वह शेख़ अब्दुल्ला को कम्यूनल नहीं ठहराते बल्कि कम्यूनिस्ट या कम्यूनिस्टों के प्रभाव में काम करनेवाला बताते हैं।[34] वह प्रजा परिषद के आन्दोलन को उचित ठहराते हुए भूमि-सुधारों का नाम नहीं लेते बल्कि 'नया कश्मीर दस्तावेज़

के अंधाधुंध लागू करने को' डोगराओं और हिन्दुओं के ख़िलाफ़ की गई कार्यवाही बताते हैं।[35] ज़ाहिर है, उस दौर में नया कश्मीर दस्तावेज़ से सिर्फ़ दो चीज़ें ही लागू की गई थीं : भूमि-सुधार और क़र्ज़-माफ़ी! हमने देखा है कि इसी समय करण सिंह भी नेहरू से शेख़ की शिकायत करते हुए ऐसे ही आरोप लगा रहे थे और प्रजा परिषद की वकालत कर रहे थे![36]

एक देश में दो विधान : कहीं पर निगाहें, कहीं पर निशाना

गांधी की हत्या के बाद अलग-थलग पड़ चुके हिन्दुत्ववादी दक्षिणपंथ के लिए आज़ाद हिन्दुस्तान का इकलौता मुस्लिम-बहुल प्रदेश कश्मीर ख़ुद को प्रासंगिक बनाने के लिए सबसे मुफ़ीद ज़रिया बना और श्यामा प्रसाद मुखर्जी तथा मधोक ने प्रजा परिषद के साथ ख़ुद को झोंक दिया। चूँकि, 370 के कारण ही भारतीय संविधान के 'सम्पत्ति के अधिकार' का क़ानून लागू कर मुआवज़ा दिलाने की उम्मीद ख़त्म हुई थी इसलिए भूमि-सुधारों के विरोध की जगह 370 का विरोध शुरू किया गया। आख़िर आर्थिक मोर्चे से अधिक ताक़तवर धर्म का मुद्दा होता है और देशभक्ति अक्सर वह सबसे मज़बूत आड़ होती है जिसके पीछे आर्थिक शोषण की प्रणाली को जीवित रखा जा सकता है तो संविधान सभा में 370 पर कोई आपत्ति न करनेवाले श्यामा प्रसाद 'एक देश में दो विधान/नहीं चलेगा' के नारे के साथ अपने 3 सांसदों के साथ देशभक्ति के हिन्दुत्व आइकन बनकर उभरे। शेख़ और नेहरू से लम्बी ख़त-ओ-किताबत के बाद* 1953 के मई महीने में उन्होंने टकराव का रास्ता चुना था तो वह कश्मीर के मुद्दे को राष्ट्रीय बनाने के लिए ही था। उस मुद्दे पर जनसंघ के साथ खड़े हुए अकाली नेता मास्टर तारा सिंह का कश्मीर को लेकर जो स्टैंड है, वह उस दौर में साम्प्रदायिक शक्तियों के कश्मीर को लेकर रवैये को तो बताता ही है, साथ ही यह समझने में मदद करता है कि शेख़ अब्दुल्ला और कश्मीर के लोग राज्य की स्वायत्तता को लेकर इतने संवेदनशील क्यों रहे हैं। लखनऊ के एक भाषण में मास्टर तारा सिंह कहते हैं :

> कश्मीर पाकिस्तान का है। यह एक मुस्लिम राज्य है। लेकिन मैं इस पर दावा उस सम्पत्ति के बदले करता हूँ जो रिफ़्यूज़ी पश्चिमी पाकिस्तान में छोड़ आए हैं। कश्मीरी मुसलमानों को पाकिस्तान भेज देना चाहिए जहाँ के वे असल में हैं।[37]

मुखर्जी से जुड़े घटनाक्रम पर लौटें तो पूर्वोद्धृत इंटरव्यू में शेख़ बताते हैं कि भारत सरकार ने कश्मीर को युद्धक्षेत्र घोषित कर डिफेंस ऑफ़ इंडिया रूल के तहत कश्मीर में आवागमन पर पाबन्दी लगा दी थी। मुखर्जी को डल के पास निशात बाग़ के एक निजी घर में रखा गया था। शेख़ इसके लिए तत्कालीन

---

* नेहरू-शेख़-मुखर्जी की यह ख़तो-किताबत आर्काइव डॉट ओआरजी पर उपलब्ध है।

गृहमंत्री बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद और जेल तथा चिकित्सा मंत्री श्यामलाल सर्राफ़ को ज़िम्मेदार बताते हैं, हालाँकि प्रधानमंत्री के रूप में सामूहिक ज़िम्मेदारी से इनकार भी नहीं करते। वह बताते हैं कि श्यामा प्रसाद मुखर्जी की मृत्यु के बाद उन्होंने उनके निजी चिकित्सक बी.सी. रॉय को कश्मीर आकर जाँच का प्रस्ताव भी दिया लेकिन रॉय नहीं आए।[38]

मुखर्जी की मृत्यु हृदयाघात से हुई थी। वह हृदयरोग से ग्रस्त थे और उनके लिए कश्मीर का मौसम एकदम ठीक नहीं था। मधोक को पढ़कर लगता है कि योजना बनानेवालों को यह लगा था कि उन्हें जम्मू की सीमा पर भारतीय सेना द्वारा गिरफ़्तार कर दिल्ली लाया जाएगा लेकिन उनकी गिरफ़्तारी कश्मीर में होने से ऐसा नहीं हो पाया। हालाँकि मधोक बताते हैं कि मुखर्जी के साथ उनके एक निजी चिकित्सक वैद्य गुरुदत्त भी थे।[39] मुखर्जी के जीवनीकार तथागत रॉय बताते हैं कि उनके दाहिने पैर में लगातार दर्द था और उनकी भूख ख़त्म हो गई थी। 19 जून की रात उन्हें सीने में दर्द और तेज़ बुख़ार की शिकायत हुई तो डॉ. अली मोहम्मद और अमरनाथ रैना को भेजा गया। लेकिन ज़ाहिर तौर पर 'स्ट्रेप्टोमाइसिन' देने का गुनाह अली मोहम्मद के माथे मढ़ा गया। वैसे मुखर्जी की ज़िद पर उन्हें एक हिन्दू नर्स भी उपलब्ध कराई गई थी जिसकी सुनाई गई कथित कहानी में भी यह स्पष्ट है कि उसने आख़िरी इंजेक्शन दिया था और तबियत बिगड़ने पर डॉक्टर ज़ुत्शी तुरन्त पहुँचे थे! हालाँकि अगले तीन दिनों के घटनाक्रम को रॉय काफ़ी नाटकीय तरीक़े से पेश करते हैं लेकिन यह स्पष्ट लगता है कि मुखर्जी की मृत्यु हृदयाघात से हुई थी। षड्यंत्र कथाएँ बहुत-सी बनाई गई हैं जिसमें एक पंडित की भविष्यवाणी से लेकर 20 जुलाई को संघ के मुखपत्र *ऑर्गेनाइजर* की वह रिपोर्ट भी शामिल है जिसमें कोई स्रोत नहीं दिया गया है। रॉय यह अलग से लिखते हैं कि श्रीनगर से कोलकाता भेजे जाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि मुखर्जी की मृत देह किसी मुसलमान से न छू जाए![40]

ख़ैर, नेहरू के शासनकाल में भारत के विदेश सचिव रहे वाय.एस. गुंडेविया बताते हैं कि जहाँ कश्मीर के क्रांतिकारी भूमि-सुधारों से नेहरू ख़ुश थे, वहीं पटेल इसको लेकर नाराज़ थे। शेख़ को लेकर उनकी नाराज़गी और हरि सिंह के साथ सहानुभूति बहुत स्पष्ट थी। इसका सबसे बड़ा उदाहरण उस वक़्त इंटेलीजेंस विभाग में सहायक निदेशक बी.एन. मलिक की किताब *माई इयर्स विथ नेहरू—कश्मीर* पढ़ते मिलता है। वह लिखते हैं :

> शेख़ अब्दुल्ला के निजी बातचीत में दुश्मनाना रुख़ अपनाने की रिपोर्टें लगातार दिल्ली पहुँच रही थीं—कुछ इंटेलीजेंस ब्यूरो को, कुछ सीधे प्रधानमंत्री और गृहमंत्री को, और हालात बेहद पेचीदा बने हुए थे। प्रधानमंत्री और गृहमंत्री ने कश्मीर

के हालात का स्वतंत्र जायज़ा लेने के लिए अलग-अलग लोगों को भेजा लेकिन उनकी रिपोर्टें अक्सर मनोगत होती थीं। प्रधानमंत्री द्वारा भेजे गए लोग आम तौर पर शेख़ के पक्ष में रिपोर्ट देते थे और गृहमंत्री के भेजे गए लोग उनके विरोध में। इसके अलावा बड़ी संख्या में कश्मीरी पंडित और जम्मू के डोगरा, जिनकी सीधी पहुँच प्रधानमंत्री और गृहमंत्री तक थी, अपने विचार पहुँचा रहे थे जो आम तौर पर शेख़ के ख़िलाफ़ होते थे...। गृहमंत्री और प्रधानमंत्री, दोनों इस बात को लेकर उत्सुक थे कि कश्मीर की वास्तविक स्थिति का एक आकलन होना चाहिए। मुझे यह अध्ययन करके अपनी रिपोर्ट पेश करने को कहा गया।

मैं अगस्त,1949 के अन्त में कश्मीर गया और लगभग 10 दिन वहाँ रुका...। मैं तीन-चार बार शेख़ अब्दुल्ला से मिला और बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद, जी.एम. सादिक़, शामलाल सर्राफ़ और डी.पी. धर सहित अन्य नेताओं से भी मिला। मैं बड़ी संख्या में आधिकारिक और अनाधिकारिक, दोनों तरह के दूसरे हिन्दू और मुस्लिम लोगों से भी मिला। मैं मेजर जनरल थिमैया से मिला और हम उरी सेक्टर के कई मिलिटरी पोस्ट्स पर गए...दो बार शेख़ अब्दुल्ला ने अपने घर खाने के लिए बुलाया जहाँ मैं उनकी बेगम और बेटियों से मिला तथा और भी दूसरे लोगों से। हमने ख़ूब बातें कीं और मुझे कहना पड़ेगा कि शेख़ अब्दुल्ला ने इस यात्रा में मुझ पर बहुत अच्छा प्रभाव डाला।

मुझे यह एहसास हुआ कि जम्मू और कश्मीर के भारत में विलय का निर्णय किसी जल्दबाज़ी में नहीं लिया गया था और परिस्थितियों के दबाव में नहीं था; लोग जितना समझते थे, उससे कहीं अधिक उनकी गहरी विचारधारात्मक एकता भारत और भारत के नेताओं से थी...। शेख़ अब्दुल्ला पंडित नेहरू की मित्रता और विचारों की एकता के लिए ईमानदार भाव रखते थे जबकि एम.ए. जिन्ना के प्रति उनके भाव केवल भय, अविश्वास और घृणा का था...।

मैंने भारत-कश्मीर रिश्ते के बारे में दूसरे नेताओं से बात की, ख़ास तौर पर बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद और डी.पी. धर से। उस समय उन्हें इस बात पर कोई शक नहीं था कि शेख़ के विचार भारत के प्रति ईमानदार थे और भारत के पक्ष में उनके अपने विचार भी उतने ही सुदृढ़ थे, हालाँकि वे वैसे मज़बूत विचारधारात्मक आधार पर नहीं थे। उस समय युवराज को भी, जिनसे मैंने विस्तृत बातचीत की, शेख़ अब्दुल्ला पर कोई शक नहीं था हालाँकि वह अपने पिता के साथ हुए व्यवहार को लेकर ख़ुश नहीं थे...।

दिल्ली लौटकर मैंने एक इन्हीं आधारों पर एक रिपोर्ट बनाई और अपने निदेशक को भेजी जिन्होंने इसे गृह सचिव एच.वी. आयंगर को भेज दिया। गृह सचिव ने इसे प्रधानमंत्री और गृहमंत्री को। मैं इस बात से अवगत नहीं था, न ही इस तथ्य से कि प्रधानमंत्री ने इस रिपोर्ट को कश्मीर की वर्तमान स्थिति का एक निष्पक्ष आकलन माना था और इसकी प्रतियाँ विदेश में सभी भारतीय दूतावासों तथा संयुक्त राष्ट्र में भारत के प्रतिनिधि को भेज दिया था।

सरदार वल्लभ भाई पटेल ख़ुश नहीं थे। मेरी यह रिपोर्ट स्पष्टत: उनके कश्मीर के सन्दर्भ में और ख़ास तौर पर शेख़ के बारे में विचारों के विपरीत थी। उन्हें शक

था कि शेख़ ईमानदार नहीं थे और नेहरू को बहका रहे थे तथा इस बात से ख़ुश नहीं थे कि इस रिपोर्ट को इतने बड़े पैमाने पर प्रसारित किया गया...।

अगले दिन मुझे सरदार से मिलने के लिए समन किया गया। वह बीमार थे और बिस्तर पर लेटे हुए थे। काफ़ी देर तक वह मुझे देखते रहे। फिर उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या ये रिपोर्ट मैंने लिखी है? मैंने 'हाँ' में जवाब दिया। उन्होंने मुझसे पूछा कि मैंने उनसे बात किये बिना जवाहरलाल को क्यों भेज दी? मैंने उन्हें बताया कि मैंने यह रिपोर्ट निदेशक को दी थी...। सरदार ने फिर कहा कि वह आम तौर पर कश्मीर के हालात और ख़ास तौर पर शेख़ अब्दुल्ला के मेरे आकलन से सहमत नहीं थे। फिर सरदार ने मुझे शेख़ अब्दुल्ला के बारे में अपने विचार बताए। उनको लगता था कि शेख़ अब्दुल्ला अन्ततः जवाहरलाल नेहरू और भारत को नीचा दिखाएँगे और अपने असली रंग में आएँगे। हरि सिंह के प्रति उनकी निष्ठुरता उनके महाराजा होने कारण नहीं बल्कि डोगरा होने के कारण है और वे डोगराओं को भारत के बहुसंख्यक समाज के साथ जोड़कर देखते हैं...। उन्होंने कहा कि मुझे जल्द ही अपनी ग़लती का एहसास होगा और इसके साथ ही मुझे इस रिपोर्ट को लिखने में किये गए श्रम के लिए बधाई भी दी। यह सरदार की महानता थी। मेरे विचारों से असहमत होते हुए भी उन्होंने इसे व्यक्त करने के मेरे अधिकार का सम्मान किया। यहाँ हमारी मुलाक़ात समाप्त हुई। मुझे आई.बी. से निकाला नहीं गया और जल्द ही मुझे लगभग 30 वरिष्ठों पर वरीयता देकर प्रोन्नत कर निदेशक बना दिया गया।

उस दिन मैं यह सोचता हुआ अपने दफ़्तर लौटा कि क्या मैंने वाक़ई कश्मीर के आकलन में ग़लती की और क्या सरदार ने जो कहा, वह सचमुच सही था?[41]

अक्सर उद्धृत किये जानेवाला यह लंबा उद्धरण बहुत ग़ौर से पढ़े जाने की ज़रूरत है। मलिक ने कश्मीर में शेख़ अब्दुल्ला, युवराज करण सिंह, थिमैया और कश्मीर के लगभग सभी वर्गों के बारे में बात करके शेख़ के बारे में जो राय बनाई थी, वह पटेल के पूर्वग्रहों के आगे महत्त्वपूर्ण नहीं रह गई। पटेल डोगरा शासन को एक सामन्ती ढाँचे की तरह नहीं बल्कि एक हिन्दू राजा की तरह देख रहे थे और शेख़ को उसके एक मुस्लिम प्रतिद्वंद्वी की तरह। मलिक अपने इस आकलन में शेख़ और नेहरू के बीच जिस विचारधारात्मक एकता की बात कर रहे थे, पटेल उसके बाहर थे। यह विचारधारात्मक एकता दो स्तरों पर थी : पहली तो भूमि-सुधारों जैसे क्रान्तिकारी बदलावों के लिए किसानों और श्रमिकों के प्रति प्रतिबद्धता। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि भूमि-सुधार ख़ुद कांग्रेस के एजेंडे में आज़ादी की लड़ाई के दौरान बहुत ऊपर रहे लेकिन आज़ादी के बाद एक तो इनके प्रति कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया गया और दूसरे, जहाँ यह आधी-अधूरी लागू भी हुई, वहाँ भारी रक़म मुआवज़े के रूप में देने के कारण सामाजिक समता के क्षेत्र में कुछ विशेष करने की जगह राजकीय ख़ज़ाने पर बोझ अधिक बनी। वहीं जनसंघ जैसे संगठनों को लेकर नेहरू और शेख़, दोनों की ही समझ एक जैसी थी। नेहरू ने 1964 में

एक आधिकारिक बैठक के दौरान स्पष्ट कहा था कि भारत को ख़तरा वामपंथ से नहीं बल्कि हिन्दुत्ववादी दक्षिणपंथी संगठनों से है। वामपंथ ऐसा क्या दे सकता है जो हम नहीं दे सकते? शेख़ के भी जनसंघ को लेकर यही विचार थे।[42] लेकिन उस दौर में न केवल पटेल बल्कि कांग्रेस के भीतर दक्षिणपंथी नेताओं की एक बड़ी संख्या थी जिनके मन में जनसंघ और आर.एस.एस. को लेकर एक सॉफ्ट कॉर्नर था। 1949-50 के बीच कांग्रेस के भीतर की साम्प्रदायिक लॉबी ने अपना प्रभाव काफ़ी बढ़ा लिया। प्रधानमंत्री पद उसकी पहुँच से बाहर था लेकिन उनके इर्द-गिर्द घेरा बनाया जा सकता था। 21 जून, 1948 को माउंटबेटन की विदाई के बाद नेहरू ने सी. राजगोपालाचारी को गवर्नर जनरल बनाया, जबकि वह उन्हें पहला राष्ट्रपति भी बनाना चाहते थे। लेकिन पटेल के नेतृत्व में कांग्रेस संसदीय दल ने राजेन्द्र प्रसाद को राष्ट्रपति बनवा दिया। नतीजतन जब हिन्दू कोड बिल* लाया गया तो सरदार पटेल और साम्प्रदायिक ताक़तों के साथ राजेन्द्र प्रसाद ने भी उसकी राह में रोड़े अटकाए।[43] इसके बाद पुरुषोत्तम दास टंडन कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए जिन्हें नेहरू ने खुले तौर पर साम्प्रदायिक कहा था। टंडन के अध्यक्ष चुने जाने पर नेहरू ने बयान देकर कहा था कि 'इस निर्णय से साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी ताक़तें खुलेआम ख़ुशियाँ मना रही हैं।'[44] ऐसे में पटेल को लेकर शेख़ की आशंका और उसके कारण बेहद स्पष्ट थे। विभाजन के समय रजवाड़ों के भारत में विलय में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका पर कोई सवाल नहीं खड़ा किया जा सकता लेकिन इस प्रक्रिया में उनकी साम्प्रदायिक भूमिका का ज़िक्र अक्सर नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है। ज्ञानेंद्र पांडेय ने अपनी किताब *रिमेम्बरिंग पार्टीशन* में ऐसी एक घटना का ज़िक्र किया है। वह बताते हैं कि अलवर स्टेट के एक पूर्व कैप्टन ने बताया कि 'मैं तब अलवर के महाराज तेज सिंह का ए.डी.सी. था। यह तय किया गया था कि अलवर को मुसलमानों से ख़ाली कर दिया जाए। आदेश सरदार पटेल के यहाँ से आए थे। हमने सबको मार डाला। एक-एक मुसलमान को।[45] शेख़ अब्दुल्ला ने भी अपनी जीवनी में 5 नवम्बर, 1947 को जम्मू में हुए मुसलमानों के हत्याकांड के ठीक एक दिन पहले सरदार पटेल के जम्मू में होने और महाराजा, महाजन तथा रक्षामंत्री बलदेव सिंह की बैठक का ज़िक्र किया है। सच जो भी हो लेकिन पटेल और शेख़ के बीच का यह अविश्वास लगातार बढ़ता गया और अन्ततः वे स्थितियाँ बनीं जिनमें शेख़ गिरफ़्तार हुए। शेख़ लिखते हैं :

> सरदार पटेल ने केन्द्रीय गुप्तचर और सेना की गुप्तचर एजेंसियों का उपयोग जवाहरलाल के मन में सन्देह पैदा करने के लिए किया। बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद, करण सिंह और डी.पी. धर ने उनका हर तरह से सहयोग किया। वे इन्दिरा गांधी,

---

* हिन्दू कोड बिल और उस पर चले विवाद को गहराई से समझने के लिए पाठक चित्रा सिन्हा की किताब 'डिबेटिंग पैट्रियार्की : द हिन्दू कोड बिल कंट्रोवर्सी इन इंडिया', 1941-56, प्रकाशक : ओ.यू.पी. इंडिया-2012 पढ़ सकते हैं।

फ़ीरोज़ गांधी, विजयलक्ष्मी पंडित और एम.ओ. मथाई का भरोसा जीतने में सफल रहे।[16] इसके पहले वह नेहरू के निजी सचिव पंडित द्वारका नाथ खाचरू, काशीनाथ बमज़ाई और ब्रिगेडियर बी.एच. कौल (तीनों कश्मीरी पंडित) पर नेहरू को उनके ख़िलाफ़ भड़काने का आरोप लगाते हैं।[17]

करण सिंह के नेहरू से पत्राचार का ज़िक्र हम पहले ही कर चुके हैं जिसमें साफ़ नज़र आता है कि बहुत सफ़ाई और सावधानी से वह नेहरू के मन में शेख़ के लिए ज़हर भरने की कोशिश कर रहे हैं। द्वारकानाथ खाचरू की सन्दिग्ध भूमिका की बात प्रतिष्ठित कश्मीरी विद्वान आग़ा अशरफ़ अली भी करते हैं।[18]

तो जो रिपोर्ट नेहरू के लिए पूरी दुनिया में प्रसारित करने योग्य थी, पटेल के लिए वह अपनी योजनाओं के प्रतिकूल थी और बावजूद इसके रिपोर्ट बनानेवाले मलिक को 30 से अधिक वरिष्ठों पर वरीयता देकर प्रोन्नति दे दी। पटेल की इस 'महानता' का जो प्रभाव मलिक पर पड़ा था, वह अल्पजीवी नहीं था। इस घटना के बाद शेख़ को लेकर उनके आकलन और उनके निदेशक बनने के बाद आई.बी. का रवैया, दोनों पूरी तरह बदले हुए नज़र आते हैं। गुंडेविया बताते हैं कि मलिक का उद्देश्य इसके बाद शेख़ और उनके लोगों को पूरी तरह नष्ट कर देना रह गया था : मलिक और गृह मंत्रालय ने शेख़ को भारत का शत्रु बनने पर बाध्य कर दिया। वह लिखते हैं :

> ऐसा लगता है कि खेल एक विनीत कनिष्ठ इंटेलीजेंस अधिकारी को कश्मीर भेजकर शुरू हुआ जिसका काम वैसे तो राज्य में पाकिस्तानी गतिविधियों पर नज़र रखना था लेकिन असल में शेख़ अब्दुल्ला की जासूसी करना था। शेख़ को इस आई.बी. अधिकारी की गतिविधियों का पता चला तो नेहरू की सहायता से जल्दी ही उसे बाहर निकाल दिया गया। लेकिन गृह मंत्रालय का इंटेलीजेंस ब्यूरो इतनी आसानी से माननेवाला नहीं था। उनका इकलौता लक्ष्य यह था कि कश्मीर से आनेवाली विभिन्न रिपोर्टें नेहरू और कांग्रेस की नज़र में शेख़ के प्रति सन्देह पैदा करें और उनका दूसरा उद्देश्य शेख़ के समर्थकों के बीच मतभेद पैदा करना था। वे धीरे-धीरे सफल हुए और जब दूसरी बार शेख़ ने शिकायत की तो नेहरू ने वैसा उत्तर नहीं दिया...। दक्षिणपंथी प्रोपेगेंडा, कानाफूसी द्वारा दुष्प्रचार और राजनीतिक धोखेबाज़ी तथा इन सबको 'इंटेलीजेंस रिपोर्टों' द्वारा, जो गृह मंत्रालय में पहले सम्पादित की जाती थीं और फिर प्रधानमंत्री को भेजी जाती थीं, पूरी तरह से समर्थन ने मनचाहा असर दिखाया। 1953 की जुलाई आते-आते नेहरू के दिमाग़ को पर्याप्त विषाक्त किया जा चुका था। शेख़ अब्दुल्ला की बर्ख़ास्तगी—गृह मंत्रालय के 'प्रतिक्रियावादी तत्त्वों' द्वारा बिग स्टेट अबोलिशन एक्ट के 'कोई मुआवज़ा नहीं' वाले हिस्से की कश्मीरी संविधान द्वारा संस्तुति के पहले ही—उन्हें सत्ता से बाहर करने की साज़िश थी।[19]

इन घटनाओं का विस्तार एक बार पाठकों को विषयान्तर लग सकता है, लेकिन मुझे यह इसलिए ज़रूरी लगा कि अक्सर हिन्दू-मुस्लिम, देशभक्ति-देशद्रोहिता जैसे सरलीकरणों में समेट दी जानेवाली इन परिघटनाओं के पीछे गहरे और अक्सर बेहद उलझे समाजार्थिक तथ्य होते हैं। कश्मीर के मामलों में मुस्लिम बहुल होने के कारण सरलीकरणों में फँसना और भी आसान होता है और कम-से-कम कश्मीरी पंडितों के सन्दर्भ में अक्सर यही किया गया है। लेकिन एक सही और सम्पूर्ण समझ के लिए इन सामाजिक-आर्थिक तथ्यों को सांस्कृतिक पहलू के साथ रखकर देखना होगा।

शेख़ की गिरफ़्तारी और बख़्शी का विकासवाद
दिल्ली के भरोसे कश्मीरी पंडित

मुखर्जी की मृत्यु के कोई दो महीने बाद हुई शेख़ की बर्ख़ास्तगी और गिरफ़्तारी कश्मीर के आधुनिक इतिहास का एक बेहद महत्त्वपूर्ण और घुमावदार मोड़ है। पहले उस घटना का संक्षिप्त विवरण।

8 अगस्त को शेख़ अचानक गुलमर्ग चले गए। आई.बी. ने दिल्ली को ख़बर भेजी कि वह वहाँ किसी पाकिस्तानी एजेंट से मिलने गए हैं। यह तथ्य कभी साबित नहीं हो पाया लेकिन उस समय यह उनकी गिरफ़्तारी का आधार बना। सदर-ए-रियासत करण सिंह ने उसी शाम शेख़ को बर्ख़ास्त कर बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया और आधी रात को शेख़ को गिरफ़्तार करने के लिए आदेश जारी किये। डी.आई.जी. एल. डी, ठाकुर के नेतृत्व में पुलिस बल गुलमर्ग भेजा गया। जब तक शेख़ की गिरफ़्तारी की ख़बर नहीं आई, बख़्शी शपथ-ग्रहण के लिए तैयार नहीं हुए। आख़िरकार शेख़ की गिरफ़्तारी की ख़बर आने पर 9 तारीख़ को तड़के बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद ने कश्मीर के दूसरे प्रधानमंत्री पद की शपथ ली और सूरज निकलते-निकलते कश्मीर की सड़कों पर विरोध-प्रदर्शन शुरू हो गए।[50] 'बख़्शी मुर्दाबाद' के नारे लगाती भीड़ कश्मीर की सड़कों पर उतरी तो सरकार ने उसका क्रूर दमन किया। श्रीनगर और किस्तवार में पुलिस फायरिंग हुई जिसमें सरकार की ओर से 60 लोगों के मरने का दावा किया गया जबकि शेख़ ने यह संख्या हज़ार से अधिक बताई। बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारियाँ हुईं जिनमें कश्यप बन्धु, ग़ुलाम मोहम्मद शाह, जम्मू और कश्मीर विश्वविद्यालय के कुलसचिव ग़ुलाम मोहम्मद अशाई, सूचना निदेशक जानकीनाथ ज़ुत्शी, श्याम लाल कौल सहित अनेक महत्त्वपूर्ण लोग शामिल थे। मिर्ज़ा अफ़ज़ल बेग़ और सोफ़ी मोहम्मद अकबर को शेख़ के साथ ही गिरफ़्तार किया गया था।[51]

यहाँ दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—पहली तो यह कि शेख़ की गिरफ़्तारी के साथ कश्मीरी पंडितों के भी कई प्रमुख नेता गिरफ़्तार हुए थे। इसलिए कहा जा सकता है कि इसे हिन्दू-मुसलमान की तरह, कम-से-कम घाटी में नहीं देखा जा सकता, लेकिन ऐसे

निष्कर्षों तक पहुँचने से पहले यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि राजनीतिक कारणों से पंडित भले उन नेताओं को समर्थन दे रहे हों, जो नेशनल कॉन्फ्रेंस में थे, लेकिन इन नेताओं को पंडित समुदाय का प्रतिनिधि मान लेना सही नहीं होगा। दूसरा, जैसाकि गुंडेविया बताते हैं, इस गिरफ़्तारी का श्रेय लेने की भीड़ लगी हुई थी। मलिक तो ख़ैर इसका श्रेय लेते ही हैं, तत्कालीन मंत्रिमंडल में खाद्य मंत्री रहे अजित प्रसाद जैन भी इसका श्रेय लेते हैं और जनरल बी.एम. कौल भी। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इन सबने अपने दावे नेहरू की मृत्यु के बाद ही किये।[52] गुंडेविया का मानना है कि नेहरू इस गिरफ़्तारी और बर्ख़ास्तगी के खेल में शामिल नहीं थे, लेकिन इसे स्वीकार कर पाना मुश्किल है कि उस दौर में बिना नेहरू को भरोसे में लिये शेख़ को गिरफ़्तार करने की हिम्मत किसी में थी। नेहरू ने 28 जून को शेख़ को लिखे पत्र में लिखा था :

> मेरे लिए कश्मीर का सवाल केवल तार्किक मामला नहीं बल्कि भावनात्मक मामला भी है। अब तक मैंने आपसे दोस्ती और आप पर भरोसे के आधार पर काम किया है और आपसे भी यही उम्मीद की है। यह न्यायसंगत है या नहीं, यह आपको तय करना है। व्यक्तिगत रिश्ते राष्ट्रीय मामलों में मायने नहीं रखते और फिर भी उनका अर्थ है और वे अन्तर पैदा कर सकते हैं।[53]

इस पत्र में उन्होंने 3 जुलाई को शेख़ को दिल्ली बुलाया था लेकिन शेख़ ने बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद और मिर्ज़ा अफ़ज़ल बेग को भेज दिया। 29 जून को करण सिंह को लिखे पत्र में उन्होंने इस पत्र का ज़िक्र किया है। 9 अगस्त को लिखे पत्र में करण सिंह ने शेख़ की गिरफ़्तारी और बर्ख़ास्तगी के बारे में औपचारिक रूप से विस्तार से लिखा है और उसी दिन एक और अनौपचारिक पत्र लिखा है जिसमें व्यक्तिगत तौर पर इस बारे में कुछ बातें हैं। 10 अगस्त को लिखे नेहरू के जवाब में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे ऐसा लगे कि वह शेख़ की गिरफ़्तारी से सदमे में हों या आश्चर्यचकित हों। ऐसा लगता है कि वह इस घटना को पहले से ही अच्छी तरह से जानते थे।[54] लेकिन जिस तरह नेहरू की मृत्यु के बाद 'खुलासे' किये गए, उससे स्पष्ट है कि यह किसी षड्यंत्र का हिस्सा नहीं था। शेख़ के बारे में नकारात्मक रिपोर्ट्स से बनी छवि के आधार पर नेहरू ने एक फ़ैसला लिया था, यह कहना भी बहुत सही नहीं होगा। सैफ़ुद्दीन सोज़ उस दौर के लोक सभा सदस्य अंसार हरवानी के हवाले से बताते हैं कि 'नेहरू ने पूरी तरह से अपने ख़िलाफ़ हो चुकी कैबिनेट के इस फ़ैसले को अनिच्छापूर्वक स्वीकार किया था। यह एक ऐसी स्थिति थी जब नेहरू अपनी ही कैबिनेट में हार गए थे, हालाँकि उन्होंने चेतावनी दी थी कि इसके विनाशकारी प्रभाव होंगे।'[55]

अब पूर्ण बहुमत की एक सरकार को सिर्फ़ कुछ मंत्रियों के समर्थन वापस लेने से ऐसा फ़ैसला सही था या ग़लत, यह फ़ैसला मैं पाठकों पर छोड़ता हूँ—इस सूचना के साथ कि शेख़ पर लगे आरोप कभी सिद्ध नहीं हुए।

शेख़ की गिरफ़्तारी कश्मीरियों के लिए जैसे एक भरोसे के टूटने की तरह थी। यहाँ 'कश्मीरियों' कहते हुए इसे पंडित/मुसलमान के टर्म में समझना तो ग़लत होगा लेकिन जहाँ नेशनल कॉन्फ्रेंस से जुड़े कश्यप बन्धु जैसे कुछ पंडित नेता उनके साथ थे और उसी से जुड़े बख़्शी, सादिक़, क़ासिम, धर जैसे कुछ नेता ख़िलाफ़, वहीं आम पंडितों और मुसलमानों में इसकी प्रतिक्रिया अलग थी। एक बात तो स्पष्ट कही जा सकती है कि घाटी का आम मुसलमान शेख़ की गिरफ़्तारी से नाराज़ था। ब्रेखर ने कश्मीरियों से 1951 में हुई बातचीत का हवाला देते हुए बताया है कि कश्मीरी मुसलमानों में पाकिस्तान को लेकर एक झुकाव तो था लेकिन इसके साथ एक मज़बूत भाव यह भी था कि जिधर शेख़ जाएँगे, उधर ही हम भी जाएँगे।[56] लेकिन क्या यही आम पंडितों के बारे में कहा जा सकता है? इसके स्पष्ट प्रमाण मिलना लगभग असम्भव है लेकिन कहीं-कहीं ऐसे संकेत मिलते हैं कि पंडितों का एक हिस्सा इसे लेकर ख़ुश था। शेख़ की नतिनी और प्रसिद्ध लेखिका नायला अली ख़ान द्वारा सम्पादित किताब में मोहम्मद इशाक ख़ान याद करते हैं कि शेख़ की गिरफ़्तारी की ख़बर रेडियो पर आने पर उनके पड़ोसी थुस्सू परिवार में ख़ुशियाँ मनाई जा रही थीं। ख़ान कहते हैं कि मुसलमानों की बहुसंख्या ने शेख़ का साथ दिया जबकि हिन्दुओं की बहुसंख्या ने दिल्ली का और इस भिन्न राजनीतिक दृष्टिकोण के चलते दोनों के बीच एक दुराव पैदा हुआ और मुसलमानों के एक हिस्से में भारत-विरोधी भाव...। शेख़ की गिरफ़्तारी के बाद कश्मीर के आम मुसलमानों के बीच यह अवधारणा बनी कि अगर वह जिन्ना की बात मानते और एक काफ़िर जवाहरलाल के साथ नहीं जाते तो उन्हें अपने ही साथियों से यूँ धोखा न खाना पड़ता।[57] यहाँ रुककर बज़ाज़ का पूर्वोद्धृत प्रेक्षण, 'शेख़ जब कांग्रेस के साथ रहे तभी पंडितों ने उनका खुला समर्थन किया', याद करें तो ख़ान की बात पर भरोसा न करने का कोई कारण नज़र नहीं आता। सैफ़ुद्दीन सोज़ कई हवाले देकर बताते हैं कि उस दौर में सत्ता हासिल करने के लिए बख़्शी ने प्रजा परिषद से हाथ मिला लिया था और उसकी सभाओं में भाषण दे रहे थे। ज़ाहिर है, एक तरफ़ दिल्ली सरकार और दूसरी तरफ़ हिन्दुओं के समर्थन में बख़्शी अपनी सुरक्षा देख रहे थे तो पंडितों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे बख़्शी और दिल्ली के साथ खड़े होते। ख़ान आगे कहते हैं, कश्मीरी पंडितों के नेहरू और उनके वफ़ादार बख़्शी के प्रति समर्थन ने कश्मीरी उद्देश्य के लिए उनकी विश्वसनीयता पर सवालिया निशान लगा दिया।[58]

बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद हों या फिर उनके बाद सत्ता में आए ग़ुलाम मोहम्मद सादिक़ (बीच में बहुत थोड़े समय के लिए सत्ता में आए शम्सुद्दीन का ज़िक्र इसलिए नहीं कर रहा कि उनका कार्यकाल मो-ए-मुक़द्दस की चोरी और बरामदगी के अलावा किसी घटना के लिए नहीं जाना जाता। उस घटना पर बात होगी), उस समय तक, इस आरम्भिक समर्थन के बावजूद, कश्मीरी पंडितों की नाराज़गी बदस्तूर

जारी रही। इसमें कोई भारत के प्रति वफ़ादारी वग़ैरह ढूँढ़ ले तो तो ठीक है लेकिन असल में इसके मूल में थी शिक्षा और नौकरियों में हिस्सेदारी और संसाधनों पर क़ब्ज़े की लड़ाई। बख़्शी के कार्यकाल की थोड़ी-सी विवेचना इस पूरी परिघटना को समझने में मददगार होगी।

शेख़ के पहले शासनकाल में दूसरी बातों के अतिरिक्त प्रशासन की दो लाक्षणिकताएँ चिन्हित की जा सकती हैं : पहली, प्रशासन में मुस्लिम समाज की भागीदारी बढ़ाने का प्रयास और दूसरा, यथासम्भव कश्मीर को आत्मनिर्भर बनाने तथा भारत सरकार से न्यूनतम सहायता लेने की नीति। पहली नीति के चलते राजपत्रित पदों पर मुसलमानों की संख्या 1947 के 30 प्रतिशत से बढ़कर 1953 में 50 प्रतिशत हो गई और सौ सालों के बाद मुसलमानों को नेशनल मिलिशिया के रूप में सैन्य बलों में शामिल होने का अवसर मिला। लेकिन मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुरूप प्रशासन में भागीदारी देने की इन कोशिशों ने घाटी में सामाजिक तनाव पैदा किया और पंडितों ने इसे 'साम्प्रदायिक नीति' बताकर अपने साथ अन्याय की संज्ञा दी। शेख़ बताते हैं कि हमेशा की तरह इस बात की शिकायत भी दिल्ली की गई और पटेल ने इस बारे में कई बार सवाल पूछे, लेकिन जब उन्हें जनसंख्या के अनुपातों और सेवाओं में भागीदारी के अनुपातों के बारे में विस्तार से आँकड़े उपलब्ध कराए गए तो वह आश्चर्यचकित रह गए और बोले, शिकायत तो मुसलमानों को करनी चाहिए थी।[59] इस क्रम में शेख़ अपना जो जवाब दर्ज करते हैं, वह इस तनाव को समझने के लिए मानीखेज़ है : 'शायद हिन्दू यह समझते हैं कि केन्द्र केवल उनके हितों की रक्षा के लिए है और उसे मुसलमानों के मुद्दे पर चुप रहना चाहिए।' डोगरा राज में मिलनेवाले विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए पंडितों ने केन्द्र की ओर देखना शुरू किया। इसमें पत्रकारिता और केन्द्रीय प्रशासनिक सेवाओं में उच्चतर पदों पर आसीन कश्मीरी पंडितों ने भरपूर मदद भी की। इसका एक मज़ेदार पक्ष तब दिखता है जब पंडितों की नाराज़गी पर बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद प्रतिक्रिया देते हुए कहते हैं—मैंने क्या-क्या नहीं किया भारत के लिए और फिर भी हिन्दू मुझसे ख़ुश नहीं हैं।[60]

दूसरी नीति के असर बहुआयामी थे। शेख़ की प्राथमिकता कश्मीर की स्वायत्तता को बनाये रखना था इसलिए उन्होंने भारत के साथ आर्थिक सम्बन्धों को बनाने में कोई उत्साह नहीं दिखाया। लेकिन क़बीलाई आक्रमण और विभाजन के बाद तहस-नहस हुई कश्मीरी अर्थव्यवस्था को खड़ा करने के लिए और विकास के उन सपनों को ज़मीनी हक़ीक़त बनाने के लिए पैसों की ज़रूरत थी, जिनका 'नया कश्मीर' के तहत वायदा किया गया था। ऐसे में एक ही तरीक़ा बचता था कि तरह-तरह के टैक्स लगाये जाएँ। स्वाभाविक रूप से यह क़दम जनता के बीच अलोकप्रिय साबित होना था और इसका दूसरा असर क़ीमतों पर पड़ना था। अब भी प्रशासनिक हलका मोटे तौर पर महाराजा के समय वाला ही था और भ्रष्टाचार

का बोलबाला था तो दूसरी तरफ़ जम्मू में प्रजा-सभा के आन्दोलनों और लगातार उपस्थित तनावों के कारण किसी तरह का निवेश भी सम्भव नहीं था। इन सबकी वजह से वे हालात पैदा हुए जिनकी वजह से वानी शेख़ के पहले शासनकाल पर टिप्पणी करते हुए उन्हें 'अच्छे संघर्षकारी लेकिन असफल प्रशासक' कहते हैं।

बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद ने इसके ठीक विपरीत भारत से कश्मीर के आर्थिक एकीकरण और केन्द्र के सहयोग से कश्मीर के सर्वांगीण विकास की नीति अपनाई। वानी इसे 'आर्थिक तरीक़ा'[61] कहते हैं तो बख़्शी-काल पर महत्त्वपूर्ण शोध करनेवाली हसफ़ा कंजवाल इसे 'विकासवाद' का नाम देती हैं।[62] शेख़ की गिरफ़्तारी से नाराज़ कश्मीरी जनता के लिए बख़्शी के समय विकास के दरवाज़े खोल दिये गए और शिक्षा, स्वास्थ्य, मूलभूत ढाँचे, उद्योग, परिवहन, पर्यटन सहित सभी क्षेत्रों में ज़बरदस्त निवेश हुआ। बहुत विस्तार में जाने की जगह दो उदाहरण दे देने काफ़ी होंगे। सुधा कौल अपने संस्मरण में कहती हैं कि 'केवल गम्भीर रूप से विकलांग लड़कियाँ कॉलेज नहीं जाती थीं क्योंकि सरकारी स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा निःशुल्क थी'[63] तो दूसरी तरफ़ बख़्शी को कश्मीरी जनता द्वारा दिया गया नाम—ख़ालिद-ए-कश्मीर[64] यानी कश्मीर का निर्माता। इस दौर में खेलों, संस्कृतिकर्म आदि को भी ख़ूब बढ़ावा दिया गया और समाजवादी-सेक्यूलर शिक्षा और संस्कृति के विस्तार के लिए कई नीतियाँ बनाई गईं। यहाँ यह याद कर लेना भी उचित होगा कि भारत के साथ एकीकरण की इस प्रक्रिया में अनुच्छेद 370 में भी काफ़ी बदलाव किये गए। 1956 में राज्य की संविधान सभा ने राज्य का संविधान पास कर दिया जिसमें जम्मू और कश्मीर के भारत का अभिन्न हिस्सा होने की बात स्पष्ट तौर पर थी। ऑडिट, कस्टम, चुनाव आयोग, उच्चतम न्यायालय सहित अनेक केन्द्र सरकार के विभागों का कार्यक्षेत्र कश्मीर तक विस्तृत कर दिया गया। भारतीय संसद के कश्मीर के सन्दर्भ में क़ानून बनाने के परिक्षेत्र को बढ़ा दिया गया, भारत से आने वाली वस्तुओं पर कस्टम ख़त्म कर दिया गया और 1958 में केन्द्रीय प्रशासनिक तथा पुलिस सेवा के अधिकारियों की कश्मीर में नियुक्ति की अनुमति दे दी गई।[65]

लेकिन इस दौर में भी सामाजिक तनावों पर रोक नहीं लग सकी। विस्तार में जाने से पहले सुधा कौल के संस्मरण से एक क़िस्सा देख लेते हैं। वह बताती हैं कि उनके नाना की अचानक मृत्यु हो गई जो उच्च सरकारी अधिकारी थे। 'एक विशाल पुरुष-आकृति, चौखट पर हाथ रखे, दरवाज़े पर थी और महिलाओं के कमरे में प्रवेश किये बिना उसने नानी से कहा—बहन, हिम्मत रखिए। आपके पति मेरे भाई जैसे थे। मैंने आपके ईमानदार पति के लिए एक पेंशन तय कर दी है।' किसी भी दृष्टि से राज्य के प्रमुख का यह आचरण किसी नागरिक के लिए सम्मान बढ़ानेवाला होगा और उस प्रमुख के विशाल हृदय का परिचायक भी। लेकिन सुधा कौल इस क्षण भावुक या विनीत होने की जगह इसी क्रम में आगे लिखती हैं : 'फिर कश्मीर

के प्रधानमंत्री कर्मचारियों और सहायकों की भीड़ के साथ चले गए। वह अब सरकार के प्रमुख हैं, लेकिन वह एक दाई (मिडवाइफ) के बेटे थे। अपने अधिकतर सहयोगियों की तरह वह भी मुस्लिम थे, लेकिन उस समय किसी को यह ख़याल नहीं आया। यह केवल बाद में याद करने पर रोचक लगा।'[66]

तारीफ़ का एक शब्द नहीं! कृतज्ञता का एक भाव नहीं! भावुकता का एक क़तरा नहीं! ऐसे विषम समय में भी अपनी श्रेष्ठता का अहंकार बिलकुल उस जातिवादी अहंकार के समकक्ष नहीं लगता आपको जो शेष भारत में दलितों के समक्ष ग़ैर-दलितों, विशेषकर ब्राह्मणों में पाया जाता है? जो उच्च से उच्च पद पर पहुँचे दलितों के प्रति किसी भी तरह का सम्मान रख पाने में अक्षम होता है?

यह घटना मैंने उस प्रवृत्ति के एक प्रतीक के रूप में ली है जिसने कश्मीर की नई सच्चाइयों के समक्ष कश्मीरी पंडितों के एक बड़े हिस्से को कभी सहज नहीं होने दिया। चूँकि यहाँ जाति की जगह धर्म उपस्थित था तो मुस्लिम बहुसंख्यक को ज़रा-सा लाभ पहुँचाने वाली किसी भी नीति को साम्प्रदायिक क़रार देते हुए दिल्ली की तरफ़ 'न्याय' के लिए गुहार लगाई गई।

बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद के समय उच्च शिक्षण संस्थानों में प्रवेश के लिए घाटी में 70 फ़ीसद सीटें मुसलमानों और 30 फ़ीसद सीटें ग़ैर-मुसलमानों के लिए तो जम्मू में 70 फ़ीसद सीटें ग़ैर-मुसलमानों तथा 30 फ़ीसद सीटें मुसलमानों के लिए आरक्षित की गईं। यही नीति सेवाओं में भर्ती के लिए भी अपनाई गई। इसका आधार यह था कि घाटी के अन्दर मुसलमान शैक्षणिक और सामाजिक रूप से पिछड़े हैं जबकि जम्मू में यह दर्जा हिन्दुओं का है। अगर जनसंख्या के आधार पर देखें तो 4 प्रतिशत कश्मीरी पंडितों और लगभग एक प्रतिशत सिखों के लिए 30 प्रतिशत सीटें उनके अनुपात से कहीं अधिक थीं जबकि 40 प्रतिशत से अधिक आबादी के बावजूद जम्मू में केवल 30 फ़ीसद सीटें मुसलमानों की जनांकिक भागीदारी की तुलना में कम थी। लेकिन कश्मीरी पंडितों ने इसे अपने साथ भेदभाव बताते हुए तुरन्त इसका विरोध करना शुरू कर दिया। यह घृणा कितनी गहरी थी, इसे समझने के लिए मोहनलाल कौल को उद्धृत किया जा सकता है :

> वह और केवल वह थे जिन्होंने आम मुसलमानों के अनुसार, उन्हें धूल से उठाकर साफ़ किया और चमकदार कपड़ों में सजा दिया। घाटी का हर कोना मुस्लिम स्नातकों से भर गया और उन्हें श्रीनगर के प्रशिक्षण केन्द्र में शिक्षण में डिप्लोमा करने के लिए भर दिया गया जहाँ से अपने कोर्स पूरा करने के बाद वे मेरिट और बुज़ुर्ग कश्मीरी हिन्दू शिक्षकों के दावों को दरकिनार कर तुरन्त स्कूलों के हेडमास्टर बना दिये जाते थे।[67]

जिस घाटी में 95 प्रतिशत मुसलमान थे, उसमें 'कोने-कोने में मुस्लिम स्नातक' दिखना या फिर उन्हें 'धूल से उठाकर झाड़-पोंछ कर सुन्दर कपड़े पहना देना' किसी

लोकतांत्रिक समाज में अपराध कैसे हो सकता है? लगातार इसे साम्प्रदायिक कहते हुए मोहनलाल कौल दरअसल ख़ुद उस श्रेष्ठताबोध वाली वर्चस्ववादी साम्प्रदायिक दृष्टि से पीड़ित हैं जो शेष भारत में दलितों और कश्मीर में मुसलमानों के उत्थान से अपने विशेषाधिकार छिन जाने की कुंठा छिपा नहीं पाती। मज़ेदार बात यह है कि मेरिट का हवाला देने के बावजूद जब यह मामला उच्च न्यायालय में गया तो तर्क 'शैक्षणिक योग्यता' बनाम 'वरिष्ठता' का दिया गया यानी डिप्लोमा की शैक्षणिक योग्यता की जगह सेवाकाल की लम्बाई के आधार पर पदोन्नति की माँग की गई। त्रिलोकीनाथ बनाम जम्मू और कश्मीर सरकार के इस मामले में भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों के आरक्षण की व्यवस्था न होने के आधार पर फ़ैसला दिया गया और सादिक़ सरकार के समय एक स्थिति ऐसी आई जब हर स्कूल में एक मुस्लिम 'योग्यता' के आधार पर और एक पंडित 'वरिष्ठता' के आधार पर हेडमास्टर नियुक्त किया गया।[68] एक विडम्बना यह भी कि कभी 'साम्प्रदायिक' आधार पर आरक्षण का विरोध करनेवाले पंडितों ने आगे चलकर 'अल्पसंख्यक' होने के आधार पर अपने लिए आरक्षण की माँग की![69]

बख़्शी काल में दो और महत्त्वपूर्ण परिघटनाओं ने कश्मीर की राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। पहली तो यह कि सरकारी शिक्षण संस्थानों में सेक्यूलर शिक्षा और संस्कृति को बढ़ावा देने की नीति को कट्टरपंथी मुस्लिम धड़े ने इस्लामी संस्कृति पर प्रहार माना और जमात-ए-इस्लामी, जम्मू और कश्मीर* ने इस्लामी ढब की शिक्षा देने के लिए घाटी में बड़ी संख्या में स्कूल खोले।[70] जमात के स्कूलों

---

* जमात-ए-इस्लामी हिन्द की स्थापना मौलाना अबुल अल मौदूदी ने 1941 में इस्लामी नैतिकताओं और शिक्षाओं के प्रसार के लिए किया था। मौदूदी औरंगाबाद से 1947 में पाकिस्तान चले गए और 1972 तक जमात-ए-इस्लामी, पाकिस्तान के आमिर रहे। जमात-ए-इस्लामी, जम्मू और कश्मीर की स्थापना 1953 में मौलाना अहरार और ग़ुलाम रसूल अब्दुल्ला ने की थी और इसका अलग संविधान बनाया गया था। 1974 में इसकी एक शाखा पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में स्थापित की गई। पाकिस्तानी लेखक आरिफ़ जमाल का मानना है कि यह उस क्षेत्र में सेक्यूलर विचारों के प्रसार को रोकने के लिए की गई थी। आज़ाद कश्मीर कहे जानेवाले इलाक़े में आज़ादी समर्थक छात्र संगठनों के बीच समाजवादी विचार बहुत तेज़ी से प्रचलित हुए थे। 1980 में जिया ने अफ़ग़ानिस्तान में सोवियत संघ के विरुद्ध अमेरिकी प्रायोजित युद्ध में हिस्सेदारी का फ़ैसला किया तो इसके लिए मिलने वाली अन्तरराष्ट्रीय सहायता का बड़ा हिस्सा कश्मीर में आतंकवादी कार्यवाही के लिए युवकों के प्रशिक्षण पर ख़र्च करने का निर्णय लिया। इसी योजना के तहत 10 जून, 1980 को जमात-ए-इस्लामी ने अपने एक नेता को हिज़बुल मुजाहिदीन का नेता बनाया। जमात ने हिज़बुल को विचारधारात्मक दिशानिर्देश, आर्थिक संसाधन और कैडर उपलब्ध कराए। नब्बे के दशक में उसने एक पत्रिका 'जेहाद-ए-कश्मीर' का प्रकाशन शुरू किया और मोहम्मद यूसुफ़ शाह उर्फ़ सैयद सलाहुद्दीन को इसका आमिर (कमांडर) बनाया। जमात के छात्र संगठन जमात-ए-तुलबा के कई कार्यकर्ता हिज़बुल मुजाहिदीन में शामिल हुए। हिज़बुल की सक्रियता और प्रभाव बढ़ने से पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर और भारतीय कश्मीर में भी आज़ादी समर्थक तहरीकों का असर कम हुआ।

ने कश्मीरी समाज के रेडिकलाइजेशन में एक बड़ी भूमिका निभाई है जिस पर आगे बात की जाएगी। इसे आप भारत में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा खोले गए सरस्वती शिशु मन्दिरों के समकक्ष रखकर देख सकते हैं। वहीं दूसरी तरफ़ उर्दू को राजभाषा बनाने पर पंडितों ने 'इस्लामीकरण' का आरोप लगाया। देखा जाए तो उर्दू या देवनागरी कश्मीर में किसी की भाषा नहीं थी। शेख़ अब्दुल्ला के समय कश्मीरी को कामकाज और शिक्षा के माध्यम की भाषा बनाने के लिए वैज्ञानिक रूप देने की ज़िम्मेदारी के साथ एक कमेटी बनाई गई थी लेकिन इसे हिन्दुओं और मुसलमानों में से किसी का समर्थन नहीं मिला। हमने देखा है कि अंग्रेज़ों के समय ही उर्दू को सरकारी कामकाज की भाषा बना दिया गया था और अधिकतर कश्मीरी पंडित फ़ारसी के बाद उर्दू में निष्णात भी हो गए थे। लेकिन भाषा-विवाद के दौर में उर्दू को मुसलमानों की तथा हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा मान लेने के साथ यह विवाद लगभग स्वाभाविक ही था जिसने एक ख़ास तरह के सामाजिक तनाव को जन्म दिया। पंडितों का हिन्दी के पक्ष में खड़ा होना शेष भारतीय बहुसंख्यक वर्ग के साथ जुड़ने के एक उपक्रम के रूप में भी देखा जाना चाहिए। इस विवाद को विस्तार से कुंजवाल के पूर्वोद्धृत शोध-कार्य में देखा जा सकता है।

इस तरह हम देखते हैं कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में ज़बरदस्त विकास के चलते ऊपरी तौर पर तो कश्मीर में शान्ति-व्यवस्था स्थापित करने में बख़्शी सफल रहे लेकिन सतह के नीचे तनाव विकसित होते रहे। भ्रष्टाचार, चुनावों में बड़े पैमाने पर धाँधली और 'पीस ब्रिगेड' जैसी निजी सेना की गुंडागर्दी से विरोधियों को चुप कराने के आरोपों के बावजूद उनका शासनकाल कश्मीर में शान्ति और प्रगति वाला माना जाता है। इस दौर में शहरी क्षेत्रों में एक छोटे से प्रगतिशील तबक़े का विकास हुआ लेकिन हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों के बीच साम्प्रदायिक तत्त्वों ने अपना प्रभाव विस्तारित किया। शेख़ की गिरफ़्तारी के बाद मिर्ज़ा अफ़ज़ल बेग़ के नेतृत्व में बने 'प्लेबिसाइट फ्रंट' की भूमिका पाकिस्तान-समर्थक और अलगाववादी ही रही, हालाँकि बख़्शी इसे एक हद तक क़ाबू में रखने में सफल रहे। लेकिन प्रतिष्ठित कश्मीरी पत्रकार ख़्वाजा सनाउल्लाह बट ने इस ओर पर्याप्त इशारा किया है कि 'जिस तीसरे मोर्चे पर वह सफल रहे, वह था कश्मीर में भारत-विरोधी प्रचार को ज़िन्दा रखना। वह जानते थे कि अगर भारत के ख़िलाफ़ संघर्ष कर रही ताक़तें कमज़ोर हुईं तो इससे उनकी सत्ता कमज़ोर हो जाएगी...। इस बात से सचेत भारत सरकार पर दबाव बनाये रखने के लिए उन्होंने प्लेबिसाइट फ्रंट और पॉलिटिकल कॉन्फ्रेंस के कुछ लोगों को गोपनीय तरीक़े से आर्थिक सहायता देना जारी रखा।'[71]

लेकिन 1958 में शेख़ की रिहाई पर जिस गर्मजोशी से कश्मीरी जनता ने उनका स्वागत किया, वह बख़्शी के लिए आघात पहुँचाने वाला था। साफ़ था कि आर्थिक

आकांक्षाओं की पूर्ति के बावजूद जनता में स्वायत्तता के प्रति आकर्षण कम नहीं हुआ था। बख़्शी की सफलता से ख़ुश नेहरू के लिए भी यह कश्मीर-समस्या के स्थायी समाधान के बारे में पुनर्विचार का विषय था। सौ दिनों के भीतर उन्होंने शेख़ को दुबारा गिरफ़्तार कर लिया लेकिन अब बख़्शी दिल्ली के बहुत काम के नहीं रहे थे और स्वायत्तता के मुद्दे पर और अधिक समझौता करने को तैयार नहीं थे, तो कामराज प्लान के तहत उनका इस्तीफ़ा लेकर ग़ुलाम मोहम्मद सादिक़ को सत्ता सौंपने की कोशिश की गई। हालाँकि विधान सभा में अपने बहुमत के चलते बख़्शी अपने क़रीबी ख़्वाज़ा शम्सुद्दीन को प्रधानमंत्री बनवाने में सफल रहे लेकिन शम्सुद्दीन को गद्दी पर बिठाकर राज करने की बख़्शी की योजना लम्बी नहीं चल सकी। उनके गद्दी पर बैठने के ढाई महीनों के भीतर ही 27 दिसम्बर, 1963 को श्रीनगर की हज़रतबल मस्जिद से हज़रत मुहम्मद साहब के पवित्र बाल (मो-ए-मुक्कदस) के ग़ायब होने की घटना ने कश्मीर की राजनीति को उलट-पलट दिया।* कश्मीरी प्रशासन में उच्च पदों पर रहे ग़ुलाम अहमद इसे बख़्शी की राजनीति ख़त्म करने के लिए रची डी. पी. धर की साज़िश बताते हैं। दिल्ली के बेहद क़रीबी रहे धर शेख़ की बर्ख़ास्तगी में भी सक्रिय थे। उनका मानना है कि यह एक तीर से दो शिकार करने की साज़िश थी—एक तरफ़ हज़रतबल मस्जिद का महत्त्व ख़त्म हो जाता जहाँ मुसलमान बड़ी

---

* 27 दिसम्बर, 1963 को हज़रतबल मस्जिद में रखा मोहम्मद साहब की दाढ़ी का पवित्र बाल अचानक ग़ायब हो गया। सुबह जब यह ख़बर आम हुई तो कश्मीर में जैसे भूचाल आ गया। स्वत:स्फूर्त तरीक़े से हज़ारों लोग सड़कों पर आ गए और आम हड़ताल हो गई। अफ़वाहों का बाज़ार गर्म हो गया और उनमें से एक अफ़वाह यह थी कि बख़्शी साहब वह बाल अपनी बीमार माँ के लिए ले गए हैं। तत्कालीन प्रधानमंत्री शम्सुद्दीन का न तो जनता में कोई प्रभाव था और न ही कोई प्रशासनिक अनुभव। जनता के ग़ुस्से को देखते हुए कोई कार्यवाही करने की जगह उन्होंने ख़ुद को घर में क़ैद कर लिया। पाकिस्तान रेडियो और वहाँ के नेताओं ने इस माहौल का फ़ायदा उठाने और उसे भड़काने में कोई क़सर नहीं छोड़ी। बाल की बरामदगी के लिए आन्दोलन चलाने हेतु मौलवी मोहम्मद सईद मसूदी की अध्यक्षता में एक एक्शन कमेटी बनाई गई जिसमें मीरवायज़ मौलवी फ़ारूक़ और फ़ारूक़ अब्दुल्ला सदस्य थे। राज्य सरकार की अकर्मण्यता और हालात की गंभीरता को देखते हुए नेहरू ने बी.एन. मलिक को श्रीनगर भेजा जहाँ बख़्शी की गिरफ़्तारी के साथ-साथ शेख़ की रिहाई की भी माँग उठने लगी थी। हिंसा की आग बांगलादेश (तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान) और कोलकाता तक पहुँच गई। 4 जनवरी को बख़्शी श्रीनगर से जम्मू चले आए और करण सिंह जम्मू से श्रीनगर। करण सिंह हज़रतबल पहुँचे तो जनता ने उनका ज़ोरदार स्वागत किया। करण सिंह ने सभी मंदिरों में मो-ए-मुक़द्दस की बरामदगी के लिए प्रार्थनाएँ आयोजित करवाईं। दिल्ली शम्सुद्दीन को हटाकर मीर क़ासिम को गद्दी पर बिठाना चाहती थी लेकिन मीर इसके लिए तैयार नहीं थे। चार जनवरी की रात में मलिक और आई. जी. पुलिस एल.डी. ठाकुर ने मो-ए-मुक़द्दस ढूँढ़ निकाला, हालाँकि चुरानेवाले का नाम सार्वजनिक नहीं किया गया। लेकिन हालात सामान्य 3 फ़रवरी को ही हो सके जब लाल बहादुर शास्त्री, शम्सुद्दीन और मलिक की उपस्थिति में एक्शन कमेटी की ओर से फ़क़ीर मीराक़ शाह ने इसका निरीक्षण करके 'अल हक़' (यह सही है) की घोषणा की।

संख्या में एकत्र होते थे; दूसरे, बख़्शी की राजनीति ख़त्म हो जाती। वह बताते हैं कि जानबूझकर इधर-उधर ऐसे इशारे किये गए कि बख़्शी का इस घटना में हाथ था। लेकिन योजना बनानेवाले यह नहीं समझ पाए थे कि मामला हाथ से निकल जाएगा।[72]

इसी उथल-पुथल के बाद घाटी में जनसंघ की स्थापना हुई। 1 जून, 1964 को श्रीनगर में रामजी घड़ीसाज़ के घर पर ऋषि कुमार कौशल के निर्देशन में इसकी एडहाक कमेटी बनी जिसमें त्रिलोकीनाथ धर और टीकालाल टपलू शामिल थे।[73] यहाँ एक रोचक तथ्य यह है कि सादिक़ ने मुख्यमंत्री रहते जो चुनाव 'लड़ा', उसमें उनके ख़िलाफ़ पर्चा सिर्फ़ एक कश्मीरी पंडित मट्टू ने जनसंघ उम्मीदवार के रूप में भरा था जिसके जीतने की कोई उम्मीद नहीं थी, लेकिन गौहर बताते हैं कि सादिक़ ने उसका पर्चा भी ख़ारिज करवा दिया।[74]

ग़ुलाम मोहम्मद सादिक़ का दौर : सतह के ऊपर उभरते तनाव

इस घटना ने कश्मीर के भीतर और बाहर जिस तरह का उबाल पैदा किया, उसने नेहरू को सशंकित ही नहीं किया बल्कि यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि कश्मीर समस्या इस तरह सुलझने वाली नहीं और इसके लिए गम्भीर प्रयास करने पड़ेंगे। कैबिनेट कमेटी की एक बैठक में उन्होंने कहा कि अगर 15 साल की आज़ादी के बाद भी लोग सरकार के ख़िलाफ़ इस तरह उठ खड़े हो सकते हैं तो निश्चित रूप में हमारी कश्मीरी नीति में कोई मूलभूत ग़लती है। कुछ दिनों पहले पड़े दिल के दौरे और चीन युद्ध में हार के बाद शायद नेहरू कश्मीर-समस्या को अपने जीते-जी हल कर देना चाहते थे। ग़ुलाम मोहम्मद सादिक़ को कश्मीर के चौथे प्रधानमंत्री की शपथ दिलाई गई। 5 अप्रैल, 1964 को सादिक़ ने शेख़ अब्दुल्ला पर लगा षड्यंत्र का आरोप वापस लेने की घोषणा कर दी और 8 तारीख़ को शेख़ अपने चौदह साथियों के साथ रिहा कर दिये गए। नेहरू उन्हें तुरन्त दिल्ली बुलाना चाहते थे लेकिन शेख़ पहले कश्मीर की जनता के बीच जाना चाहते थे। मिर्ज़ा अफ़ज़ल बेग़ और फ़ारूक़ अब्दुल्ला के साथ वह 29 अप्रैल को दिल्ली पहुँचे तो एक बार फिर नेहरू के घर पर ही रुके। नेहरू ने शेख़ से बात करने के लिए अपने निजी सचिव गुंडेविया, बदरुद्दीन तैयबजी और जी. पार्थसारथी को नियुक्त किया। अब्दुल्ला के स्वर अब पहले जितने तल्ख़ नहीं थे। 23 मई को शेख़ पाकिस्तान पहुँचे तो माना जाता है कि नेहरू ने कश्मीर में स्थायी शान्ति का कोई प्रस्ताव भेजा था। एम.जे. अकबर का मानना है कि यह भारत, पाकिस्तान और कश्मीर के किसी फ़ेडरेशन का प्रस्ताव था। अयूब ख़ान ने भी अपनी किताब *फ्रेंड्स एंड नॉट मास्टर्स* में इसका ज़िक्र किया है लेकिन शेख़ ने नेहरू द्वारा भेजे गए ऐसे किसी प्रस्ताव से इनकार किया है।[75] पाकिस्तान ने पहले तो शेख़ की यात्रा को लेकर बहुत उत्साह दिखाया

लेकिन जब उन्होंने अपने सार्वजनिक वक्तव्यों में भारत की सेक्यूलर परम्परा का ज़िक्र किया तो सुर बदल गए। 26 मई शेख़ कश्मीर को लेकर नेहरू और अयूब की बातचीत की योजना पर अयूब की सहमति लेने में सफल हुए। 27 की सुबह नेहरू की सहमति और उनकी मृत्यु की ख़बर एक साथ कराची पहुँची।[76] आँसुओं से भरे शेख़ जब अपने मित्र को आख़िरी विदाई देने लौटे तो शायद कश्मीरी-समस्या के किसी फ़ौरी समाधान की उनकी उम्मीदें भी ख़त्म हो चुकी थीं।

नेहरू के बाद सत्ता में आए लालबहादुर शास्त्री ने कश्मीर-समस्या के किसी समाधान की जगह अपना ध्यान एकीकरण की प्रक्रिया को तेज़ करने में लगाया और सादिक़ ने इसमें भरपूर साथ दिया। शेख़ अपनी जीवनी में इसके लिए तत्कालीन गृह मंत्री गुलज़ारी लाल नन्दा को ज़िम्मेदार ठहराते हैं। भारी जनविरोध के बावजूद एक के बाद एक परिवर्तन लाकर प्रदेश की स्वायत्तता को लगातार कम किया गया जिसमें जनसंघ और कम्यूनिस्ट पार्टी, दोनों की सहमति थी। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356 और 357 अब कश्मीर के सन्दर्भ में भी लागू होना था यानी केन्द्र राज्य सरकार को अपदस्थ कर सकता था। भविष्य में इसका जमकर प्रयोग हुआ। राज्य की विधान सभा द्वारा अपना सदर-ए-रियासत चुनने की आज़ादी ख़त्म कर बाक़ी राज्यों की तरह केन्द्र द्वारा नामित व्यक्ति की नियुक्ति का नियम बनाया गया और प्रधानमंत्री तथा सदर-ए-रियासत की जगह बाक़ी राज्यों जैसे मुख्यमंत्री और राज्यपाल के सम्बोधन तय किये गए। सादिक़ अपने इस उत्साह में थोड़ा अधिक ही आगे निकल गए और अब नेशनल कॉन्फ्रेंस जम्मू और कश्मीर प्रदेश कांग्रेस कमेटी में तब्दील कर दी गई। इस तरह कश्मीर में पहली 'कांग्रेस सरकार' बनी। बख़्शी अब विरोध के नेता थे और उन्होंने सादिक़ की सरकार के ख़िलाफ़ अविश्वास प्रस्ताव लाने का निर्णय लिया तो उन्हें गिरफ़्तार कर उसी जेल में डाल दिया गया जहाँ 11 साल पहले उन्होंने शेख़ को बन्द किया था। वहाँ उन्हें दिल का दौरा पड़ा और जल्द ही उन्हें रिहा कर दिया गया।[77]

घाटी ही नहीं, इस परिघटना के विरोध में पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में भी विरोध प्रदर्शन हुए। शेख़ अब्दुल्ला और उनके प्लेबिसाइट फ्रंट ने इसका तीखा विरोध किया। नेहरू के न होने पर अब शेख़ के लिए बहुत उम्मीदें थीं भी नहीं, तो आज़ादी की अपनी माँग को और तेज़ कर दिया। कांग्रेस के मुस्लिम सदस्यों के बायकाट की अपील की गई और लोगों ने उनके यहाँ शादी-ब्याह, धार्मिक आयोजनों और दफ़न-कफ़न में जाना बन्द कर दिया। इस दौर में पहली बार शेख़ अब्दुल्ला ने हज यात्रा पर जाने का तय किया। भारत सरकार ने इसके लिए अनुमति दे दी। शेख़ अपनी बेगम और मिर्ज़ा अफ़ज़ल के साथ हज के साथ यूरोप और पश्चिम एशिया के दौरे पर निकल गए। इस यात्रा के दौरान उन्होंने न अल्जीयर्स में चाऊ एन लाई से मुलाक़ात की।[78] अकबर बताते हैं कि इस मुलाक़ात की व्यवस्था पाकिस्तान

के तत्कालीन विदेश मंत्री ज़ुल्फ़िकार अली भुट्टो ने कराई थी। इस मुलाक़ात के बाद चाऊ एन लाई ने कश्मीर की आज़ादी के समर्थन में बयान दिया और शेख़ अब्दुल्ला ने उसका स्वागत किया। शेख़ ने पश्चिमी मीडिया में कुछ लेख भी लिखे। यह सब भारत सरकार के नाराज़ होने के लिए काफ़ी था और लालबहादुर शास्त्री ने सख़्त क़दम उठाने का निर्णय लिया। शेख़ को तुरन्त लौटने के निर्देश जारी किये गए और उनका पालन न करने पर पासपोर्ट ज़ब्त करने की धमकी। आम चर्चा थी कि शेख़ लौटेंगे नहीं लेकिन वह लौटे और 8 मई, 1965 को शेख़ अब्दुल्ला मिर्ज़ा अफ़ज़ल बेग़ के साथ गिरफ़्तार कर लिये गए। शेख़ ने हमेशा यही कहा कि चाऊ एन लाई से उनकी मुलाक़ात महज़ एक इत्तेफ़ाक थी।[79]

इस बीच कश्मीर में सब सामान्य नहीं था। ऐसा लगता है कि बख़्शी के समय सतह पर पलता तनाव धीरे-धीरे अलग-अलग रूपों में सामने आ रहा था। एक तरफ़ लगातार दिल्ली के स्थानीय राजनीति में हस्तक्षेप और चुनावों में धाँधली के सहारे एक पार्टी के राजनीति में अप्रश्नेय प्राधिकार का मामला, नेशनल कॉन्फ्रेंस के कांग्रेस में तब्दील कर दिये जाने के साथ जनता की लोकतांत्रिक आकांक्षाएँ ही दमित नहीं की गई थीं बल्कि कश्मीर के मुक्ति-संघर्ष के प्रतीक को ही ख़त्म कर दिया गया था, तो दूसरी तरफ़ कश्मीरी जनता को सब्सिडी और सुविधाओं के ज़रिये ख़ुश रखने की कोशिशों का खोखलापन स्पष्ट हो चुका था। इन सबके साथ वज़ीर-ए-आज़म और सदर-ए-रियासत को मुख्यमंत्री और राज्यपाल से प्रतिस्थापित करने और 370 को लगातार कमज़ोर करते जाने को लेकर उपजे असन्तोष के चलते सादिक़ की अपेक्षाकृत लिबरल और ईमानदार सरकार भी कश्मीर में हालात को सामान्य रख पाने में सफल नहीं हुई। दूसरी ओर इस असन्तोष का फ़ायदा उठाने की कोशिशें पाकिस्तान ने भी कीं। भारत में घुसपैठियों को भेजकर कश्मीर को 'मुक्त' कराने की योजना को 'ऑपरेशन जिब्राल्टर' का नाम दिया गया। लेकिन कश्मीरी जनता भले शेख़ की गिरफ़्तारी से नाराज़ हो, वह पाकिस्तान के साथ नहीं थी। घुसपैठियों को कश्मीरी जनता से कोई मदद नहीं मिली। अहमद बताते हैं कि नेशनल कॉन्फ्रेंस के कार्यकर्ताओं ने घुसपैठियों की निशानदेही कर उन्हें पकड़वाने में सहयोग किया।[80] असल में पकिस्तान की यह पूरी योजना इस मान्यता पर आधारित थी कि पाकिस्तान के आक्रमण के समय कश्मीर में एक खुला जनविद्रोह होगा और इसके लिए उसे कुछ लोगों से आश्वासन भी मिला था। पुंछ और राजौरी में उसे समर्थन मिला भी लेकिन घाटी में किसी जनविद्रोह की जगह जब उसे कश्मीरी जनता से भारी असहयोग मिला तो पाकिस्तानी सेना युद्ध शुरू होने से पहले ही हार गई थी।[81] सुधा कौल भी अपने संस्मरण में स्पष्ट दर्ज करती हैं—घुसपैठियों को कोई सहयोगी नहीं मिले।[82] जब 3 सितम्बर को पाकिस्तानी सेना ने छम्ब के पास अन्तरराष्ट्रीय सीमा पार की तो भारत ने 5 सितम्बर को पंजाब में दूसरा मोर्चा

खोल दिया और अन्ततः 23 सितम्बर को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के हस्तक्षेप से युद्धविराम हुआ और पाकिस्तान को कश्मीर से अपनी सेनाएँ वापस बुलानी पड़ीं। इस युद्ध का समाहार करते हुए अमेरिका की लाइब्रेरी ऑफ़ कांग्रेस ने लिखा है :

> यह युद्ध सैन्य दृष्टिकोण से अनिर्णित था; दोनों पक्षों के पास एक दूसरे के क्षेत्र थे और दोनों ने एक दूसरे के सैनिकों को बन्दी बनाया था। ज़ाहिर तौर पर पाकिस्तान को नुकसान ज़्यादा हुआ था—20 एयरक्राफ्ट, 200 टैंक्स और 3800 सैनिक। पाकिस्तान की सेना भारतीय दबाव झेलने में सफल रही थी लेकिन युद्ध अगर जारी रहता तो उसे और नुकसान होता और अन्ततः पाकिस्तान की हार होती। ज़्यादातर पाकिस्तानी अपने युद्धक क्षमता के अति आत्मविश्वास की शिक्षा पाकर बड़े हुए होते हैं और 'हिन्दू भारत' से अपने देश की सैन्य पराजय की सम्भावना स्वीकार नहीं कर सकते थे इसलिए अपनी हार के लिए उन्होंने अयूब ख़ान और उनकी सरकार को दोष दिया।[83]

इस युद्ध के बाद ताशकन्द-समझौता हुआ जिसमें दोनों देशों ने एक दूसरे की क़ब्ज़ा की हुई ज़मीन लौटा दी। कश्मीर के असन्तोष का फ़ायदा उठाकर भारत को दो टुकड़ों में बाँटने के अपने इरादे में पाकिस्तान बुरी तरह नाक़ामयाब हुआ। समझौते के तुरन्त बाद लालबहादुर शास्त्री की तबियत ख़राब हुई और एक विजेता की तरह रूस गए शास्त्री तिरंगे में लिपटे लौटे। विजय की ख़ुशी में उन्मत्त देश अपने प्रधानमंत्री के शोक में डूब गया।

इधर कश्मीर में बख़्शी के समय नौकरियों में मुसलमानों के लिए कोटा तय करने को लेकर पंडितों का विरोध सादिक़ के मुख्यमंत्रित्व काल में एक बड़े आन्दोलन में तब्दील हो गया।

मोहनलाल कौल एक तरफ़ पंडितों के लिए 30 प्रतिशत कोटे को उनके साथ साम्प्रदायिक ताक़तों का अन्याय बताते हैं तो दूसरी तरफ़ आरोप लगाते हैं कि इस्लामिक ब्यूरोक्रेसी ने पंडितों को उनके कोटे के दाख़िले और नौकरियाँ भी नहीं दीं।[84] अहमद इस आन्दोलन के पीछे भी डी.पी. धर का हाथ बताते हैं। वह एक घटना का ज़िक्र करते हैं जब मुस्लिम लड़कों का एक समूह सादिक़ के पास यह शिकायत लेकर आया कि कश्मीरी पंडित लड़कों ने मुस्लिम घरों पर निशान बना दिये हैं और सी.आर.पी. तथा बी.एस.एफ. की सहायता से उन पर हमला करवाने वाले हैं।[85] अब इस घटना में जितनी भी सच्चाई हो लेकिन यह दोनों समुदायों के बीच लगातार बढ़ते अविश्वास के बारे में तो बताता ही है। इस प्रवृत्ति का एक और उदाहरण जयप्रकाश नारायण के सहयोगी आर.के. पाटिल की 6 सितम्बर, 1966 को भेजी कश्मीर की एक रिपोर्ट में मिलता है जहाँ वह शेख़ अब्दुल्ला से बातचीत और उनकी रिहाई के प्रस्ताव पर पंडितों की प्रतिक्रिया बताते हुए कहते हैं :

कश्मीरी पंडित वर्ग की आम प्रतिक्रिया थी कि इस यात्रा (शेख़ अब्दुल्ला की कश्मीर-यात्रा) की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए थी। इससे किसी उद्देश्य की पूर्ति होने की सम्भावना नहीं है। शेख़ अब्दुल्ला के विचारों में परिवर्तन की कोई उम्मीद नहीं है। उनसे बातचीत करना किसी मतलब का नहीं है। वह एक सूखा बादल हैं जिससे बारिश की कोई उम्मीद नहीं। यह वर्ग सख़्त सत्ता का समर्थन करता है और महसूस करता है कि घाटी में मुस्लिम अभिमत को मनाया जाना सम्भव नहीं है। वे केवल एक मज़बूत शासन को समझ सकते हैं और भारत सरकार को यही करना चाहिए। मैं आपको *मार्तंड** की एक कटिंग भेज रहा हूँ जिसमें ऐसे विचार हैं।[86]

एक अल्पसंख्यक समाज के रूप में सुरक्षा और महत्त्व के लिए उनका घाटी के बाहर जम्मू और दिल्ली की तरफ़ देखना स्वाभाविक तो था लेकिन शेख़ और घाटी के मुसलमानों के प्रति 1966 की यह सोच चौंकाती है। कड़ा शासन! यानी भारत सरकार को शेख़ से बातचीत करने या फिर मुस्लिम समुदाय से बातचीत करने या उनकी माँगों पर सोच-विचार करने की जगह वहाँ सख़्ती का प्रयोग करना चाहिए! अब 95 फ़ीसद मुस्लिम आबादी में यह स्थानीय पुलिस द्वारा तो सम्भव नहीं था, इसलिए यह सीधे-सीधे सेना को आमंत्रण जैसा ही लगता है यानी घाटी की 4-5 फ़ीसद आबादी या यों कहें कि उस 4-5 फ़ीसद आबादी का एक हिस्सा दिल्ली के साथ मिलकर 95 फ़ीसद आबादी को डंडे के ज़ोर से नियंत्रित करना चाहता था! इस सोच को क्या कहा जाना चाहिए और इस सोच के दूरगामी असर क्या हुए होंगे? ज़ाहिर है कि भारतीय सेना और दिल्ली की सत्ता पर यह भरोसा उन्हें ताक़त का एहसास भले कराए लेकिन यह तथ्य उन्हें घाटी के बहुसंख्यक मुसलमानों से दूर करने के लिए भी ज़िम्मेदार होना ही था, जैसाकि ख़ान कह रहे हैं। देखें तो सेना का अर्थ दोनों समुदायों के लिए अलग-अलग था। जहाँ पंडित समुदाय के लिए सेना उनकी शक्ति या उनके हितों की प्रतिनिधि थी, वहीं व्यापक मुस्लिम समुदाय के लिए दमन का प्रतीक। इस उदाहरण में *मार्तंड* जिस 'मज़बूत शासन' की बात कर रहा है, वह अन्ततः बहुसंख्यक अभिमत का दमन ही तो है। दुर्भाग्य यह कि घाटी में सैन्य हस्तक्षेप भी लगातार बढ़ा ही तो वह दोनों समुदायों के बीच कालान्तर में दूरियाँ बढ़ाने में अप्रत्यक्ष तौर पर ज़िम्मेदार हुआ ही।

परमेश्वरी हांडू मामला : सड़कों पर उतरा विवाद

दोनों समुदायों के बीच यह तनाव 28 जुलाई, 1967 में एक घटना के बहाने अपने चरम पर पहुँच गया जब कश्मीरी पंडितों की रिहाइश वाले रैनावारी के जोगी लंकर इलाक़े की निवासी परमेश्वरी हांडू नामक एक कश्मीरी पंडित लड़की ने धर्म बदलकर

* श्रीनगर से निकलने वाला अख़बार जो पंडितों का मुखपत्र जैसा माना जाता था।

श्रीनगर के सहकारी डिपार्टमेंटल स्टोर 'अपना बाज़ार' में अपने एक सहकर्मी ग़ुलाम रसूल काँठ से शादी कर ली। धर्म परिवर्तन 20 जुलाई को हुआ था और यह शादी कश्मीर के मुफ़्ती आज़म ने करवाई थी। हालाँकि कश्मीर में अंतरधार्मिक विवाह बहुत प्रचलित नहीं रहे और इसके पहले और बाद में भी अनेक ऐसे विवाह हुए हैं; परन्तु इस विवाह ने कश्मीर के सामाजिक-राजनीतिक जीवन में बवाल मचा दिया। एक दिन बाद उसने द्वितीय अतिरिक्त मुंसफ को अपने धर्म परिवर्तन और विवाह का शपथ-पत्र प्रस्तुत किया जिसमें कहा गया था कि उसने यह विवाह अपनी इच्छा से किया है। अलग धर्म की लड़की से शादी करने की वजह से लड़के के पिता ने उन्हें साथ रखने से इनकार किया और वे दूसरी जगह रहने लगे। 3 अगस्त को लड़की की माँ ने रैनावाड़ी के पुलिस थाने में अपहरण की आशंका व्यक्त करते हुए शिकायत दर्ज करवाई कि उनकी लड़की 17 वर्ष की नाबालिग़ है और सुबह 11 बजे से ग़ायब है। अगले दिन लड़की ने जुमे की नमाज़ जामिया मस्जिद में अदा की और अपने धर्म-परिवर्तन तथा विवाह की घोषणा करते हुए नैतिक समर्थन की माँग की। उधर माँ की शिकायत पर मामला दर्ज करके लड़की को महाराजगंज थाने ले जाया गया और वहाँ लड़की के मामा, माँ और कुछ वरिष्ठ पंडितों ने उसे समझाने की नाकाम कोशिश की। बशीर बताते हैं कि मामला तत्कालीन डी.आई.जी. पुलिस डी.एन. कौल के कहने पर दर्ज किया गया था। वहाँ से उसे खान्यार थाने में ले जाया गया और वहाँ त्रिलोकी नाथ धर के नेतृत्व में जनसंघ से जुड़े पंडितों ने दो बार उससे मुलाक़ात की। लेकिन लड़की अपनी ज़िद पर अड़ी रही और अन्ततः उसे अपने पति के साथ जाने दिया गया। इस बार उसकी ससुराल में उसका स्वागत हुआ। जाँच में यह भी पाया गया कि लड़की बालिग़ है।[87]

सामान्यतः मामला यहाँ ख़त्म हो जाना चाहिए था, लेकिन दो लोगों के बीच का यह मामला जल्द ही सड़कों पर आ गया जब लड़की को घर भेजने की जगह अदालत में पेश करने की माँग को लेकर पंडित समाज सड़कों पर आ गया। पुलिस ने सफ़ाई दी कि लड़की को उसकी माँ, मामा, त्रिलोकी नाथ मट्टू (अध्यक्ष सुधार समिति) आदि के कहने पर न्यायालय में पेश नहीं किया गया है। उनके आग्रह पर उन्हें लड़की को समझाने का पर्याप्त समय दिया गया और जब वह नहीं मानी तो उसे आज़ाद कर दिया गया। लेकिन इससे असन्तुष्ट पंडितों ने विरोध करना शुरू किया और पूरे श्रीनगर में अनेक विरोध प्रदर्शन हुए, हड़तालें की गईं और कई लोगों की जान गई। प्रेमनाथ बज़ाज़ बताते हैं कि पंडित संवाददाताओं ने इसकी बड़ी-बड़ी रिपोर्ट्स राष्ट्रीय मीडिया में भेजीं और मामला 'मुस्लिम लड़के द्वारा हिन्दू लड़की के अपहरण' का बना दिया गया। मोहनलाल कौल अपने आख्यान में डी.आई.जी. पुलिस डी.एन. कौल का कहीं ज़िक्र नहीं करते और बताते हैं कि लड़की की माँ को अकेले में नहीं मिलने दिया गया। वह मामले के न्यायालय में

जाने का भी ज़िक्र नहीं करते और मामले को रैनावाड़ी इलाक़े से पहले महाराजगंज और फिर खान्यार जैसे मुस्लिम-बहुल इलाक़ों के थानों में ले जाने पर भी सवाल उठाते हैं।[88] हालाँकि बशीर बताते हैं कि धर्मांतरण और विवाह को रद्द करने के लिए लड़की की माँ ने न्यायालय में मामला दर्ज किया जहाँ पंडित समुदाय के जिया लाल चौधरी, मधुसूदन काक, श्रीकांत टिक्कू और एस.एल. कौल जैसे प्रतिष्ठित वकीलों ने पैरवी की। कहा गया कि लड़की ने 'भयानक दरिद्रता' के कारण नौकरी की थी और आरोपी अपहरणकर्ता ने 'कुँआरी सेल्स गर्ल पर दबाव बनाने के लिए सभी कुटिल तरीक़े अपनाए थे।' स्टोर के मैनेजर पर भी लड़के के सहयोग का आरोप लगाया गया।

इधर शीतलनाथ पंडितों के आन्दोलन का केन्द्र बना। 7 अगस्त को हुई पहली सभा में जम्मू-कश्मीर विधान परिषद के तत्कालीन अध्यक्ष पंडित शिव नारायण फोतेदार ने कहा : 'इस बात का ख़तरा है कि हालात और बिगड़ सकते हैं और इसका असर भारत में भी पड़ सकता है।' असल में ऐसा लगता है कि यह पूरा आन्दोलन मो-ए-मुक्कदस के आन्दोलन के तर्ज़ पर चलाने और इसे देश भर में फैलाकर शक्ति प्रदर्शन द्वारा सरकार पर दबाव बनाने की कोशिश की गई। अगले ही दिन गठित 'कश्मीरी हिन्दू एक्शन कमेटी' के नाम पर ग़ौर करने की ज़रूरत है। एक तरफ़ यह मो-ए-मुक्कदस के दौरान बनी कमेटी के नाम के ही तर्ज़ पर है दूसरी तरफ़ इसे 'पंडित' न कह कर 'हिन्दू एक्शन कमेटी' कहा गया। ज़ाहिर तौर पर यह भारत के व्यापक हिन्दू समुदाय को आकर्षित करने के लिए था। घोषणा की गई कि 'अल्पसंख्यक होने का मतलब यह नहीं कि हम कमज़ोर हैं और भारत हमारे साथ है'—यह बयान कश्मीरी पंडितों की उस मानसिकता को साफ़ बताता है जिसके तहत राज्य में अल्पसंख्यक होने के एहसास की क्षतिपूर्ति देश की बहुसंख्या के साथ जुड़कर की जा सकती थी। 13 अगस्त को जनसंघ के बैनर पर सभा हुई तो इसमें दिल्ली, आंध्र प्रदेश और दीगर जगहों से हिन्दू महासभा के नेता पहुँचे। 16 अगस्त को पंडित छात्रों ने जुलूस निकाला। 21 अगस्त को एक मस्जिद पर भावनाएँ भड़काने वाले पोस्टर लगाये गए तो मामला बिगड़ा 22 अगस्त को बलराज मधोक के आने के बाद। मधोक ने मुसलमानों को पाकिस्तान चले जाने जैसी भड़काऊ बातें कीं तो अब तक इस आन्दोलन से दूर रहे मुस्लिम नेतृत्व का सक्रिय हो जाना स्वाभाविक था। इस पूरे दौर में शेख़ अब्दुल्ला गिरफ़्तार थे तो प्लेबिसाइट फ्रंट के नेता बेग़ नज़रबन्द। मुस्लिम नेतृत्व अब तक शान्त रहने तथा इसे निजी मामला बताकर राजनीति न करने जैसी सलाहें दे रहा था लेकिन 22 तारीख़ के बाद दोनों तरफ़ से आन्दोलन तेज़ हो गया। महिलाएँ भी सड़क पर उतर आईं। एक तरफ़ से नारा लगा : 'हमारी बहन को वापस करो', तो दूसरी तरफ़ से: 'इडियट मधोक मुर्दाबाद'। अफ़वाहें तेज़ हुईं। घर और दुकानें जलीं। आँसू

गैस और लाठी चार्ज में दो पंडितों की मृत्यु हो गई और दोनों तरफ़ के कई लोग घायल हुए। मृत पंडितों की शव-यात्राएँ निकाली गईं तो जिस तरह की हिंसा और प्रदर्शन हुए, वे हाल के दिनों में आतंकवादियों की शव-यात्राओं के साथ होनेवाली राजनीति के क़रीब लगते हैं। इसी दौरान कश्मीर में पहली बार पुलिसवालों की राइफल लूटने की घटना हुई तो कई सारे बाहरी लोगों की शिनाख़्त की गई, जो हिंसा फैलाने के उद्‌देश्य से आए थे। स्थानीय इंजीनियरिंग कॉलेज के मुस्लिम छात्रों ने आरोप लगाया कि पंडित छात्रों ने अपने कमरों में सशस्त्र जनसंघी कार्यकर्ताओं को जगह दी है तो झेलम के दो किनारों पर खड़े होकर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच गाली-गलौज हुई, वह शायद कश्मीरी इतिहास में पहली थी। देश भर में पंडितों ने प्रस्ताव पास किये तो जम्मू में मामला हिन्दू-मुस्लिम बनना ही था। पाँच मुस्लिम लड़कियों के अपहरण की ख़बर फैली और कुल मिलाकर स्थिति बेहद विस्फोटक हो गई। ज़ाहिर है कि इस पूरी परिघटना को दोनों समुदायों के आपसी अविश्वास के भयावह तरीक़े से सतह पर आ जाने की तरह देखा जाना चाहिए।

इसमें दो घटनाओं पर थोड़ा ध्यान देना रोचक होगा। आन्दोलन के दौरान कश्मीरी हिन्दू एक्शन कमेटी के मंच से बोलते हुए माखन लाल हरकारा ने कहा: 'अगर सरकार कश्मीरी पंडितों के साथ सम्मानजनक व्यवहार नहीं करती तो उसे पंडितों को घाटी से निकालने की व्यवस्था करनी चाहिए।' पलायन की यह पहली धमकी है जो आज़ादी के बाद सुनाई देती है। आगे हम देखेंगे कि यह धमकी बार-बार दुहराई गई। दूसरा तथ्य संवाददाताओं से जुड़ा है। बशीर बताते हैं कि *पेट्रियॉट* को छोड़कर सभी राष्ट्रीय अख़बारों के घाटी में संवाददाता कश्मीरी पंडित थे। बज़ाज़ विस्तार में बताते हैं कि इसका असर यह हुआ कि आम तौर पर शेष भारत के मामलों में सेक्यूलर रुख़ अपनाने वाले अख़बार भी कश्मीर की इस घटना के बारे में एकतरफ़ा रिपोर्टिंग कर रहे थे। यह परिघटना रेखांकित की जानी चाहिए। कश्मीर में पत्रकारिता पर पंडितों के इस क़ब्ज़े का, राष्ट्रीय अख़बारों की ख़बरों और इसी क्रम में कश्मीर के बारे में शेष भारत की अवधारणा पर गहरा असर पड़ा है। यही स्थिति कमोबेश आल इंडिया रेडियो और फिर दूरदर्शन की भी रही।

क़रीब एक महीने चले इस तनाव का अन्त भी नाटकीय तरीक़े से हुआ। आदतन शिकायत दिल्ली लेकर पहुँचे पंडित नेताओं को उम्मीद नहीं थी कि इन्दिरा गांधी उन्हें इस क़दर डाँटेंगी। कश्मीरी पंडितों से भरे इन्दिरा जी के सचिवालय और ख़ुद उनकी कश्मीरी पंडित पृष्ठभूमि के चलते उन्हें उम्मीद यही रही होगी कि वहाँ से समर्थन मिलेगा। लेकिन लगता यह है कि इन्दिरा के क़रीबी और कश्मीर मामलों में दिल्ली के आँख-कान रहे तत्कालीन सरकार में वरिष्ठ मंत्री डी.पी. धर इस आन्दोलन से ख़ुश नहीं थे। हालाँकि इसी बीच उन्होंने 'मुख्यमंत्री की नीतियों से असन्तुष्ट होकर' इस्तीफ़ा दे दिया और फिर 'मित्रों के दबाव' में वापस भी ले

लिया।[89] जनसंघ की चाल वह समझ रहे थे और इसीलिए हम देखते हैं कि विधान सभा के बाहर और भीतर उनकी कोई भूमिका दिखती नहीं है। सम्भव है, उन्होंने इन्दिरा गांधी को जो रिपोर्टिंग की हो, यह उसका ही असर हो! इसीलिए जब गृहमंत्री वाय.बी. चव्हाण श्रीनगर पहुँचे तो थोड़े नाज़-नखरे के बाद दोनों पक्षों के बीच सुलह जैसी स्थिति बनी और आन्दोलन वापस ले लिया गया। सादिक़ सरकार ने जाँच के लिए दो कमेटियाँ भी बनाईं लेकिन बाद में न ही उनका कोई पता चला और न न्यायालय में ही मामला लम्बा चला। आन्दोलन जब वापस लिया गया तो उस समय न्यायालय में गवाहों के बयान दर्ज किये जाने थे लेकिन पंडित समुदाय ने मामले को आगे न चलाने का निर्णय लिया।[90]

1967 में ही एक और घटना हुई थी। जम्मू और कश्मीर हाईकोर्ट में एक कश्मीरी मुस्लिम जज को जूनियर जज की तरह शामिल करने की प्रक्रिया शुरू हुई थी। अब तक कोई भी कश्मीरी मुसलमान हाई कोर्ट में इस पद पर नहीं पहुँचा था और उस समय तीन जजों में से एक ग़ैर-कश्मीरी (मुख्य न्यायाधीश), एक कश्मीरी पंडित और एक जम्मू के थे। वरिष्ठतम जिला और सेशन जज मियाँ जलालुद्दीन का नाम इसके लिए प्रस्तावित किया गया लेकिन पंडित जज जे.एन. भट्ट ने इस पर आपत्ति की और सम्भव नहीं होने दिया। सादिक़ ने यह मामला उन दिनों हुई आल इंडिया इंटीग्रेशन कॉन्फ्रेंस में इन्दिरा गांधी के समक्ष भी उठाया था।[91] लगभग एक दशक बाद जलालुद्दीन 1978 में जम्मू और कश्मीर के पहले कश्मीरी मुस्लिम मुख्य न्यायाधीश बन सके।

हालाँकि इसका कोई बड़ा तत्कालीन प्रभाव नहीं हुआ लेकिन जाहिर है कि इस पूरी परिघटना को दोनों समुदायों के आपसी अविश्वास के भयावह तरीक़े से सतह पर आ जाने की तरह देखा जाना चाहिए, जिसका फ़ायदा स्वाभाविक रूप से दोनों तरफ़ के साम्प्रदायिक तत्त्वों ने उठाया और सतह के नीचे यह अविश्वास घटने की जगह लगातार बढ़ता चला गया।

विस्थापित पंडितों के संगठन पनुन कश्मीर द्वारा आयोजित बलराज मधोक की जयन्ती के यू ट्यूब पर उपलब्ध वीडियोज़ में इसके नेताओं और प्रतिनिधियों की मधोक को दी गई श्रद्धांजलियों और उनसे जुड़ी स्मृतियों को सुनते ऐसा लगता है कि मधोक की सक्रियता और पंडितों के बीच उनका असर लगातार बढ़ता गया था। ऐसे ही एक वीडियो में अग्निशेखर नामक वक्ता उस दौर में गाँवों में व्याप्त मधोक के जिस ख़ौफ़ की बात करते हैं, वह अविश्वसनीय लगने के बावजूद सत्तर और अस्सी के दशक में पंडितों के बीच मधोक के प्रभाव को तो बताता ही है। इस वीडियो में जिस तरह 'शत्रुओं' के भय की बात वह इस सन्दर्भ में करते हैं, उसे सुनते हुए एक सूक्ष्म अल्पसंख्यक समाज की शक्ति की तलाश में दक्षिणपंथ में ढूँढ़ा गया अवलम्बन और उसके एक हिस्से में बहुसंख्यक वर्ग के लिए गहरी नफ़रत को भी समझने में मदद मिल सकती है।[92]

1968 में जी.एम. सादिक़ ने इन्दिरा गांधी से शिकायत की थी : 'अगर मैं आपसे कहूँ कि सुरक्षा के लिहाज़ से सेना की एक और कम्पनी की ज़रूरत है तो आप तुरन्त भेज देंगी लेकिन अगर मैं दो फैक्टरियों के लिए कहूँ तो आप बीस कारण गिना देंगी कि ऐसा नहीं किया जा सकता। ऐसे में आप बताइए कि हमारे युवा क्या करेंगे?' जम्मू और कश्मीर के उद्योगों के विकास के लिए दी गई ज़्यादातर सुविधाओं का उपयोग जम्मू क्षेत्र में हो जाता था।[93] ऐसे में सरकारी नौकरियों को लेकर वह मारा-मारी समझी जा सकती है जहाँ तथ्यों से अधिक अवधारणाएँ महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं।

नौकरियों में प्रतिनिधित्व के मामले में चव्हाण से पंडितों की शिकायत के जवाब में सौंपे गए विवरण के अनुसार उस समय कुल 2,252 राजपत्रित पदों में से 924 मुसलमानों के पास थे और 638 कश्मीरी पंडितों के पास। इस तरह अगर देखें तो जम्मू और कश्मीर में कुल मिलाकर 68 फ़ीसद आबादी वाले मुसलमानों के पास 40 प्रतिशत पद थे जबकि 1.5 फ़ीसद आबादी वाले पंडितों के पास 28 प्रतिशत से अधिक। अगर हिन्दू-मुस्लिम के सन्दर्भ में देखें तो 32 फ़ीसद सिख-हिन्दू आबादी 60 फ़ीसद राजपत्रित पदों पर काबिज़ थी। 1966 में 45 मुस्लिम उम्मीदवार राजपत्रित पदों पर नियुक्त किये गए थे जबकि 91 ग़ैर-मुस्लिम। इंजीनियरिंग कॉलेज की सीटों में 77 सीटें मुसलमानों को मिली थीं तो 66 पंडितों को और 67 जम्मू के अन्य हिन्दुओं को। इसे पंडितों या हिन्दुओं के प्रति अन्यायपूर्ण कहा जाना चाहिए या मुसलमानों के, यह फ़ैसला पाठकों पर। इस मुद्दे पर बनी एक जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि 'हालाँकि नौकरियों में मुसलमानों की संख्या में लगातार वृद्धि हुई है लेकिन अब भी जनसंख्या में अपनी भागीदारी की तुलना में नौकरियों में उनका प्रतिनिधित्व काफ़ी कम है। वहीं नौकरियों में पंडितों की संख्या में कमी आई है लेकिन अब भी उनकी भागीदारी उनकी जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक है।[94] इसी दौर में बनी गजेन्द्र गडकर कमेटी ने लद्दाख जैसे क्षेत्रों के पिछड़ेपन को ध्यान में रखते हुए क्षेत्रीय असंतुलन दूर करने के सन्दर्भ में कई सिफ़ारिशें कीं जिन्हें सादिक़ सरकार ने स्वीकार कर लिया। त्रिलोकीनाथ एवं अन्य बनाम जम्मू कश्मीर राज्य मामले में उच्चतम न्यायालय के फ़ैसले के बाद 3 फ़रवरी, 1969 में वज़ीर कमेटी बनाई गई जिसने 29 नवम्बर, 1969 को अपनी रिपोर्ट पेश की। सादिक़ सरकार ने इसे स्वीकार करते हुए 1 मई, 1970 को नई आरक्षण नीति घोषित की जिसके तहत दलितों को 8 प्रतिशत और पिछड़ों को 42 प्रतिशत (जिसमें 2 प्रतिशत लद्दाख के लिए था) आरक्षण दिया गया। इसी क्रम में राज्य सरकार में भर्तियों के लिए स्टेट सबार्डिनेट सेवा चयन आयोग तथा ज़िला प्रशासन में भर्ती के लिए ज़िला चयन आयोग बनाया। साथ में शैक्षणिक संस्थाओं में भी इसी आधार पर दाख़िले के नये नियम बनाये गए।

कश्मीरी पंडित वर्ग की आम प्रतिक्रिया थी कि इस यात्रा (शेख़ अब्दुल्ला की कश्मीर-यात्रा) की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए थी। इससे किसी उद्देश्य की पूर्ति होने की सम्भावना नहीं है। शेख़ अब्दुल्ला के विचारों में परिवर्तन की कोई उम्मीद नहीं है। उनसे बातचीत करना किसी मतलब का नहीं है। वह एक सूखा बादल हैं जिससे बारिश की कोई उम्मीद नहीं। यह वर्ग सख़्त सत्ता का समर्थन करता है और महसूस करता है कि घाटी में मुस्लिम अभिमत को मनाया जाना सम्भव नहीं है। वे केवल एक मज़बूत शासन को समझ सकते हैं और भारत सरकार को यही करना चाहिए। मैं आपको *मार्तंड** की एक कटिंग भेज रहा हूँ जिसमें ऐसे विचार हैं।[86]

एक अल्पसंख्यक समाज के रूप में सुरक्षा और महत्त्व के लिए उनका घाटी के बाहर जम्मू और दिल्ली की तरफ़ देखना स्वाभाविक तो था लेकिन शेख़ और घाटी के मुसलमानों के प्रति 1966 की यह सोच चौंकाती है। कड़ा शासन! यानी भारत सरकार को शेख़ से बातचीत करने या फिर मुस्लिम समुदाय से बातचीत करने या उनकी माँगों पर सोच-विचार करने की जगह वहाँ सख़्ती का प्रयोग करना चाहिए! अब 95 फ़ीसद मुस्लिम आबादी में यह स्थानीय पुलिस द्वारा तो सम्भव नहीं था, इसलिए यह सीधे-सीधे सेना को आमंत्रण जैसा ही लगता है यानी घाटी की 4-5 फ़ीसद आबादी या यों कहें कि उस 4-5 फ़ीसद आबादी का एक हिस्सा दिल्ली के साथ मिलकर 95 फ़ीसद आबादी को डंडे के ज़ोर से नियंत्रित करना चाहता था! इस सोच को क्या कहा जाना चाहिए और इस सोच के दूरगामी असर क्या हुए होंगे? ज़ाहिर है कि भारतीय सेना और दिल्ली की सत्ता पर यह भरोसा उन्हें ताक़त का एहसास भले कराए लेकिन यह तथ्य उन्हें घाटी के बहुसंख्यक मुसलमानों से दूर करने के लिए भी ज़िम्मेदार होना ही था, जैसाकि ख़ान कह रहे हैं। देखें तो सेना का अर्थ दोनों समुदायों के लिए अलग-अलग था। जहाँ पंडित समुदाय के लिए सेना उनकी शक्ति या उनके हितों की प्रतिनिधि थी, वहीं व्यापक मुस्लिम समुदाय के लिए दमन का प्रतीक। इस उदाहरण में *मार्तंड* जिस 'मज़बूत शासन' की बात कर रहा है, वह अन्ततः बहुसंख्यक अभिमत का दमन ही तो है। दुर्भाग्य यह कि घाटी में सैन्य हस्तक्षेप भी लगातार बढ़ा ही तो वह दोनों समुदायों के बीच कालान्तर में दूरियाँ बढ़ाने में अप्रत्यक्ष तौर पर ज़िम्मेदार हुआ ही।

परमेश्वरी हांडू मामला : सड़कों पर उतरा विवाद

दोनों समुदायों के बीच यह तनाव 28 जुलाई, 1967 में एक घटना के बहाने अपने चरम पर पहुँच गया जब कश्मीरी पंडितों की रिहाइश वाले रैनावारी के जोगी लंकर इलाक़े की निवासी परमेश्वरी हांडू नामक एक कश्मीरी पंडित लड़की ने धर्म बदलकर

* श्रीनगर से निकलने वाला अख़बार जो पंडितों का मुखपत्र जैसा माना जाता था।

श्रीनगर के सहकारी डिपार्टमेंटल स्टोर 'अपना बाज़ार' में अपने एक सहकर्मी ग़ुलाम रसूल काँठ से शादी कर ली। धर्म परिवर्तन 20 जुलाई को हुआ था और यह शादी कश्मीर के मुफ़्ती आज़म ने करवाई थी। हालाँकि कश्मीर में अंतरधार्मिक विवाह बहुत प्रचलित नहीं रहे और इसके पहले और बाद में भी अनेक ऐसे विवाह हुए हैं; परन्तु इस विवाह ने कश्मीर के सामाजिक-राजनीतिक जीवन में बवाल मचा दिया। एक दिन बाद उसने द्वितीय अतिरिक्त मुंसफ को अपने धर्म परिवर्तन और विवाह का शपथ-पत्र प्रस्तुत किया जिसमें कहा गया था कि उसने यह विवाह अपनी इच्छा से किया है। अलग धर्म की लड़की से शादी करने की वजह से लड़के के पिता ने उन्हें साथ रखने से इनकार किया और वे दूसरी जगह रहने लगे। 3 अगस्त को लड़की की माँ ने रैनावाड़ी के पुलिस थाने में अपहरण की आशंका व्यक्त करते हुए शिकायत दर्ज करवाई कि उनकी लड़की 17 वर्ष की नाबालिग़ है और सुबह 11 बजे से ग़ायब है। अगले दिन लड़की ने जुमे की नमाज़ जामिया मस्जिद में अदा की और अपने धर्म-परिवर्तन तथा विवाह की घोषणा करते हुए नैतिक समर्थन की माँग की। उधर माँ की शिकायत पर मामला दर्ज करके लड़की को महाराजगंज थाने ले जाया गया और वहाँ लड़की के मामा, माँ और कुछ वरिष्ठ पंडितों ने उसे समझाने की नाकाम कोशिश की। बशीर बताते हैं कि मामला तत्कालीन डी.आई.जी. पुलिस डी.एन. कौल के कहने पर दर्ज किया गया था। वहाँ से उसे खान्यार थाने में ले जाया गया और वहाँ त्रिलोकी नाथ धर के नेतृत्व में जनसंघ से जुड़े पंडितों ने दो बार उससे मुलाक़ात की। लेकिन लड़की अपनी ज़िद पर अड़ी रही और अन्ततः उसे अपने पति के साथ जाने दिया गया। इस बार उसकी ससुराल में उसका स्वागत हुआ। जाँच में यह भी पाया गया कि लड़की बालिग़ है।[87]

सामान्यतः मामला यहाँ ख़त्म हो जाना चाहिए था, लेकिन दो लोगों के बीच का यह मामला जल्द ही सड़कों पर आ गया जब लड़की को घर भेजने की जगह अदालत में पेश करने की माँग को लेकर पंडित समाज सड़कों पर आ गया। पुलिस ने सफ़ाई दी कि लड़की को उसकी माँ, मामा, त्रिलोकी नाथ मट्टू (अध्यक्ष सुधार समिति) आदि के कहने पर न्यायालय में पेश नहीं किया गया है। उनके आग्रह पर उन्हें लड़की को समझाने का पर्याप्त समय दिया गया और जब वह नहीं मानी तो उसे आज़ाद कर दिया गया। लेकिन इससे असन्तुष्ट पंडितों ने विरोध करना शुरू किया और पूरे श्रीनगर में अनेक विरोध प्रदर्शन हुए, हड़तालें की गईं और कई लोगों की जान गई। प्रेमनाथ बज़ाज़ बताते हैं कि पंडित संवाददाताओं ने इसकी बड़ी-बड़ी रिपोर्ट्स राष्ट्रीय मीडिया में भेजीं और मामला 'मुस्लिम लड़के द्वारा हिन्दू लड़की के अपहरण' का बना दिया गया। मोहनलाल कौल अपने आख्यान में डी.आई.जी. पुलिस डी.एन. कौल का कहीं ज़िक्र नहीं करते और बताते हैं कि लड़की की माँ को अकेले में नहीं मिलने दिया गया। वह मामले के न्यायालय में

जाने का भी ज़िक्र नहीं करते और मामले को रैनावाड़ी इलाक़े से पहले महाराजगंज और फिर खान्यार जैसे मुस्लिम-बहुल इलाक़ों के थानों में ले जाने पर भी सवाल उठाते हैं।[88] हालाँकि बशीर बताते हैं कि धर्मांतरण और विवाह को रद्द करने के लिए लड़की की माँ ने न्यायालय में मामला दर्ज किया जहाँ पंडित समुदाय के जिया लाल चौधरी, मधुसूदन काक, श्रीकांत टिक्कू और एस.एल. कौल जैसे प्रतिष्ठित वकीलों ने पैरवी की। कहा गया कि लड़की ने 'भयानक दरिद्रता' के कारण नौकरी की थी और आरोपी अपहरणकर्ता ने 'कुँआरी सेल्स गर्ल पर दबाव बनाने के लिए सभी कुटिल तरीक़े अपनाए थे।' स्टोर के मैनेजर पर भी लड़के के सहयोग का आरोप लगाया गया।

इधर शीतलनाथ पंडितों के आन्दोलन का केन्द्र बना। 7 अगस्त को हुई पहली सभा में जम्मू-कश्मीर विधान परिषद के तत्कालीन अध्यक्ष पंडित शिव नारायण फोतेदार ने कहा : 'इस बात का ख़तरा है कि हालात और बिगड़ सकते हैं और इसका असर भारत में भी पड़ सकता है।' असल में ऐसा लगता है कि यह पूरा आन्दोलन मो-ए-मुक्कदस के आन्दोलन के तर्ज़ पर चलाने और इसे देश भर में फैलाकर शक्ति प्रदर्शन द्वारा सरकार पर दबाव बनाने की कोशिश की गई। अगले ही दिन गठित 'कश्मीरी हिन्दू एक्शन कमेटी' के नाम पर ग़ौर करने की ज़रूरत है। एक तरफ़ यह मो-ए-मुक्कदस के दौरान बनी कमेटी के नाम के ही तर्ज़ पर है दूसरी तरफ़ इसे 'पंडित' न कह कर 'हिन्दू एक्शन कमेटी' कहा गया। ज़ाहिर तौर पर यह भारत के व्यापक हिन्दू समुदाय को आकर्षित करने के लिए था। घोषणा की गई कि 'अल्पसंख्यक होने का मतलब यह नहीं कि हम कमज़ोर हैं और भारत हमारे साथ है'—यह बयान कश्मीरी पंडितों की उस मानसिकता को साफ़ बताता है जिसके तहत राज्य में अल्पसंख्यक होने के एहसास की क्षतिपूर्ति देश की बहुसंख्या के साथ जुड़कर की जा सकती थी। 13 अगस्त को जनसंघ के बैनर पर सभा हुई तो इसमें दिल्ली, आंध्र प्रदेश और दीगर जगहों से हिन्दू महासभा के नेता पहुँचे। 16 अगस्त को पंडित छात्रों ने जुलूस निकाला। 21 अगस्त को एक मस्जिद पर भावनाएँ भड़काने वाले पोस्टर लगाये गए तो मामला बिगड़ा 22 अगस्त को बलराज मधोक के आने के बाद। मधोक ने मुसलमानों को पाकिस्तान चले जाने जैसी भड़काऊ बातें कीं तो अब तक इस आन्दोलन से दूर रहे मुस्लिम नेतृत्व का सक्रिय हो जाना स्वाभाविक था। इस पूरे दौर में शेख़ अब्दुल्ला गिरफ़्तार थे तो प्लेबिसाइट फ्रंट के नेता बेग़ नज़रबन्द। मुस्लिम नेतृत्व अब तक शान्त रहने तथा इसे निजी मामला बताकर राजनीति न करने जैसी सलाहें दे रहा था लेकिन 22 तारीख़ के बाद दोनों तरफ़ से आन्दोलन तेज़ हो गया। महिलाएँ भी सड़क पर उतर आईं। एक तरफ़ से नारा लगा : 'हमारी बहन को वापस करो', तो दूसरी तरफ़ से: 'इडियट मधोक मुर्दाबाद'। अफ़वाहें तेज़ हुईं। घर और दुकानें जलीं। आँसू

गैस और लाठी चार्ज में दो पंडितों की मृत्यु हो गई और दोनों तरफ़ के कई लोग घायल हुए। मृत पंडितों की शव-यात्राएँ निकाली गईं तो जिस तरह की हिंसा और प्रदर्शन हुए, वे हाल के दिनों में आतंकवादियों की शव-यात्राओं के साथ होनेवाली राजनीति के क़रीब लगते हैं। इसी दौरान कश्मीर में पहली बार पुलिसवालों की राइफल लूटने की घटना हुई तो कई सारे बाहरी लोगों की शिनाख़्त की गई, जो हिंसा फैलाने के उद्देश्य से आए थे। स्थानीय इंजीनियरिंग कॉलेज के मुस्लिम छात्रों ने आरोप लगाया कि पंडित छात्रों ने अपने कमरों में सशस्त्र जनसंघी कार्यकर्ताओं को जगह दी है तो झेलम के दो किनारों पर खड़े होकर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच गाली-गलौज हुई, वह शायद कश्मीरी इतिहास में पहली थी। देश भर में पंडितों ने प्रस्ताव पास किये तो जम्मू में मामला हिन्दू-मुस्लिम बनना ही था। पाँच मुस्लिम लड़कियों के अपहरण की ख़बर फैली और कुल मिलाकर स्थिति बेहद विस्फोटक हो गई। ज़ाहिर है कि इस पूरी परिघटना को दोनों समुदायों के आपसी अविश्वास के भयावह तरीक़े से सतह पर आ जाने की तरह देखा जाना चाहिए।

इसमें दो घटनाओं पर थोड़ा ध्यान देना रोचक होगा। आन्दोलन के दौरान कश्मीरी हिन्दू एक्शन कमेटी के मंच से बोलते हुए माखन लाल हरकारा ने कहा: 'अगर सरकार कश्मीरी पंडितों के साथ सम्मानजनक व्यवहार नहीं करती तो उसे पंडितों को घाटी से निकालने की व्यवस्था करनी चाहिए।' पलायन की यह पहली धमकी है जो आज़ादी के बाद सुनाई देती है। आगे हम देखेंगे कि यह धमकी बार-बार दुहराई गई। दूसरा तथ्य संवाददाताओं से जुड़ा है। बशीर बताते हैं कि *पेट्रियॉट* को छोड़कर सभी राष्ट्रीय अख़बारों के घाटी में संवाददाता कश्मीरी पंडित थे। बज़ाज़ विस्तार में बताते हैं कि इसका असर यह हुआ कि आम तौर पर शेष भारत के मामलों में सेक्यूलर रुख़ अपनाने वाले अख़बार भी कश्मीर की इस घटना के बारे में एकतरफ़ा रिपोर्टिंग कर रहे थे। यह परिघटना रेखांकित की जानी चाहिए। कश्मीर में पत्रकारिता पर पंडितों के इस क़ब्ज़े का, राष्ट्रीय अख़बारों की ख़बरों और इसी क्रम में कश्मीर के बारे में शेष भारत की अवधारणा पर गहरा असर पड़ा है। यही स्थिति कमोबेश आल इंडिया रेडियो और फिर दूरदर्शन की भी रही।

क़रीब एक महीने चले इस तनाव का अन्त भी नाटकीय तरीक़े से हुआ। आदतन शिकायत दिल्ली लेकर पहुँचे पंडित नेताओं को उम्मीद नहीं थी कि इन्दिरा गांधी उन्हें इस क़दर डाँटेंगी। कश्मीरी पंडितों से भरे इन्दिरा जी के सचिवालय और ख़ुद उनकी कश्मीरी पंडित पृष्ठभूमि के चलते उन्हें उम्मीद यही रही होगी कि वहाँ से समर्थन मिलेगा। लेकिन लगता यह है कि इन्दिरा के क़रीबी और कश्मीर मामलों में दिल्ली के आँख-कान रहे तत्कालीन सरकार में वरिष्ठ मंत्री डी.पी. धर इस आन्दोलन से ख़ुश नहीं थे। हालाँकि इसी बीच उन्होंने 'मुख्यमंत्री की नीतियों से असन्तुष्ट होकर' इस्तीफ़ा दे दिया और फिर 'मित्रों के दबाव' में वापस भी ले

लिया।[89] जनसंघ की चाल वह समझ रहे थे और इसीलिए हम देखते हैं कि विधान सभा के बाहर और भीतर उनकी कोई भूमिका दिखती नहीं है। सम्भव है, उन्होंने इन्दिरा गांधी को जो रिपोर्टिंग की हो, यह उसका ही असर हो! इसीलिए जब गृहमंत्री वाय.बी. चव्हाण श्रीनगर पहुँचे तो थोड़े नाज़-नखरे के बाद दोनों पक्षों के बीच सुलह जैसी स्थिति बनी और आन्दोलन वापस ले लिया गया। सादिक़ सरकार ने जाँच के लिए दो कमेटियाँ भी बनाईं लेकिन बाद में न ही उनका कोई पता चला और न न्यायालय में ही मामला लम्बा चला। आन्दोलन जब वापस लिया गया तो उस समय न्यायालय में गवाहों के बयान दर्ज किये जाने थे लेकिन पंडित समुदाय ने मामले को आगे न चलाने का निर्णय लिया।[90]

1967 में ही एक और घटना हुई थी। जम्मू और कश्मीर हाईकोर्ट में एक कश्मीरी मुस्लिम जज को जूनियर जज की तरह शामिल करने की प्रक्रिया शुरू हुई थी। अब तक कोई भी कश्मीरी मुसलमान हाई कोर्ट में इस पद पर नहीं पहुँचा था और उस समय तीन जजों में से एक ग़ैर-कश्मीरी (मुख्य न्यायाधीश), एक कश्मीरी पंडित और एक जम्मू के थे। वरिष्ठतम जिला और सेशन जज मियाँ जलालुद्दीन का नाम इसके लिए प्रस्तावित किया गया लेकिन पंडित जज जे.एन. भट्ट ने इस पर आपत्ति की और सम्भव नहीं होने दिया। सादिक़ ने यह मामला उन दिनों हुई आल इंडिया इंटीग्रेशन कॉन्फ्रेंस में इन्दिरा गांधी के समक्ष भी उठाया था।[91] लगभग एक दशक बाद जलालुद्दीन 1978 में जम्मू और कश्मीर के पहले कश्मीरी मुस्लिम मुख्य न्यायाधीश बन सके।

हालाँकि इसका कोई बड़ा तत्कालीन प्रभाव नहीं हुआ लेकिन जाहिर है कि इस पूरी परिघटना को दोनों समुदायों के आपसी अविश्वास के भयावह तरीक़े से सतह पर आ जाने की तरह देखा जाना चाहिए, जिसका फ़ायदा स्वाभाविक रूप से दोनों तरफ़ के साम्प्रदायिक तत्त्वों ने उठाया और सतह के नीचे यह अविश्वास घटने की जगह लगातार बढ़ता चला गया।

विस्थापित पंडितों के संगठन पनुन कश्मीर द्वारा आयोजित बलराज मधोक की जयन्ती के यू ट्यूब पर उपलब्ध वीडियोज़ में इसके नेताओं और प्रतिनिधियों की मधोक को दी गई श्रद्धांजलियों और उनसे जुड़ी स्मृतियों को सुनते ऐसा लगता है कि मधोक की सक्रियता और पंडितों के बीच उनका असर लगातार बढ़ता गया था। ऐसे ही एक वीडियो में अग्निशेखर नामक वक्ता उस दौर में गाँवों में व्याप्त मधोक के जिस ख़ौफ़ की बात करते हैं, वह अविश्वसनीय लगने के बावजूद सत्तर और अस्सी के दशक में पंडितों के बीच मधोक के प्रभाव को तो बताता ही है। इस वीडियो में जिस तरह 'शत्रुओं' के भय की बात वह इस सन्दर्भ में करते हैं, उसे सुनते हुए एक सूक्ष्म अल्पसंख्यक समाज की शक्ति की तलाश में दक्षिणपंथ में ढूँढ़ा गया अवलम्बन और उसके एक हिस्से में बहुसंख्यक वर्ग के लिए गहरी नफ़रत को भी समझने में मदद मिल सकती है।[92]

1968 में जी.एम. सादिक़ ने इन्दिरा गांधी से शिकायत की थी : 'अगर मैं आपसे कहूँ कि सुरक्षा के लिहाज़ से सेना की एक और कम्पनी की ज़रूरत है तो आप तुरन्त भेज देंगी लेकिन अगर मैं दो फैक्टरियों के लिए कहूँ तो आप बीस कारण गिना देंगी कि ऐसा नहीं किया जा सकता। ऐसे में आप बताइए कि हमारे युवा क्या करेंगे?' जम्मू और कश्मीर के उद्योगों के विकास के लिए दी गई ज़्यादातर सुविधाओं का उपयोग जम्मू क्षेत्र में हो जाता था।[93] ऐसे में सरकारी नौकरियों को लेकर वह मारा-मारी समझी जा सकती है जहाँ तथ्यों से अधिक अवधारणाएँ महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं।

नौकरियों में प्रतिनिधित्व के मामले में चव्हाण से पंडितों की शिकायत के जवाब में सौंपे गए विवरण के अनुसार उस समय कुल 2,252 राजपत्रित पदों में से 924 मुसलमानों के पास थे और 638 कश्मीरी पंडितों के पास। इस तरह अगर देखें तो जम्मू और कश्मीर में कुल मिलाकर 68 फ़ीसद आबादी वाले मुसलमानों के पास 40 प्रतिशत पद थे जबकि 1.5 फ़ीसद आबादी वाले पंडितों के पास 28 प्रतिशत से अधिक। अगर हिन्दू-मुस्लिम के सन्दर्भ में देखें तो 32 फ़ीसद सिख-हिन्दू आबादी 60 फ़ीसद राजपत्रित पदों पर काबिज़ थी। 1966 में 45 मुस्लिम उम्मीदवार राजपत्रित पदों पर नियुक्त किये गए थे जबकि 91 ग़ैर-मुस्लिम। इंजीनियरिंग कॉलेज की सीटों में 77 सीटें मुसलमानों को मिली थीं तो 66 पंडितों को और 67 जम्मू के अन्य हिन्दुओं को। इसे पंडितों या हिन्दुओं के प्रति अन्यायपूर्ण कहा जाना चाहिए या मुसलमानों के, यह फ़ैसला पाठकों पर। इस मुद्दे पर बनी एक जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि 'हालाँकि नौकरियों में मुसलमानों की संख्या में लगातार वृद्धि हुई है लेकिन अब भी जनसंख्या में अपनी भागीदारी की तुलना में नौकरियों में उनका प्रतिनिधित्व काफ़ी कम है। वहीं नौकरियों में पंडितों की संख्या में कमी आई है लेकिन अब भी उनकी भागीदारी उनकी जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक है।[94] इसी दौर में बनी गजेन्द्र गडकर कमेटी ने लद्दाख जैसे क्षेत्रों के पिछड़ेपन को ध्यान में रखते हुए क्षेत्रीय असंतुलन दूर करने के सन्दर्भ में कई सिफ़ारिशें कीं जिन्हें सादिक़ सरकार ने स्वीकार कर लिया। त्रिलोकीनाथ एवं अन्य बनाम जम्मू कश्मीर राज्य मामले में उच्चतम न्यायालय के फ़ैसले के बाद 3 फ़रवरी, 1969 में वज़ीर कमेटी बनाई गई जिसने 29 नवम्बर, 1969 को अपनी रिपोर्ट पेश की। सादिक़ सरकार ने इसे स्वीकार करते हुए 1 मई, 1970 को नई आरक्षण नीति घोषित की जिसके तहत दलितों को 8 प्रतिशत और पिछड़ों को 42 प्रतिशत (जिसमें 2 प्रतिशत लद्दाख के लिए था) आरक्षण दिया गया। इसी क्रम में राज्य सरकार में भर्तियों के लिए स्टेट सबार्डिनेट सेवा चयन आयोग तथा ज़िला प्रशासन में भर्ती के लिए ज़िला चयन आयोग बनाया। साथ में शैक्षणिक संस्थाओं में भी इसी आधार पर दाख़िले के नये नियम बनाये गए।

असल में, बख़्शी सरकार में शिक्षा का जो चौतरफ़ा विस्तार हुआ, उसकी वजह से वहाँ उच्च शिक्षा-प्राप्त युवाओं का एक नया वर्ग पैदा हुआ जिसकी आकांक्षाएँ अब नई थीं। कश्मीर की तनावपूर्ण स्थितियों और विशिष्ट भौगोलिक स्थितियों के कारण वहाँ औद्योगिक विकास की सीमाएँ स्वाभाविक हैं, इसीलिए राजकीय पूँजीवाद के उस दौर में भी कश्मीर में ऐसे उद्योग-धंधे नहीं लग सके जिससे युवाओं को बड़े पैमाने पर सम्मानजनक रोज़गार मिल सके। इसलिए ले-दे कर सरकारी नौकरियाँ ही बचती हैं जहाँ व्याप्त भ्रष्टाचार की सम्भावनाओं के साथ एक बेहतर सामाजिक-आर्थिक स्थिति पाई जा सकती थी। इसलिए नौकरियों में हिस्सेदारी का संघर्ष उसी तरह धार्मिक ध्रुवीकरण में परिणत हुआ जैसा हमने तीस के दशक और उसके बाद के समय में देखा था। लगातार चुनावों में धाँधली* ने इसके साथ मिलकर युवाओं के असन्तोष को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यहाँ यह बता देना प्रासंगिक होगा कि कश्मीर में पहला आतंकवादी संगठन 'अल फ़तेह' इसी दौर में 1968 के अन्त में बना था जिसका नेतृत्व ग़ुलाम रसूल जहाँगीर के हाथों में था और जिसमें फ़ज़ल हक़ क़ुरैशी जैसे लोग शामिल थे जिन्होंने बाद में हुर्रियत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। राव फ़रमान अली 1965 के युद्ध के बाद कश्मीरी युवकों की नई पीढ़ी में मोहभंग और आतंकवादी आन्दोलन की शुरुआत के बारे में कुछ बेहद महत्त्वपूर्ण जानकारी देते हैं।[95] डेविड देवदास अपनी किताब द *स्टोरी ऑफ़ कश्मीर* में ऐसे ही एक युवक को लेकर नब्बे के आतंकवाद का पूरा ताना-बाना बुनते हैं जिसके पिता इतने पैसों का जुगाड़ करने में असफल रहे कि भ्रष्ट मंत्री को देकर मेडिकल में दाख़िला करा सके। प्लेबिसाइट फ्रंट से लेकर ऐसे संगठनों और व्यक्तियों का वजूद और महत्त्व कश्मीर में हमेशा बना रहा जिन्हें पाकिस्तान से लगातार मदद मिलती रही और ख़ास तौर से कश्मीरी मध्यवर्ग के एक हिस्से में पाकिस्तान को लेकर एक समर्थन और रोमांच हमेशा रहा। इस सन्दर्भ में अहमद पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर के राष्ट्रपति रहे मीरवायज़ यूसुफ़ शाह का एक मज़ेदार बयान कोट करते हैं :

---

* कश्मीर में आज़ादी के बाद से ही चुनावों में धाँधली एक बड़ा मुद्दा रहा। एक तरफ़ नेशनल कॉन्फ्रेंस के अलावा किसी और पार्टी को पैर नहीं जमाने दिये गए तो दूसरी तरफ़ जिन लोगों ने चुनाव लड़ने की कोशिश की, उनके पर्चे ख़ारिज करवा दिये जाते। हालत यह कि 4 मार्च, 1962 को नेहरू ने बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद को भेजे एक सन्देश में कहा : दरअसल, अगर आप कुछ सीटें प्रामाणिक विपक्षी उम्मीदवारों से हार जाते तो यह आपकी स्थिति को और अधिक मज़बूत कर देता।' कश्मीर के एक प्रतिष्ठित वकील ग़ुलाम नबी हागरू बताते हैं कि उन दिनों इन चुने हुए विधायकों को रिटर्निंग ऑफिसर अब्दुल ख़ालिक़ मलिक के नाम पर 'मेड बाय खालिक़' कहा जाता था। खालिक़ किसी भी तिकड़म से विपक्षी उम्मीदवारों के पर्चे ख़ारिज करा देने में माहिर था (विस्तार के लिए देखें, अध्याय 16, कश्मीरनामा)।

अगर जनमत-संग्रह हो जाए तो पाकिस्तान के क़ब्ज़े वाले सारे लोग भारत को वोट देंगे और घाटी के लोग पाकिस्तान को। वजह यह है कि वहाँ वालों ने पाकिस्तान की हक़ीक़त जान ली है, यहाँ वालों को अभी नहीं पता।[6]

कश्मीर समझौता, शेख़ की वापसी और आगे

11 दिसम्बर, 1971 को सादिक़ ने चंडीगढ़ में जब आख़िरी साँस ली तो उसके पहले वह शेख़ से सम्बन्ध सुधारने की कोशिश कर रहे थे और प्लेबिसाइट फ्रंट को पंचायत के चुनावों में भाग लेने की इजाज़त दी गई थी। असल में, मो-ए-मुक्कदस आन्दोलन के दौरान ही शेख़ की रिहाई की जो माँग उठी थी, वह लगातार तेज़ हो रही थी। भारत में जयप्रकाश नारायण सहित अनेक महत्त्वपूर्ण नेता लगातार शेख़ को रिहा करने की माँग कर रहे थे। 1968 में वह रिहा कर दिये गए और उसी साल कश्मीर में उन्होंने कश्मीर पर विभिन्न धाराओं के लोगों के संवाद के लिए एक 'कश्मीर स्टेट पीपल्स कन्वेंशन' भी आयोजित किया जिसमें सादिक़ ने कोई अड़ंगा नहीं डाला।[7]

12 दिसम्बर, 1971 को चंडीगढ़ के एक अस्पताल में ग़ुलाम मोहम्मद सादिक़ ने 50 वर्ष की आयु में आख़िरी साँस ली और अगले दिन सैयद मीर क़ासिम को कश्मीर के मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई गई। मीर क़ासिम ने छह महीने के भीतर नये चुनाव कराने का निर्णय लिया तो प्लेबिसाइट फ्रंट इसमें हिस्सा लेना चाहता था। इस पूरे घटनाक्रम पर मीर क़ासिम को पढ़ लेना रोचक होगा :

जब ख़्वाज़ा ग़ुलाम मोइउद्दीन कारा शेख़ से मिलने दिल्ली जा रहे थे तो मैं उनसे जम्मू में से मिला। उन्होंने मुझसे कहा कि वह शेख़ को चुनावों में भाग लेने के लिए मनाएँगे।

लेकिन मैंने सोचा कि ऐसे समय पर जब केन्द्र शेख़ अब्दुल्ला से फिर से बातचीत शुरू करना चाहता है, चुनावों में प्लेबिसाइट फ्रंट की भागीदारी मामले को जटिल बनाएगी। कारण यह कि अगर चुनाव साफ़-सुथरे हुए तो फ्रंट की जीत तय थी और एक विजेता पक्ष के रूप में फ्रंट एक मज़बूत स्थिति से बात करेगा। यह बात श्रीमती गांधी को खिजा देगी और सम्भव है कि वह शेख़ से बातचीत करने का इरादा ही छोड़ दें। यह केन्द्र और जम्मू और कश्मीर सरकार के बीच टकराव को और बढ़ाएगा। मैंने क़ारा को सलाह दी कि वह शेख़ को चुनाव लड़ने के लिए न कहें और वादा किया कि अगर चुनाव के बाद मुख्यमंत्री बना तो मैं शेख़ से शान्ति-वार्ता फिर से शुरू करूँगा...। वह बज़िद थे तो कश्मीर के व्यापक हित में मैंने उन्हें गिरफ़्तार करवा दिया...। मैंने बेगम अब्दुल्ला के कश्मीर में घुसने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया।

इस बीच जमात-ए-इस्लामी कश्मीर के भारत के विलय के अन्तिम होने पर भ्रम फैला रहा था। मैंने इसके नेताओं से कहा कि मैं उन्हें चुनाव नहीं लड़ने दूँगा क्योंकि वे कश्मीर के भारत में विलय को स्वीकार नहीं करते।

लेकिन उनके नेताओं ने कहा कि ऐसा नहीं है, वे भारत के संविधान की शपथ लेंगे।

मैंने जमात के चुनाव लड़ने पर प्रतिबन्ध के मसले पर फ़ोन पर इन्दिरा गांधी से भी सलाह ली। श्रीमती गांधी ने कहा—ना। यह बाक़ी देश में हालात को उनके लिए मुश्किल करेगा क्योंकि आर.एस.एस. जैसे साम्प्रदायिक संगठनों को भी प्रतिबन्धित करना पड़ेगा। उन पर वैसे ही दबाव है आर.एस.एस. को प्रतिबन्धित करने का। मैंने कहा—दोनों को प्रतिबन्धित कर दीजिए। उन्होंने कहा—नहीं।[98]

तो भारत और पाकिस्तान के बीच की खींचतान ने कश्मीर में लोकतंत्र की परिभाषा को ही जैसे बदल दिया था। मीर अब तक के मुख्यमंत्रियों में इस मामले में शायद सबसे स्पष्ट थे। वह 'अल फ़तेह' के युवा लड़कों को तो एक और मौक़ा दे सकते थे लेकिन भारत और कश्मीर के विलय पर सवाल उठानेवालों को लेकर कोई छूट देने को नहीं तैयार थे। लेकिन केन्द्र की मजबूरियाँ ऐसी थीं कि शेख़ को चुनाव से पहले जम्मू जाते समय गिरफ़्तार कर लिया गया और जमात ने चुनाव में हिस्सा लिया। चुनाव वैसे ही हुए, जैसे होते आए थे और मीर क़ासिम फिर से मुख्यमंत्री चुने गए तो उन्होंने अपना वादा निभाया।

असल में इन सबके बीच जो सबसे महत्त्वपूर्ण घटना हुई थी, वह थी 1972 के युद्ध में भारत की जीत, पाकिस्तान का विभाजन और शिमला समझौता।* इन सबने पाकिस्तान की ओर उम्मीद से देखने वालों को वक़्ती तौर पर निराश कर

---

* 1972 के चुनाव होने से पहले पाकिस्तान में एक बड़ा राजनीतिक संकट पैदा हुआ। वहाँ हुए चुनाव में शेख़ मुजीबुर्रहमान की पार्टी अवामी लीग ने पूर्वी पाकिस्तान की 169 में से 167 सीटें जीतीं और इस तरह पाकिस्तान की 313 सीटों वाली नेशनल असेम्बली में बहुमत हासिल किया। लेकिन ज़ुल्फ़िकार अली भुट्टो सहित पश्चिमी पाकिस्तान के नेताओं ने उन्हें सत्ता सौंपने से इनकार कर दिया और इसकी जगह दो प्रधानमंत्रियों की व्यवस्था का प्रस्ताव किया। इसके पहले भी ख़्वाजा नज़ीमुद्दीन, मुहम्मद अली बोगरा और हुसैन शहीद सुहरावर्दी जैसे पूर्वी बंगाल के प्रधानमंत्रियों को भी पश्चिमी पाकिस्तान के राजनेताओं ने बर्ख़ास्त कर दिया था। जनरल याहया ख़ान ने बंगालियों का दमन शुरू किया और भुट्टो ने इसमें साथ दिया।

बांगलादेश की निर्वासित सरकार कलकत्ता में बनी। लाखों रिफ़्यूज़ी पश्चिम बंगाल में आ गए और अन्ततः निर्वासित बंगाली नेताओं के इसरार पर भारतीय सेना ने मुक्तिदाता के रूप में उसका स्वागत किया। पाकिस्तानी सेना ने समर्पण कर दिया और दिसम्बर, 1971 में बांग्लादेश का निर्माण हुआ। भारत और पाकिस्तान के बीच यह पहला निर्णायक युद्ध था जिसके परिणामस्वरूप पाकिस्तान दो हिस्सों में बँट गया। हालाँकि इस युद्ध में कश्मीर कोई मुद्दा नहीं था लेकिन इस पराजय ने न केवल पाकिस्तानी सत्ता प्रतिष्ठान का मनोबल तोड़ने का काम किया बल्कि शेख़ सहित कश्मीर के नेताओं पर भी गहरा असर डाला। जून, 1972 में भारत और पाकिस्तान के बीच शिमला समझौता हुआ जिसमें कश्मीर मामले को द्विपक्षीय बातचीत से सुलझाने और सन्धि रेखा को नियंत्रण रेखा के रूप में स्वीकार करने पर सहमति हुई।

दिया। अब न जनमत-संग्रह या आज़ादी की माँग प्रभावी रह गई थी और न ही उनके लिए कश्मीर में राजनीति कर पाना सम्भव था। बलराज पुरी बताते हैं कि बांग्लादेश युद्ध के पहले उन्होंने अब्दुल्ला से कहा था कि एक तरफ़ भारत सरकार को मुसलमानों के समर्थन की ज़रूरत है और वह भारतीय उपमहाद्वीप में मुसलमानों के सबसे बड़े नेता हैं तो दूसरी तरफ़ भारत की बांग्लादेश-नीति का समर्थन करके वह कश्मीर के लिए भी बांग्लादेश जैसी उदार नीति की माँग कर सकते हैं।[99] लेकिन उस समय शेख़ अब्दुल्ला इसके लिए तैयार नहीं हुए। इस युद्ध में भारत की विजय ने न केवल पाकिस्तान की तुलना में भारत की सैन्य ताक़त की श्रेष्ठता स्थापित की बल्कि द्विराष्ट्रवाद के उस सिद्धान्त को भी ग़लत साबित किया जिसके अनुसार राष्ट्र सांस्कृतिक नहीं, एक धार्मिक इकाई था।

वहीं एक तरफ़, भारत सरकार के ऊपर शेख़ को रिहा करने के लिए लगातार दबाव बन रहा था (जयप्रकाश नारायण के अलावा 163 संसद सदस्यों ने शेख़ को रिहा करने तथा बातचीत करने की माँग की थी) तो दूसरी तरफ़ अब शेख़ भी बातचीत कर कोई राह निकालने के लिए उत्सुक थे। अपनी आत्मकथा में वह कहते हैं :

> मैंने केन्द्र सरकार को आश्वस्त किया कि विलय को लेकर हमारा आपसे कोई मतभेद नहीं है। हम केवल यह चाहते हैं कि अनुच्छेद 370 अपने मूल रूप में लागू की जाए। मैंने कहा कि मैं इन्दिरा गांधी से बातचीत करने को तैयार हूँ। उनके मुख्य सचिव पी.एन. हक्सर मुझसे मिलने आए और एक तिथि तय की गई। हमारी बातचीत बहुत उपयोगी रही। प्लेबिसाइट फ्रंट से प्रतिबन्ध हटा दिये गए और मुझे, मेरी पत्नी तथा मिर्ज़ा मोहम्मद अफ़ज़ल बेग़ को कश्मीर में प्रवेश करने की अनुमति दी गई। 5 जून, 1972 को मुझे रिहा कर दिया गया।[100]

दो वर्षों की लगातार बातचीत के बाद दोनों पक्षों के बीच सहमति बनी और 13 नवम्बर, 1974 को शेख़ अब्दुल्ला के प्रतिनिधि मिर्ज़ा मोहम्मद अफ़ज़ल बेग़ तथा भारत सरकार के प्रतिनिधि जी. पार्थसारथी ने 'कश्मीर समझौते' पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते के अनुसार जम्मू और कश्मीर राज्य को भारत का हिस्सा माना गया और यह तय पाया गया कि कश्मीर का शासन अनुच्छेद 370 के अनुसार ही चलता रहेगा। भारत सरकार ने इस अनुच्छेद में किये गए कुछ संशोधनों को वापस लेने पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने का आश्वासन भी दिया।[101] शेख़ इसे अपने राजनीतिक आन्दोलन का नया दौर बताते हैं[102] तो इन्दिरा गांधी ने लोकसभा में कहा: 'समझौते में अन्तर्निहित क़ानूनी दाँवपेंच से अधिक बड़ा हासिल वह है जिसे शेख़ अब्दुल्ला ने दायित्व और 'भरोसे की पुनर्स्थापना' कहा है। हमें विश्वास है कि हमने आपसी सहकार के लिए एक मज़बूत नींव रखी है।[103] शेख़ का मुख्य ज़ोर वज़ीर-ए-आज़म

और सदर-ए-रियासत का ओहदा वापस लागू करने और अनुच्छेद 370 को 1953 के स्तर पर वापस लाना था लेकिन हक़ीक़त यह कि उन्हें इनमें से कुछ नहीं मिला। असल में, ऐसा लगता है कि लम्बे संघर्ष में शेख़ थक गए थे और उनका परिवार अब येन-केन-प्रकारेण सत्ता में आना चाहता था।[104] इस पूरी प्रक्रिया में कश्मीरी राजनीति के मैकियावैली* कहे जानेवाले डी.पी. धर की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। हमने देखा है कि धर 1953 में शेख़ को गद्दी से हटाने में और उसके बाद भी कश्मीर की राजनीति में बेहद महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं।

सनाउल्लाह बट एक घटना का ज़िक्र करते हैं जब दिल्ली के डी.पी. धर को राज्य के किसी भी दूसरे नेता से अधिक महत्त्व दिये जाने के कारण राज्य कांग्रेस में बवाल शुरू हुए और सादिक़ इसे लेकर काफ़ी नाराज़ भी थे। केन्द्र सभी महत्त्वपूर्ण मामलों पर सिर्फ़ डी.पी. धर से ही सलाह-मशविरा करता था और सादिक़ द्वारा उनसे गृह मंत्रालय ले लिये जाने के बाद भी राज्य की गोपनीय सूचनाएँ उनके मार्फ़त दिल्ली पहुँच जाया करती थीं। राज्य प्रशासन का बड़ा हिस्सा भी धर के ही क़रीब था क्योंकि असली सत्ता उन्हीं के हाथों में थी। धर ने दिल्ली में कांग्रेस पार्टी में एक ख़ास पहुँच बना ली थी और उनके ग्रुप में मीर क़ासिम, ग़ुलाम रसूल कार, मुफ़्ती मोहम्मद सईद और अन्य थे।[105] हालाँकि इन्दिरा गांधी ने इस ग्रुप के सादिक़ को हटाकर क़ासिम को मुख्यमंत्री बनाने की कोशिशों को अमली जामा नहीं पहनाने दिया लेकिन ऐसा लगता है कि धर की भूमिका किंगमेकर की भले न हो लेकिन इसके बहुत क़रीब रही है। उनके महत्त्व का अन्दाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि जहाँ शेख़ अब्दुल्ला ने 1953 में अपनी बर्ख़ास्तगी के लिए बख़्शी और सादिक़ को कभी माफ़ नहीं किया तथा उनकी मौत पर उनके परिवारों को औपचारिक शोक सन्देश भी नहीं भेजा, वहीं षड्यंत्र के तीसरे भागीदार धर की 12 जून, 1975 को हुई मृत्यु के बाद उन्होंने एक आधिकारिक शोकसभा आयोजित की जिसमें वह फूट-फूटकर रोए।[106] मृत्यु के समय धर सोवियत संघ में भारत के राजदूत थे और इस भूमिका में भारत-सोवियत संघ मैत्री सन्धि कराकर एक शानदार भूमिका निभा चुके थे।

प्लेबिसाइट फ्रंट की राजनीति जनमत-संग्रह की माँग पर टिकी हुई थी और हालाँकि वह अब भी हिन्दू-मुस्लिम इत्तेहाद का नारा लगा रहा था लेकिन उसकी नीतियाँ सीधे-सीधे पाकिस्तान समर्थक थीं। 1955 में स्थापित होने के बाद से ही उसने कश्मीरी मानसिकता में 'आत्मनिर्णय' के भाव को गहरे भरा था और जो

---

* निकोलो मैकियावैली पंद्रहवीं सदी के इटालियन राजनीतिज्ञ, इतिहासकार व नाटककार थे जिन्हें आधुनिक राजनीति विज्ञान का पिता कहा जा सकता है। अपने नाटक 'द प्रिंस' में उन्होंने जिस तरह की अनैतिक राजनीति का प्रस्ताव दिया है, उसके चलते इस तरह की राजनीति के सन्दर्भ में 'मैकियावैलियन' कहा जाता है।

आज़ादी का नारा बुलन्द किया था, उसका सीधा-सादा अर्थ था—पाकिस्तान में विलय।

वानी उस दौर में प्रचलित एक वनवुन* का ज़िक्र करते हैं जिसमें हरी पगड़ी और पाकिस्तान के ग़ाज़ी के आने का ज़िक्र है। फ्रंट से जुड़े लोगों का दमन और शेख़ तथा बेग़ की लगातार गिरफ़्तारियों ने कश्मीरी जनता के बीच उनकी जो बलिदानी छवि बनाई थी, उसने इसकी स्वीकार्यता और लोकप्रियता में वृद्धि ही की थी। फ्रंट के नेता मिर्ज़ा अफ़ज़ल बेग़ थे लेकिन उसके पीछे मूर्ति तो शेख़ की ही थी। कश्मीर में इस दौरान शेख़ की छवि उसी 'मुक्तिदाता' ग़ाज़ी की बनाई गई। रिहाई और कश्मीर समझौते के बीच शेख़ के समझौते के नाम पर समर्पण के आरोपों के चलते हुए विरोध प्रदर्शनों के जवाब में शेख़ लगातार जनता के बीच पाकिस्तान का तो नहीं लेकिन जनमत-संग्रह के अधिकार का वादा कर रहे थे।[107] ज़ाहिर है कि भारत सरकार तो इस पर राज़ी नहीं ही हो सकती थी और युद्ध में हार तथा विभाजन के बाद पकिस्तान से किसी सहारे की उम्मीद शेख़ को हो नहीं सकती थी। इसलिए शेख़ ने प्लेबिसाइट फ्रंट को भंग करने का निर्णय लिया और नेशनल कॉन्फ्रेंस को पुनर्जीवित किया। इसके बाद की जो उनकी राजनीति थी, वह अपने पूरे वितान में भारत-समर्थक रही, भले बीच-बीच में जनमत-संग्रह, अधिक स्वायत्तता आदि की बात होती रही लेकिन शेख़ के समय तक राजनीति ऐसे ही चलती रही।

लेकिन यहाँ दो तथ्यों पर ग़ौर किया जाना ज़रूरी होगा :

1. प्लेबिसाइट फ्रंट ने कश्मीरी जनता के मन में जो भाव भरे थे और जिन युवाओं को इसने आज़ादी/जनमत-संग्रह के सपने दिखाए थे, वे शेख़ के मुख्यमंत्री बन जाने भर से सन्तुष्ट कैसे हो सकते थे—वह भी तब, जब दिल्ली ने शेख़ की लगभग कोई माँग स्वीकार नहीं की थी?**
2. जब हम यहाँ 'कश्मीरी जनता' कह रहे हैं तो उसमें कश्मीरी पंडित कैसे शामिल हो सकते थे? उस 'आज़ादी' में कश्मीरी पंडित कैसे शामिल हो सकते थे जिसमें इसका मानी 'पाकिस्तान से विलय' बना दिया गया था?

इन दोनों तथ्यों ने आगे कश्मीर के राजनीतिक-सामाजिक जीवन पर गहरा असर डाला जिसे हम अगले अध्याय में विस्तार से देखेंगे।

* कश्मीर में शादियों के समय महिलाओं के समूह द्वारा गाए जानेवाला गीत। यह गीत कुछ इस तरह से है—*सब्ज़ दस्तरस नबी चुअई राज़ी; पाकिस्तानुक ग़ाज़ी आव* (नबी ख़ुश हैं तुम्हारी हरी पगड़ी से। तुम्हें देखकर ऐसा लगता है कि पाकिस्तान से ग़ाजी आया है)। मज़ेदार तथ्य यह कि जब मोरार जी देसाई मीरवायज़ से मिलने आए तो उनके स्वागत में भी यही गाया गया।

** उदाहरण के लिए तीस के दशक से ही शेख़ के साथ रहे वरिष्ठ नेता सोफ़ी अहमद अकबर ने कहा—यह धोखा है, पतित आत्मसमर्पण है और विश्वासघाती कार्रवाई है।

सत्ता में शेख़ और उसके आगे (1975-82)

'कश्मीर समझौते' का सबसे बड़ा असर यह हुआ कि मीर क़ासिम को शेख़ अब्दुल्ला के लिए गद्दी छोड़नी पड़ी। यह भी शायद कश्मीर की राजनीति में ही सम्भव था कि बिना किसी पार्टी या बिना किसी विधायक के शेख़ अब्दुल्ला उस कांग्रेस के समर्थन से 25 फ़रवरी, 1975 को मुख्यमंत्री बने जिसके दो प्रमुख नेता ग़ुलाम रसूल कार और मुफ़्ती मोहम्मद सईद खुलेआम इसके ख़िलाफ़ थे तो मीर क़ासिम इसे लेकर असहज थे और अब्दुल ग़नी लोन यह आहट मिलने पर मंत्रिमंडल से इस्तीफ़ा दे चुके थे।[108] शेख़ ने मंत्रिमंडल में सिर्फ़ 3 लोग शामिल किये : घाटी से मिर्ज़ा अफ़ज़ल बेग़, लद्दाख से सोनम द्राबू और जम्मू से डी.डी. ठाकुर। एक रोचक तथ्य यह है कि बेग़ के अलावा बाक़ी दोनों का अब तक राजनीति से कोई लेना-देना नहीं रहा था। द्राबू मंगोलिया में भारत के राजदूत थे और ठाकुर हाईकोर्ट में जज। इसका कारण बताते हुए उन्होंने जो कहा, वह मज़ेदार है—मुझे राज्य में सिर्फ़ तीन ईमानदार लोग मिले और मैंने तीनों को मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया। एक और रोचक तथ्य डी. डी. ठाकुर बताते हैं—पूर्व सदर-ए-रियासत और उस समय उधमपुर के सांसद करण सिंह शेख़ अब्दुल्ला के इस शपथ-ग्रहण समारोह में शामिल नहीं हुए थे![109]

ख़ैर, यह व्यवस्था बहुत दिन चली नहीं। आपातकाल के बाद हुए चुनावों में सत्ता से बाहर हो चुकी श्रीमती गांधी प्रदेश कांग्रेस के नेताओं के दबाव में आ गईं। मुफ़्ती की नज़र मुख्यमंत्री पद पर थी। मंत्रिपरिषद के सवाल पर कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में शेख़ पर भ्रष्टाचार और नाकामी का आरोप लगाकर समर्थन वापस ले लिया तथा सरकार बनाने का दावा पेश कर दिया। लेकिन शेख़ ने जम्मू और कश्मीर के संविधान की धारा 53 के तहत मिले अधिकार का उपयोग करते हुए तुरन्त विधान सभा भंग करने तथा नये चुनाव कराने की माँग की। दिल्ली की सत्ता बदलने के साथ केन्द्र का रवैया भी बदल गया और मुफ़्ती की उम्मीदों पर पानी फेरते हुए राज्यपाल एल.के. झा ने विधान सभा भंग कराकर नये चुनाव कराने की घोषणा कर दी।[110]

1977 में कश्मीर विधान सभा के लिए हुए चुनाव कश्मीर के इतिहास में कई मानी में बेहद महत्त्वपूर्ण रहे। इस बार कांग्रेस और नेशनल कॉन्फ्रेंस के समक्ष एक और पार्टी खड़ी की गई—जनता पार्टी! यह एकदम 'कहीं का ईंट, कहीं का रोड़ा' की तर्ज़ पर बनी थी। लगभग निष्क्रिय पड़े मोहिउद्दीन कारा ने कश्मीर में जनता पार्टी की स्थापना की। स्थापना समारोह में जनसंघ के टीका लाल टपलू, प्लेबिसाइट फ्रंट में रहे ग़ुलाम रसूल कोचक और प्रभावशाली मोटर ड्राइवर्स एसोसिएशन के अध्यक्ष भी मौजूद थे। लोक सभा चुनावों की जीत से उत्साहित जनता पार्टी शेख़-विरोधी सभी प्रकार के तत्त्वों को एक मंच पर लाकर कश्मीर में सफलता पाना चाहती थी। मौलाना मसूदी, मीरवायज़ मौलाना फ़ारूक़, मौलाना अब्बास अंसारी, अब्दुल ग़नी लोन, ग़ुलाम अहमद मीर ही नहीं बल्कि दिल्ली

और बम्बई में बसे प्रेमनाथ बज़ाज़ तथा अली मोहम्मद तारक भी शेख़ के ख़िलाफ़ मोर्चा खोलने कश्मीर आ गए। मौलाना मसूदी को जनता पार्टी की कमान सौंपी गई।[111] जमात-ए-इस्लामी और जनसंघ, दोनों का शेख़ के ख़िलाफ़ जनता पार्टी के साथ आ जाना रोचक भी था और कम से कम प्रचार के दौरान संघर्ष काँटे का लग रहा था। शेख़ के ख़िलाफ़ हर तरह के आरोप लगाये गए और जनता को हर तरह के प्रलोभन देने की कोशिश की गई। हालत यह थी कि पूर्व जनसंघी ही नहीं, तत्कालीन गृहमंत्री चरण सिंह भी अनुच्छेद 370 हटाने का आश्वासन दे रहे थे,[112] तो दूसरे कई महत्त्वपूर्ण नेता इसे जारी रखने की कसमें खा रहे थे।[113] जनता की बढ़-चढ़ कर हिस्सेदारी और राज्य के राजनीतिक नेतृत्व के हर हिस्से से उम्मीदवारों की भागीदारी के कारण कुछ लोग मानते हैं कि राज्य में हुए सबसे साफ़-सुथरे चुनाव थे।[114] शेख़ को दिल का दौरा पड़ा और अन्ततः 76 सीटों में से 47 सीटों पर नेशनल कॉन्फ्रेंस को जीत मिली। जनता पार्टी को 16 सीटों पर जीत मिली जिनमें 13 जम्मू की थीं और कांग्रेस को केवल 11 सीटें। चुनावों के बाद अपने पहले सार्वजनिक भाषण में श्रीनगर के पोलोग्राउंड में एकत्र हुई तीन लाख से अधिक जनता को सम्बोधित करते हुए शेख़ ने इक़बाल का शेर पढ़ा : *जब इश्क़ सिखाता है आदाब ख़ुद आगाही/खुलते हैं ग़ुलामों पर असरार-ए-शहंशाही।* 9 जुलाई, 1977 को शेख़ ने कश्मीर के मुख्यमंत्री पद की शपथ ली।[115]

लेकिन 1953 के वज़ीर-ए-आज़म शेख़ अब्दुल्ला और 1975 और 1977 के मुख्यमंत्री शेख़ अब्दुल्ला में बहुत फ़र्क़ आ चुका था। अब भी वह पीढ़ी थी कश्मीर में जिसने उस दौर के शेर-ए-कश्मीर को और उसके संघर्ष को देखा था लेकिन एक नई पीढ़ी इस बीच जवान हो चुकी थी जिसकी आकांक्षाएँ अलग थीं। तब कश्मीर की स्वायत्तता के लिए नेहरू से टकराकर जेल और निर्वासन के लिए तैयार शेख़ अब इन्दिरा के सामने डरे हुए थे और सत्ता में बने रहना उनकी पहली प्राथमिकता थी। अहमद ने ऐसी अनेक घटनाओं का ज़िक्र किया है जहाँ इन्दिरा गांधी ने सार्वजनिक रूप से उनका अपमान किया था। कश्मीर समझौते के तुरन्त बाद दिल्ली के एक अंग्रेज़ी अख़बार में छपा एक कार्टून इस बदलाव को बख़ूबी बताता है जिसमें शेख़ एक बूढ़े शेर के रूप में दिखाए गए हैं जिनके दांत उनके जबड़ों से निकालकर शीशे के एक जार में रखे हुए हैं और इन्दिरा गांधी उनके सामने चाबुक लिये खड़ी हैं। शीर्षक कहता है, अब ये दहाड़ सकते हैं लेकिन काट नहीं सकते। उन्हीं दिनों *श्रीनगर टाइम्स* में छपे कश्मीर के सबसे प्रतिष्ठित कार्टूनिस्ट बशीर अहमद बशीर ने एक कार्टून में शेख़ अब्दुल्ला को अपनी ट्रेडमार्क काराकुल टोपी सहित अपना सिर हाथों में लेकर इन्दिरा गांधी के सामने मुकुट पहनाए जाने के लिए झुके दिखाया गया है। ज़ाहिर है कि इस समझौते को कश्मीरी जनता का एक हिस्सा शेख़ के समर्पण की तरह देख रहा था। प्रदेश कांग्रेस के भीतर उन्हें

लेकर जो असन्तोष था, वह क्षेत्रीय असन्तोष से मिल-जुलकर लद्दाख में हिंसक आन्दोलनों में बदल चुका था तो उनके सत्ता में आने के बाद ही घाटी में पंडितों का एक आन्दोलन हुआ—किस्तवार तथा राजौरी इलाक़ों में अलग-अलग मुद्दों पर आन्दोलन हुए तो जम्मू में रिसाई को ज़िले बनाने की माँग को लेकर शुरू हुआ भाजपा का आन्दोलन अनुच्छेद 370 हटाने की माँग में बदल गया। अहमद कहते हैं—इन सब आन्दोलनों को दिल्ली का शह था और शेख़ एक नपुंसक ग़ुस्से के अलावा कुछ नहीं कर पा रहे थे।

शेख़ के ये दोनों शासनकाल बाक़ी चीज़ों के साथ जमात-ए-इस्लामी पर प्रतिबन्ध और उसके कार्यकर्ताओं के सख़्त दमन के लिए याद किये जाते हैं। उन्होंने जमात के स्कूलों को बन्द कर दिया और उसके कार्यकर्ताओं को बड़े पैमाने पर गिरफ़्तार कर लिया। इसी दौरान उन्होंने वह पब्लिक सेफ्टी अधिनियम (पी.एस.ए.) पास करवाया जिसका बाद में 1990 के दशक के दौरान जम के प्रयोग किया गया और फिर 370 हटाने के बाद उनके ही पुत्र फ़ारूक़ अब्दुल्ला के ख़िलाफ़ भी। लेकिन इसके पीछे साम्प्रदायिकता से मुक़ाबले का जज़्बा उतना नहीं था जितना राज्य में एक वैकल्पिक राजनीतिक ताक़त को उभरने से रोकने की कोशिश। इन कोशिशों ने भी जनता में आक्रोश और असन्तोष के पनपने में ही मदद की।[116]

दिल के दौरे के बाद कमज़ोर होते जा रहे शेख़ अपने आख़िरी दौर में उन्हीं प्रवृत्तियों के शिकार हुए जो भारतीय उपमहाद्वीप में आम हैं। भ्रष्टाचार के आरोप लगे उन पर और अपने परिवार के भीतर सत्ता-सूत्र रखने की योजना के साथ उम्र भर साथ रहे मिर्ज़ा अफ़ज़ल बेग़ को पार्टी से निकाल दिया गया जिसके बाद दामाद गुल शाह तथा बेटे फ़ारूक़ अब्दुल्ला के बीच एक बेहद छिछले स्तर का सत्ता-संघर्ष शुरू हुआ। इसके विस्तार में जाना तो यहाँ उचित नहीं होगा, लेकिन उस वक़्त कश्मीर के राज्यपाल रहे बी.के. नेहरू की एक टिप्पणी पूरी स्थिति की व्यंजना करती है :

> दिल्ली में एक वरिष्ठ कश्मीरी अधिकारी ने सारे हालात इन अल्फ़ाज़ में बयान किये—बाप वृद्ध और जर्जर हो चुका है, दामाद एक गुंडा है और बेटा मूर्ख। हम अभागे कश्मीरियों के पास कोई चयन नहीं है।[117]

डी.डी. ठाकुर अपनी जीवनी *माई लाइफ़* में बहुत विस्तार से उत्तराधिकार की इस लड़ाई में चली खींचतान के बीच फ़ारूक़ के पक्ष में अपनी भूमिका का सगर्व और सुदीर्घ बयान करते हैं और बी.के. नेहरू अपनी जीवनी में उसकी ताक़ीद भी करते हैं। हालाँकि अहमद का मानना है कि ठाकुर अपने जुगाड़ में लगे थे। कासिम ने भी शेख़ को फ़ारूक़ के पक्ष में तैयार करने की कोशिश का ज़िक्र किया

है, अहमद जिसकी ताक़ीद करते हैं। इस उठा-पठक में आख़िरश: जीत फ़ारूक़ की हुई। शेख़ ने एक खुली सभा में उन्हें अपना उत्तराधिकार घोषित किया और 8 सितम्बर, 1982 को जब उन्होंने आख़िरी साँस ली तो उसके तुरन्त बाद फ़ारूक़ को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई गई।

कुछ शेख़ के संघर्षों के प्रति सम्मान और कुछ कश्मीरी जनता की नब्ज़ पर पकड़ कि राजनीति की इस उठा-पठक ने कश्मीर के भीतर जिस तरह का असन्तोष पैदा किया था, वह शेख़ के समय तक एक हद तक काबू में रहा लेकिन उनकी विदाई के बाद इसका सतह के ऊपर आना लाज़िमी था। अस्सी और नब्बे के दशक का क़िस्सा इसी असन्तोष के प्रस्फुटन, दोनों समुदायों पर उनके असर तथा उसके राजनीतिक तथा सामाजिक प्रभावों का है जिसकी परिणति कश्मीर ही नहीं, भारतीय उपमहाद्वीप की सबसे बड़ी त्रासदियों में से एक—कश्मीरी पंडितों के पलायन में हुई।

संदर्भ

1. दोनों उदाहरण ख़ालिद अहमद बशीर की किताब *कश्मीर : एक्स्पोज़िग द मिथ बिहाइंड नैरेटिव* के पेज 196 और 183 से
2. देखें, पेज 338, द *ब्लेजिंग चिनार*, शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला, अनुवादक : मोहम्मद अमीन, दूसरा संस्करण, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, 2016
3. देखें, पेज 163, *लाइव्ज़ ऑफ़ फ्रेडा*, एंड्रयू व्हाइटहेड, स्पीकिंग टाइगर, दिल्ली, 2019
4. देखें, पेज 111, *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीरी लिटरेचर*, टी.एन. रैना, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2002
5. देखें, पेज 69, डी.एन. धर, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज इन कश्मीर*, कनिष्का पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001
6. देखें, पेज 55, *कम्यूनिस्ट मूवमेंट इन कश्मीर*, पीर गयासुद्दीन, जे.के. बुक हाउस, जम्मू
7. देखें, पेज 164, *लाइव्ज़ ऑफ़ फ्रेडा*, एंड्रयू व्हाइटहेड, स्पीकिंग टाइगर, दिल्ली, 2019
8. देखें, पेज 47, *इलेक्शंस इन जम्मू एंड कश्मीर*, जी.एन. गौहर, मानस पब्लिकेशन, दिल्ली, 2002
9. देखें, पेज 150, द *स्ट्रगल फ़ॉर कश्मीर*, माइकल ब्रेखर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, 1953

10. देखें, पेज 19, *व्हाट हैपेन्स टू गवर्नेंस इन कश्मीर*, एजाज़ अशरफ़ वानी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2019
11. देखें, *लैंड रिफ़ॉर्म इन जम्मू एंड कश्मीर*, नासिर अहमद गनाई, साउथ एशियन जर्नल ऑफ़ मल्टी डिसिप्लिनरी स्टडीज़, खंड दो, अंक दो
12. देखें, पेज 230, *एग्रेगेरियन रिलेशंस इन जम्मू एंड कश्मीर : अ केस स्टडी ऑफ़ टू डिस्ट्रिक्ट्स*, मीनाक्षी मोज़ा का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2014
13. देखें, पेज 139, *कश्मीर : बिहाइंड द वेल*, एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, छठा संस्करण, दिल्ली, 2011
14. देखें, पेज vii, *जम्मू और कश्मीर : पॉलिटिक्स ऑफ़ आइडेंटिटी एंड सेपरेटिज़्म*, रेखा चौधरी, रूट्लेज़ इंडिया, दिल्ली, 2015
15. देखें, पेज 168, द *स्ट्रगल फ़ॉर कश्मीर*, माइकल ब्रेखर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1953
16. देखें, द *कश्मीर लैंड रिफ़ॉर्म : सम पर्सनल इम्प्रेशंस*, डेनियल थार्नर, द इकॉनमिक वीकली, 12 सितम्बर, 1953
17. देखें, पेज 28, *कश्मीर : रूट्स ऑफ़ कन्फ़्लिक्ट, पाथ्स टू पीस*, सुमांत्रा बोस, हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, यू.एस.ए., 2003
18. देखें, पेज 80, *व्हाट हैपेन्स टू गवर्नेंस इन कश्मीर*, एजाज़ अशरफ़ वानी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2019
19. देखें, पेज 341, द *ब्लेजिंग चिनार*, शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला, अनुवादक : मोहम्मद अमीन, दूसरा संस्करण, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, 2016
20. देखें, पेज 79-80, *जम्मू एंड कश्मीर (1949-64) : सेलेक्ट करेस्पांडेंस बिटवीन जवाहरलाल नेहरू एंड करण सिंह*, सम्पादक : जावेद आलम, पेंग्विन, दिल्ली, 2006
21. देखें, पेज 445, *माई लाइफ़*, डी.डी. ठाकुर, लेक्सिस-नेक्सिस, गुड़गाँव, 2017
22. देखें, पेज 45, *माई लाइफ़ एंड माई टाइम्स*, सैयद मीर क़ासिम, अलाइड पब्लिशर्स लिमिटेड, दिल्ली, 1992
23. मीनाक्षी मोजा का अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध
24. देखें, पेज 161, द *स्ट्रगल फ़ॉर कश्मीर*, माइकल ब्रेखर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1953
25. देखें, पेज 46, *नेहरू-मुखर्जी-अब्दुल्ला करेस्पांडेंस*, जनवरी-फ़रवरी, 1953
26. देखें, वही, पेज 166
27. देखें, पेज 38, द *टेस्टामेंट ऑफ़ शेख़ अब्दुल्ला*, वाय.डी. गुंडेविया, पालित एंड पालित पब्लिशर्स, दिल्ली, 1974

28. देखें, पेज 127, *द टाइगर लेडीज़*, सुधा कौल, रिव्यू, बोस्टन, 2002
29. देखें, पेज 545, *द हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर'स स्ट्रगल फ़ॉर फ्रीडम*, प्रेमनाथ बज़ाज़, कश्मीर पब्लिशिंग कम्पनी, पहला संस्करण, दिल्ली, 1954
30. देखें, वही, पेज 551
31. देखें, वही, पेज 541
32. देखें, वही, पेज 545
33. देखे, पेज 11, *कश्मीरी पंडित्स : प्रॉब्लम एंड परसेप्शन*, सम्पादक : अवंति भाटी, रूपा, दिल्ली, 2015
34. देखें, पेज 40, *बंगलिंग इन कश्मीर*, बलराज मधोक, हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1974
35. देखें, वही, पेज 112
36. देखें, पेज 48-50, *जम्मू एंड कश्मीर (1949-64) : सेलेक्ट करेस्पांडेंस बिटवीन जवाहरलाल नेहरू एंड करण सिंह*, सम्पादक : जावेद आलम, पेंग्विन इंडिया, दिल्ली, 2006
37. देखें, पेज 47, नेहरू-मुखर्जी-अब्दुल्ला करेस्पांडेंस, जनवरी-फ़रवरी, 1953
38. देखें, पेज 42, *द टेस्टामेंट ऑफ़ शेख़ अब्दुल्ला*, पालित एंड पालित पब्लिकेशन, दिल्ली, 1974
39. देखें, पेज 126, *बंगलिंग इन कश्मीर*, बलराज मधोक, हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1974
40. देखें, पेज 387-90, *श्यामा प्रसाद मुखर्जी : लाइफ़ एंड टाइम्स*, तथागत रॉय, पेंग्विन, दिल्ली, 2018
41. देखें, पेज 14-16, *माई डेज़ विथ नेहरू*, बी.एन. मलिक, अलाइड पब्लिशर्स, दूसरा संस्करण, दिल्ली, जुलाई, 1971
42. देखें, पेज 110, *द टेस्टामेंट ऑफ़ शेख़ अब्दुल्ला*, पालित एंड पालित पब्लिकेशन, दिल्ली, 1974
43. देखें, पेज 426, *डॉ. अम्बेडकर : लाइफ़ एंड मिशन*, धनंजय कीर, पॉपुलर प्रकाशन, पुनर्मुद्रित संस्करण, मुंबई, 1990
44. देखें, पेज 145, *कश्मीर : बिहाइंड द वेल*, एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, छठा संस्करण, दिल्ली, 2011
45. देखें, पेज 196, *रिमेम्बरिंग पार्टीशन*, ज्ञानेन्द्र पांडेय, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2012
46. देखें, पेज 112, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार*, शेख़ अब्दुल्ला, शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
47. देखें, पेज 111, वही

48. देखें, पेज 30, *कश्मीर : द अनटोल्ड स्टोरी*, हुमरा क़ुरैशी, पेंग्विन, दिल्ली, 2004
49. देखें, पेज 111-12, *द टेस्टामेंट ऑफ़ शेख़ अब्दुल्ला*, पालित एंड पालित पब्लिकेशन, दिल्ली, 1974
50. देखें, पेज 152-53, *कश्मीर : बिहाइंड द वेल*, एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, छठा संस्करण, दिल्ली, 2011
51. देखें, पेज 123-24, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड*, पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
52. देखें, पेज 115, *द टेस्टामेंट ऑफ़ शेख़ अब्दुल्ला*, बी.एस. गुंडेविया, पालित एंड पालित पब्लिकेशन, दिल्ली, 1974
53. देखें, पेज 193-197, *सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू*, खंड 22
54. देखें, पेज 117-123, *जम्मू एंड कश्मीर (1949-64) : सेलेक्ट करेस्पांडेंस बिटवीन जवाहरलाल नेहरू एंड करण सिंह*, सम्पादक : जावेद आलम, पेंग्विन इंडिया, दिल्ली, 2006
55. देखें, पेज 165, *कश्मीर : ग्लिम्पसेज ऑफ़ हिस्ट्री एंड द स्टोरी ऑफ़ स्ट्रगल*, सैफ़ुद्दीन सोज़, रूपा, दिल्ली, 2018
56. देखें, पेज 166, *द स्ट्रगल फ़ॉर कश्मीर*, माइकल ब्रेखर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1953
57. देखें, पेज 14, *द पार्चमेंट ऑफ़ कश्मीर*, सम्पादक : नायला अली ख़ान, पाल्ग्रेव-मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 2012
58. देखें, वही, पेज 18
59. देखें, पेज 342, *द ब्लेजिंग चिनार*, शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला, अनुवादक : मोहम्मद अमीन, दूसरा संस्करण, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, 2016
60. देखें, पेज 77, *फ्लेम्स इन कश्मीर*, सैयद सनाउल्लाह बट, अली मोहम्मद एंड संस, श्रीनगर, 1981
61. देखें, पेज 140-41, *व्हाट हैपेन्स टू गवर्नेंस इन कश्मीर*, एजाज़ अशरफ़ वानी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2019
62. देखें, पेज 47, *बिल्डिंग अ न्यू कश्मीर : बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ स्टेट फ़ॉर्मेशन इन अ डिस्प्यूटेड टेरिटरी (1953-63)*, हसफ़ा कंजवाल, मिशिगन यूनिवर्सिटी में प्रस्तुत एक शोध-निबंध
63. देखें, पेज 112, *द टाइगर लेडीज़*, सुधा कौल, रिव्यू, बोस्टन, 2002
64. देखें, पेज 30, *बिल्डिंग अ न्यू कश्मीर : बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ स्टेट फ़ॉर्मेशन इन अ डिस्प्यूटेड टेरिटरी (1953-63)*, हसफ़ा कंजवाल, मिशिगन यूनिवर्सिटी में प्रस्तुत एक शोध-निबंध
65. देखें, वही, पेज 37

66. देखें, पेज 61, *द टाइगर लेडीज़,* सुधा कौल, रिव्यू, बोस्टन, 2002
67. देखें, *कश्मीर पास्ट एंड प्रेजेंट : अनरेवेलिंग द मिस्टिक,* मोहन लाल कौल का ग्यारहवाँ अध्याय, https://www.ikashmir.net/pastpresent/chapter11.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
68. देखें, पेज 158, *बिल्डिंग अ न्यू कश्मीर : बख़्शी गुलाम मोहम्मद एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ स्टेट फ़ॉर्मेशन इन अ डिस्प्यूटेड टेरिटरी (1953-63),* हसफ़ा कंजवाल, मिशिगन यूनिवर्सिटी में प्रस्तुत एक शोध-निबंध
69. देखें, https://www.greaterkashmir.com/news/jammu/pandits-seek-reservation-in-kas-ias/ (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
70. देखें, पेज 142, बिल्डिंग *अ न्यू कश्मीर : बख़्शी गुलाम मोहम्मद एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ स्टेट फ़ॉर्मेशन इन अ डिस्प्यूटेड टेरिटरी (1953-63),* हसफ़ा कंजवाल, मिशिगन यूनिवर्सिटी में प्रस्तुत एक शोध-निबंध
71. देखें, पेज 69, *कश्मीर इन फ्लेम्स,* सनाउल्लाह बट, अली मोहम्मद एंड संस, 1981
72. देखें, पेज 99-100, *माई इयर्स विथ शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला,* ग़ुलाम अहमद, गुलशन बुक्स, 2008
73. देखें, पेज संख्या 170, *कश्मीर : एक्स्पोज़िंग द मिथ बिहाइंड नैरेटिव,* ख़ालिद अहमद बशीर, सेज इंडिया, दिल्ली, 2017
74. देखें, पेज 283, *इलेक्शंस इन कश्मीर,* जी.एन. गौहर, मानस पब्लिकेशन, दिल्ली, 2002
75. देखें, पेज 154, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार,* शेख़ अब्दुल्ला, शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
76. देखें, पेज 153-54, *कश्मीर : बिहाइंड द वेल,* एम.जे. अकबर, 197-69, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : आ रिवोल्यूशन डीरेल्ड,* पी.एल.डी. पारिमू
77. देखें, पेज 156, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार,* शेख़ अब्दुल्ला, शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
78. देखें, पेज 32, *कश्मीर : इंसरजेंसी एंड आफ़्टर,* बलराज पुरी, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, तीसरा संस्करण, दिल्ली, 2008
79. इस मामले में विस्तार के लिए प्रवीण स्वामी की किताब *इंडिया पाकिस्तान एंड सीक्रेट जिहाद* पढ़ सकते हैं, रूट्लेज़, लन्दन, 2007
80. देखें, पेज 107, *माई इयर्स विथ शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला,* ग़ुलाम अहमद, गुलशन बुक्स, 2008
81. विस्तार के लिए देखें, पेज 270-74, *कश्मीर एंड पॉवर पॉलिटिक्स : फ्रॉम लेक सक्सेस टू ताशकन्द,* पी.एन.के. बमजाई, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, 2011

82. देखें, पेज 127, *द टाइगर लेडीज़*, सुधा कौल, रिव्यू, बोस्टन, 2002
83. देखें, पेज 160, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड*, पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
84. देखें, https://www.ikashmir.net/pastpresent/chapter12.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
85. देखें, पेज 107, *माई इयर्स विथ शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला*, गुलाम अहमद, गुलशन बुक्स, 2008
86. देखें, पेज 173, *जे.पी. ऑन कश्मीर*, बलराज पुरी, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2005
87. देखें, पेज 171-72, *कश्मीर : एक्स्पोज़िंग द मिथ बिहाइंड नैरेटिव*, ख़ालिद अहमद बशीर, सेज इंडिया, दिल्ली, 2017
88. देखें, https://www.ikashmir.net/pastpresent/chapter12.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
89. देखें, पेज 124, *फ्लेम्स इन कश्मीर*, सैयद सनाउल्लाह बट, अली मोहम्मद एंड संस, श्रीनगर, 1981
90. मामले को विस्तार से देखने के लिए ख़ालिद अहमद बशीर, प्रेमनाथ बज़ाज़ और मोहन लाल कौल की पूर्वोद्धृत किताबें देखें।
91. देखें, पेज 136, *इलेक्शंस इन कश्मीर*, जी.एन. गौहर, मानस पब्लिकेशन, दिल्ली, 2002
92. देखें, http://youtube.be/jCF4Mi1sQfl (आख़िरी बार 2 अगस्त को देखा गया)
93. देखें, पेज 114, *कश्मीर इन कॉन्फ्लिक्ट : इंडिया, पाकिस्तान एंड द अनएंडिंग वार*, विक्टोरिया स्कोफ़ील्ड, आई.बी. टारिस एंड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन, 2003
94. देखें, पेज 235-36, *व्हाट हैपेन्स टू गवर्नेंस इन कश्मीर*, एजाज़ अशरफ़ वानी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2019
95. देखें, *हिस्ट्री ऑफ़ आर्म्ड स्ट्रगल्स इन कश्मीर*, राव फ़रमान अली, जे. के. बुक्स, नई दिल्ली, 2017
96. देखें, पेज 132, *माई इयर्स विथ शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला*, गुलाम अहमद, गुलशन बुक्स, 2008
97. देखें, पेज 233, *व्हाट हैपेन्स टू गवर्नेंस इन कश्मीर*, एजाज़ अशरफ़ वानी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2019
98. देखें, पेज 132, *माई लाइफ़ एंड माई टाइम्स*, सैयद मीर क़ासिम, अलाइड पब्लिशर्स लिमिटेड, दिल्ली, 1992
99. देखें, पेज 29, *कश्मीर आफ़्टर इंसरजेंसी*, बलराज पुरी, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, तीसरा संस्करण, दिल्ली, 2008

100. देखें, पेज 164, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार*, शेख़ अब्दुल्ला, शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
101. देखें, पेज 37, *कश्मीर आफ़्टर इंसरजेंसी*, बलराज पुरी, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, तीसरा संस्करण, दिल्ली, 2008
102. देखें, पेज 164, *फ्लेम्स ऑफ़ चिनार*, शेख़ अब्दुल्ला, शेख़ अब्दुल्ला, अनुवाद : खुशवंत सिंह, पेंग्विन, दिल्ली, 1993
103. देखें, पेज 189, *कश्मीर : बिहाइंड द वेल*, एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, छठा संस्करण, दिल्ली, 2011
104. देखें, पेज 42, *माई इयर्स विथ शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला*, ग़ुलाम अहमद, गुलशन बुक्स, 2008
105. देखें, पेज 119, *फ्लेम्स इन कश्मीर*, सैयद सनाउल्लाह बट, अली मोहम्मद एंड संस, श्रीनगर, 1981
106. देखें, वही, पेज 209
107. देखें, पेज 275, *व्हाट हैपेन्स टू गवर्नेंस इन कश्मीर*, एजाज़ अशरफ़ वानी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2019
108. देखें, पेज 42, *माई इयर्स विथ शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला*, ग़ुलाम अहमद, गुलशन बुक्स, 2008
109. देखें, पेज 183, *माई लाइफ़*, डी.डी. ठाकुर, लेक्सिस-नेक्सिस, गुड़गाँव, 2017
110. देखें, पेज 189, *कश्मीर : बिहाइंड द वेल*, एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, छठा संस्करण, दिल्ली, 2011
111. देखें, पेज 201-202, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड*, पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
112. देखें, पेज 191, *कश्मीर : बिहाइंड द वेल*, एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, छठा संस्करण, दिल्ली, 2011
113. देखें, पेज 207, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड*, पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
114. देखें, पेज 48-49, *माई कश्मीर :* डाइंग ऑफ़ द लाइट, वजाहत हबीबुल्लाह, पेंग्विन बुक्स, दिल्ली, 2014
115. देखें, पेज 213, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड*, पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
116. देखें, पेज 75, *माई इयर्स विथ शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला*, ग़ुलाम अहमद, गुलशन बुक्स, 2008
117. देखें, पेज 669, *नाइस गाइज़ फिनिश सेकंड*, बी.के. नेहरू, पेंग्विन, दिल्ली, 199

अध्याय-9

नये चुनाव, पुरानी रवायत

आतंकवाद का नया दौर

[1982-1989]

> **1983 से 1987 का इतिहास पहले इन्दिरा गांधी और फिर राजीव गांधी की अभूतपूर्व राजनीतिक ग़लतियों और फ़ारूक़ अब्दुल्ला की अपरिपक्वता से कश्मीर समस्या को पुनर्जीवित करने का इतिहास है। इस दशक के दौरान भारत ने कश्मीर में बढ़ी हुई आक्रामकता के साथ हस्तक्षेप किया, चुनी हुई सरकारों को बर्ख़ास्त किया, आपात स्थिति लागू की, नर्म और कठोर राज्यपाल भेजे।[1]**
>
> **—तारिक अली, 'द स्टोरी ऑफ़ कश्मीर' में**

जम्मू और कश्मीर के तत्कालीन राज्यपाल बी.के. नेहरू कहते हैं : 'फ़ारूक़ कश्मीरी जनता द्वारा चुने गए पहले ऐसे मुख्यमंत्री थे जो ख़ुद को पूरी तरह भारतीय मानते थे, जो पाकिस्तान के प्रति निरपेक्ष नहीं थे बल्कि पाकिस्तान-विरोधी थे और जिन्होंने अपने पिता से उलट ऊँचे स्वरों में यह घोषणा की थी कि कश्मीर का भारत में विलय अन्तिम है और कश्मीर भारत का अभिन्न हिस्सा है।'[2] अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर देखें तो—इस्लामाबाद का ध्यान कहीं और था और भारत 1980 के दशक में कश्मीर समस्या का एक सौहार्दपूर्ण हल कर सकता था तो यह दौर कश्मीर समस्या के हल के लिए सबसे मुफ़ीद दौर होना चाहिए था[3] लेकिन जैसाकि बलराजपुरी कहते हैं : 'कश्मीर समस्या को दुबारा ज़िन्दा करने के लिए असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता थी।'[4] कश्मीर समस्या को सुलझाने के लिए वहाँ लोकतांत्रिक स्पेस का सृजन करने की जगह उन्हीं नीतियों को और कड़ाई से लागू किया गया जिन्होंने वहाँ यह भाव बनाया था कि कश्मीरी जनमत का दिल्ली की नज़र में कोई सम्मान नहीं। नतीजा यह कि समस्या सुलझने की जगह और उलझती चली गई। कश्मीर में अलग-अलग स्तरों पर असन्तोष लगातार बढ़ता गया जिससे अन्ततः पाकिस्तान-परस्त साम्प्रदायिक ताक़तों को अपने एजेंडे के विस्तार में मदद मिली और जैसाकि ख़ान बताते हैं, बन्दूक़ के असर और बन्दूक़ के भय से 'जिहाद'

की एक ऐसी परिभाषा लगातार फैलाई और आम कश्मीरी के ज़ेहन में पैबस्त की गई जो सतही, विकृत और भ्रामक थी; जिसमें लोगों को भरोसा दिलाया गया कि वे 'ब्राह्मण फ़ासीवाद' और 'हिन्दू साम्राज्यवाद' के शिकार हैं और जिहाद 'निज़ाम-ए-मुस्तफ़ा' बनाकर इससे मुक्ति दिलाएगा।[5] एक ईमानदार लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अभाव में बने भ्रष्ट और नाकारा शासन-तंत्र ने इस प्रोपेगेंडा पर लोगों को भरोसा कर लेने के लिए अनुकूल स्थितियाँ उपलब्ध कराईं।

जैसाकि हमने देखा है, कश्मीर में 1953 में शेख़ की गिरफ़्तारी के बाद से ही आत्मनिर्णय के अधिकार और जनमत-संग्रह को लेकर लगातार एक माहौल बनाया गया और इसके बरअक्स लोकतंत्र की जगह दिल्ली-केन्द्रित नीतियों पर आधारित सत्ता-तंत्र निर्मित हुआ जिसमें किसी विपक्ष को विकसित नहीं होने दिया गया। ऐसे में धाँधली वाले चुनावों के सहारे दिल्ली के समर्थन से बनी सरकारों के प्रति असन्तोष सीधे दिल्ली के ख़िलाफ़ ग़ुस्से में तब्दील होता गया। बख़्शी के समय से ही शिक्षा का जो विस्तार हुआ था, उसने रोज़गार के अवसरों में उस गति से विस्तार न होने के कारण जो बेरोज़गारों की फ़ौज खड़ी की, उसमें जमात-ए-इस्लामी के स्कूलों से पढ़े और उनके धार्मिक विचारों से प्रभावित युवाओं की अच्छी-ख़ासी हिस्सेदारी थी। यह जो नया मध्यवर्ग बना था, उसकी आकांक्षाएँ नई थीं, लेकिन न तो सरकार इस वर्ग की समाजार्थिक आकांक्षाएँ पूरी करने के लिए शहराती व्हाइट कॉलर रोज़गारों के नये अवसरों का सृजन कर पा रही थी, न ही उन राजनीतिक आकांक्षाओं का जिनके लिए वैकल्पिक राजनीतिक दल और साफ़-सुथरे चुनाव ज़रूरी थे। जम्मू और कश्मीर की गुल शाह मंत्रिमंडल की सदस्य रही खेमलता वखलू 1972 में चुनाव प्रचार अभियान का अनुभव साझा करते हुए बताती हैं कि शिक्षित युवाओं सहित समाज के बड़े हिस्से में बेरोज़गारी और ग़ैर-बराबरी को लेकर गहरा असन्तोष था और राज्य सरकारें इसके लिए ज़िम्मेदारी केन्द्र के कन्धों पर डाल दिया करती थीं जिसकी वजह से केन्द्र के प्रति लोगों में जो असन्तोष पनप रहा था, उसका फ़ायदा जमात-ए-इस्लामी ने उठाया। जमात 'निज़ाम-ए-मुस्तफ़ा' (ख़ुदा का शासन/इस्लामी शासन) स्थापित करने को अपना उद्देश्य घोषित करती थी और इसे ग़रीबी, बेरोज़गारी सहित सभी समस्याओं का इकलौता हल बताती थी। धार्मिक कट्टरवादी संस्थाओं का आदर्शवाद ख़ास तौर पर मध्यवर्ग को अपनी तरह से प्रभावित करता है। उसके इस प्रोपेगेंडा का ख़ास तौर पर शिक्षा हासिल कर गाँवों से शहरों में आए युवाओं पर गहरा असर पड़ा था जिनकी आकांक्षाएँ बेहतर रोज़गार पाने की थीं लेकिन जो शिक्षा-दीक्षा हासिल करने के बाद भी श्रीनगर में पले-बढ़े युवाओं के समक्ष एक तरह का हीनताबोध महसूस करता था।[6]

हम देखते हैं कि 1965 के बाद से ही कश्मीर में अलगाववादी आन्दोलनों की आहटें सुनाई देने लगी थीं। अल फ़तेह का ज़िक्र पहले आया है। इस संगठन

के लोगों को पाकिस्तान में प्रशिक्षण मिला था। साठ के दशक में ही पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में अमानुल्ला ख़ान, मक़बूल बट्ट और दूसरे कई लोगों ने मिलकर 'प्लेबिसाइट फ्रंट' नाम की पार्टी बनाई। इसका बेग़ के नेतृत्व वाले 'प्लेबिसाइट फ्रंट' से कोई लेना-देना नहीं था। यह पार्टी भारत और पाकिस्तान, दोनों से कश्मीर के विलय के ख़िलाफ़ थी तथा भारतीय और पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर की आज़ादी की माँग करती थी। इस पार्टी के सशस्त्र विंग का नाम 'जम्मू एंड कश्मीर नेशनल लिबरेशन फ्रंट' रखा गया। यह संगठन अल्जीरिया के सशस्त्र संघर्ष से प्रेरणा लेता था। अमानुल्ला ख़ान गिलगिट का रहनेवाला था और मक़बूल बट्ट कुपवाड़ा का। 1958 में बट्ट पहली बार नियन्त्रण रेखा पार करके पाक अधिकृत कश्मीर में गया और जून, 1966 में लौटकर घाटी आया। अगले चार महीने उसने स्थानीय युवकों को ट्रेनिंग देने और संगठन को विस्तार देने में लगाया। 14 सितम्बर, 1966 को अपने कुछ साथियों के साथ हंदवारा के कुनियाल में उसकी पुलिस बल से मुठभेड़ हुई जिसमें उसका एक साथी औरंगज़ेब मारा गया। इस मुठभेड़ में स्थानीय क्राइम ब्रांच के इंस्पेक्टर अमर चन्द भी मारे गए। बट्ट तथा उसके एक साथी काला ख़ान को गिरफ़्तार कर लिया गया, मुक़दमा चला और उसे सज़ा-ए-मौत दी गई। लेकिन अगले ही साल वह एक सुरंग बनाकर जेल से बाहर निकलने और फिर सीमा पार करके पाकिस्तान पहुँच जाने में सफल रहा।[7] हाशिम क़ुरैशी के पिता ख़लील क़ुरैशी मोइउद्दीन कारा के पॉलिटिकल कॉन्फ्रेंस के सदस्य थे। 1969 में 15 साल के हाशिम की मुलाक़ात पेशावर में बट्ट से हुई और वह कश्मीर की आज़ादी के विचार से प्रभावित हुआ। बट्ट ने उसे भारत में गोपनीय सेल्स बनाने की ज़िम्मेदारी दी। 1970 की किसी रात खाना खाते हुए बट्ट ने विमान अपहरण की कोई ख़बर सुनी और उसे यह अन्तरराष्ट्रीय समुदाय का ध्यान खींचने के लिए मुफ़ीद तरीक़ा लगा। चार महीने उसका प्रशिक्षण 1947 में जम्मू से पलायित और बट्ट के सहयोगी डॉ. फ़ारूक़ हैदर के साले और पाकिस्तानी एयरफोर्स के पूर्व पायलट जावेद मिंटों के साथ हुआ। अगस्त, 1970 में वह जम्मू के दक्षिण सियालकोट-शकरगढ़ सेक्टर से भारत लौटा तो उसके पास एक पिस्तौल और एक ग्रेनेड था तथा विमान अपहरण की योजना। वह बी.एस.ऍफ़. द्वारा पकड़ा गया। जाँच-पड़ताल हुई लेकिन सन्देह का लाभ देते हुए न केवल उसे छोड़ दिया गया बल्कि उसकी सुनाई कहानी पर भरोसा करते हुए उसके 'कल्पित' दो साथियों को पकड़ने में कवर की तरह काम करने के लिए श्रीनगर एयरपोर्ट पर एक सब-इंस्पेक्टर के तौर पर काम करने की ज़िम्मेवारी भी दे दी। हाशिम ने अपने चचेरे भाई अशराफ़ को भी तैयार किया तथा एक नकली प्वाइंट टू-टू की पिस्तौल और लकड़ी के ग्रेनेड के सहारे वे 30 जनवरी, 1971 को श्रीनगर-जम्मू-दिल्ली मार्ग के गंगा नामक फ़ोकर एफ़-27 विमान का अपहरण करने में सफल रहे। विमान लाहौर ले जाया गया जहाँ पाकिस्तान

के तत्कालीन विदेश मंत्री भुट्टो दोनों अपहरणकर्ताओं का स्वागत करने पहुँचे। यात्रियों को विमान से उतार कर भुट्टो ने अपने साथ लंच कराया। पाकिस्तान से राजनीतिक शरण तथा भारत से लगभग दो दर्ज़न जे.के.एन.एल.एफ़. कार्यकर्ताओं को रिहा करने की माँग की गई। अन्ततः सभी यात्री रिहा कर भारत भेज दिये गए और विमान को जला दिया गया। भारत ने अपने वायु क्षेत्र को पाकिस्तानी विमानों के लिए प्रतिबंधित कर दिया। इसका एक फ़ायदा यह हुआ कि बांग्लादेश युद्ध के समय पाकिस्तानी विमान बांग्लादेश नहीं पहुँच सके। पाकिस्तान ने इस घटना को भारतीय साज़िश क़रार देते हुए दोनों अपहरणकर्ताओं सहित मक़बूल बट्ट, डॉक्टर हैदर तथा दो सौ से अधिक जे.के.एन.एल.एफ़. कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार कर लिया। इस घटना के बाद पकिस्तान ने प्लेबिसाइट फ्रंट और जे.के.एन.एल.एफ़., दोनों को प्रतिबन्धित कर दिया।[8] मक़बूल बट्ट 1976 में भारत लौट आया। इसी साल एक बैंक डकैती की कोशिश में उसने एक बैंक क्लर्क की हत्या कर दी और पकड़ा गया। बट्ट की गिरफ़्तारी के बाद अमानुल्ला ख़ान इंग्लैंड चला गया। वह 1977 में वहाँ पहले से सक्रिय कश्मीर लिबरेशन आर्मी[9] से जुड़ गया। इस संगठन ने अपनी पहली कार्यवाही के रूप में 4 फ़रवरी, 1984 को लन्दन के बर्मिंघम इलाक़े से भारतीय राजनयिक रवीन्द्र महात्रे को तब अगवा कर लिया जब वह अपनी बेटी के लिए जन्मदिन का केक लेकर लौट रहे थे। अपहरणकर्ताओं ने एक मिलियन डॉलर की फिरौती और मक़बूल बट्ट की रिहाई की माँग की। अभी बातचीत ठीक से शुरू भी नहीं हुई थी कि 6 फ़रवरी को महात्रे की गोलियों से बिंधी लाश बर्मिंघम के पास एलम रॉक नामक जगह पर पाई गई जहाँ मीरपुरी लोग बहुतायत में रहते हैं।[10] यह बट्ट के लिए भी चौंकाने वाली बात थी* क्योंकि उसने राष्ट्रपति के यहाँ क्षमा-याचिका लगाई हुई थी। 8 फ़रवरी को राष्ट्रपति ने उसकी क्षमा-याचिका ख़ारिज कर दी और इसके तुरन्त बाद 10 फ़रवरी को न्यायाधीश नीलकान्त गंजू ने उसे सज़ा-ए-मौत सुनाई। अगले ही दिन उसे फाँसी देकर तिहाड़ जेल में दफ़ना दिया गया। मक़बूल बट्ट इस घटना से पहले कश्मीर में मक़बूल नहीं था लेकिन उसकी फाँसी ने उसे हीरो बना दिया। कुपवाड़ा में बाज़ार बन्द करा दिये गए। श्रीनगर में उसकी ग़ायबाना नमाज़ में इन्दिरा गांधी और फ़ारूक़ के ख़िलाफ़ नारे लगे। तत्कालीन विधायक और भारतीय अधिराज्य में ही कश्मीर के लिए अधिक स्वायत्तता के समर्थक अब्दुल ग़नी लोन ने कहा—कश्मीर के विलय के सवाल पर मक़बूल पहला शहीद है। केन्द्र सरकार और राज्य की फ़ारूक़ सरकार ने उसे शहीद बना दिया।[11] नब्बे के दशक के आतंकवादी आन्दोलन के शब्बीर शाह से अशफ़ाक़ तक युवा उसे आदर्श की तरह देखते हैं और उसकी फाँसी का दिन कश्मीर में हर साल 'शहीद दिवस' के रूप में मनाया जाता है।

---

* दुलत का कहना है कि यह ज़िया-उल-हक़ की चाल हो सकती है। हाशिम क़ुरैशी ने भी अपने साक्षात्कार में कहा है कि इस कार्यवाही की योजना अमानुल्ला ख़ान ने बनाई थी।

'कश्मीर समझौते' में शेख़ के समर्पण और फिर उसके बाद प्लेबिसाइट फ्रंट के भंग कर दिये जाने के बाद उससे जुड़े उन हज़ारों कार्यकर्ताओं के लिए मोहभंग की ही स्थिति बनी जिनके मानस में 'आत्मनिर्णय' का अधिकार मूलभूत कश्मीरी आत्मसम्मान की तरह भरा गया था। शेख के मुख्यधारा में लौटने के साथ वे सब नहीं लौट आए थे। सोफ़ी मोहम्मद अकबर के नेतृत्व में फ्रंट के एक ग्रुप ने ख़ुद को महाज़-ए-आज़ादी के नाम से ख़ुद को संगठित किया।[12] 1947 से ही पाकिस्तान के लिए कश्मीर का सवाल नाक के सवाल जैसा रहा और उसने इन असन्तोषों को भुनाने की पूरी कोशिश की। जमा'त-ए-इस्लामी, जम्मू और कश्मीर अपने मुखपत्र 'अज़ान' और अपने छात्र संगठन 'जमा'त-ए-तुलबा' और महिलाओं के संगठन 'दुख़्तरान-ए-मिल्लत'* के सहयोग से कश्मीर में जिस इस्लामी जेहाद का प्रसार कर रहे थे, वह अपने तरीक़े से पैन इस्लामिक सैद्धान्तिकी से पाकिस्तान समर्थक भावनाओं का ही प्रचार था और साथ में कश्मीर के पारम्परिक सूफ़ी इस्लाम के बरअक्स सऊदी तरीक़े के वहाबी इस्लाम का।[13] लेकिन इन सबके बावजूद कश्मीरी पंडितों के ख़िलाफ़ किसी प्रत्यक्ष हिंसक घटना का कोई ज़िक्र 1986 से पहले नहीं मिलता। हालाँकि जमा'त के असर में कश्मीर में जो शुद्धीकरण की प्रक्रिया चली, उसके चलते शराब की दुकानों को ज़बरदस्ती बन्द कराने जैसी घटनाएँ हुई थीं। ऐसी ही एक घटना में 9 मार्च, 1981 को अनन्तनाग में बड़े पैमाने पर भीड़ ने शराब की दुकानों को लूट लिया। इन सभी दुकानों के मालिक कश्मीरी पंडित थे तो वखलू मानती हैं कि जमा'त ने एक तरफ़ हिन्दुओं को भयग्रस्त किया तो दूसरी तरफ़ शेख़ की सरकार की छवि भी ख़राब की। इस घटना के बाद जमा'त के लोगों के साथ नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस के लोगों की झड़प भी हुई।[14] पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधानमंत्री भुट्टो को ज़िया-उल-हक़ द्वारा फाँसी दिये जाने के बाद भी नेशनल कॉन्फ्रेंस और जमा'त के लोगों के बीच तीखी झड़पें हुई थीं और इनमें जमा'त से जुड़े 1200 से अधिक घर, 65 पुस्तकालय और 45 स्कूलों को जला दिया गया था।[15] लेकिन दमन के बावजूद जमा'त का असर लगातार बढ़ता गया और वखलू बताती हैं कि उसने शासकीय कमर्चारियों में ही नहीं, नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस जैसी पार्टियों के भीतर भी पैठ बना ली थी। 1986 तक इसमें 10,000 के क़रीब कट्टर कार्यकर्ता और 25,000 सिम्पेथाइजर थे तथा इसका प्रभाव लगभग 50,000 लोगों पर था।[16]

लेकिन जब 1986 में आज़ादी के बाद हिन्दुओं के विरुद्ध पहली कार्यवाही हुई तो इसमें जमा'त या किसी पकिस्तान समर्थक पार्टी का हाथ होने को लेकर एकमत नहीं है। इस घटना पर आने से पहले उस दौर में कश्मीर की राजनीतिक उठक-पठक को समझ लेना ज़रूरी होगा।

---

* मार्च, 1987 में आशिया अन्दराबी ने दुख़्तरान-ए-फ़ातिमा का गठन किया था जिसे आगे चलकर दुख़्तरान-ए-मिल्लत कहा जाने लगा।

खिलंदड़ फ़ारूक़, दिल्ली का दख़ल और घाटी में पहला साम्प्रदायिक तनाव

सत्ता में आने के बाद फ़ारूक़ के रवैये में कोई ख़ास फ़र्क नहीं आया और उनका वह खिलंदड़ स्वभाव अलग-अलग रूपों में सामने आता रहा जिसका ज़िक्र लगभग हर जगह मिल जाता है। लेकिन इसका सबसे बड़ा उदाहरण उन्होंने शपथ-ग्रहण के अगले ही दिन दिया जब एक विशाल जनसभा में मंच पर बैठे अपने पिता के सभी मंत्रियों को 'चोर' बताते हुए बर्ख़ास्त कर दिया। इनमें उनके वह डी.डी. ठाकुर भी थे जिन्होंने उन्हें मुख्यमंत्री बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और उनके जीजा और प्रतिद्वंद्वी ग़ुलाम मोहम्मद शाह उर्फ़ गुल शाह भी जिनकी प्रशासन में गहरी पकड़ थी। जिन नये मंत्रियों को शपथ दिलाई गई, उनमें से अधिकतर अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में कम योग्य थे और उनमें से कम-से-कम एक खुल्लमखुल्ला भ्रष्ट था और किसी भी तरह से ईमानदार नहीं कहा जा सकता था...। उनमें से एक प्यारेलाल हांडू नामक कश्मीरी पंडित था जो जल्दी ही फ़ारूक़ के दिमाग़ पर छा गया और उनके निर्देशक, मित्र और दार्शनिक की भूमिका में आ गया।[17] ज़ाहिर है कि इस तरह उन्होंने एक साथ ढेरों प्रभावशाली दुश्मन बना लिये। राजनीति में पगे-पके अनुभवी लोग मौक़ा मिलते ही पीठ में छुरा भोंकने को तैयार रहते हैं तो आपका एक अपरिपक्व क़दम उनको पर्याप्त मौक़े दे सकता है, और फ़ारूक़ ने ऐसे कई मौक़े दिये।

सत्ता में आने के बाद फ़ारूक़ ने अपनी सरकार को वैधानिकता प्रदान करने के लिए जल्द चुनाव कराने का फ़ैसला किया तो इन्दिरा गांधी चाहती थीं कि नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस मिलकर चुनाव लड़ें। कश्मीर में शासन का हिस्सा बने रहने की कांग्रेस की यह ज़िद समझना वाकई मुश्किल है। बेगम अब्दुल्ला इसके लिए राज़ी न हुईं[18] तो ये चुनाव दोनों पार्टियों के बीच तनाव का सबब बन गए। फ़ारूक़ ने नेशनल कॉन्फ्रेंस के पारम्परिक प्रतिद्वंद्वी रहे मीरवायज़ फ़ारूक़ से हाथ मिला लिया। 'डबल फ़ारूक़' के लिए श्रीनगर में तो ख़ूब नारे लगे लेकिन दिल्ली से लेकर देश भर में उन पर साम्प्रदायिकता से लेकर भारत-विरोधी होने के आरोप चस्पां किये गए। यही नहीं, इस समझौते ने कश्मीर में मुस्लिम वोटों का ध्रुवीकरण किया तो जम्मू में हिन्दू वोटों का ध्रुवीकरण* कांग्रेस के पक्ष में हुआ। इन्दिरा गांधी ने इसे प्रतिष्ठा का सवाल बना लिया था तो उन्होंने कश्मीर में जम कर सभाएँ कीं।

---

* इस साम्प्रदायिक तनाव का कारण बना 'जम्मू एंड कश्मीर ग्रांट ऑफ़ परमिट फ़ॉर रिसेटलमेंट इन (ऑर परमानेंट रिटर्न टू) द स्टेट बिल' (संक्षेप में 'रिसेटलमेंट बिल')। शेख़ अब्दुल्ला द्वारा प्रस्तुत और जम्मू और कश्मीर विधान सभा द्वारा पारित इस बिल का उद्देश्य 14 मई, 1954 के पहले कश्मीर से बाहर गए किसी कश्मीरी नागरिक या उसके वारिसों (पत्नी या विधवा) को भारतीय तथा जम्मू और कश्मीर के संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ लेने पर कश्मीर लौटने का अधिकार देता था। इस बिल को लेकर विवाद पहले भी हुआ था। विधान सभा के भीतर कांग्रेस और अवामी→

तीखे चुनाव प्रचार के बीच एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना में इक़बाल पार्क में इन्दिरा जी की अन्तिम सभा के दौरान कुछ युवाओं ने अपने फिरन उठाकर अश्लील तरीक़े से प्रदर्शन किया।[19] आरोप नेशनल कॉन्फ्रेंस पर लगा। ठाकुर कहते हैं कि इस सभा ने फ़ारूक़ और श्रीमती गांधी के मध्य युद्ध की रेखा खींच दी।[20] हालाँकि उस सभा में उपस्थित रहीं तवलीन सिंह इस घटना के होने पर ही शंका व्यक्त करती हैं[21] तो तत्कालीन राज्यपाल बी.के. नेहरू का मानना है, यह कुछ गुंडा तत्त्वों का काम था और फ़ारूक़ ऐसा कर ही नहीं सकते थे।[22]

इन चुनावों में कांग्रेस को जम्मू में 26 सीटें तथा 30.1 फ़ीसदी वोट मिले लेकिन घाटी में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली, वहीं नेशनल कॉन्फ्रेंस न केवल घाटी में अपनी पकड़ बनाये रखने में सफल हुई बल्कि जम्मू में भी उसने पिछली बार से एक सीट अधिक जीती और 46 सीटों के साथ बहुमत हासिल किया। भीम सिंह की पैंथर्स पार्टी और अब्दुल ग़नी लोन की पीपुल्स कॉन्फ्रेंस को एक-एक सीट पर सफलता मिली और बाक़ी दो सीटें निर्दलियों के खाते में गईं। नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस के बीच हिन्दू और मुस्लिम वोटों के ध्रुवीकरण का असर यह हुआ कि न तो भाजपा जम्मू क्षेत्र में कोई सीट जीत सकी, न जमात-ए-इस्लामी घाटी में।[23]

चुनाव की जीत से उत्साहित फ़ारूक़ ने इससे कोई सबक सीखने की जगह चुनावों के बाद और कड़ा रवैया अपनाया तो केन्द्र और राज्य के बीच तनाव अपने चरम पर पहुँचने लगा। इन्दिरा गांधी वैसे भी विरोधियों के प्रति किसी विशेष

← एक्शन कमेटी के अलावा सभी दलों के सदस्यों ने इस पर असहमति ज़ाहिर की थी। भारतीय जनता पार्टी इसे 'उपद्रवी क़ानून' कह रही थी तो जनता पार्टी के तत्कालीन महासचिव सैयद शहाबुद्दीन ने कहा कि 'यह क़ानून केंद्र सरकार के नागरिकता प्रदान करने के एकल अधिकार का उल्लंघन है।' कांग्रेस के डॉ. करण सिंह ने इस बिल को 'भयानक संभावनाओं से भरा हुआ' बताया था। असल में इस क़ानून के बाद सबसे बड़ा ख़तरा पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर से भारत-विरोधी तत्त्वों के आने का था तो एक भय 1947 के बाद जम्मू में बसे विस्थापितों का भी था कि वहाँ से पलायित मुसलमानों की जो सम्पत्तियाँ उन्हें दी गई हैं, वे उनके लौटने पर छिन जाएँगी। इस बिल को विधान सभा में पास हो जाने के बावजूद राज्य के तत्कालीन राज्यपाल बी.के. नेहरू की सहमति नहीं मिली थी और एक तरह से यह ठंडे बस्ते में ही पड़ा था। लेकिन फ़ारूक़ के शपथ-ग्रहण के नौवें दिन ही राज्यपाल ने इसे वापस कर दिया और बिल को दोबारा पेश किया गया। टकराव एकदम सुनिश्चित था। विधान सभा में कांग्रेस के वरिष्ठ नेता मंगतराम ने 'शान्ति और धीरज' से इस पर विचार करने की अपील की और फ़ारूक़ ने इसे 4 अक्टूबर तक के लिए टाल दिया। इस बीच फ़ारूक़ दिल्ली गए और इंदिरा गांधी से मुलाक़ात के दौरान एक फ़ार्मूला निकला जिसके तहत 4 अक्टूबर को यह बिल विधान सभा में पास किया गया लेकिन साथ ही फ़ारूक़ ने घोषणा की कि जब तक सुप्रीम कोर्ट इस सम्बन्ध में फ़ैसला नहीं सुना देता तब तक यह बिल वैध नहीं माना जाएगा। यह मामला उसके बाद से अब तक सुप्रीम कोर्ट में लंबित है। चुनाव में इसे नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस, दोनों ने मुद्दा बनाया।

सहिष्णुता के लिए नहीं जानी जातीं, फिर कश्मीर के मामले में यह उम्मीद तो वैसे भी ज़्यादा होती। फ़ारूक़ ने अपने पिता की कश्मीर में केन्द्रित रहने और केन्द्र से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने की नीति को त्यागकर श्रीनगर की जामिया मस्जिद में घोषणा की कि 'मैं उनसे (कांग्रेस से) देश की हर गली, हर नुक्कड़ पर लड़ूँगा। मेरी परीक्षा पूरी हुई। लेकिन उन्हें जल्दी ही देश भर में मतदाताओं का सामना करना है और देखते हैं कि वे कैसे उनका सामना करते हैं।' 1984 के लोक सभा चुनाव नज़दीक थे और फ़ारूक़ विपक्षी दलों के साथ हो लिये। 1983 में हुए चुनावों में कांग्रेस ने दक्षिण में आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में मुँह की खाई। एन.टी. रामाराव ने विपक्षी एकता मज़बूत करने के लिए 28 मई, 1983 को विजयवाड़ा में 14 प्रमुख विपक्षी नेताओं की रैली बुलाई जिसमें फ़ारूक़ भी शामिल हुए। यही नहीं, 5-7 अक्टूबर को उन्होंने श्रीनगर में केन्द्र-राज्य रिश्तों को लेकर 17 ग़ैर-कांग्रेसी पार्टियों का एक सम्मेलन भी किया। इन्दिरा गांधी के लिए यह एक आघात जैसा था।[24]

तवलीन सिंह लिखती हैं—अगर फ़ारूक़ को इस चुनाव के बाद राज करने दिया जाता तो घटनाएँ अलग तरह से घटतीं। वह इतने अगम्भीर थे, राजनीतिक रूप से इतने हलके कि बहुत दिनों तक लोकप्रिय नहीं बने रह सकते थे।[25] देखें तो देश के बाक़ी हिस्सों में यह आम था। सरकारें चुनी जाती थीं, फिर अलोकप्रिय होकर सत्ता से बाहर हो जाती थीं। यह लोगों को कम-से-कम राजनीतिक सशक्तीकरण का एहसास तो कराता ही है। लेकिन, राज्य और केन्द्र में कांग्रेस ने विपक्षी की भूमिका निभाने की जगह, फ़ारूक़ के सत्ता में आने के अगले ही दिन से उनकी बर्ख़ास्तगी के लिए कोशिशें करनी शुरू कर दीं। बी.के. नेहरू बताते हैं कि तीन लोग दिल्ली के प्रमुख सलाहकार थे—अरुण नेहरू, मुफ़्ती मोहम्मद सईद और माखनलाल फोतेदार। अरुण नेहरू को किसी भी तरह फ़ारूक़ सरकार गिराने की ज़िम्मेदारी दी गई थी, सईद राज्य कांग्रेस के प्रमुख और कांग्रेस के वफ़ादार सिपाही थे और जिनकी नज़र मुख्यमंत्री की कुर्सी पर थी। लेकिन सबसे मज़ेदार मामला था माखनलाल फोतेदार का जो किसी आधिकारिक पद पर न होते हुए भी इन्दिरा गांधी पर गहरा प्रभाव रखते थे। कश्मीरी पंडित माखनलाल फोतेदार की कुल राजनीतिक पूँजी डी.पी. धर की कृपा से 'जीता' गया एक विधान सभा चुनाव और उपमंत्री का पद था। लेकिन उनकी असली पूँजी थी इन्दिरा गांधी के प्रति अप्रश्नेय निष्ठा। वह रायबरेली के चुनाव में इन्दिरा गांधी के चुनाव एजेंट बने और उनकी जीवनी द *चिनार लीव्ज़* पढ़ते हुए उस पूरी प्रक्रिया को समझा जा सकता है जिसमें एक जनाधारविहीन नेता दिल्ली के सत्ता केन्द्रों में महत्त्वपूर्ण ही नहीं बनता बल्कि कश्मीर जैसे महत्त्वपूर्ण राज्य का भविष्य तय करता है।

फ़ारूक़ का खेल तब बिगड़ना शुरू हुआ जब उन्होंने डी.डी. ठाकुर पर लगे भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच जस्टिस आई.के. कोतवाल से कराने का निश्चय किया जिनसे ठाकुर की वैमनस्यता जगज़ाहिर थी। राजनीति छोड़कर दिल्ली में उच्चतम न्यायालय में वकालत करने आ चुके ठाकुर के प्रति फ़ारूक़ का यह रुख़ समझना तब और मुश्किल है जब ठाकुर अपनी आत्मकथा में ख़ुद इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि दिल्ली में फ़ारूक़ ने उन्हें अपना आवास उपलब्ध कराया था। इस घटना के बाद ठाकुर फिर से कश्मीर की राजनीति में सक्रिय हुए[26] और उस गुल शाह के साथ फ़ारूक़ को अपदस्थ करने के खेल में शामिल हो गए जिनसे उनकी कभी नहीं बनी थी। फ़ारूक़ विरोधियों को एक बड़ा मौक़ा मिला श्रीनगर में 13 अक्टूबर, 1983 को हुए वेस्ट इंडीज़ और भारत के एक दिवसीय मैच के दौरान। वखलू लिखती हैं :

> अमर सिंह क्लब मैदान पर 75 लाख रुपये ख़र्च करके एक स्टेडियम बनवाया गया था। बड़ी संख्या में लोग मैच देखने आए हुए थे। राज्य के क्रिकेट एसोसिएशन के अध्यक्ष होने के नाते डॉ. फ़ारूक़ ने इसमें गहरी रुचि ली थी। दर्शकों में शहर के विश्वविद्यालय, कॉलेजों और क्षेत्रीय इंजीनियरिंग कॉलेज के विद्यार्थी अच्छी-ख़ासी संख्या में थे।
>
> जैसे-जैसे मैच आगे बढ़ा, भारतीय टीम के खिलाड़ियों को एक बेहद प्रतिकूल भीड़ का सामना करना पड़ा। ये लोग अधिकतर जमा'त-ए-तुलबा के युवा छात्र थे जिन्होंने माहौल ख़राब करना तय कर लिया था। उन्होंने भारतीय खिलाड़ियों पर जूते और कूड़ा फेंककर उनका अपमान किया। उन्होंने चाँद-तारे वाले हरे झंडे फहराए...। घरेलू टीम के सदस्य बुरी तरह परेशान हो गए और वे खेल छोड़ देना चाहते थे लेकिन डॉ. फ़ारूक़ ने निजी तौर पर हस्तक्षेप किया और खेल जारी रखने के लिए निवेदन किया। एक बड़ी दुर्घटना टल गई लेकिन नुकसान पहले ही हो चुका था।[27]

इस घटना का ज़िक्र उस समय भारतीय टीम के सदस्य सुनील गावस्कर ने अपनी आत्मकथा *रंस एंड यूंस* में भी किया है। दूरदर्शन पर प्रसारित हो रहे इस मैच में घटी घटनाएँ पूरे देश ने देखीं। चूँकि जमा'त का झंडा पाकिस्तानी झंडे से मिलता-जुलता है तो राष्ट्रीय प्रेस में पाकिस्तानी झंडे फहराए जाने की ख़बर फ़ैल गई। दूरदर्शन और आल इंडिया रेडियो पर भी श्रीनगर में क़ानून व्यवस्था की स्थिति के बिगड़ने की ख़बरें नमक-मिर्च लगाकर परोसी गईं।

बी.के. नेहरू पर फ़ारूक़ की बर्ख़ास्तगी के लिए दबाव बनाये गए लेकिन जब वह इस खेल में नहीं शामिल हुए तो उन्हें हटाकर अप्रैल, 1984 में जगमोहन को राज्यपाल बनाकर श्रीनगर भेजा गया। शाह के साथ जो 13 विधायक फ़ारूक़ के ख़िलाफ़ जगमोहन के पास पहुँचे, उनमें खेमलता वखलू भी थीं। बी.के. नेहरू इस पर अचरज जताते हुए बताते हैं कि वखलू किस तरह उनसे कहा करती थीं

कि अगर गुल शाह सत्ता में आए तो हिन्दुओं का जीवन और उनकी सम्पत्ति असुरक्षित हो जाएँगे और यहाँ तक कि दिल्ली जाकर इन्दिरा गांधी के सामने घुटनों पर बैठकर गिडगिड़ाई थीं कि अगर उन्हें कश्मीर के हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति है तो गुल शाह को मुख्यमंत्री बनवाने की कोशिश न करें![28] ज्ञातव्य है कि श्रीमती वखलू को फ़ारूक़ के कार्यकाल में नेहरू ने विधान परिषद में महिलाओं के लिए सुरक्षित सीटों में से एक पर नामित किया था। वखलू भी अपनी दिल्ली-यात्रा और श्रीमती गांधी से फ़ारूक़ के पक्ष में अपनी मुलाक़ात का ज़िक्र करती हैं, हालाँकि ज़ाहिर तौर पर उनके दिये हुए विवरण अलग हैं। शाह ने सभी 13 विधायकों को कैबिनेट मंत्री बना दिया। 31 जुलाई को हंगामाखेज़ माहौल में शाह ने बहुमत साबित कर दिया और कश्मीर के इतिहास में शायद सबसे भ्रष्ट सरकार अगले ढाई साल सत्ता में रही। शाह को कश्मीरी जनता का तीखा विरोध झेलना पड़ा। सत्ता के पहले 90 दिनों में 72 दिन तक कर्फ़्यू लगा रहा और जनता ने इसे 'गुल-ए-कर्फ़्यू' का नाम दिया। गुल शाह के जमा'त से गहरे सम्बन्ध थे और धर्म के प्रति उनका रुख़ कट्टरपंथी था। अहमद, शाह द्वारा सचिवालयों सहित अन्य कार्यालयों में मस्जिदें बनवाए जाने का ज़िक्र करते हैं। पुरी का मानना है कि इसने कश्मीर में इस्लामी और जम्मू में हिन्दू कट्टरपंथ को बढ़ावा दिया।[29] अहमद बताते हैं कि उन दिनों कश्मीर में भ्रष्टाचार इस क़दर हावी था कि कश्मीरियों ने उनकी सरकार को 'गुल शाह और चालीस चोर' का नाम दिया था।[30]

इस बीच 31 अक्टूबर, 1984 को इन्दिरा गांधी अपने ही अंगरक्षकों की गोलियों की शिकार हुईं। देश ने सिखों के ख़िलाफ़ साम्प्रदायिक हत्याओं का एक भयानक दौर देखा और राजीव गांधी अभूतपूर्व बहुमत से देश के प्रधानमंत्री बने। गुल शाह ने इस दौरान सबसे बड़ी ग़लती की श्रीनगर लोक सभा से बेगम अब्दुल्ला के ख़िलाफ़ अपने बेटे मुज़फ़्फ़र शाह को टिकट देकर। चुनावों में शाह को जिताने के लिए पूरी राज्य मशीनरी लगा दी गई लेकिन अन्ततः जीत बेगम की हुई। इस चुनाव ने बेगम अब्दुल्ला और फ़ारूक़ की लोकप्रियता साबित कर दी और इधर फ़ारूक़ ने सत्ता में वापसी के लिए अपने बचपन के मित्र राजीव से मेलजोल की कोशिशें शुरू कर दीं। जनवरी, 1985 में राजीव और फ़ारूक़ की मुलाक़ात हुई और बर्फ़ पिघलनी शुरू हुई तो गुल शाह की विदाई लगभग तय थी।

लेकिन गुल शाह की विदाई से पहले ही आज़ादी के बाद कश्मीर के आधुनिक इतिहास में पहली बार हिन्दुओं के विरुद्ध साम्प्रदायिक हिंसा की घटना हुई। अयोध्या में राम मन्दिर का ताला खुलने की घटना के बाद फ़रवरी, 1986 में अनन्तनाग ज़िले में हुई इस साम्प्रदायिक हिंसा की घटना में कई मन्दिरों और पंडितों के घरों को क्षति पहुँचाई गई। जी.एम. शाह के साथ पार्टी छोड़नेवाले ग़ुलाम मोहम्मद मीर के मुताबिक़ : 'कश्मीरी पंडितों के ख़िलाफ़ असुरक्षा का माहौल बनाया गया था।

मुफ़्ती साहब इसके पीछे थे।' विस्थापित कश्मीरी पंडितों के संगठन पनुन कश्मीर के अध्यक्ष अजय कुमार चंग्रू का भी मानना है कि इन दंगों के पीछे मुफ़्ती थे। उनका कहना है कि कांग्रेस ने इसकी जाँच के लिए एक समिति भी बनाई थी लेकिन उसकी रिपोर्ट सार्वजनिक नहीं की गई। इन सबके पीछे मुफ़्ती की महत्त्वाकांक्षा थी।[30] इस घटना के बाद पंडित नेताओं ने एक बार फिर सरकार पर अनदेखी का आरोप लगाते हुए कश्मीर से विस्थापन की अपील की। बलराज पुरी इस घटना के बाद मौलाना अब्दुल रहमान और बचन सिंह पंछी के साथ वहाँ गए थे और शान्ति प्रयासों में शामिल हुए थे। वह बताते हैं कि इन घटनाओं के लेकर जब उन्होंने लोगों से बात की तो लुक भवानी में उन लोगों की अपील पर मुस्लिम समुदाय से दस हज़ार रुपये मन्दिर के पुनर्निर्माण के लिए एकत्र किये गए। वह बताते हैं कि पंडितों ने उन्हें बताया कि मुसलमानों का हृदय-परिवर्तन हो जाने के बाद ही उन्होंने घाटी छोड़कर जाने का निर्णय बदल दिया।[31] पुरी और वानी, दोनों ही यह रेखांकित करते हैं कि इसमें जमा'त का कोई हाथ नहीं था (पुरी-39, वानी-313) जबकि वखलू (308) और धर इसमें जमा'त के भी शामिल होने की ओर इशारा करते हैं। लेकिन ठाकुर इसका एक पक्ष और बताते हैं कि उनके कहने के बावजूद शाह इस घटना के बाद अनन्तनाग यह कहते हुए नहीं गए थे कि यह जम्मू में मुसलमानों के विरुद्ध हुई हिंसा की प्रतिक्रिया थी।[32]

वखलू इस घटना के बाद उन इलाक़ों में गई थीं। वह बताती हैं :

> मैं उन गाँवों के स्थानीय लोगों, युवाओं, बुज़ुर्गों, सामुदायिक नेताओं और महिलाओं से मिली। हालाँकि बड़ी संख्या में मन्दिर और घर जलाए गए थे लेकिन लोग उन घटनाओं को लेकर काफ़ी दुखी और शर्मिन्दा थे। कई हिन्दुओं ने स्वीकार किया कि उनके पड़ोसियों ने अपनी जान ख़तरे में डालकर गुंडों को उन पर अत्याचार करने से रोका था।

वह यह भी बताती हैं कि इस दौरान श्रीनगर में मन्दिरों और मस्जिदों पर भड़काऊ पोस्टर्स लगाने की घटनाएँ भी हुई थीं और इस घटना के बाद हिन्दू सरकारी कर्मचारी विरोध में मॉस कैज़ुअल लीव पर चले गए थे और अगले दिन शहर पूरी तरह से बन्द रहा था।[33]

मुफ़्ती को शायद यह उम्मीद थी कि यह घटना डाँवाँडोल शाह सरकार की ताबूत में आख़िरी कील साबित होगी तो कांग्रेस के सत्ता में आने की स्थिति में उन्हें मौक़ा मिल सकता है।[35] वखलू और ठाकुर को पढ़ते हुए लगता है कि शाह सरकार में शामिल उन दोनों सहित कई लोग कांग्रेस के बेहद क़रीब थे तो यह उम्मीद बहुत असंगत भी नहीं थी। लेकिन जब 7 मार्च, 1986 को जी.एम. शाह की सरकार बर्ख़ास्त कर दी गई तो उन्हें मौक़ा देने की जगह आज़ादी के बाद पहली

बार कश्मीर में राष्ट्रपति शासन लगा दिया गया। जगमोहन अगले छह महीने कश्मीर के प्रशासक रहे। राजीव गांधी ने कांग्रेस-नेशनल कॉन्फ्रेंस गठबन्धन का प्रस्ताव रखा और इस बार फ़ारूक़ अन्ततः इसके लिए राज़ी हो गए।[36] बलराज पुरी लिखते हैं : 'फ़ारूक़ की देशभक्ति पर से सन्देह जल्द ही दूर हो गए और ज्योंही उन्होंने विपक्ष से सम्बन्ध तोड़कर कांग्रेस से सम्बन्ध सुधार लिये, उन्हें देशभक्ति का प्रमाणपत्र जारी कर दिया गया।[37] राष्ट्रपति शासन के दौरान जगमोहन के शासन को आम तौर पर सभी ने ईमानदार और दक्ष बताया है लेकिन वखलू एक मज़ेदार तथ्य देती हैं कि भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान में जगमोहन ने कई वरिष्ठ इंजीनियरों को बर्ख़ास्त कर दिया। उनमें से अधिकांश कश्मीरी पंडित थे।[38] हालाँकि इसी दौरान कई ऐसे निर्णय लिये गए जिसने उन पर इस्लाम-विरोधी होने का ठप्पा लगाया, जिसका गहरा असर 1990 में उनकी दुबारा नियुक्ति के बाद देखा गया।

नये चुनाव : पुरानी धाँधली

1987 के चुनावों में राजीव-फ़ारूक़ समझौते के तहत दोनों पार्टियों ने मिलकर लड़ने का तय किया था। लेकिन इन चुनावों में इस गठबन्धन के सामने एक एकदम नई तरह की ताक़त थी—मुस्लिम यूनाइटेड फ्रंट। इसमें सैयद अली शाह गीलानी की जमात-ए-इस्लामी, अब्दुल ग़नी लोन की पीपल्स लीग और मीरवायज़ की अवामी एक्शन कमेटी के साथ-साथ उम्मत-ए-इस्लामी, जमीयत-ए-अहल-ए-हदीस, अंजुमन-तहफुज़-उल-इस्लाम, इत्तिहाद-उल-मुसलमीन, मुस्लिम इम्प्लाइज़ एसोशिएसन जैसे छोटे-छोटे समूह भी शामिल थे। इस्लामी और जनमत-संग्रह समर्थक पार्टियों और समूहों का यह अम्ब्रेला संगठन उस दौर में कश्मीरी समाज और राजनीति में व्याप्त असन्तोषों को आवाज़ दे रहा था। वानी इसे एक 'अर्द्ध-विश्वासपात्र' (Semi-Loyalist) कहते हैं। फ्रंट की रैलियों में लोग बड़ी संख्या में आ रहे थे और फ्रंट भ्रष्टाचार, मुनाफ़ाख़ोरी, जमाख़ोरी, कालाबाज़ारी मिटाने और इनके अपराधियों को कड़े दंड देने के वादे कर रहा था तो सबको नौकरी देने और उद्योग धंधे लगाने के भी।[39]

यहाँ थोड़ा रुककर उन हालात पर ग़ौर कर लेते हैं जिनकी वजह से एम.यू.एफ़. उभरा और उसे इस क़दर लोकप्रियता मिली। कुछ कारण तो हमने पहले देखे ही हैं। फ़ारूक़ अब्दुल्ला ने अपनी बर्ख़ास्तगी के बाद जो कहा था, वह कश्मीर के लोकतंत्र का एक भयावह सच है : 'कोई भी जो कश्मीर का मुख्यमंत्री बनना चाहता है, दिल्ली के साथ सत्ता की साझेदारी किये बिना नहीं बना सकता।' 1953 के बाद से ही दिल्ली ने जम्मू और कश्मीर की सत्ता पर जिस तरह परोक्ष-प्रत्यक्ष नियन्त्रण बनाये रखा और चुनावों में धाँधली के ज़रिये अपनी कठपुतली सरकारें बनाईं और गिराईं, उसने वहाँ

की जनता में लोकतांत्रिक तरीक़ों से सत्ता परिवर्तन की उम्मीदें ख़त्म कर दी थीं। यहाँ एक क़िस्सा याद किया जा सकता है। सादिक़ के समय उन्हें गद्दी से हटाने की माँग करते कुछ विधायक इन्दिरा जी से मिलने गए। इन्दिरा गांधी उनसे सहमत नहीं थीं तो उन्हें फटकारते हुए कहा : 'आपकी कोई हैसियत नहीं है कि आप जनता की बात करो क्योंकि आप जनता के चुने हुए प्रतिनिधि नहीं हो। राज्य सरकार और चुनाव आयोग के कर्मचारियों को आपको जिताने के लिए अनगिनत धाँधली करनी पड़ती है।'[40] पहले शेख़ और फिर फ़ारूक़ के समर्पण ने नेशनल कॉन्फ्रेंस से जनता के एक हिस्से का मोह ख़त्म कर दिया था। एम.यू.एफ़. ऐसे में उनके सामने एक ऐसी पार्टी की तरह सामने आई थी जो पूरी तरह से स्थानीय थी। दूसरे, कश्मीर में इन कठपुतली सरकारों के दौर में भ्रष्टाचार जिस तरह बढ़ा था, उनसे जनता स्वाभाविक रूप से त्रस्त थी। फ़ारूक़ और कांग्रेस की सरकारों का अनुभव जनता को था लेकिन एम.यू.एफ़. जिस तरह इस्लामी आदर्शों के सहारे भ्रष्टाचार, बेरोज़गारी और कालाबाज़ारी जैसी समस्याओं को दूर करने और अपराधियों को सज़ा दिलाने की बात कर रहा था, उसका एक धर्मनिष्ठ समाज में लोगों को प्रभावित करना स्वाभाविक था। तीसरे कारक पर हम पहले भी काफ़ी बात कर चुके हैं। इस लम्बे दौर में कश्मीर में जनमत-संग्रह समर्थक भावनाएँ विकसित हुई थीं। यह फ्रंट अपनी 'अर्द्ध विश्वासपात्रता' में उसे एक अभिव्यक्ति देता था।

लेकिन एम.यू.एफ़. की इस लोकप्रियता से डरकर फ़ारूक़ ने जो किया, उसने कश्मीर को एक ऐसे दौर में धकेल दिया जहाँ से वापसी की कोई राह अब तक नहीं निकल सकी है।

दबाव में हुए गठबन्धन के चलते ये चुनाव अपने-आपमें विडम्बनाओं से भरे हुए थे। फ़ारूक़ को बर्ख़ास्तगी के षड्यंत्रकारी मुफ़्ती मोहम्मद सईद से बदला लेना था। मुफ़्ती को मुख्यमंत्री पद अपने हाथ से निकल जाने का अफ़सोस था लेकिन दिल से फ़ारूक़ को कभी अपना नेता न मान पाने के बावजूद उन्हें प्रचार करना था। इस प्रचार की एक बानगी प्रवीण डोंथी देते हैं। तब कांग्रेस की वरिष्ठ नेता रहीं नज़मा हेपतुल्ला की उपस्थिति में अनंतनाग के ख़ानबल में चुनाव प्रचार के दौरान कांग्रेस के लिए वोट माँगते हुए मुफ़्ती ने अपनी जेब से क़लम निकाला और लगातार उसे एक हाथ से दूसरे हाथ में घुमाते रहे और अपना ख़ाली हाथ काल्पनिक दाढ़ी पर फिराते रहे—क़लम-दवात मुस्लिम यूनाइटेड फ्रंट का चुनाव चिह्न था और इसके उम्मीदवार की लम्बी दाढ़ी थी।[41] इन सब गहमागहमी के बीच पिछले दो अपेक्षाकृत साफ़-सुथरे चुनावों के अनुभव के साथ लोकतंत्र में भागीदारी के लिए इन उम्मीदों के साथ जनता ने इस चुनाव में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया।[42]

लेकिन इन चुनावों में धाँधली की हर सीमा पार हो गई। विस्तार में जाने की जगह अक्सर उद्धृत किये जानेवाला एक उदाहरण ले लेते हैं जिसकी व्यंजना इस

चुनाव और उसके परिणामों को समझने के लिए काफ़ी होगी। श्रीनगर के आमिर कदल से मोहम्मद यूसुफ़ शाह मुस्लिम यूनाइटेड फ्रंट के उम्मीदवार थे। बेमिना डिग्री कॉलेज में मतगणना शुरू हुई। इसके पहले दो चुंनावों में हार चुके मोहम्मद यूसुफ़ शाह लगातार आगे चल रहे थे। रुझानों से स्पष्ट था कि यूसुफ़ शाह इन चुनावों में बड़े अन्तर से जीत रहे हैं। नेशनल कॉन्फ्रेंस के मोइउद्दीन शाह इस क़दर निराश हुए कि मतगणना के बीच से ही उठकर घर चले गए। लेकिन थोड़ी देर बाद मतगणना अधिकारी ने उन्हें वापस बुलवाया और विजयी घोषित कर दिया! जनता सड़कों पर आ गई और विरोध शुरू हो गया तो पुलिस ने यूसुफ़ शाह और उनके एजेंट को गिरफ़्तार कर लिया। अगले 20 महीने दोनों बिना किसी केस के जेल में रहे : मोहम्मद यूसुफ़ शाह जेल से निकलने के बाद सैयद सलाहुद्दीन के नाम से जाना गया और उसके एजेंट का नाम था यासीन मलिक।[43] एक दूसरी घटना का ज़िक्र उस समय केन्द्रीय पर्यवेक्षक रहे जी.एन. गौहर करते हैं :

> बडगाम में नेशनल कॉन्फ्रेंस के उम्मीदवार की जीत तय थी लेकिन उम्मीदवार ख़ुद सशंकित था और कोई जोख़िम नहीं उठाना चाहता था। जब मैं गणना-स्थल पर गया तो वहाँ तीखी बहस चल रही थी। बडगाम के उपायुक्त और वह उम्मीदवार मुख्य मतगणना अधिकारी पर दबाव डाल रहे थे लेकिन वह अधिकारी जो एक कश्मीरी पंडित था, इस बात के लिए तैयार नहीं था और उसने ग़ुस्से से कहा : 'अगर एम.यू.एफ़. राष्ट्रविरोधी, कट्टरपंथी और साम्प्रदायिक संगठन है तो उसे चुनाव लड़ने की इजाज़त ही क्यों दी? राजीव और फ़ारूक़ को उनके चुनाव लड़ने पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए था। लेकिन मैं तो एक अमानतदार हूँ।' बाद में मुख्य मतगणना अधिकारी को क़ानून-व्यवस्था के अतिरिक्त सचिव हमीदुल्लाह ख़ान का फ़ोन आ गया और धाँधली हुई जबकि उसकी कोई ज़रूरत थी नहीं।[44]

इस तरह 'राष्ट्रहित' में हुई इन धाँधलियों के बाद नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस गठबन्धन इन चुनावों में 63 सीटें जीतने में सफल रहा जबकि एम.यू.एफ़. 31 प्रतिशत वोटों के बावजूद कुल चार सीटें जीत सका जिनमें से एक सैयद अली शाह गीलानी की सीट भी थी। गीलानी की विधान सभा चुनावों में यह तीसरी जीत थी। इसके बाद उन्होंने किसी चुनाव में हिस्सा नहीं लिया।[45] वैसे गौहर का मानना है कि अगर धाँधली नहीं हुई होती तो भी इन चुनावों में फ्रंट अधिकतम 20-22 सीटें जीत सकता था और इस तरह उसे एक विपक्षी दल का दर्जा भी नहीं मिलता।[46]

हालाँकि इतिहास में यों होता तो क्या होता, नहीं चलता। लेकिन अगर इस मोड़ पर रुककर सोचें कि अगर ये चुनाव साफ़-सुथरे होने दिये गए होते तो क्या होता? तो कई महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। पहला तो यही कि यह स्पष्ट हो जाता कि इस सबके बावजूद जम्मू-कश्मीर की अधिकांश जनता सेक्यूलर और भारत समर्थक दलों के साथ है। दूसरा यह कि विधान सभा में एम.यू.एफ़. का वह ग्रुप एक दबाव समूह

की तरह काम करता और उसे जनता के बीच भी उसी ईमानदारी से काम करना पड़ता जिसका उसने वादा किया था, अगर यह कर पाता तो दूसरी पार्टियों पर भी वैसा करने का दबाव बनता और नहीं कर पाता तो लोगों को उनके वादों पर जो ना-एतबारी पैदा होती, वह ऐसी ताक़तों पर भरोसा और कम करती।

मूसा रज़ा की किताब का एक दिलचस्प क़िस्सा इस बात को समझने के लिए बेहद मुफ़ीद है। वह बताते हैं कि गीलानी सहित एम.यू.एफ़. के कुछ नेता उनके पास यह शिकायत लेकर आए कि मेडिकल कॉलेज और अन्य जगहों पर दाख़िले के लिए नेशनल कॉन्फ्रेंस के लोगों के कोटे तय हैं। हम उनका विरोध करने नहीं आए लेकिन हम चाहते हैं कि आप मुख्यमंत्री से कहें कि हमारे लोगों के लिए भी कोटे तय होने चाहिए।[17] ज़ाहिर है, यह 'ईमानदारी' नक़ाब हो सकती थी, चेहरा नहीं। प्रो. वानी इसे ही सूत्रबद्ध रूप में कहते हैं—व्यवस्था-विरोधी ताक़तों को—सत्ता के गलन पात्र में गला देने की जगह—लोकतंत्र से वंचना ने इन अर्द्ध-विश्वासपात्र समूहों को सम्पूर्ण विद्रोहियों में तब्दील कर दिया।[18] तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि जनता का भारतीय लोकतंत्र में भरोसा बढ़ता। वैसे यह भी सोचा जा सकता है कि अगर कांग्रेस ने फ़ारूक़ पर समझौते का दबाव न डाला होता तो क्या हो सकता था? इसका जवाब तत्कालीन डी.आई.जी. ए.एम. वटाली अपने संस्मरण *कश्मीर इंतिफादा* में देते हुए कहते हैं :

> 1988 में कांग्रेस कार्यकर्ताओं की एक बन्द कमरे में हुई बैठक में, जहाँ मैं भी उपस्थित था, राजीव गांधी ने नेशनल कॉन्फ्रेंस के साथ चुनाव-पूर्व समझौते को ग़लत माना जिसने सेक्यूलर और उदारवादी ताक़तों के लिए राजनीतिक स्पेस संकुचित कर कट्टरपंथी ताक़तों को मज़बूत कर दिया था।[19]

चुनावों के बाद की स्थिति पर वखलू की टिप्पणी मानीखेज़ है :

> हालाँकि एम.यू.एफ़. चुनाव हार गई लेकिन उन्हें अपने उद्देश्यों के लिए बहुत-सी जनता की सहानुभूति मिली। हर तरफ़ लोग चुनावों में धाँधली के बारे में बात कर रहे थे। लोगों का निष्कर्ष था कि राजीव और डॉ. फ़ारूक़ ने जानबूझकर ऐसी व्यापक धाँधली से उनके वोट का अधिकार छीना है। न केवल उन्होंने लोकतंत्र का गला घोंटा बल्कि उसे दफ़न कर दिया। हर घर, हर दफ़्तर और हर गली में एम.यू.एफ़. की तारीफ़ हो रही थी।
>
> लोगों की अवधारणा बनने लगी कि ख़राब प्रशासन, चुनावों में धाँधली भारत के साथ जुड़ने की वजह से है। उन्हें लगा कि अगर वे आज़ाद होते या एक इस्लामी देश होते तो ऐसी समस्याएँ नहीं होतीं। इस्लामी क़ानून के तहत कोई चोरी, कोई भ्रष्टाचार, कोई सूदख़ोरी और कोई कालाबाज़ारी नहीं होती। सबके पास खाने-पहनने के लिए पर्याप्त होता और कोई बिना नौकरी के नहीं होता। इस तरह के प्रोपेगेंडा के साथ एम.यू.एफ़. लोगों को आकर्षित करने के लिए मैदान में था।

भारत में विलय क्यों और कैसे हुआ, इसके लिए एम.यू.एफ़. शेख़ अब्दुल्ला और नेशनल कॉन्फ्रेंस पर इल्ज़ाम लगा रहा था।[50]

इन चुनावों में पर्यवेक्षक रहे जी.एन. गौहर एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य की तरफ़ इशारा करते हैं :

> आमिर कदल और हब्बा कदल का सन्दर्भ भी महत्त्वपूर्ण है जहाँ से सत्ताधारी पार्टी के मंत्री मोहिउद्दीन शाह और प्यारेलाल हांडू चुनाव लड़ रहे थे। ये दोनों मंत्री चुनाव हार रहे थे लेकिन न केवल उन्हें ग़लत तरीक़े से जिताया गया बल्कि जीतने के बाद उन्होंने एम.यू.एफ़. के कार्यकर्ताओं का थानों में उत्पीड़न करवाया। आश्चर्यजनक रूप से सबसे सक्रिय युवा इन दो क्षेत्रों के चुनाव में सक्रिय थे क्योंकि ये क्षेत्र शहर (श्रीनगर) की धड़कन थे। अगर फ़ारूक़-राजीव समझौते ने इन दो क्षेत्रों में भी साफ़-सुथरे चुनाव करवाए होते तो शायद हथियारबन्द आन्दोलन कुछ वर्षों तक टाला जा सकता था।[51]

आतंकवाद का दौर शुरू होने के बाद अनंतनाग में पी.एल. हांडू का घर जला दिया गया।[52]

सतह के ऊपर असन्तोष
आतंकवाद के नये दौर की शुरुआत

नब्बे के दशक में कश्मीर घाटी में आतंकवाद का जो दौर हुआ, उसे अक्सर 1987 के चुनावों की धाँधली का परिणाम बताया जाता है। टाइमिंग के लिहाज़ से देखें तो यह सरलीकरण सही लग भी सकता है कि 1987 में चुनावों में धाँधली हुई और 1989 से हिंसक घटनाओं की शुरुआत हो गई। लेकिन इतिहास में रातोरात सतह पर आ जानेवाली घटनाओं के पीछे अक्सर बहुत लम्बे दौर तक सतह के नीचे चली अन्त:क्रियाएँ होती हैं। वैसे भी कश्मीर में चुनावी धाँधली नई नहीं थी बल्कि 1977 के पहले तक के चुनावों में तो यह एकदम आम हुआ करती थी। लेकिन इस बार इस प्रक्रिया ने सतह के नीचे पल रहे असन्तोषों को उबाल कर उस बिन्दु तक पहुँचा दिया जहाँ विस्फोट अवश्यंभावी था। एक बेहतर प्रशासन और परिपक्व राजनेता इसे एक हद तक नियंत्रित कर सकता था लेकिन फ़ारूक़ इसमें नाकाम हुए। कांग्रेस और नेशनल कॉन्फ्रेंस का तालमेल-विहीन गठबन्धन न तो राज्य के तत्कालीन हालात को समझ पाने में सक्षम था, न ही उसके पास इससे निबटने के लिए कोई नीयत या नीति थी।

ग़लतियों की शुरुआत एकदम शुरू से ही हुई। इन चुनावों के तुरन्त बाद एम.यू.एफ़. के बड़े नेताओं की गिरफ़्तारियाँ और उत्पीड़न शुरू हो गए। बदनुमा हक़ीक़त जल्दी ही सतह पर आ गई। इसे व्यक्तियों और नेताओं के ग़ुस्से भरी

प्रतिक्रियाओं में अभिव्यक्ति मिली।[53] उसी साल कश्मीर में बाढ़ आई और फ़ारूक़ सरकार पर अनदेखी का आरोप लगा। अक्टूबर में फ़ारूक़ ने दरबार श्रीनगर से जम्मू ले जाने की डोगरा काल से चली आ रही परम्परा पर रोक लगाने का फ़ैसला किया तो जम्मू में बीजेपी ने बवाल मचा दिया। दबाव बढ़ा तो यह निर्णय वापस ले लिया। अब बारी कश्मीर की थी। कहा गया कि यह कश्मीर का अपमान है और जम्मू शान्त हुआ तो कश्मीर में एम.यू.एफ़. के लोगों के द्वारा हंगामा शुरू हो गया! इस बीच मुफ़्ती कांग्रेस छोड़कर वी.पी. सिंह की जनमोर्चा में शामिल हो गए थे और अब खुलकर फ़ारूक़ सरकार के ख़िलाफ़ मोर्चा ले रहे थे। जनवरी, 1988 में मीरवायज़ मौलाना फ़ारूक़ ने 370 के अतिक्रमण से लेकर सरकार की अक्षमता तक का आरोप लगाते हुए खुली चिट्‌ठी लिखकर सम्बन्ध तोड़ लिया। फिर अचानक घाटी में मटन के दाम इतने बढ़ गए कि लोगों ने मटन का बहिष्कार कर दिया। दाम कम करने की कोशिशें नाकाम हुईं तो आरोप लगा कि फ़ारूक़ ने कोठेदारों* से पैसे खाए हैं। मुहर्रम के मौक़े पर शिया-सुन्नी तनावों की आशंका से डाउनटाउन में कर्फ़्यू लगाया गया तो कोई सीधी हिंसा की घटना तो नहीं हुई लेकिन माहौल में तनाव व्याप्त हो गया। राशन की दुकानों से मिलनेवाले आटे में शिकायतें आईं तो अफ़वाह फैल गई कि इसे खानेवालों के बाल झड़ जाएँगे और सरकार के विरोध में बेकरी वालों ने अपनी दुकानें बन्द कर लीं। 13 जनवरी को गुरु परब के अवसर पर जम्मू में जुलूस निकला तो भारत-विरोधी और खालिस्तान समर्थक नारे लगने लगे और अचानक हिंसा शुरू हो गई जिसमें कई लोग मारे गए और सम्पत्ति का भी नुकसान हुआ। फ़रवरी में सलमान रुश्दी की *सैटनिक वर्सेस* को लेकर घाटी में बन्द का आह्वान हुआ तो पुलिस और जनता के बीच हिंसक झड़पें हुईं, आँसू गैस के गोले छोड़े गए और हवा में गोलियाँ चलीं।[54] 10 जून को बिजली की अनियमित आपूर्ति तथा दरों में बढ़ोतरी के ख़िलाफ़ श्रीनगर में एक स्वत:स्फूर्त जुलूस सड़कों पर निकल आया। पुलिस ने गोलियाँ चलाईं और तीन लोग मारे गए। घटना की जाँच की माँग ठुकराते हुए सरकार ने इसके पीछे देशविरोधी ताक़तों के होने का आरोप लगाया। 15 जून को पूरी घाटी में बन्द का ऐलान किया गया जो सफल रहा।[55]

थोड़ा रुककर देखें तो यह समय राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी उथल-पुथल वाला था। 7 अगस्त को पाकिस्तान के राष्ट्रपति ज़िया-उल-हक़ की एक विमान-दुर्घटना में मृत्यु हो गई तो घाटी के कुछ हिस्सों में शोक मनाया गया। हमने देखा है कि जब ज़िया ने भुट्टो को फाँसी दी थी तो भी घाटी में उबाल आया था और तब नेशनल कॉन्फ्रेंस के कार्यकर्ताओं ने जमा'त के लोगों के घर और स्कूलों पर हमला किया था। लेकिन अब जमा'त मज़बूत हो चुकी थी और ज़िया के धार्मिक

* घाटी में मीट के बड़े व्यवसायी

कट्टरपंथ का सिद्धान्त उसके क़रीब ही नहीं था बल्कि ज़िया के दौर में कश्मीर की 'मुक्ति' के लिए जो योजनाएँ बनाई गई थीं, जमा'त उसकी परोक्ष भागीदार भी थी[56] तो उनकी मौत पर शोक के आयोजन लाज़िम थे। यह कश्मीर के बदले हुए हालात का भी द्योतक था। उधर ईरान में इस्लामी क्रांति के जनक आयतुल्लाह खुमैनी की 3 जून, 1989 को मृत्यु हो चुकी थी और हुसैन अली मोंतज़ेरी और अली खोमेनी के बीच तनाव शुरू हो चुका था। इसी दौर में सोवियत संघ ने अफ़ग़ानिस्तान से अपनी सेनाएँ वापस बुलानी शुरू कर दी थीं और कश्मीर में चर्चा थी कि जब सोवियत संघ अफ़ग़ानिस्तान से अपनी सेना हटा सकता है तो भारत कश्मीर से क्यों नहीं?[57] यूगोस्लाविया की घटनाओं ने इस सवाल को और प्रभावी बना दिया। उधर पूरे अस्सी के दशक में चला खालिस्तान आन्दोलन अभी भी पूरी तरह से शान्त नहीं हुआ था और पंजाब में दबाव बढ़ने पर इससे जुड़े काफ़ी लोगों ने कश्मीर में शरण ली थी जिनकी गतिविधियाँ गाहे-ब-गाहे जम्मू-कश्मीर में सामने आ रही थीं। राजीव गांधी सरकार से वी.पी. सिंह के इस्तीफ़े और बोफोर्स मामले में भ्रष्टाचार के आरोपों के चलते देश में तेज़ी से राजनीतिक माहौल बदल रहा था। लोक सभा चुनावों के बाद 1989 में वी पी सिंह के नेतृत्व में एक गठबन्धन सरकार सत्ता में आई थी जिसे वाम और भाजपा, दोनों ही समर्थन दे रहे थे तो इसी दौर में देश में हिन्दूवादी दक्षिणपंथ का असर बढ़ने लगा था जिसकी परिणति अन्ततः 1991 में बाबरी मस्जिद विध्वंस में हुई।

स्थिति कितनी विस्फोटक थी, इसका अन्दाज़ा लगाने के लिए एक घटना का ज़िक्र काफ़ी होगा—1989 में आतंकवादी घटनाओं के शुरू होने के कुछ ही वक़्त पहले श्रीनगर के रीगल सिनेमा में 'लायन ऑफ़ डिज़र्ट' लगी थी जिसमें एंथनी क्विन ने लीबिया के गुरिल्ला क्रांतिकारी ओमर मुख़्तार की भूमिका निभाई थी जो इटली के औपनिवेशिक शासन के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हुए शहीद हुए थे। इस फ़िल्म को देखकर कश्मीरियों में भारत के ख़िलाफ़ संघर्ष की ऐसी प्रेरणा जागी कि सड़कों पर भारी संख्या में प्रदर्शन होने लगे और सरकार को इसे प्रतिबन्धित करना पड़ा।[58]

जुलाई, 1988 में श्रीनगर के टेलीग्राफ़ तथा टीवी स्टेशन पर बम फेंका गया लेकिन निशाना चूक गया। यह कश्मीर में अपने तरह की पहली आतंकवादी घटना थी। इसके बाद से पूरी घाटी भारत-विरोधी नारों से पट गई। 14 अगस्त को पाकिस्तान का स्वतंत्रता दिवस मनाया गया जबकि 15 अगस्त को बन्द का ऐलान किया गया और काले झंडे दिखाए गए और इस तरह कश्मीर घाटी हिंसक आन्दोलनों के एक भयावह दौर में प्रवेश कर गई। सितम्बर के महीने में राज्य पुलिस के डी.आई.जी. ए.एम. वटाली के घर पर बम फेंका गया तो हालाँकि वह बच गए और हमलावर एजाज़ अहमद दार मारा गया लेकिन तय था कि यह आग आसानी से बुझने वाली नहीं। बशीर एक बेहद सनसनीखेज़ तथ्य बताते हैं कि 1988 की शुरुआत में ही

आल इंडिया कश्मीरी पंडित कॉन्फ्रेंस के अध्यक्ष एच.एन. जट्टू ने एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में पंडितों के 'ख़ामोश विस्थापन' का ज़िक्र करते हुए बताया था कि नौकरियों के अवसर न होने के कारण पंडित लगातार कश्मीर से बाहर जा रहे हैं और अगर हालात नहीं सुधरे तो सभी डेढ़ लाख पंडित कश्मीर छोड़ने पर मजबूर होंगे।[59] हालाँकि वह इसके लिए कोई प्रकाशित सन्दर्भ देने की जगह इस प्रेस कॉन्फ्रेंस को टेलीग्राफ़ और बी.बी.सी. के लिए कवर कर रहे यूसुफ़ जमील और मुख़्तार अहमद से हुई बातचीत का हवाला देते हैं तो इसकी जाँच कर पाना मेरे लिए सम्भव नहीं।

ऐसे में फ़ारूक़ ने परिपक्वता से काम लेने की जगह बचकानी अधीरता दिखाई। उन्होंने घोषणा की : 'मैं उन लोगों को ज़िन्दा क़ब्र में गाड़ दूँगा जो मज़हबी भावनाएँ भड़काने की कोशिश कर रहे हैं', 'मैं अपने राजनीतिक दुश्मनों की टाँगें तुड़वा दूँगा', 'भारत सरकार मेरे साथ है। मैं लाखों लोगों को जेल में डाल सकता हूँ', 'देश-विरोधी तत्त्वों को पाकिस्तान फिंकवा दूँगा।' वहीं दूसरी तरफ़ वह कश्मीरी युवाओं की बेरोज़गारी की बात भी कर रहे थे। राजीव के साथ हुए समझौते के समय वादा की गई सहायता न मिलने की शिकायत कर रहे थे। केन्द्र सरकार में कश्मीरी मुसलमानों के प्रतिनिधित्व न होने का सवाल उठा रहे थे। इसमें एक तरह का विभ्रम था और एक असहायता भी। बलराज पुरी कहते हैं कि फ़ारूक़ की समस्या यह थी कि वह राज्य की जनता नहीं, दिल्ली की चिन्ता कर रहे थे। *ट्रिब्यून* के सम्पादक वी.एन. नारायण ने लिखा कि 'श्रीनगर में आम मान्यता थी कि वह दिल्ली के आदेश के बिना सरकार नहीं चला सकते और विडम्बना यह कि वह दिल्ली की मदद के बावजूद सरकार नहीं चला पा रहे थे।' आन्दोलनों को दबाने के लिए सी.आर.पी.एफ़. मँगाई गई। फ़ारूक़ अब जम्मू और कश्मीर पुलिस की जगह केन्द्रीय बलों पर अधिक भरोसा कर रहे थे।[60]

वटाली पर हमले के बाद दबाव बढ़ा तो यासीन मलिक पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर चला गया। पाकिस्तान कश्मीर के इस आन्दोलन को खुलकर हर तरह का समर्थन दे रहा था।* हरि सिंह हाई स्ट्रीट पर मेडिकल उपकरणों की दुकान चलाने वाले रूपकृष्ण कौल कहते हैं—आतंकवाद मेरे दरवाज़े से शुरू हुआ। वह बताते हैं कि उन दिनों खुलेआम बसें 'पिंडी-पिंडी, रावलपिंडी' का नारा लगाती थीं और कश्मीरी लड़के उनमें भर-भर के आतंकवादी प्रशिक्षण के लिए पाकिस्तान जाते थे। मागरमल बाग़ स्थित उनके घर के सामने बटमालू इलाक़े के लड़कों और सेना में झड़पें होती थीं। प्रतिष्ठित कश्मीरी फ़ोटोजर्नलिस्ट जावेद शाह ने मुझसे बातचीत में बताया कि कैसे उस दौर में पाकिस्तान से लौटनेवाली बसों के साथ इलाक़ों के

---

* कश्मीर में आतंकवादी संगठनों के उद्‌भव, कार्यवाहियों और पाकिस्तान से सम्पर्क के बारे में विस्तार से समझने के लिए पाठक कर्नल वेद प्रकाश की 'टेररिज़्म इन नॉर्थ इंडिया : जम्मू एंड कश्मीर एंड द पंजाब' पढ़ सकते हैं और संगठनों के भीतर की उठा-पठक समझने के लिए डेविड देवदास की 'द स्टोरी ऑफ़ कश्मीर'।

युवाओं की बाक़ायदा लिस्ट होती थी और वे चुन-चुन कर 16 साल से अधिक उम्र की युवाओं को ट्रेनिंग के लिए कथित आज़ाद कश्मीर में ले जाया करते थे। श्रीनगर की सड़कों पर खुलेआम ये आतंकवादी बन्दूक़ें लेकर घूमा करते थे। ज़ाहिर है, प्रशासन पूरी तरह पंगु हो चुका था और उसे कुछ पता नहीं था कि हो क्या रहा है। उस समय टिंडल बिस्को के स्कूल के छात्र रहे अमित वांचू बताते हैं कि कैसे इन संगठनों के लोग खुलेआम स्कूलों में आया करते थे और आठवीं-दसवीं में पढ़नेवाले लड़कों के पास ग्रेनेड और पिस्तौलें हुआ करती थीं। प्रशासन की इस पंगुता का अन्दाज़ा एक उदाहरण से लगाया जा सकता है—18 अगस्त, 1989 को *अल्लाह टाइगर्स* नामक एक ग्रुप के प्रमुख एयर मार्शल नूर ख़ान ने स्थानीय समाचारपत्रों के माध्यम से सिनेमा घरों और शराबख़ानों पर प्रतिबन्ध का आदेश जारी किया। इसका असर भी हुआ। बाद में जब जम्मू-कश्मीर लिबरेशन फ्रंट के लोगों ने उसका अपहरण किया तो पता चला कि उसके पास एक पिस्तौल भी नहीं थी![61] वटाली लिखते हैं :

> कश्मीरी युवाओं के नियंत्रण रेखा के पार करने की गतिविधियों के बारे में न तो आई.बी., न रॉ या सेना या बी.एस.एफ़. ने राज्य सरकार या केन्द्र सरकार को कोई इत्तला दी। सभी एजेंसियाँ नियंत्रण रेखा पर हो रही कार्यवाहियों और घाटी में फैलते आतंकवाद से अनजान प्रतीत होती थीं। यह माना जाता है कि इसी वजह से इंटेलिजेंस ब्यूरो जैसी प्रतिष्ठित राष्ट्रीय एजेंसी इस बात से अनजान थी कि कश्मीरी युवा नियंत्रण-रेखा के पार जाकर हथियार और प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे थे और सम्बद्ध एजेंसियाँ अपना काम करने की जगह राज्य सरकार द्वारा अपने दलीय स्वार्थों की पूर्ति के लिए उपयोग की जा रही थीं...। गिरफ़्तार आतंकवादियों से मिली सूचना के आधार पर जुलाई, 1989 में राज्यपाल की अध्यक्षता में एक उच्च-स्तरीय बैठक में इस बाबत रिपोर्ट बनाई गई थी कि नियंत्रण रेखा पर घूस देकर लोगों को आने-जाने दिया जा रहा है। 1988 में कश्मीर के एक विधायक ने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में कश्मीरी युवाओं के प्रशिक्षण और उनकी घुसपैठ के बारे में बताया था जिसके आधार पर प्रधानमंत्री ने एक नोट बनवाकर इंटेलिजेंस ब्यूरो के प्रमुख को भिजवाया था, लेकिन इसे गम्भीरता से नहीं लिया गया। यह इतनी महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट के साथ टालमटोल वाला वह रवैया है जो राष्ट्रीय सुरक्षा का भार सँभाल रही एजेंसी पर भारी पड़ा।[62]

सरकार ने विधान सभा के ग्रीष्मकालीन सत्र में स्वीकार किया कि जनवरी, 1989 से लेकर जुलाई, 1999 के बीच 72 धमाके हुए थे जिनमें पाँच लोग मारे गए थे और बावन लोग घायल हुए थे। एक सौ सत्तावन लोग गिरफ़्तार हुए थे जिनमें अस्सी ने पाकिस्तान या पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में प्रशिक्षण लिया था और 77 लोग ऐसे थे जिन्होंने हिंसा में परोक्ष रूप से सहयोग किया था। गिरफ़्तार लोगों में से 23 को ईद के अवसर पर पैरोल पर रिहा किया गया था लेकिन उनमें से कोई नहीं

लौटा और माना जा रहा है कि ज़्यादातर सीमा पार चले गए। इस मामले की कोई जाँच नहीं हुई।[63]

ऐसा लगता है कि कश्मीर के मामलों को क़ानून-व्यवस्था का मामला मानकर गम्भीरता से न लेने की यह पुरानी आदत इस बार दिल्ली को बहुत महँगी पड़ी। राज्य सरकार की नाक के नीचे श्रीनगर की गलियों में बसें खुलेआम युवाओं को पाकिस्तान लेकर जा रही थीं, सीमा पार से प्रशिक्षण और हथियार लेकर लड़के लौट रहे थे और सरकार को कुछ ख़बर नहीं थी तो डाउनटाउन से गुपकर रोड* की बढ़ती हुई दूरी के बारे में अन्दाज़ लगाया जा सकता है। प्रशासन के इस नाकारेपन ने आतंकवाद को फलने-फूलने के अवसर उपलब्ध कराए और 1989 के जाड़ों के आते-आते हालात बद से बदतर होते चले गए।

संदर्भ

1. देखें, पेज 22, *कश्मीर : द केस फ़ॉर फ्रीडम* (सम्पादक : पंकज मिश्रा) में तारिक़ अली का लेख *द स्टोरी ऑफ़ कश्मीर*, वर्सो, लन्दन, 2011
2. देखें, पेज 677, *नाइस गाई फिनिश सेकंड*, बी.के. नेहरू, पेंग्विन, दिल्ली, 1997
3. देखें, पेज 22, *कश्मीर : द केस फ़ॉर फ्रीडम* (सम्पादक : पंकज मिश्रा) में तारिक़ अली का लेख *द स्टोरी ऑफ़ कश्मीर*, वर्सो, लन्दन, 2011
4. देखें, पेज 37, *कश्मीर आफ़्टर इंसरजेंसी*, बलराज पुरी, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, तीसरा संस्करण, दिल्ली-2008
5. देखें, पेज 23-24, नायला अली ख़ान द्वारा सम्पादित *पार्चमेंट ऑफ़ कश्मीर* में एम.आई. ख़ान का लेख *इवोल्यूशन ऑफ़ माई आइडेंटिटी*, पल्ग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 2012
6. देखें, पेज 7-10, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन*, खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
7. देखें, पेज 114-15, *कश्मीर इन कॉन्फ्लिक्ट : इंडिया, पाकिस्तान एंड द अनएंडिंग वार*, विक्टोरिया स्कोफ़ील्ड, आई.बी. टारिस एंड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन, 2003
8. देखें, पेज 107-108, *कश्मीर द बाजपेयी इयर्स*, ए.एस. दुलत, हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स, नोएडा, 2015
9. देखें, पेज 70, *अक्रॉस द लाइन ऑफ़ कंट्रोल : इनसाइड पाकिस्तान, एडमिनिस्टर्ड कश्मीर*, लव पुरी, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, 2012

* जहाँ कश्मीर प्रशासन से जुड़े उच्चाधिकारियों और मुख्यमंत्री सहित सभी बड़े नेताओं के बंगले हैं।

10. देखें, 6 फ़रवरी, 1984 का न्यूयॉर्क टाइम्स, http://www.nytimes.com/1984/02/06/world/british-find-the-body-of-indian-diplomat-who-was-abducted.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
11. देखें, 29 फ़रवरी, 1984 के *इंडिया टुडे* में सुमित मित्रा का लेख।
12. देखें, https://www.greaterkashmir.com/news/kashmir/mahaz-e-azadi-remembers-zehgeer/ (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
13. देखें, पेज 204-205, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज इन कश्मीर,* डी.एन. धर, कनिष्क पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001
14. देखें, पेज 7-10, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
15. देखें, पेज 203, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज इन कश्मीर,* डी.एन. धर, कनिष्क पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001
16. देखें, पेज 104, *क्रीसेंट ओवर कश्मीर,* अनिल माहेश्वरी, रूपा एंड कम्पनी, दिल्ली, 1993
17. देखें, पेज 677, *नाइस गाई फिनिश सेकंड,* बी.के. नेहरू, पेंग्विन, दिल्ली, 1997
18. देखें, वही, पेज 681
19. देखें, वही, पेज 683
20. देखें, पेज 333, *माई लाइफ़,* डी.डी. ठाकुर, लेक्सिस-नेक्सिस, दिल्ली, 2017
21. देखें, पेज 36, *कश्मीर : अ ट्रेजेडी ऑफ़ एरर्स,* तवलीन सिंह, पेंग्विन-वायकिंग, दिल्ली, 1995
22. देखें, पेज 684, *नाइस गाई फिनिश सेकंड,* बी.के. नेहरू, पेंग्विन, दिल्ली, 1997
23. देखें, एम.जे. अकबर, पेज 202-203, पारिमू, 228-229
24. देखें, वही, पेज 204
25. देखें, पेज 37, *कश्मीर : अ ट्रेजेडी ऑफ़ एरर्स,* तवलीन सिंह, पेंग्विन-वायकिंग, दिल्ली, 1995
26. देखें, पेज 331, *माई लाइफ़,* डी.डी. ठाकुर, लेक्सिस-नेक्सिस, दिल्ली, 2017
27. देखें, पेज 239, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
28. देखें, पेज 715, *नाइस गाई फिनिश सेकंड,* बी.के. नेहरू, पेंग्विन, दिल्ली, 1997
29. देखें, पेज 38, *कश्मीर : इंसरजेंसी एंड आफ्टर,* बलराज पुरी, तीसरा संस्करण, ओरियेंट लांगमैन, दिल्ली, 2008
30. देखें, पेज 91, *माई इयर्स विथ शेख़ अब्दुल्ला,* गुलाम अहमद, गुलशन बुक्स, श्रीनगर, 2008

31. देखें, कारवाँ के 23 मार्च, 2016 में प्रकाशित प्रवीण डोंथी का आलेख हाउ मुफ़्ती *मोहम्मद सईद शेप्ड द 1987 इलेक्शंस*
32. देखें, पेज 38, *कश्मीर : इंसरजेंसी एंड आफ्टर,* बलराज पुरी, तीसरा संस्करण, ओरियेंट लॉन्गमैन, दिल्ली, 2008
33. देखें, पेज 370, *माई लाइफ़,* डी.डी. ठाकुर, लेक्सिस-नेक्सिस, दिल्ली, 2017
34. देखें, पेज 307-10, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
35. देखें, वही, पेज 370
36. देखें, पेज 211-12, *कश्मीर : बिहाइंड द वेल,* एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, छठा संस्करण, दिल्ली, 2011
37. देखें, पेज 37, *कश्मीर आफ़्टर इंसरजेंसी,* बलराज पुरी, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, तीसरा संस्करण, दिल्ली, 2008
38. देखें, पेज 315, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
39. देखें, वही, पेज 320
40. देखें, पेज 75, *इलेक्शंस इन जम्मू एंड कश्मीर,* जी.एन. गौहर, मानस पब्लिकेशन, दिल्ली, 2002
41. देखें, 2 अगस्त, 2011 को अल जज़ीरा में छपा वज़ाहत अहमद का लेख *रिप्रेशन एंड रेसिस्टेंस इन कश्मीर* http://www.aljazeera.com/indepth/spotlight/kashmirtheforgottenconflict/2011/07/20117261221166 77591.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
42. देखें, पेज 48, *कश्मीर : रूट्स ऑफ़ कॉन्फ्लिक्ट पाथ टू पीस,* सुमांत्रा बोस, हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 2003
43. देखें, वही पेज 49
44. देखें, पेज 119, *इलेक्शंस इन जम्मू एंड कश्मीर,* जी.एन. गौहर, मानस पब्लिकेशन, दिल्ली, 2002
45. देखें, पेज 54, *कश्मीर : रेज़ एंड रीजन,* गौहर गीलानी, रूपा, दिल्ली, 2019
46. देखें, वही, पेज 122
47. देखें, पेज 90-91, *कश्मीर : द लैंड ऑफ़ रिग्रेट,* मूसा रज़ा, सी नेक्स्ट, चेन्नई, 2019
48. देखें, पेज 328, *व्हाट हैपेन्स टू गवर्नेंस इन कश्मीर,* एजाज़ अशरफ़ वानी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2019
49. वानी द्वारा पेज 328 पर उद्धृत

50. देखें, पेज 324, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
51. देखें, पेज 121, *इलेक्शंस इन कश्मीर,* जी.एच. वानी, मानस पब्लिकेशन, दिल्ली, 2012
52. देखें, पेज 356, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
53. देखें, पेज 163, *माई फ्रोजेन टर्बुलेंस इन कश्मीर,* जगमोहन, एलाइड पब्लिशर लिमिटेड, दिल्ली, 1991
54. देखें, पेज 329-50, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
55. देखें, पेज 60-61, *कश्मीर : इंसरजेंसी एंड आफ़्टर,* बलराज पुरी, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, तीसरा संस्करण, दिल्ली, 2008
56. देखें, पेज 199-202, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज इन कश्मीर,* डी.एन. धर, कनिष्क पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001
57. देखें, पेज 350, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
58. देखें, पेज 54, *कश्मीर : रेज़ एंड रीजन,* गौहर गीलानी, रूपा, दिल्ली, 2019
59. देखें, पेज 225, *कश्मीर : एक्सपोज़िंग द मिथ बिहाइंड नैरेटिव,* ख़ालिद अहमद बशीर, सेज, दिल्ली, 2017
60. देखें, पेज 60-61, *कश्मीर : इंसरजेंसी एंड आफ़्टर,* बलराज पुरी, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, तीसरा संस्करण, दिल्ली, 2008
61. देखें, पेज 62, *कश्मीर : रेज़ एंड रीज़न,* गौहर गीलानी, रूपा, दिल्ली, 2019
62. एजाज़ अशरफ़ वानी द्वारा उद्धृत, पेज 342-43
63. देखें, पेज 207, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज इन कश्मीर,* डी.एन. धर, कनिष्क पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001

अध्याय-10

डर, ग़ुस्सा, बेरुख़ी और घर से बेघर कश्मीरी पंडित

[1989 और आगे]

> जब भारत में कट्टरपंथी हिन्दू विचारधारा उठान पर थी और जमा'त का पाकिस्तान की मदद से कश्मीर में प्रभाव बढ़ रहा था तो दो अफ़वाहें कश्मीर में, ख़ास तौर पर शहरी साम्प्रदायिक वर्ग में, लोकप्रिय हो रही थीं। एक तरफ़ अफ़वाह यह थी कि अगर कश्मीरियों ने भारत सरकार के ख़िलाफ़ आज़ादी के लिए युद्ध छेड़ा तो पाकिस्तान उसमें पूरी तरह से साथ देगा और अगर एक भी आज़ादी का योद्धा मारा गया तो सारे कश्मीरी पंडितों को एक पल में ख़त्म कर दिया जाएगा; इसी तरह इसके मुक़ाबले में दूसरी अफ़वाह यह थी कि अगर एक भी कश्मीरी पंडित मारा गया तो बाक़ी देश के हिन्दू कश्मीर के एक-एक मुसलमान को ख़त्म कर देंगे। दोनों ही सही साबित नहीं हुईं।[1]
>
> —प्रो. रत्तनलाल हांगलू

स्थितियाँ लगातार बेक़ाबू होती जा रही थीं और प्रशासन इसके बरअक्स कोई रचनात्मक पहल करने में नाकाम था। शेख़ की भरपूर आलोचना के बावजूद यासीन ने एक जगह स्वीकारा है कि शेख़ अब्दुल्ला कश्मीर में पैदा हुए सबसे बड़े नेता हैं। वे उनसे प्रेरणा भी ले रहे थे। 1989 की गर्मियों में जे.के.एल.एफ़. ने 'कश्मीर छोड़ो' का नारा भी दिया। बस, समस्या यह थी कि जहाँ शेख़ के सामने गांधी जैसा मॉडल था और 'नया कश्मीर' जैसा व्यवस्थित तथा जनपक्षधर सपना, वहीं जे.के.एल.एफ़. के पास आज़ादी के नारे को हक़ीक़त में बदलने के लिए सिर्फ़ पाकिस्तान से मिले एके 47 जैसे हथियार और हत्याओं का प्रशिक्षण थे। विडम्बना यह कि पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में ग़ुलाम नबी गिलकर के ज़माने से ही कश्मीर की आज़ादी की बात करनेवालों के दमन का इतिहास जानते हुए जे.के.एल.एफ़. उसी के सहारे आज़ादी के सपने बुन रहा था; या फिर मुमकिन है कि इन युवाओं को ग़ुस्से के नशे में इतिहास पढ़ने का मौक़ा ही न मिला हो वरना वे समझते कि ऑपरेशन टोपाज़ या भारत को हज़ार ज़ख़्म देने की पाकिस्तानी नीति किसी तरह से कश्मीर को पाकिस्तान में शामिल करने की नीति है और वे 'आज़ादी' जैसी कोई छूट देने को तैयार नहीं। जल्द ही जे.के.एल.एफ़. को भी परिणाम भुगतने

पड़े, लेकिन उसके पहले वे कश्मीर में बन्दूक़ ला चुके थे। हत्याओं का जो सिलसिला उस दौर में शुरू हुआ, भारत और कश्मीर के अपरिपक्व राजनीतिक नेतृत्व के चलते वह एक ऐसे हिंसक चक्रव्यूह में फँसता चला गया, जिससे बाहर निकलना आज तक मुमकिन नहीं हुआ, और इसकी क़ीमत सबको चुकानी पड़ी—बन्दूक़ उठाए लोगों को, बेगुनाह पंडितों को और बेगुनाह मुसलमानों को भी।

माहौल सुधारने के लिए सरकार ने जुलाई में पाकिस्तान से लौटते हुए पकड़े गए ऐसे 72 लोगों को रिहा कर दिया जिन पर कोई गम्भीर आरोप नहीं थे। लेकिन इसका भी उलटा असर हुआ और अगले ही दिन सी.आर.पी.एफ़. कैम्प पर हमला हुआ और तीन जवानों को मार दिया गया।[2] 21 अगस्त, 1989 को श्रीनगर में पहली राजनीतिक हत्या हुई जिसमें नेशनल कॉन्फ्रेंस के एक ब्लॉक अध्यक्ष मोहम्मद यूसुफ़ हलवाई को गोली मार दी गई। सरकार ने मामले की गम्भीरता को समझने और गम्भीर क़दम उठाने की जगह प्रेस को नियंत्रित करनेवाला जम्मू और कश्मीर स्पेशल पॉवर (प्रेस) बिल जल्दबाज़ी में विधान सभा में पेश कर दिया। नतीजा एक और हड़ताल। फिर 14 सितम्बर को हब्बा कदल में घाटी के भाजपा अध्यक्ष और वकील टीका लाल टपलू तथा 4 नवम्बर को मक़बूल बट्ट को फाँसी की सज़ा देनेवाले न्यायाधीश नीलकांत गंजू की भी हत्या कर दी गई। हत्याओं की ज़िम्मेदारी जे.के.एल.एफ़. ने ली और दावा किया कि ये हत्याएँ किसी धार्मिक कारण से नहीं बल्कि राजनीतिक कारण से की गई हैं। लेकिन इन हत्याओं ने पंडितों के बीच असन्तोष और भय, दोनों पैदा किये।[3] असल में देखा जाए तो राजनीतिक हत्याएँ उस दौर में लगातार हुई थीं। 1990-92 के बीच नेशनल कॉन्फ्रेंस के पूर्व मंत्रियों हिस्माउद्दीन बांदे, मोहम्मद अताउल्लाह सुहरावर्दी और अब्दुल ग़नी वीराँ, विधान सभा के पूर्व अध्यक्ष वाली अहमद बट, पूर्व विधायक मोहमद सुभान बट, पीर मोहम्मद शफ़ी, शेख़ मंज़ूर, अब्दुल राशिद दार, नाज़िर अहमद वानी, ग़ुलाम क़ादिर मीर, अब्दुल माजिद बांदे, नेशनल कॉन्फ्रेंस से जुड़े ग़ुलाम मोहम्मद बांदे, अनवर ख़ान, अब्दुल जब्बार, ग़ुलाम अहमद क़ारा, ग़ुलाम रसूल लट्टू, ग़ुलाम मोहम्मद वानी, मोहम्मद यूसुफ़ गनाई, मोहम्मद अब्दुल मीर और कई बड़े व्यापारियों, जनता दल के ग़ुलाम क़ादरी और ग़ुलाम रसूल ऋषि, धार्मिक नेता मुफ़्ती जलालुद्दीन, शेख़ अब्दुल्ला के भतीजे शेख़ सादिक़ की हत्याएँ अलग-अलग आतंकवादी ग्रुपों ने कर दी थीं। यही नहीं, कांग्रेस नेता ग़ुलाम नबी आज़ाद के साले तस्सदुग हुसैन का अपहरण किया गया था और फिर उनके ससुर हाजी मोहम्मद अब्दुल्ला के घर पर बमों से हमला हुआ था। 1992 में तत्कालीन गृह राज्य मंत्री राजेश पायलट के कारवाँ पर हमला हुआ था तो 1994 में मुफ़्ती मोहम्मद सईद के घर पर।[4] इसके अलावा कांग्रेस के नेता मोहम्मद शफ़ी क़ुरैशी के घर पर भी हमला हुआ था।[5] गूजर समुदाय के सबसे प्रतिष्ठित नेता क़ाज़ी निसार अहमद की हत्या भी उसी दौर में हुई तो राज्य की कम्यूनिस्ट पार्टी के पूर्व महासचिव अब्दुल सत्तार रंजूर, कश्मीर विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. मुशीर-उल-हक़ और उनके सहायक, प्रतिष्ठित

सर्जन और जे.के.एल.एफ़. के आइडियोलाग माने जानेवाले डॉ. अब्दुल अहद गुरु जैसे सैकड़ों लोग भी उसी दौर में मारे गए।[6] भारतीय राज्य के ख़िलाफ़ युद्ध में आतंकवादियों के लिए राजनीतिक कार्यकर्ता पहला निशाना होने ही थे लेकिन इस क्रम में पंडित नेताओं की हत्याओं ने अल्पसंख्यक वर्ग के भीतर एक असुरक्षा का भाव पैदा किया। इसे राजनीतिक कार्यकर्ता की हत्या की जगह मुसलमानों द्वारा कश्मीरी पंडितों की हत्या की तरह देखा गया।

उधर, अमानुल्ला ख़ान 1989 की शुरुआत में लन्दन से पाकिस्तान चला आया था और इस बार पाकिस्तान में उसका स्वागत हुआ था। अपने क़ब्ज़े वाले कश्मीर को पाकिस्तान ने कश्मीरी लड़कों के प्रशिक्षण के लिए इस्तेमाल किया और जे.के. एल.एफ़. को हथियार तथा धन मुहैया कराए। घाटी में जे.के.एल.एफ़. की पुनर्स्थापना हामिद शेख़, अशफ़ाक माजिद वानी, जावेद अहमद मीर और यासीन मलिक ने की थी जिसे उनके नाम के पहले अक्षरों के आधार पर हाजी (HAJY)* ग्रुप कहा जाता था। उस दौर में जे.के.एल.एफ़. का असर और ख़ौफ़ इसी बात से समझा जा सकता है कि जब 1989 में राजीव गांधी ने देश के लोक सभा चुनावों के साथ कश्मीर में भी चुनाव कराने के निर्णय लिये तो जे.के.एल.एफ़. के बहिष्कार की घोषणा के चलते बारामूला में एक भी वोट नहीं पड़ा, सोपोर में पाँच वोट पड़े। श्रीनगर में नेशनल कॉन्फ्रेंस के अलावा किसी और पार्टी से किसी ने पर्चा ही नहीं भरा![7]

एक सम्पन्न व्यापारी परिवार में जन्मे इस ग्रुप के पहले कमांडर अशफ़ाक़ की पढ़ाई-लिखाई कश्मीर के सबसे प्रतिष्ठित टिंडल बिस्को स्कूल और फिर श्रीप्रताप कॉलेज और कश्मीर विश्वविद्यालय में हुई थी। टिंडल बिस्को में पढ़ते हुए ही वह सागर और आज़म इंकलाबी** के सम्पर्क में आ गया था और उसी की प्रेरणा से उसने इन तीनों के

---

* हालाँकिं डेविड का कहना है कि यह HAJI ग्रुप है। अशफ़ाक़ का नाम दरअसल इशफाक़ था और यासीन का मूल नाम असलम था। वेद गुप्ता ने भी इशफाक़ ही लिखा है लेकिन बाक़ी जगहों पर अशफ़ाक़ आया है। वैसे इशफाक़ कश्मीर में काफ़ी प्रचलित नाम है।

** आज़म इंकलाबी दिल्ली समझौते के बाद सोफ़ी मोहम्मद अकबर की 'महाज़-ए-आज़ादी' से जुड़ा था जो मूलत: जमा'त के संगठन 'अवामी महाज़' का नया नाम था। इसके पहले वह अल-फ़तेह से भी जुड़ा रहा और उन पहले कश्मीरी आतंकवादियों में से एक है जो सीमा-पार से प्रशिक्षण और हथियार लेकर लौटे थे। 1987 के चुनावों के बाद उसे भी जेल में डाला गया लेकिन रिहा होने पर 22 जनवरी, 1988 को उसने एकतरफ़ा युद्धविराम घोषित किया, हालाँकि इसका उपयोग उसने भूमिगत रूप से नये युवाओं की भर्ती के लिए किया। पाकिस्तान समर्थक तत्त्वों के आन्दोलन में दबदबे के बाद वह 1992 में लन्दन भाग गया और फिर वहाँ से लौटकर 1993 में पाकिस्तान में रहकर कश्मीर की आज़ादी के लिए अभियान चलाने लगा। उसका स्टैंड पाकिस्तानी प्रशासन को नागवार गुज़रा और 1995 में उसे पाकिस्तान छोड़ने पर मजबूर कर दिया गया। भारत आकर 16 जनवरी, 1995 को उसने हथियार का रास्ता छोड़ने की घोषणा की और फ़िलहाल गंभीर बीमारी में वह अलग-थलग जीवन जी रहा है (विस्तार के लिए पूर्वोद्धृत डेविड देवदास की पुस्तक *द स्टोरी ऑफ़ कश्मीर* देखें और *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ सोशल साइंसेज* के खंड 5, अंक 1, में छपा गुलाम रसूल भट्ट का लेख *प्रोफ़ाइल एंड पॉलिटिकल आइडियोलोजी ऑफ़ आज़म इन्क़लाबी*, 29-33 मार्च, 2016)।

अलावा मुश्ताक़-उल-इस्लाम, शौक़त बख़्शी, इरशाद अहमद आदि के साथ इस्लामिक स्टूडेंट लीग बनाई थी जो आगे चलकर जम्मू-कश्मीर लिबरेशन फ्रंट में बदल गई।[8] इन सभी ने 1987 के चुनावों में एम.यू.एफ़. के लिए काम किया था और चुनावों के बाद जब एम.यू.एफ़. के लोगों की गिरफ़्तारी शुरू हुई तो 24 मार्च को अशफ़ाक़ भी गिरफ़्तार कर लिया गया। नौ महीने बाद वह पैरोल पर रिहा हुआ और शादी के अगले ही दिन पाकिस्तान निकल गया। जाने के एक दिन पहले शादी में नेशनल कॉन्फ्रेंस के वरिष्ठ नेता मोहिउद्दीन शाह के यह कहने पर कि सरकार के ख़िलाफ़ हो रहे प्रदर्शन निरर्थक हैं, उसने कहा था कि कश्मीर की सरकार ने दो ग़लतियाँ की हैं : पहली, भारत में विलय करके और दूसरी, मुझे पैरोल पर छोड़कर।[9]

कश्मीर में बनी बायनरीज़ में अक्सर जे.के.एल.एफ़. को 'सेक्यूलर' संगठन कहा जाता है।[10] यह इस मानी में सुविधाजनक हो सकता है कि यह इकलौता संगठन है जो भारत और पाकिस्तान से अलग एक आज़ाद कश्मीर की बात करता है, और इसने लगातार सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधित्व का दावा किया, जबकि इसके अलावा सभी संगठनों के लिए आज़ादी का नारा पाकिस्तान में विलय का पर्यायवाची है और सभी ने इस्लामी प्रतीकों का इस्तेमाल किया। लेकिन क्या इतने भर से जे.के. एल.एफ़. को एक 'सेक्यूलर संगठन' कहना उचित होगा? हमने देखा है कि घाटी में यह संगठन 'इस्लामी स्टूडेंट लीग' से निकला था और 1987 के चुनावों में इस्लामी पार्टियों और संगठनों के अम्ब्रेला ग्रुप मुस्लिम यूनाइटेड फ्रंट के साथ था। ज़ाहिर है, इसकी प्रेरणाएँ सेक्यूलर नहीं, इस्लामी थीं। लेकिन इसे सिर्फ़ इस्लामिक कहा जाना भी एक सरलीकरण होगा। कश्मीर डिस्पैच में छपे पूर्वोद्धृत लेख में ज़िक्र है कि 14 साल की उम्र में अशफ़ाक़ ने शेख़ अब्दुल्ला की शवयात्रा में जाने से मना कर दिया था। गौहर गीलानी इस आन्दोलन पर बात करते हुए इसे दिल्ली समझौते से उपजे ग़ुस्से की परिणति बताते हैं। 1987 के चुनावों में नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस के गठबन्धन पर राजीव गांधी की बाद की प्रतिक्रिया हमने पढ़ी है। कहीं न कहीं वह चुनाव दिल्ली समर्थक और स्थानीय भावनाओं के बीच का चुनाव हो चुका था तो जनता का उसे जिस तरह का समर्थन मिला, उसके बारे में हम पहले ही पढ़ चुके हैं। असल में, लोकतंत्र से वंचना ने कश्मीर में जो असन्तोष पैदा किया और शेख़ अब्दुल्ला के समय से ही किसी भी विपक्ष को, यहाँ तक कि वामपंथी और समाजवादी दलों को भी, नहीं पनपने देने के कारण जो शून्य भरता चला गया, उसे जमा'त और दूसरी इस्लामी ताक़तों ने धीरे-धीरे भर दिया। दिल्ली द्वारा राज्य की सत्ता और राजनीति के नियंत्रण, असंतुलित विकास, भ्रष्टाचार और विरोध की आवाज़ों के क्रूर दमन के इस माहौल में इन ताक़तों के लिए इस प्रक्रिया को 'भारतीय हिन्दू साम्राज्यवाद' का 'मुस्लिम कश्मीर' पर दमन साबित कर दिया

जाना सहज था और ऐसे में सेक्यूलर क्षेत्रीय कश्मीरी अस्मिता या कश्मीरियत की जगह मुस्लिम अस्मिता के कश्मीरी राष्ट्रवाद ने ले ली। यहाँ जे.के.एल.एफ़. को लेकर डेविड देवदास के प्रेक्षण को देख लेना रोचक होगा :

> ...इस्लामी रेटरिक का नस्ली सफाए को छिपाने के लिए उपयोग किया गया, लेकिन पंडितों की हत्या न गूगा के पैन-इस्लामिक लोगों ने की, न शब्बीर शाह के पाकिस्तानियों ने, न गीलानी के कट्टरवादियों ने। यह हत्या जे.के.एल.एफ़. के राष्ट्रवादियों ने की। अशफ़ाक़ के सबसे विश्वस्त लोगों में से एक फ़ारूक़ दार उर्फ़ बिट्टा कराटे ने बाद में स्वीकार किया कि उसने अकेले 47 पंडितों की हत्या की है।...1990 का साम्प्रदायिक विद्वेष एक क्रूर वास्तविकता है। पिछले जाड़ों की कई रातों में अशफ़ाक़ यासीन के पास बैठकर गाता था—एस बनाव पाकिस्तान, बटाव रुस्तुए बटनावेऊ सान (इसे हम पाकिस्तान बनाएँगे जिसमें पंडित नहीं होंगे, केवल पंडित महिलाएँ होंगी)। उसके पिता याद करते हैं कि वह हामिद और जावेद के साथ कामुक तरीक़े से इस मूर्खतापूर्ण गाने को गाता था।
>
> पंडितों के ख़िलाफ़ कश्मीरी मुसलमानों का सामाजिक-आर्थिक असन्तोष डेढ़ सदियों से था। आसान है कि 1990 की इस पतित क्रूरता के लिए अस्सी के दशक के इस्लामी कट्टरपंथ को ज़िम्मेदार ठहराया जाए लेकिन यह तथ्य कि इसे जे.के.एल.एफ़. द्वारा अंजाम दिया गया है, बताता है कि पंडितों के ख़िलाफ़ असन्तोष सीमा पार कर चुका था।[11]

डेविड के इस प्रेक्षण को बहुत ग़ौर से पढ़े जाने की ज़रूरत है। यह तो स्पष्ट है कि जे.के.एल.एफ़. को बस इस मानी में 'सेक्यूलर' कहा जा सकता है कि वह सीधे पाकिस्तान में विलय की बात करने की जगह 'आज़ाद कश्मीर' की बात करता था। हालाँकि वखलू ने बाद के दौर में जे.के.एल.एफ़. के सेक्यूलर व्यवहारों को चिह्नित किया है जिसमें राशन की दुकानों पर क़ब्ज़े के बाद दोनों समुदायों को बराबरी से अनाज बाँटे जाने आदि का ज़िक्र है। लेकिन फिर ऐसे में 'इसे पाकिस्तान बनाएँगे' को कैसे देखा जाए? इसके आधार पर जे.के.एल.एफ़. को पाकिस्तान समर्थक मान लेना तो जल्दबाज़ी होगी, ख़ास तौर पर इस तथ्य की रोशनी में कि कश्मीर में आतंकवाद का असर गहरा होते ही पाकिस्तान ने ज़े.के.एल.एफ़. की जगह 'हिज़बुल मुजाहिदीन' को इसकी कमान ही नहीं सौंपी बल्कि हिज़बुल और जे.के.एल.एफ़. के बीच ख़ूनी संघर्ष हुआ और अन्ततः जे.एक.एल.एफ़. का पूरी तरह सफ़ाया हो गया।[12] प्रमुख नेता होने के बावजूद अशफ़ाक़ फ्रंट का आइडियोलाग नहीं कहा जा सकता। ऐसे तमाम युवा उस समय जे.के.एल.एफ़. से ही जुड़े थे जो भारत के ख़िलाफ़ हथियारबन्द संघर्ष के हामी थे। बाद में जब पाकिस्तान समर्थक तत्त्व हावी हुए तो उनमें से कई ने पाले बदल लिये। अशफ़ाक़ उसके पहले ही सुरक्षा बलों के हाथों मारा गया। दूसरा यह कहना कि हिज़बुल या दूसरे लोगों ने पंडितों को नहीं मारा, अपने-आप में बहुत सही वक्तव्य

नहीं। ऐसे में जे.के.एल.एफ़. का असर ख़त्म हो जाने के बाद नन्दीमार्ग और वंधामा सहित हुई अनेक घटनाओं को कैसे व्याख्यायित किया जा सकेगा? उदाहरण के लिए श्रीनगर में ही 17 जून, 1990 को जे.एल. गंजू और उनके परिवार की तथा 14 अक्टूबर, 1990 को श्यामलाल कौल तथा उनके परिवार के चार सदस्यों सहित 2 अन्य पंडितों की हत्या पाकिस्तान समर्थक अल-उमर मुजाहिदीन ने की थी जबकि हिज़बुल के लोगों ने 5 दिसम्बर, 1992 को हृदयनाथ वांचू की हत्या की थी। 10 अप्रैल, 1993 को लाल चौक स्थित सनातन धर्मशाला और अखाड़ा भवन को जला दिया था और इसके अलावा भी अलग-अलग घटना में कई पंडितों को मारा गया था।[13] अनेक लोगों ने इस बात का ज़िक्र किया है कि जनवरी में कुछ पंडितों के घर पर जो पर्चे लगाये गए थे या फिर स्थानीय अख़बारों में कश्मीर छोड़ देने की जो धमकियाँ दी गई थीं, वे हिज़बुल मुजाहिदीन के लेटरपैड पर थीं। ऐसे ही अगर यह कहा जाए कि जे.के.एल.एफ़. या दूसरे संगठनों ने सिर्फ़ पंडितों को मारा तो इसे कैसे व्याख्यायित किया जाएगा कि पहला हमला कश्मीर के डी.आई. जी. एम.ए. वटाली पर हुआ था और पहली हत्या 21 अगस्त, 1989 को नेशनल कॉन्फ्रेंस के नेता मोहम्मद यूसुफ़ हलवाई की हुई थी, 3 जून को उनके भाई गुलशन वटाली की हत्या कर दी गई?[14] कई बार कुछ नया कहने की कोशिश में किये गए सरलीकरण विवेचना को भटका देते हैं।

उस नारे या गीत का दूसरा भाग बेहद आपत्तिजनक है और बताता है कि किस तरह विचारधाराहीन आन्दोलनों में फैली अराजकता साम्प्रदायिक नफ़रत से मिल-जुलकर उसे 'पतित क्रूरताओं' तक पहुँचा देती है। लेकिन क्या इसे 'नस्ली सफाया' कहना सही होगा? यह पद नब्बे के बाद के विस्थापित कश्मीरी पंडित आख्यानों में भी अक्सर सुना जाता है, हालाँकि वखलू अपनी किताब में इसका कहीं ज़िक्र नहीं करतीं। घाटी में मुसलमानों की आबादी कोई 95 फ़ीसद थी और पंडित आबादी साढ़े चार फ़ीसद। अगर सारे मुसलमान उस वक़्त नस्ली सफाए के इरादे से आन्दोलन में शामिल हुए होते तो क्या मंज़र होता, उसे सोचा जा सकता है। यहाँ यह ज़िक्र कर देना उचित होगा कि विस्थापन की प्रक्रिया 1997 तक चली और इस पूरे वक़्फ़े में पंडितों के कोई 800 परिवारों ने घाटी न छोड़ने का निर्णय लिया, उनमें खेमलता वखलू भी शामिल थीं। इन पंडितों का आख्यान अगले अध्याय में विस्तार से दर्ज किया गया है।

असल में इस 'पतित क्रूरता' के कारणों का कोई सरलीकरण भ्रामक ही होगा। कश्मीर के इतिहास को खंगालते हुए हमने देखा है कि दोनों समुदायों के बीच विवाद और पंडितों के विशेषाधिकार को लेकर कश्मीरी मुसलमानों में और ख़ास तौर पर आज़ादी के बाद नौकरियों और सत्ता में मुसलमानों के लगातार बढ़ते प्रभाव को लेकर पंडितों में असन्तोष बहुत स्पष्ट था और परमेश्वरी हांडू मामले जैसे कई मामलों में समय-समय पर सामने आता रहा। लेकिन इसके बावजूद इस पूरे दौर में एक ऐसी घटना सामने नहीं

आती है जिसमें मुसलमानों की भीड़ ने पंडितों के साथ हिंसा की हो, जबकि घाटी में पंडित आबादी किसी एक इलाक़े में केन्द्रित नहीं थी बल्कि वे पूरी घाटी में बहुसंख्यक मुसलमानों के साथ मिली-जुली बस्तियों में रहते थे। यह पूरी प्रक्रिया और गहरी तथा विस्तृत विवेचना की माँग करती है, जिसका प्रयास अगले खंड में किया जाएगा।

रूबिया सईद का अपहरण और आतंकवाद का दूसरा चरण

हत्या, अपहरण और बलात्कारों की आज़ादी

रूबिया सईद के अपहरण के बाद कश्मीर में आतंकवाद दूसरे चरण में प्रवेश कर गया। 2 दिसम्बर, 1989 को जनता दल की सरकार में मुफ़्ती मोहम्मद सईद गृहमंत्री बने थे और इस पद तक पहुँचनेवाले वह पहले कश्मीरी थे। आम हालात में यह एक सकारात्मक सन्देश हो सकता था लेकिन अब शायद बहुत देर हो चुकी थी और भारत के प्रति अपने अप्रश्नेय लगाव के कारण मुफ़्ती 'आज़ादी' के नारों से झूमती कश्मीरी जनता के लिए प्रिय नहीं हो सकते थे। वखलू बताती हैं कि कांग्रेस से इस्तीफ़ा देने के बाद जब मुफ़्ती अनंतनाग पहुँचे तो लोगों को उम्मीद थी कि वह भारत-विरोधी बातें करेंगे लेकिन भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ बोलते हुए मुफ़्ती ने भारत के विरुद्ध एक शब्द नहीं कहा। सम्भव है, रूबिया सईद का अपहरण कर जे.के.एल.एफ़. भारत सरकार को सीधी चुनौती भी देना चाहता हो! तो मुफ़्ती के शपथग्रहण के ठीक चार दिन बाद 8 दिसम्बर को पौने चार बजे के आसपास लल द्यद अस्पताल से घर लौटते हुए मुफ़्ती मोहम्मद सईद की मँझली बेटी डॉ. रूबिया सईद को मिनी बस से उतारकर एक मारुति कार में डालकर सोपोर ले जाया गया। सोपोर सीमावर्ती इलाक़े में है और उन दिनों लगभग मुक्ति क्षेत्र जैसा बन गया था।[15] इस अपहरण से हड़कम्प मच गया। एक अविवाहित लड़की के अपहरण जैसे ग़ैर-इस्लामी कारनामे को लेकर घाटी में लोगों में एक नाराज़गी भी थी। रूबिया की रिहाई के बदले पहले 3 और फिर 5 आतंकवादियों की रिहाई की माँग की गई। उस समय कश्मीर में आई.बी. के प्रमुख रहे दुलत का मानना है कि उस वक़्त रूबिया को बिना किसी सौदेबाज़ी के भी छुड़ाया जा सकता था और इसमें स्थानीय लोग तथा नेतृत्व भी मदद कर रहा था। फ़ारूक़ अब्दुल्ला किसी सूरत में रिहाई के लिए तैयार नहीं थे लेकिन मुफ़्ती परिवार सरकारी कोशिशों से सन्तुष्ट नहीं था और वे पारिवारिक मित्र और इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तत्कालीन न्यायाधीश मोतीलाल भट्ट के ज़रिये आतंकवादियों से सीधे सम्पर्क करने की कोशिशें कर रहे थे।[16] तत्कालीन मुख्य सचिव मूसा रज़ा ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है कि उन्हें जस्टिस भट्ट से सम्पर्क करने के लिए कहा गया था।[17] लेकिन 13 दिसम्बर को दिल्ली से दो केन्द्रीय मंत्री इन्दर कुमार गुजराल और

आरिफ़ मोहम्मद ख़ान श्रीनगर पहुँचे और फ़ारूक़ को धमकी दी गई कि अगर वह नहीं माने तो उनकी सरकार को बर्ख़ास्त कर दिया जाएगा।[18] इसके बाद फ़ारूक़ की इस चेतावनी के बावजूद कि अगर आतंकवादियों को रिहा किया गया तो कश्मीर में इसकी भारी क़ीमत चुकानी पड़ेगी, हामिद शेख़, शेर ख़ान, नूर मोहम्मद, मोहम्मद अल्ताफ़ और जावेद अहमद को रिहा कर दिया गया। इस बार फ़ारूक़ सही थे।[19] वजाहत हबीबुल्लाह का भी मानना है कि दिल्ली की नई सरकार दबाव में झुक गई और फ़ारूक़ की सलाह को किनारे कर दिया गया।[20] *डॉन* के कराची संस्करण ने लिखा : 'यह एक बन्दरघुड़की थी जो काम कर गई।'[21]

इस घटना के बाद से आतंकवादियों का मनोबल बढ़ना स्वाभाविक था। इसके बाद अपहरण और बदले में रिहाइयों की कई घटनाएँ हुईं। 6 अप्रैल, 1990 को कश्मीर विश्वविद्यालय के उपकुलपति मुशीर उल हक़ तथा उनके निजी सचिव अब्दुल ग़नी और श्रीनगर के एच.एम.टी. के जनरल मैनेजर एच.एल. खेरा का अपहरण कर लिया गया। राज्य सरकार ने इस बार बदले में आतंकवादियों को रिहा करने से मना किया तो तीनों की हत्या कर दी गई। अगस्त, 1991 में जब श्रीनगर के दौरे पर आए भारतीय तेल निगम के कार्यकारी निदेशक के दोरईस्वामी का अपहरण हुआ तो सरकार ने फिर पाँच आतंकवादियों को छोड़ दिया।[22] अब्दुल ग़नी लोन की बेटी शबनम लोन[23] और 27 फ़रवरी, 1991 को सैफ़ुद्दीन सोज़ की बेटी नाहीद सोज़ का भी अपहरण किया गया, हालाँकि इन दोनों मामलों में बहुत शोर नहीं मचा और आसानी से रिहाई हो गई। सोज़ बताते हैं कि उन्होंने इस बाबत किसी प्रचार की जगह सीधे तत्कालीन प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर से बात की और उन्होंने सीधे नवाज़ शरीफ़ को फ़ोन कर इख़्वान-उल-मुसलमीन नामक संगठन की क़ैद से नाहीद को छुड़वा लिया।[24] पूर्व मंत्री खेमलता वखलू और उनके पति ओ.पी. वखलू का भी अपहरण हुआ था और सेना ने उन्हें 51 दिन बाद रिहा करवा लिया था।[25] एक और अपहरण हुआ था मेडिकल कॉलेज के प्रोफ़ेसर और लोकप्रिय चिकित्सक डॉ. एस.एन. धर का। डॉ. धर ने अपने संस्मरण में विस्तार से अल-उमर की क़ैद में श्रीनगर से अनंतनाग और सीमावर्ती क्षेत्रों के विभिन्न ठिकानों पर बिताए गए समय के बारे में बहुत निरपेक्ष होकर लिखा है जिसमें वह उन अलग-अलग परिवारों के, जिनमें वह रहे तथा अल-उमर के अलग-अलग उम्र और परिवेश के मुजाहिदीनों के माध्यम से तत्कालीन कश्मीरी समाज में आलोड़न को भी बहुत संवेदनशीलता से दर्ज करते हैं। उनके साथ दो ग़ैर-कश्मीरी, कश्मीर विश्वविद्यालय के भौतिकी के प्रोफ़ेसर वर्मा तथा इंजीनियरिंग कॉलेज के प्रोफ़ेसर राही भी इस लम्बी क़ैद में थे तथा आखिरी दौर में एक निर्दलीय विधायक मक़बूल दार का पुत्र शब्बीर भी शामिल था जिसे इन सबके साथ छोड़ा नहीं गया।[26] डॉ. धर खेमलता वखलू के भाई हैं और अपहरण के बावजूद दोनों परिवारों ने श्रीनगर नहीं

छोड़ा। अक्टूबर, 2019 में उनकी पत्नी डॉ. विमला धर से राजबाग़ स्थित उनके घर और श्रीमती वखलू से बछवारा स्थित उनके आवास पर मेरी मुलाक़ात हुई थी।

असल में, उस दौर में आतंकवादियों ने भारत सरकार से जुड़ी हर संस्था पर हमला किया। इस अवधारणा को समझने के लिए एक उदाहरण सरकारी सूचना माध्यमों का ले लेते हैं। 13 फ़रवरी, 1990 को दूरदर्शन श्रीनगर के निदेशक लासा कौल की हत्या का ज़िक्र आपको हर कहीं मिल जाएगा। लेकिन यह सरकारी सूचना माध्यम से जुड़े किसी व्यक्ति की पहली घटना नहीं थी। 1 मार्च, 1990 को रेडियो कश्मीर के सहायक स्टेशन निदेशक पी.एन. हांडू की हत्या हुई। इन घटनाओं के बाद बड़ी संख्या में विभाग के अधिकतर कर्मचारियों को, जिनमें मुख्यत: कश्मीर से बाहर के कर्मचारी और कश्मीरी पंडित शामिल थे, जम्मू भेज दिया गया। हिन्दू-मुस्लिम के तर्क से इसके बाद रेडियो से जुड़े लोगों की हत्याएँ रुक जानी चाहिए थीं क्योंकि उनमें कोई पंडित नहीं बचा था। लेकिन 2 अक्टूबर, 1993 को जमात-उल-मुजहिदीन नामक संगठन द्वारा समाचार वाचकों पर प्रतिबन्ध लगा देने के बावजूद समाचार वाचन करनेवाले मोहम्मद शफ़ी बट फ़रियाद की हत्या कर दी गई। उसी साल 25 नवम्बर को दूरदर्शन केन्द्र, श्रीनगर पर रॉकेट से हमला हुआ तो एक ग़ैर-कश्मीरी इंजीनियर एस.पी. सिंह इसकी चपेट में आ गए। एक हफ़्ते बाद 2 दिसम्बर को आतंकवादियों ने संवाददाता शम्सुद्दीन सहित समाचार सेक्शन के 5 कर्मचारियों का अपहरण कर लिया। दो दिन बाद जमात-उल-मुजाहिदीन और महाज़-ए-आज़ादी ने दूरदर्शन और आकाशवाणी को आतंकवाद-विरोधी समाचार प्रसारित न करने की चेतावनी दी और फिर 19 दिसम्बर को स्टेशन से बाहर निकलते हुए एक कैजुअल आर्टिस्ट मुहम्मद हुसैन जफ़र का अपहरण कर लिया, बाद में उनकी गोलियों से बिंधी लाश मिली। 26 दिसम्बर को रेडियो कश्मीर के सहायक स्टेशन निदेशक सलामदीन पर हमला हुआ। 1 जुलाई, 1994 को देर रात रेडियो और दूरदर्शन पर फिर से रॉकेट हमला हुआ और एक हफ़्ते बाद इसे फिर दुहराया गया। 26 अप्रैल, 2003 को कुछ आतंकवादियों ने विस्फोटकों से भरी कार रेडियो स्टेशन के मुख्य द्वार के पास भिड़ा कर अन्दर घुसने की कोशिश की तो मुठभेड़ में तीन आतंकवादी और दो सुरक्षा अधिकारी मारे गए। 15 मई, 1999 को हिज़बुल मुजाहिदीन ने रेडियो कश्मीर पर बेहद मक़बूल 'सुबह-ए-कश्मीर' नामक कार्यक्रम को रोकने के लिए स्टेशन निदेशक फ़ैयाज़ शहरयार को धमकी दी। शहरयार साहब ने अपने और इस कार्यक्रम के प्रोड्यूसर्स डॉ. रफ़ीक़ मसूदी, ग़ुलाम नबी वानी, रुख़साना जबीन, सतीश विमल और बशारत बुख़ारी पर ख़तरे को देखते हुए पुलिस और उच्चाधिकारियों को पत्र लिखे। कोई जवाब न मिलने पर 19 मई को यह कार्यक्रम स्थगित कर दिया गया। इसके अलावा स्टेशन से जुड़ी दो लिपिक वीणा शिशु और बंटी भान हिंसा में फँसने से घायल हो गईं तो दो दैनिक

वेतनभोगी मेहराजुद्दीन और अब्दुल रशीद बम विस्फ़ोट में मारे गए।[27] 16 अक्टूबर, 1992 को संयुक्त निदेशक, सूचना सैयद ग़ुलाम नबी का अपहरण कर लिया गया और चार दिनों बाद जब उनकी लाश मिली तो उस पर टॉर्चर के निशान थे।[28]

ज़ाहिर है कि दुश्मनी किसी व्यक्ति से नहीं बल्कि सरकारी सूचना माध्यमों से थी। प्रेस काउंसिल ऑफ़ इंडिया ने अपनी एक रपट में लिखा :

> जैसे-जैसे आन्दोलन गलियों में फैला, आतंकवादियों ने और अधिक कवरेज माँगनी शुरू कर दी। 1990 की शुरुआत में राष्ट्रपति शासन लगने के बाद और अधिक प्रतिबन्धात्मक नीतियाँ लागू हुईं। जुलाई, 1988 में दूरदर्शन केन्द्र, श्रीनगर के बाहर विस्फ़ोट हुआ।[29]

वह एक युद्ध जैसी स्थिति थी। कश्मीर की सड़कें आज़ादी के नारों से गूँज रही थीं और लाखों लोग लगातार सड़कों पर आ रहे थे। ऐसे में प्रोपेगेंडा एक बड़ा हथियार होता है। भट्ट बहुत विस्तार से बताते हैं कि उस दौर में रेडियो पाकिस्तान भी लगातार भारत-विरोधी प्रोपेगेंडा में लगा हुआ था। इसलिए इस प्रोपेगेंडा का मुक़ाबला करने के लिए दूरदर्शन और आकाशवाणी ऐसे वक़्त में और ज़्यादा मानीखेज़ थे जब निजी समाचार चैनलों की आज जैसी भीड़ नहीं थी। ये संस्थाएँ भारत के लिए आतंकवाद के विरोध में जनमत बनाने तथा सरकार की नीतियाँ लोगों तक पहुँचाने के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण माध्यम थे और ठीक इसी कारण से आतंकवादियों के लिए उतने ही ख़तरनाक थे तो इससे जुड़े लोगों को धमकी देकर, मारकर तथा इस पर बार-बार हमले करके न केवल वे इसका प्रभाव कम करना चाहते थे बल्कि अपना वर्चस्व भी स्थापित करना चाहते थे। इस प्रोपेगेंडा युद्ध का एक उदाहरण हमें इसे और आसानी से समझने में मदद करेगा :

> हिजबुल मुजाहिदीन ने एक बयान जारी करके कहा : 'दूरदर्शन श्रीनगर ने रेडियो कश्मीर से 'रेडियो हमारा कश्मीर' नामक कार्यक्रम शुरू किया। यह हरिनिवास, श्रीनगर से संचालित होता था और इसका उद्देश्य कश्मीर में चल रहे संघर्ष के उद्देश्यों को नुकसान पहुँचाना तथा आतंकवादी संगठनों के बीच मनमुटाव पैदा करना है।' इसमें दो कैजुअल कर्मचारियों—रमेश मरहट्टा और रजनी—पर यह आरोप लगाया गया कि उन्हें विशेष रूप से इसके लिए तैयार किया गया है और उन्हें गम्भीर नतीज़ों की धमकी दी। डरे हुए कर्मचारियों ने उर्दू अख़बार *रोज़नामचा आफ़ताब* में बयान जारी करके माफ़ी माँगी। रजनी ने तुरन्त नौकरी छोड़ दी और वह बच गईं। रमेश का अपहरण कर लिया गया और उन्हें गम्भीर रूप से घायल कर दिया गया, हालाँकि वह भी बच गए और उनकी नौकरी पक्की करके स्थानान्तरण कठुआ कर दिया गया।[30]

और इस अत्याचार से कोई नहीं बचा। उर्दू के ज़्यादातर अख़बारों ने समर्पण कर दिया था और वे आतंकवादी संगठनों के बयान हू-ब-हू छाप रहे थे लेकिन

जब उर्दू साप्ताहिक *अलसफ़ा* के सम्पादक शाबान वकील ने कुछ आतंकवादी कार्यवाहियों की आलोचना की तो 23 मार्च, 1991 को गोली मारकर उनकी हत्या कर दी गई।[31] इस पूरे दौर में दोनों तरफ़ के दबावों के बीच जान गँवाने वाले पत्रकारों की—शाबान वकील से शुजात बुखारी तक—लम्बी सूची है।

अहमदाबाद में रह रहे कश्मीरी पंडित पी.एल.डी. पारिमू लिखते हैं :

> हिन्दू, मुस्लिम और सिखों के प्रभावशाली सदस्यों की चयनित हत्याएँ भय फैलाने और वैचारिक मतभेदों का गला घोंटने के लिए की गईं। दूसरा उद्देश्य अर्थव्यवस्था, प्रेस, न्यायपालिका और प्रशासन को बेकार कर देना था। 1989 से आतंकवादियों की यह रणनीति रही है।...कोई भी व्यक्ति जो राज्य के प्राधिकार का प्रतिनिधि था, आतंकवादियों के उद्देश्य के प्रति सहमत नहीं था और इस तरह समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान की तरफ़ लोगों की सोच को मोड़ सकता था और आतंकवाद तथा पाकिस्तान की योजनाओं के ख़िलाफ़ था, निशाना बन गया।[32]

इस कड़ी में सबसे पहले हत्याएँ हुईं मुख़बिरों की। मुख़बिर यानी एक तरफ़ तो इंटेलिजेंस एजेंसियों के लोग, जिनका काम ही जासूसी करना था और दूसरी ओर वे लोग, जो सीधे नौकरी तो नहीं करते लेकिन इन्फॉर्मर के रूप में अलग-अलग एजेंसियों के लिए सूचनाएँ पहुँचाते थे। यह तंत्र कैसे काम करता था, इसका एक उदाहरण मोना भान देती हैं। वह बताती हैं कि उनकी माँ के अस्पताल में एक व्यक्ति ने उनसे सम्पर्क किया और पूछा कि क्या वह अस्पताल के आस-पास होनेवाली घटनाओं की हर हफ़्ते सूचना दे सकती हैं? उसने बताया कि इसके बदले उन्हें हर महीने दो हजार रुपये दिये जाएँगे और अगर सूचनाएँ काम की हुईं तो और अधिक पैसे मिल सकते हैं। उसने बताया कि वह रॉ के लिए काम करता है। उनकी माँ ने यह काम करने से मना कर दिया। भान बताती हैं कि नब्बे के दशक से पहले भी राज्य ने यहाँ के लोगों को आपस में एक-दूसरे के ख़िलाफ़ करने के लिए अपने इंटेलिजेंस नेटवर्क में शामिल किया था।[33]

उस दौर में कश्मीर में आई.बी. के प्रमुख ए.एस. दुलत बताते हैं :

> आई.बी. कश्मीर के भीतर सबसे सक्रिय, सबसे ख़ौफ़नाक और सबसे बदनाम एजेंसी थी। आई.एस.आई.*, जो ख़ुद एक जासूसी संस्था थी और अफ़ग़ानिस्तान में ताक़तवर सोवियत संघ को हराकर जिसका हौसला बुलन्द था, जानती थी कि कश्मीर पर अपनी पकड़ बनाये रखने में भारत सरकार के लिए आई.बी. कितनी महत्त्वपूर्ण थी; उसने आतंकवादियों से आई.बी. को निशाना बनाने के लिए कहा। ग्राउंड में आई.बी. के

* पाकिस्तान की गुप्तचर संस्था

अधिकतर अधिकारी कश्मीरी पंडित थे और वे आसान शिकार बने। हालाँकि जिस पहले आई.बी. अधिकारी को गोली लगी, वह बिहार से थे—आर.एन.पी. सिंह। 9 जनवरी को बडगाम में किशन गोपाल मारे गए, 15 जनवरी को एम.एल. भान नौगाम में और 12 फ़रवरी को श्रीनगर में टी.के. राज़दान।[34]

अब एक सवाल तुरन्त हमारे दिमाग़ में आ सकता है कि आख़िर आई.बी. में 'अधिकतर कश्मीरी पंडित' क्यों थे? सम्भव है कि इसका भारतीय सुरक्षा एजेंसियाँ ऐसे गोपनीय कार्यों के लिए कश्मीर जैसी संवेदनशील जगहों पर कश्मीरी पंडितों पर अधिक भरोसा करती हों! कारण जो भी हो, इसका ख़ामियाज़ा उन्हें भुगतना पड़ा। ज़ाहिर है कि मुख़बिरों में भी बड़ी संख्या कश्मीरी पंडितों की ही थी, साथ ही एक जो यह अवधारणा बनी हुई थी कि कश्मीरी पंडितों की निष्ठा भारत के प्रति है और हमने देखा है कि इसके निर्माण के ठोस आधार भी थे, उसने भी इस शंका को बल दिया ही होगा। तो मुख़बिरी के शक में जो लोग मारे गए, उनमें भी बड़ी संख्या पंडितों की ही थी। इन्दु भूषण ज़ुत्शी ने 20 अप्रैल, 1990 को सरला भट्ट नामक एक महिला की आतंकवादियों द्वारा की गई हत्या के बारे में बताया है। एक मेडिकल कॉलेज में नर्स सरला की बलात्कार के बाद हत्या मुख़बिर होने के शक में की गई थी। इस हत्या के बाद अनंतनाग के उनके गाँव के सभी पंडित परिवार घाटी से पलायन कर गए। इसी लेख में ज़ुत्शी गाँव के पड़ोसी मुस्लिम परिवारों को आतंकवादियों द्वारा दी गई धमकियों के बारे में भी ज़िक्र करते हैं जिसके बाद कोई उस परिवार की मदद करने नहीं आया। ज़ाहिर है कि कश्मीरी जनता के बीच के सद्भाव को ख़त्म करने की हर सम्भव कोशिश की जा रही थी।[35] शोपियान के बृजनाथ कौल, उनकी पत्नी और बहन, जम्मू-कश्मीर पुलिस सी.आई.डी. के चुन्नी लाल साहा, अनंतनाग के रिटायर्ड प्रधानाचार्य सर्वानन्द प्रेमी और टेलीफ़ोन विभाग में कार्यरत उनके पुत्र वीरेन्द्र कौल, श्रीनगर में कृषि विभाग के फ़ील्ड ऑफ़िसर अशोक कुमार क़ाज़ी, डॉ. शिबेन कौल और उनके परिवार के तीन सदस्यों, पोस्ट-टेलीग्राफ़ विभाग के बी.के. गंजू, बांदीपुरा की गिरिजा टिक्कू, सोपोर की बबली रैना, प्राण गंजू, अछबल की आशा कौल, सोहन लाल बारू सहित अनेक लोगों की क्रूर हत्याएँ इसी शक में की गईं। ज़ाहिर है, इनमें से सब तो मुख़बिर नहीं ही थे। यही नहीं, महिलाओं के साथ क्रूरता और बलात्कार की भी घटनाएँ हुईं।[36]

धर लिखते हैं : 'कश्मीरी पंडितों की हत्या की ऐसी सैकड़ों घटनाएँ हुईं लेकिन उन्होंने अपने उन सह-धर्मियों को भी नहीं छोड़ा जिन्होंने उनका विरोध किया।'[37] शाबान वकील सहित रेडियो, दूरदर्शन तथा सूचना तंत्र से जुड़े अनेक मुसलमानों की हत्या हमने पहले ही देखी है। अस्सी साल के मौलाना मसूदी को मार दिया गया क्योंकि उन्होंने मो-ए-मुक्कदस मामले में बाल के सही होने की गवाही दी थी। 1989 के दिसम्बर के महीने में ए.एस.आई. मुस्तफ़ा क़ादरी, डी.एस.पी.

ओ.एन. वाटल और अली मोहम्मद वागलू की हत्या कर दी गई। रूबिया सईद के अपहरण की तीखी आलोचना करनेवाली आयशा अमीन के घर पर बम फेंका गया और कई ब्यूटी पार्लरों और स्कूलों को बम से उड़ा दिया गया।[38] 23 मार्च, 1990 को शोपियान में कम्यूनिस्ट पार्टी के पूर्व राज्य सचिव अब्दुल सत्तार गंजूर की हत्या इसलिए कर दी गई कि उनकी विचारधारा इस्लाम-विरोधी थी। एम.यू.एफ़. के निर्माताओं में से एक रहे दक्षिणी कश्मीर के मीरवायज़ डॉ. क़ाज़ी निसार अहमद को इसलिए मार दिया गया कि वह हिज़बुल मुजाहिदीन के कट्टरपंथ के ख़िलाफ़ थे। जे.के.एल.एफ़. के आइडियोलाग कहे जानेवाले डॉ. अब्दुल अहद गुरु को मार दिया गया तो बारहवीं की छात्रा साजिदा हुसैन, 17 साल की रफ़ीका बानो, कुपवाड़ा की तीन बहनों—बाख्ता, फ़ातिमा और सरवर—और उनके भाई परवेज़, शमीना परवीन, कुपवाड़ा के ही कमालुद्दीन के परिवार की तीन महिलाओं, दुधमुँहे बच्चों और तीन अन्य सदस्यों सहित, श्रीनगर की शाबिदा परवीन आदि की हत्याएँ कर दी गईं। इनमें से कई महिलाओं के साथ क्रूरतापूर्वक बलात्कार भी किया गया।[39] आम लोगों की इन हत्याओं के पीछे भी मुख़बिर होने का ही आरोप प्रमुख था।

उस दौर का समाहार खेमलता वखलू श्रीनगर में घटी एक घटना से करती हैं :

> श्रीनगर के पुराने इलाक़े में एक दर्दनाक घटना हुई। एक अठारह साल के लड़के ने अपनी चाची को पिस्तौल दिखाकर बहादुरी दिखाते हुए घोषणा की : 'देखो, यह हथियार लेकर हम आज़ादी जीतने जा रहे हैं।' उसकी चाची हँसी और बोली, 'चुप रहो। तेरे जैसे बहुत हीरो देखे हैं। इस पिस्तौल से तुम आज़ादी जीतोगे?' उस नौजवान लड़के को यह सुनकर बहुत ग़ुस्सा आया। उसने बिना कुछ सोचे बिचारी चाची की जाँघ में गोली मार दी और कहा, 'इसे नक़ली समझने की कभी हिम्मत भी नहीं करना।'[40]

तो यह पागलपन था जिसने कश्मीर में 'आज़ादी' की कमान सँभाली!

इस बीच एक और बड़ी घटना हुई थी जिसका अन्देशा आपको डॉ. अब्दुल अहद तथा मीरवायज़ दक्षिण कश्मीर की हत्याओं के विवरण पढ़ते हुए लग गया होगा। बहुत जल्द पाकिस्तान ने 'भारत और पाकिस्तान से अलग आज़ाद जम्मू और कश्मीर' का ख़्वाब देखने वाले जे.के.एल.एफ़. से हाथ खींच लिये और उसकी जगह कश्मीर के पाकिस्तान में विलय की वकालत करनेवाले हिज़बुल मुजाहिदीन को आर्थिक तथा नैतिक मदद देनी शुरू कर दी। 1992 में जब जे.के.एल.एफ़. ने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर से नियंत्रण रेखा पार कर भारतीय कश्मीर तक जुलूस निकालने की योजना बनाई तो पाकिस्तानी सेना ने उन्हें ऐसा नहीं करने दिया।[41]

जे.के.एल.एफ़. के 'कश्मीर बनेगा ख़ुदमुख़्तार' के बरअक्स हिज़बुल का नारा था: 'कश्मीर बनेगा पाकिस्तान।' कश्मीर में उस दौर में हिज़्ब का सबसे प्रभावी नेता था—अब्दुल माजिद डार। डार ने 1980 के दशक में अपना एक संगठन तहरीक-ए-जेहाद-ए-कश्मीर बनाया था जिसको 1990 के अन्त में हिज़बुल मुजाहिदीन में मिला दिया गया।[42] पाकिस्तान ने जे.के.एल.एफ़. को समर्थन देना ही नहीं बन्द किया बल्कि आज़ादी समर्थक कैम्प में तोड़-फोड़ कर युवकों को हिज़बुल की तरफ़ जाने के लिए प्रेरित भी किया। पाक-अधिकृत कश्मीर से लेकर आज़ाद कश्मीर तक में हिज़्ब के आतंकवादियों ने आज़ादी समर्थक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक तथा धार्मिक लोगों की ही नहीं बल्कि जे.के.एल.एफ़. के लोगों की भी हत्याएँ कीं।[43] परिणामस्वरूप यह संगठन कमज़ोर होता गया तथा अपनी नेतृत्वकारी भूमिका खोने लगा।[44] पारिमू बताते हैं कि मीरवायज़ तथा बाद में अब्दुल ग़नी लोन की हत्याओं में हिज़बुल मुजाहिदीन का हाथ होने की बात हुर्रियत के एक बड़े नेता ने खुलेआम स्वीकार की थी।

भारतीय सेना को चुनौती देने के लिए जल्द ही पाकिस्तान ने अपने देश के अलावा अफ़ग़ानिस्तान, सूडान, लेबनान, तुर्की और सऊदी अरब से 'दोस्त मुजाहिदों' को कश्मीर भेजना शुरू कर दिया। ये आतंकवादी तीन प्रमुख संगठनों के ज़रिये कश्मीर में काम कर रहे थे—हरकत-उल-मुजाहिदीन, लश्कर ए तैयबा और जैश ए मोहम्मद—जिनका मुख्यालय पाकिस्तान या पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में था। उस दौरान कश्मीर में 80 से अधिक संगठन सक्रिय थे, जिनमें जे.के.एल.एफ़. के अलावा लगभग सभी कश्मीर के पाकिस्तान में विलय के समर्थक थे।[45] कश्मीरी मुजाहिदों की मदद के उद्देश्य से आए इन आतंकवादियों ने जल्द ही पूरे आन्दोलन को अपने क़ब्ज़े में ले लिया। इसके असर बहुआयामी थे। इन लड़ाकों के लिए कश्मीर की आज़ादी किसी ऐतिहासिक स्वप्न की पूर्ति नहीं हो सकती थी। उनके लिए यह इस्लामिक विश्व बनाने की विश्वव्यापी जंग का हिस्सा था। कश्मीर का विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक व्यवहार उनके लिए हिन्दुओं के प्रभाव में आई विकृति थी। कट्टर वहाबी इस्लाम को माननेवाले इन लड़ाकों के लिए कश्मीर की सूफ़ी परम्परा इस्लाम-विरोधी थी और मज़ारें बुतपरस्ती।[46] विस्तार में न जाते हुए हम मार्च, 1995 में पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त में दुकानदार रहे आतंकवादी हारून ख़ान उर्फ़ मस्त गुल* के च्रारे शरीफ़ पर क़ब्ज़े को याद कर सकते हैं। शेख़-उल-आलम नुन्द ऋषि की इस ख़ानकाह को अपवित्र करने की बात

* इस क़िस्से की उपकथा यह कि 2014 में मस्त गुल का नाम आख़िरी बार पाकिस्तान के पेशावर में फ़िदाइन हमलों के सन्दर्भ में सुना गया और इसके बाद हिज़बुल मुजाहिदीन ने घोषणा की कि उसे 2001 में ही संगठन से निकाला जा चुका है (http://www.hindustantimes.com/india/once-a-poster-boy-of-kashmir-militancy-mast-gul-declared-villain-by-hizbul/story-c3OAie2h2mK0F0oHlgNZiM.html)।

कोई कश्मीरी सोच भी नहीं सकता। एक तरफ़ आज़ादी के उद्देश्य को किनारे कर देना और दूसरी तरफ़ कश्मीरी संस्कृति में पनपे इस्लाम की जगह एक कट्टरपंथी इस्लामिक संस्कृति को थोपने के इस प्रयास से कश्मीरी अप्रभावित तो नहीं रह पाए लेकिन इस आन्दोलन के लिए जो एक स्वत:स्फूर्त समर्थन पैदा हुआ था, वह धीरे-धीरे छीजने लगा। द *नेशन* के पूर्वोद्धृत लेख में अरशद मलिक कहते हैं :

> पाकिस्तान ने एक जाल बुना जो दलदल में बदल गया और अन्तत: उसने कश्मीर में प्रचलित आज़ादी की भावनाओं को कुचल दिया। यह वह बिन्दु था जहाँ कश्मीर का सशस्त्र विद्रोह आज़ादी के राजनीतिक विचार से अभिलाक्षणिक रूप से प्रतिगामी धार्मिक कट्टरपंथी शोर में रूपांतरित हो गया।[47]

अराजकता के उस माहौल में बहुत-से समाज-विरोधी तत्त्व भी, जिन्हें सोज़ फेक मुजाहिद कहते हैं, उसमें शामिल हुए जिनका उद्देश्य केवल व्यक्तिगत लाभ था।[48] पाकिस्तान से आ रहे हथियारों और पैसों की बन्दरबाँट में ख़ूनख़राबे हुए और कूका पर्रे जैसे प्रयोग भी, जहाँ आरोप है कि भारतीय सेना ने काउंटर इंसरजेंसी के प्रयोग के रूप में शह दी। इन सबका नतीजा हुआ कि 1996 आते-आते लोगों का बन्दूक़ संस्कृति और बग़ावत की सम्भावनाओं से मोहभ्रम हो गया और अनेक पूर्व आतंकवादियों ने या तो हथियार डाल दिये या फिर हिज़बुल मुजाहिदीन से सुरक्षा या बदला लेने के लिए भारतीय काउंटर इंसरजेंसी कार्यवाहियों का हिस्सा बन गए।[49] अब कश्मीरी जनता कई-कई पाटों में पिस रही थी। महिलाओं के बलात्कार से लेकर लूट-पाट तक की घटनाएँ हुईं। सबा हुसैन ने ऐसी कई घटनाओं का ज़िक्र किया है जिनमें से एक का उद्धरण इसे समझने के लिए मानीखेज़ होगा। श्रीनगर के पास मालबल में रहनेवाली एक विधवा मुस्लिम महिला के यहाँ शरण माँगने आए एक आतंकवादी ने उसका बलात्कार किया। फिर वह लगातार आने लगा। जब उसके रिश्तेदारों को पता चला तो किसी तरह से उस महिला को वहाँ से बाहर ले जाकर उसकी शादी करवाई गई।[50] वह बताती हैं कि कभी जिहादियों के स्वागत में गाए जानेवाले वनवुनों में अब उन्हें बद्दुआएँ दी जाने लगीं। एक वरिष्ठ पत्रकार ने उनसे कहा कि 'यह हमारी सबसे बड़ी ग़लती थी कि हमने उन्हें फ़रिश्ता समझा'[51] तो ऐसे आपराधिक तत्त्वों के सहारे चल रहे आन्दोलन में साम्प्रदायिक आधार पर हत्याएँ और यौन अत्याचारों की घटनाएँ होनी ही थीं।

नन्दिता हक्सर विस्तार से बताती हैं कि कैसे वहाँ वामपंथी और समाजवादी ताक़तों का सफाया कर दिया गया जिससे आन्दोलन को कोई वैचारिक धार दे पानेवाली ताक़तें नहीं बचीं। वह कहती हैं—दूसरे यह कि चाहे जे.के.एल.एफ़. हो या हिज़्ब, दोनों किसी सैद्धान्तिक विचारधारा से संचालित नहीं थे। इस्लाम जनता से उन्हें जोड़ने का बड़ा हथियार बना।[52] आज़ादी के नारे के अलावा भविष्य की

कोई योजना, रणनीति और स्वप्न विकसित नहीं किये गए। सारा ग़ुस्सा बन्दूक़ की नालों में सिमटकर रह जाने का परिणाम यह हुआ कि बेहतर बन्दूक़ों के सामने इसे दम तोड़ देना पड़ा। इसी उत्साह और संभ्रम में कश्मीरी पंडितों को डराने-धमकाने की कोशिशों ने विश्व जनमत को तो इस आन्दोलन से दूर किया ही, साथ ही भारत के भीतर भी ख़ुद से सहानुभूति रखनेवाले लोगों को दूर किया।

पाकिस्तान समर्थक आतंकवादियों की इन कार्यवाहियों के बाद ज़्यादातर पूर्व-हथियारबन्द आज़ादी समर्थक स्थानीय नेताओं ने हथियार छोड़कर मार्च, 1993 में आल पार्टी हुर्रियत कॉन्फ्रेंस बना लिया तो 1994 में रिहा होने के बाद यासीन मलिक ने हथियार छोड़ दिये और जे.के.एल.एफ़. ने शान्तिपूर्ण तरीक़े से आज़ादी के लिए संघर्ष की बात करनी शुरू की। हुर्रियत कश्मीर के प्रतिनिधि होने के दावे के बावजूद घाटी के बाहर ही नहीं बल्कि इस दौर में घाटी के भीतर भी कोई महत्त्वपूर्ण ताक़त की तरह उभर पाने में सफल नहीं रही।[53]

कश्मीरी पंडितों का विस्थापन : घर से बेघर

जनवरी, 1990 कश्मीर के इतिहास में एक भयावह वर्ष की शुरुआत लेकर आई थी। अनुभवहीन वी.पी. सिंह सरकार कश्मीर को लेकर कोई पहलक़दमी करने की स्थिति में नहीं दिख रही थी तो देश के गृहमंत्री मुफ़्ती मोहम्मद सईद और कश्मीर के तत्कालीन मुख्यमंत्री फ़ारूक़ अब्दुल्ला के बीच जो सम्बन्ध थे, उनमें कटुता के अलावा कुछ नहीं था। मुफ़्ती की महत्त्वाकांक्षा दिल्ली में गृह मंत्रालय नहीं, श्रीनगर में मुख्यमंत्री निवास था। कश्मीर में आई.बी. के प्रमुख दुलत फ़ारूक़ के प्रिय थे तो मुफ़्ती उन पर भरोसा नहीं करते थे। वी.पी. सिंह का ख़ुद का कश्मीर का अनुभव पिछले चुनाव प्रचार से अधिक नहीं था तो राष्ट्रीय मोर्चा सरकार भाजपा के समर्थन पर टिकी थी जिसका समर्थन-आधार घाटी के मुसलमान नहीं, जम्मू के हिन्दू थे। इन सब संगतियों-विसंगतियों ने मिलकर कश्मीर के राज्यपाल पद के लिए भाजपा की पसन्द जगमोहन को चुना। जगमोहन और फ़ारूक़ के रिश्तों से पाठक परिचित हैं। मुफ़्ती जानते थे कि जगमोहन के राज्यपाल बनने का मतलब था फ़ारूक़ का इस्तीफ़ा और ऐसे में कश्मीर के मुख्यमंत्री बनने का उनका सपना पूरा हो सकता था। भाजपा जानती थी कि जगमोहन कश्मीर में सख़्ती से दमन की नीति अपनाएँगे और यह साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के लिए मुफ़ीद होगा जबकि शायद वी.पी. सिंह उस वक़्त कुछ जानने-समझने की कोशिश ही नहीं कर रहे थे तो मुफ़्ती का निर्णय उनके लिए काफ़ी था। उस दौरान कश्मीर के मुख्य सचिव रहे मूसा रज़ा ने अपने संस्मरण में मुफ़्ती से अपनी मुलाक़ात का ज़िक्र किया है जिसमें मुफ़्ती ने जगमोहन को भेजने पर उनकी आपत्ति के जवाब में कहा :

मैं फ़ारूक़ को बचपन से जानता हूँ। वह कभी गम्भीर राजनीतिक नेता नहीं रहे। वह एक एक्सीडेंटल मुख्यमंत्री हैं। उन्हें ज़िन्दगी के ऐश-ओ-आराम इतने ज़रूरी हैं कि मुझे नहीं लगता कि वह इस्तीफ़ा देंगे। एक बार जब हम जगमोहन की नियुक्ति कर देंगे तो उन्हें मोटरसाइकल और जहाज़ दे देंगे। वह मस्त रहेंगे और अपनी ज़िन्दगी के मज़े लेंगे। वह ख़ुश रहेंगे और जगमोहन वास्तविक प्रशासनिक ज़िम्मेदारियाँ सँभालेंगे।[54]

मूसा मुफ़्ती के इस आकलन से भी सहमत नहीं थे कि फ़ारूक़ राजनीति में गम्भीर नहीं और उनकी मान्यता थी कि एक लोकतांत्रिक सरकार का कश्मीर में होना एक बफर का काम करेगा।[55] ख़ैर, मुफ़्ती की फ़ारूक़ के इस्तीफ़े को लेकर सोच भी ग़लत साबित हुई ही। कश्मीरी नेताओं के दिल्ली के सहारे निजी स्वार्थों के लिए लिये गए ऐसे अदूरदर्शी निर्णयों ने कश्मीर और भारत, दोनों को इसके पहले और इसके बाद भी ऐसे ज़ख़्म दिये जो धीरे-धीरे नासूरों में बदलते गए। कांग्रेस और नेशनल कॉन्फ्रेंस, दोनों ने इस निर्णय का विरोध किया।[56] लेकिन अन्ततः जब निर्णय हो ही गया तो फ़ारूक़ ने इस्तीफ़ा दे दिया और इंग्लैंड चले गए। अकबर लिखते हैं—उनकी मुद्रा कुछ ऐसी थी : उन्हें हर बात का दोष दिया जा रहा है। ठीक है, अब वह जा रहे हैं और बाक़ी सब लोग अपने-अपने समाधान आज़मा लें। उन्होंने कहा कि देखता हूँ, आज़ादी की यह लड़ाई उन्हें कहाँ ले जाती है। चूँकि वह आज़ादी के समर्थन में नहीं हैं, इसलिए वह जा रहे हैं। किसी ने उनके इस्तीफ़ा देने के बाद उनसे कहा कि कश्मीर के लोग उनसे ख़ुश नहीं हैं, तो फ़ारूक़ ने जवाब दिया, 'मैं भी उनसे नाख़ुश हूँ।'[57]

उन क़ातिल जाड़ों में कश्मीर के हालात की बानगी उस दौर पर लिखी हर किताब में मिल जाएगी लेकिन दुलत से अधिक विश्वसनीय किसका बयान हो सकता है :

1989-90 के जाड़ों में श्रीनगर एक भयानक भुतहा शहर जैसा था जो युद्ध के तांडव का आरम्भ देख रहा था। रूबिया सईद के अपहरण ने बग़ावत का बाँध खोल दिया। हत्याएँ रोज़मर्रा की चीज़ बन गईं। बमबाज़ी और फायरिंग अब मुख्यमंत्री के आवास के पास के सबसे सुरक्षित इलाक़ों में भी होने लगी थी। ट्रकों में बन्दूकें लहराते हुए युवा कैंट क्षेत्र के पास दिखाई देने लगे थे। आतंकवादियों द्वारा शहर के केन्द्रीय इलाक़ों में मिलिटरी परेड होते थे। कश्मीरियों को भरोसा था कि वे अब मुक्ति के मुहाने पर हैं। कइयों ने तो अपनी घड़ियाँ पाकिस्तान के समय से मिला ली थीं। पाकिस्तानी जासूसों के लिए यह शानदार वक़्त था। इस वक़्त कोई किसी पर भरोसा नहीं करता था।

राज्य सरकार जम्मू में थी; शहर में इंटेलिजेंस संस्थाओं को छोड़कर शायद ही कहीं कोई केन्द्रीय कर्मचारी बचा था।[58]

यहाँ रुककर देखें तो ऐसे हालात में किसी प्रशासक के पास विकल्प भी कितने थे! लेकिन जगमोहन के साथ समस्या यह थी कि उन्हें कश्मीर में मुस्लिम-विरोधी माना जाता था। इमरजेंसी के दौरान दिल्ली में मुस्लिम बस्तियों को हटाने से लेकर पहली बार राज्यपाल रहते हुए फ़ारूक़ की बर्ख़ास्तगी से लेकर हिन्दू त्योहारों पर मांस की बिक्री रोकने जैसे अपने निर्णयों से जगमोहन ने इसे अर्जित किया था और उन पर राज्यपाल शासन के दौरान भर्तियों में पंडितों के प्रति पक्षपात करने के आरोप लगे थे[59] तो ऐसे समय में उन्हें राज्यपाल नियुक्त करना असल में एक रणनीतिक भूल थी। इस तरह एक कश्मीरी मुस्लिम को गृहमंत्री बनाकर कश्मीरी जनता का भरोसा जीतने की क़वायद जगमोहन के राज्यपाल बनाये जाने के साथ ही सिर के बल खड़ी हो गई।[60] अगर उनकी जगह किसी अन्य व्यक्ति को भेजा गया होता तो शायद तुरन्त वैसी प्रतिक्रिया नहीं होती, जैसी जगमोहन के आने पर हुई। 18 को उनके राज्यपाल चुने जाने की घोषणा हुई, 19 जनवरी को उन्होंने जम्मू में कार्यग्रहण किया और उसी दिन अर्द्धसैनिक बलों ने घर-घर की तलाशी लेनी शुरू कर दी। उन्हें प्रभावित करने के लिए सी.आर.पी.एफ़. के महानिदेशक जोगिन्दर सिंह ने उसी दिन रात में श्रीनगर के डाउनटाउन से लगभग 300 युवाओं को गिरफ़्तार कर लिया। अशोक धर बताते हैं कि तलाशी के दौरान पुराने शहर के छोटा बाज़ार इलाक़े में कुछ महिलाओं के साथ सुरक्षा बलों के दुर्व्यवहार से लोग भड़के हुए थे जिसके चलते 20 जनवरी की रात को पूरे शहर में उग्र प्रदर्शन हुए।[61] यह कश्मीर की सबसे कुख्यात रात थी। पूरा श्रीनगर विरोध में सड़कों पर आ गया और बदहवासी में चीख़-पुकार मच गई।[62]

उस रात का जुलूस खेमलता वखलू के घर के सामने से भी गुज़रा था। उन्होंने बहुत विस्तार से उस दृश्य और अपनी मनोदशा का वर्णन किया है :

> श्रीनगर ने अपने सदियों के रंग-बिरंगे इतिहास में बहुत-सी घटनाएँ देखी हैं, लेकिन 21 जनवरी, 1990* की रात दुनिया की सबसे ख़ूबसूरत घाटी कश्मीर में रह रहे लोग लम्बे वक़्त तक नहीं भुला सकेंगे...। उस दिन चीज़ें अलग थीं। हर चेहरे पर डर आशंका और उम्मीदें थीं। मैं डर और व्यग्रता से भरी हुई थी। किसी भी वक़्त, किसी भी क्षण कुछ भी हो सकता था। अचानक हर तरफ़ से तेज़ आवाज़ें उठने लगीं। पूरा वातावरण भयमिश्रित ग़ुस्से से भरी इनसानी आवाज़ों के विस्फ़ोट से दहल गया।
>
> उस सर्द अँधेरी रात के आसमान से प्रतिध्वनित होते लोगों की भारी भीड़ से सबसे ऊँची आवाज़ों में उठते नारे थे। फ़ोन के लगातार बजने से जैसे हमारी धड़कनें रुक जाती थीं। इतना गहरा था हमारा डर कि जैसे मौत की देवी महाकाली का बुलावा हो! फ़ोन उठाते हुए मेरे हाथ काँप रहे थे। एक डरा हुआ

---

* वखलू इसी क्रम में अगले दिन गौ कदल फायरिंग का ज़िक्र करती हैं जो 21 जनवरी को हुई थी। इसलिए लगता है कि वह 20 जनवरी की रात की ही बात कर रही हैं।

युवक शहर के भीतरी हिस्से से फ़ोन कर रहा था। उसकी आवाज़ डर, परेशानी और व्यग्रता से काँप रही थी। उसकी आवाज़ साफ़ सुनाई नहीं दे रही थी लेकिन जो कुछ सुनाई दिया, वह यह था : 'साहिब, हम यहाँ ज़ैनदार मोहल्ले में रहते हैं। हम मौत के जबड़े में फँसे हैं। प्लीज़, पुलिस कंट्रोल रूम में फ़ोन कर दीजिए। नीचे गली में लोगों का समन्दर है। वे भयानक नारे लगा रहे हैं। हम मरने वाले हैं।'

मैंने पुलिस कंट्रोल रूम में सम्पर्क करने की कोशिश की। उनके टेलीफ़ोन डेड पड़े थे। कुछ बजे लेकिन किसी ने उठाया नहीं...।

इस बीच कई जुलूसों में लोगों की एक बड़ी भीड़ हमारी गली में भी आ गई। वे नारे लगा रहे थे जो हमारे कानों और दिमाग़ में बम की तरह फूट रहे थे। हम यह महसूस करके काँप रहे थे कि लोगों की यह भीड़ दरवाज़े को तोड़कर हमारे कम्पाउंड में घुस जाएगी और घर को तहस-नहस कर देगी...। कई हफ़्तों से लगातार बढ़ती हुई धमकियाँ और प्रोपेगेंडा अनियंत्रित और भावनात्मक रूप से उत्तेजित भीड़ से ऐसी हरक़त की आशंका जगा रही थी। किसी भी सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता था क्योंकि उस वक़्त प्रशासन चरमरा चुका था और क़ानून-व्यवस्था बनाये रखने की अपनी प्राथमिक ज़िम्मेदारी छोड़ चुका था।

लोगों की क्रुद्ध भीड़ यमराज की तरह थी। ऐसी थीं उस वक़्त हमारी असुरक्षा की भावनाएँ। हम अपना विवेक और सोचने-समझने की क्षमता खो चुके थे। ऐसा लग रहा था, हम जड़ होकर जम गए थे...। हम जैसे डर के देवता के हाथों की कठपुतलियाँ थे।

'अल्लाह-ओ-अकबर! इंडियन डॉग्स, गो बैक! हम क्या चाहते, आज़ादी'— ये वे अंगारों जैसे नारे थे, जिन्हें भीड़ लगा रही थी। जब भीड़ हमारे घर के सामने कुछ देर के लिए रुकी तो ये नारे और तेज़ हो गए।

हम घर के भीतर डर से जैसे जम गए। सारे दरवाज़े-खिड़कियाँ बन्द कर दिये और बत्तियाँ बुझा दीं। हम प्रार्थना कर रहे थे कि हे माँ दुर्गा, हे माँ अम्बा, कृपा करके रोक दो यह बर्बादी का खेल...। थोड़ी देर बाद हमारे घर के सामने की भीड़ ने चलना शुरू कर दिया और शान्तिपूर्वक चले गए...। पूरा शहर चीख़ों से गूँज रहा था। भारत के ख़िलाफ़ ये नारे देशभक्त जनता के सीने में एक ज़ख़्म की तरह चुभ रहे थे। एक तरफ़ उन्हें मृत्यु और विनाश का डर था और दूसरी तरफ़ लोगों को भयानक गुस्सा था।[63]

शहर में कर्फ़्यू लगा दिया गया था लेकिन 21 जनवरी फिर जुलूस निकला जिस पर अर्द्धसैनिक बलों ने गौ कदल पर फायरिंग की। बड़ी संख्या में लोग मारे गए। आधिकारिक आँकड़ा 35 का था लेकिन मानवाधिकार संस्थाओं ने 50 से 100 लोगों के मरने की बात की है। उस वक़्त कश्मीर में द *गार्जियन* के संवाददाता के रूप में मौजूद विलियम डेलरिम्पल ने कहा कि जुलूस शान्तिपूर्ण था[64] जबकि वखलू बताती हैं, जुलूस में आतंकवादी शामिल थे जिन्होंने पहले गोलियाँ चलाई

थीं। जो भी हो, लेकिन गौ कदल की लाशों ने लोगों में और अधिक गुस्सा भर दिया गया था। नतीजा अगली रात एक और जुलूस।

इस पूरे आख्यान में दो शब्द बार-बार सुनाई देते हैं—डर और ग़ुस्सा। इन्हीं दोनों ने मिलकर नब्बे के दशक की वह भयावह शुरुआत की जिसमें कश्मीरी पंडितों को कश्मीर छोड़कर अपने ही देश में शरणार्थी बनने पर मजबूर किया और कश्मीरी मुसलमानों को दमन, हिंसा और डिस्टोपिया के गहरे और अन्तहीन दलदल में धकेल दिया।

डर

पंडितों का डर बेवजह नहीं था। अल्पसंख्यक समाज के मनोविज्ञान में डर का एक अंश तो होता ही है। फिर जिस तरह कश्मीरी पंडितों की हत्या हुई थी, उससे डर पैदा होना ही था। ख़ास तौर से तब, जब टीकालाल टपलू, लासा कौल और नीलकांत गंजू जैसे महत्त्वपूर्ण लोग आतंक के शिकार हुए, तो जो पहला प्रभाव बना, वह यही कि एक तो पंडित निशाने पर हैं और दूसरे यह कि उनकी सुरक्षा करने में भारत सक्षम नहीं था। कश्मीरी पंडितों के लिए शक्ति के स्रोत भारत की सुरक्षा की आश्वस्ति का टूटना एक अधिक गहरा आघात था और स्वाभाविक रूप से इन जुलूसों ने उस भय को और बढ़ा दिया। यह ध्यान रखना चाहिए कि उस वक़्त तक श्रीनगर में सेना नहीं पहुँची थी और अर्द्धसैनिक बल भी अपर्याप्त थे। यह सच है कि केन्द्रीय सेवाओं में अपनी बड़ी संख्या के कारण आतंकवाद के भारत-विरोधी अभियान का शिकार पंडित हुए लेकिन एक पक्ष यह भी था कि आन्दोलन में साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों के चलते कई बार कश्मीरी पंडित सिर्फ़ इसलिए मारे गए कि वे पंडित थे। बिट्टा कराटे का क़िस्सा हमने सुना है और उसके नेता अशफ़ाक़ का भी। नाम न ज़ाहिर करने की शर्त पर एक कश्मीरी मुस्लिम मित्र ने मुझे बताया कि उनके मुहल्ले में यों ही खेल-खेल में मानसिक रूप से विकलांग एक पंडित को गोली मार दी गई थी। जहाँ बन्दूक़ें खिलौनों की तरह बँटी हुई थीं और 'आज़ादी' के नाम पर कोई भी पाकिस्तान से पैसे और हथियार हासिल कर मुजाहिद का ख़िताब हासिल कर एक नया संगठन खड़ा कर ले रहा था, वहाँ वर्षों के तनाव और साम्प्रदायिक विद्वेष ही नहीं, निजी दुश्मनियों के चलते भी ऐसा होना नामुमकिन तो क्या, स्वाभाविक-सा ही था। नतीजा—और अधिक डर!

इस डर के और भी रंग थे। अनंतनाग के पास वलरहामा गाँव में रह रहे रतनलाल तलाशी बताते हैं कि 1989 में माहौल बहुत ख़राब हो गया था लेकिन पास के कोलर गाँव में कांग्रेस के एक बड़े नेता थे ग़ुलाम नबी। उनके रहते आसपास के गाँवों के पंडित

सुरक्षित महसूस करते थे। उनकी हत्या कर दी गई तो पंडितों ने गाँव छोड़ने का निर्णय लिया, जबकि गाँव में न कोई पंडित मारा गया था, न ही कोई दुर्व्यवहार हुआ था।

यहाँ से डर का एक और रूप नज़र आता है और एक बड़े सवाल का जवाब ढूँढ़ने में मदद भी मिलती है। मारे पंडित ही नहीं, मुसलमान भी जा रहे थे तो डर उस तरफ़ भी था। अब भारतीय सेनाओं से अधिक डर मुजाहिद के नाम पर बन्दूक़ें लहराते गुंडों से था।[65] उदाहरण हमने पहले भी देखे हैं, फ़िलहाल अगर आधिकारिक आँकड़ों* को ही सही मान लें तो कश्मीर में आतंकवाद के 11 वर्षों (1990 से अप्रैल 2011) के बीच कुल 43,460 लोग मारे गए जिनमें नागरिकों की संख्या 16,686 थी। इनमें आतंकवादियों के हाथों मारे गए कश्मीरी पंडितों की आधिकारिक संख्या 319 है।[66] लाशों का गणित निकालना एक क्रूर काम है, लेकिन तर्क जैसे निष्ठुर क्षेत्र में इसके बिना काम भी नहीं चलता। अगर प्रतिशत निकालें तो आधिकारिक आँकड़ों के मुताबिक़ कुल नागरिक हत्याओं में कश्मीरी पंडितों का प्रतिशत 0.734 आता है; जनसंख्या में उनकी भागीदारी से कम। ज़ाहिर है, मौत का डर उस तरफ़ भी कम नहीं था। सरला भट्ट की हत्या के मामले में ज़ुत्शी ने बताया है कि गाँववालों को स्पष्ट धमकी दी गई थी कि किसी की मदद न करें, तो वह डर आप समझ सकते हैं जिसने उन्हें रोका, जो मदद करना चाहते थे। फिर भी ऐसे अनेक उदाहरण यहाँ-वहाँ बिखरे मिल जाते हैं जहाँ पड़ोसियों ने सही समय पर सूचनाएँ दीं, रोकने की कोशिशें कीं। उत्तर कश्मीर के तन्मर्ग के पास कुंजर वूसान गाँव की पंच रहीं आशा देवी ने बताया कि जब उनके गाँव के समृद्ध पंडित उन्हें सूचित किये बिना गाँव छोड़कर चले गए, तो अगले दिन गाँव के मुसलमानों ने उनसे गाँव में ही रुकने की अपील की और भरोसा दिलाया कि वे उन्हें हर तरह से सुरक्षित रखेंगे। इस घटना के कोई दस साल बाद 2011 के पंचायत चुनाव में वह एक मुस्लिम महिला उम्मीदवार को हराकर पंच चुनी गईं। रतनलाल तलाशी ने भी बताया कि जब अपने चाचा की बीमारी की वजह से जम्मू जा रहे अपने बाक़ी परिवार के साथ वह नहीं गए तो गाँव के मुस्लिम पड़ोसियों ने उन्हें भरोसा दिलाया कि उनकी सुरक्षा अब उनकी ज़िम्मेवारी है और वह भरोसा आज तक क़ायम है। संजय टिक्कू बताते हैं कि उनके घर पर भी पोस्टर्स लगाये गए थे जिनमें कश्मीर छोड़ देने की धमकी थी। उन्होंने पड़ोसियों से सम्पर्क किया और सभी ने मिलकर उनसे रुकने के लिए कहा। एक भुक्तभोगी कश्मीरी पंडित ओ.एन. त्रिशल कहते हैं कि 1989 के अन्त में जब घाटी में आतंकवाद की शुरुआत हुई तो आम तौर पर मुसलमानों ने पड़ोसी, मित्र या सहकर्मी के रूप में अपने पंडित भाइयों से

---

* अनधिकारिक स्रोतों, मानवाधिकार संगठनों आदि के दावे दोनों तरफ़ की आधिकारिक संख्याओं से कई-कई गुना हैं।

अपने घर न छोड़ने को कहा और उन्हें सुरक्षा उपलब्ध कराई। कई मुसलमानों ने उन्हें अपने घरों में जगह दी कि वे आतंकवादियों से बच सकें। ऐसी घटनाएँ भी हैं जब मुस्लिम महिलाएँ पंडितों की रक्षा के लिए दरवाज़े पर अड़ गईं।[67] ऐसा ही अनुभव अनंतनाग से नब्बे के दशक में पलायित हुए प्रो. मनोहर लाल टिक्कू का भी है। वह बताते हैं कि उनकी पत्नी इतना डर गई थीं कि उन्होंने कश्मीर छोड़ने का फ़ैसला लिया जबकि उनके मुस्लिम पड़ोसी यह बिलकुल नहीं चाहते थे कि वह घर छोड़ें।[68]

जबकि इसके विपरीत विचार रखनेवालों की भी कोई कमी नहीं है। ख़ालिद बशीर ने अपनी किताब में प्रदीप मैगज़ीन का उदाहरण दिया है जिनका मानना है कि उस दौर में सारा मामला 'हम' और 'वे' का हो गया था और मुसलमानों से मदद नहीं मिली। नन्दिता हक्सर की किताब में कश्मीर के ट्रेड यूनियन नेता सम्पत प्रकाश का ज़िक्र है जिन्हें धमकियाँ दी गईं और घर छोड़ना पड़ा। हक्सर बताती हैं कि जब वे बाद में उनके साथ रैनावारी का अपना घर देखने गए तो पड़ोस से कई मुसलमान वहाँ आ गए और उनका रवैया कतई दोस्ताना नहीं था।

किसी भी समय में हिन्दू और मुसलमान मोनोलिथ नहीं होते। अच्छे-बुरे लोग, सेक्यूलर-साम्प्रदायिक लोग दोनों ही तरफ़ होते हैं और यह एकदम ज़रूरी नहीं कि उस समय सभी पंडितों का अनुभव एक जैसा रहा हो या फिर सभी मुसलमानों का अनुभव एक जैसा रहा हो। लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि अगर दुश्मनाना भाव रखनेवाले लोग थे तो ऐसे लोगों की भी कोई कमी नहीं थी जिन्होंने उन विपरीत परिस्थितियों में भी अपने पंडित पड़ोसियों और सहयोगियों का साथ दिया। इसका एक मार्मिक उदाहरण जानी-मानी लेखिका, शिक्षाविद् और उस दौर में कश्मीर के एक कॉलेज की प्रधानाचार्य रहीं नीरजा मट्टू के संस्मरण में मिलता है। वह बताती हैं कि जब कश्मीरी पंडित घाटी छोड़कर जा रहे थे तो उन्होंने वहाँ रुकने का फ़ैसला किया। एक शादी की पार्टी में उनकी पुरानी दोस्त मिली और उसने कहा कि अगर वे घाटी छोड़ने के बारे में सोच रही हैं तो वह उनका मकान ख़रीदना चाहेंगी, वहीं दूसरी तरफ़ जब हिज़बुल के आतंकवादियों ने उनके पति का अपहरण करने की कोशिश की तो उनके ड्राइवर अब्दुल ग़नी ने किसी तरह उनके भागने में मदद की। इस अपराध के लिए बाद में आतंकवादियों ने उसे उठा लिया और जब उससे पूछा कि उसने एक पंडित की मदद क्यों की तो गनी ने कहा कि 'मैंने उनका नमक खाया है और ऐसा कैसे हो सकता है कि मुसीबत में मैं उनकी मदद न करूँ?' यही नहीं, उनके पड़ोसी भी उनके पति के साथ आए। इस संस्मरण का अन्त एक भयावह व्यंजना से होता है—नीरजा और उनका परिवार उम्र भर श्रीनगर में रहा था। उनकी ज़िन्दगी दोस्तों के एक नेटवर्क के इर्द-गिर्द घूमती थी

जिसमें हर धर्म के लोग थे। फिर भी अब उन्हें हर किसी के इरादों पर शक था। आतंकवाद के वर्षों ने भरोसा कर पाने की क्षमता को बुरी तरह बर्बाद कर दिया था।[69] गीलानी कहते हैं—जहाँ आपके पुरखे सैकड़ों सालों से रहते आए हैं, उसे छोड़ना दर्दनाक है। वहाँ रहना शायद और भयावह था। विस्थापन ने मुसलमानों और पंडितों के बीच सदियों पुराना बन्धन और कश्मीर के सामाजिक ताने-बाने को बुरी तरह से नष्ट कर दिया।[70]

अशोक धर उस दौर में मुसलमानों की मानसिक-भौतिक अवस्थिति का सटीक आकलन करते हैं :

> कई कश्मीरी नहीं समझ पा रहे थे कि कैसे व्यवहार करें। एक तरफ़ कुछ लोगों के लिए स्वतंत्र कश्मीर की छवि एक सम्मोहक साध्य लग रही थी तो दूसरी तरफ़ वे इतने डरे हुए थे कि अपनी ख़ुद की ज़िन्दगी के बारे में कुछ कहने या किसी और की मदद करने की स्थिति में नहीं थे।[71]

इन सबका असर यह हुआ कि दोनों समुदायों के बीच संवाद की जगहें भी ख़त्म हुईं और वजहें भी सिमटती गईं। कश्मीर में लोगों से मिलते-जुलते जो मेरा अनुभव रहा है, उसमें एक बड़े हिस्से में पंडितों के विस्थापन को लेकर एक अपराधबोध-सा दिखा है तो एक शिकायत-भरा लहज़ा भी। गौहर गीलानी इस पूरी प्रक्रिया को बड़ी सहजता से समेटते हैं :

> मैं मानता हूँ कि कुल मिलाकर घाटी के मुसलमान किसी हद तक ज़िम्मेदार थे। मैं यह भी मानता हूँ कि पंडित समुदाय अपने विस्थापन के लिए एक हद तक ख़ुद भी ज़िम्मेदार है, इस साधारण-सी वजह से कि तब तक दोनों समुदाय राजनीतिक और विचारधारात्मक विभेदों के बावजूद भाईचारे, मेलजोल, धार्मिक सहिष्णुता और दोस्ती के शानदार बन्धनों के एक ऐसे माहौल में जीते थे जिससे किसी को भी ईर्ष्या हो सकती थी...। ऐसा लगता है कि पंडित कह रहे हैं—अगर हमने घाटी छोड़ी तो तुमने हमें वापस क्यों नहीं बुलाया? बस, हमें एक या दो फ़ोन कर लेते और हम लौट आते। और मुस्लिम कहते हैं—तुमने तब क्यों छोड़ा हमारा साथ जब हालात मुश्किल थे? क्या तुम्हें भी हमारी तरह मुश्किल हालात का सामना नहीं करना चाहिए था? क्या तुम्हें यहीं नहीं रहना चाहिए था?[72]

एक बार कॉनफ्लिक्ट ज़ोन में बदलने के बाद कश्मीर के इतिहास और वर्तमान की कम ही चीज़ें बचती हैं जिनको लेकर कोई एकराय हो, मौतों की संख्या भी। वहाँ सबका अपना-अपना स्टेक है, तो सच का कोई एक जैसा चेहरा ढूँढ़ पाना मुश्किल है। जहाँ तक इस दौर में मारे गए पंडितों की संख्या का सवाल है, टिक्कू बताते हैं कि 'धमकियाँ और हिंसा तो कश्मीर में आम है। पिछले 20 सालों में कश्मीरी पंडितों के ख़िलाफ़ चार बड़ी घटनाएँ हुईं लेकिन जैसा पलायित कश्मीरी

पंडित कहते हैं, सामूहिक हत्या या जेनोसाइड जैसा कुछ नहीं है। उनका मानना है कि पंडित संगठनों द्वारा पिछले बीस सालों में 3000 या 4000 हिन्दुओं की हत्या की बात दुष्प्रचार है। वह सरकारी आँकड़े 319 से भी सहमत नहीं हैं और वास्तविक संख्या 650 बताते हैं। वह कहते हैं, 650 कोई छोटी संख्या नहीं है। हर जान क़ीमती है। लेकिन हमें आँकड़े सही रखने चाहिए।[73]

ऐसे ही घाटी छोड़कर जानेवाले पंडितों की संख्या पर भी कोई एकमत नहीं है। कश्मीरी पंडित समूह और कुछ हिन्दू दक्षिणपंथी यह संख्या चार लाख से सात लाख तक बताते हैं।[74] लेकिन यह संख्या वास्तविक संख्या से बहुत अधिक है। असल में कश्मीरी पंडितों की आख़िरी गिनती 1941 में हुई थी और उसी से 1990 का अनुमान लगाया जाता है।[75] इसमें 1990 से पहले रोज़गार तथा अन्य कारणों से कश्मीर छोड़कर चले गए कश्मीरी पंडितों की संख्या घटाई नहीं जाती। पी.एल.डी. पारिमू ने 1947-50 के बीच कश्मीर छोड़कर गए पंडितों की संख्या कुल पंडित आबादी का 20% बताया है।[76] चित्रलेखा ज़ुत्शी ने इस विस्थापन की वजह नेशनल कॉन्फ्रेंस द्वारा लागू किये गए भूमि-सुधार को बताया है।[77] इसके बाद भी कश्मीरी पंडितों का नौकरियों आदि के लिए कश्मीर से विस्थापन जारी रहा। इसका एक उदाहरण अनुपम खेर हैं जिनके पिता साठ के दशक में नौकरी के सिलसिले में शिमला आ गए थे। सुमांत्रा बोस ने यह संख्या एक लाख बताई है।[78] राजनीति विज्ञानी अलेक्ज़ेंडर इवांस विस्थापित पंडितों की संख्या डेढ़ लाख से एक लाख साठ हज़ार बताते हैं।[79] पारिमू यह संख्या ढाई लाख बताते हैं।[80] सी.आई.ए. ने एक रिपोर्ट में यह संख्या तीन लाख बताई है।[81] विक्टोरिया स्कोफ़ील्ड यह संख्या 1,40,000 बताती हैं।[82] अगर 1981 की जनगणना से देखें तो पूरे कश्मीर में हिन्दुओं (जिसमें पंडितों के अलावा अन्य भी शामिल थे) की संख्या 1,24,078 थी। यह संख्या कुल जनसंख्या की 3.96 फ़ीसदी थी। अगर पिछले दशक की हिन्दुओं की जनसंख्या वृद्धि-दर 6.75 प्रतिशत को देखें तो यह संख्या 1,32,453 आती है। इसमें से पलायन न करनेवाले लगभग 8000 कश्मीरी पंडितों की संख्या घटा दी जाए तो यह संख्या लगभग 1,24,453 आएगी।[83] वह भी तब, जब मान लिया जाए कि पिछले दशक में नौकरियों आदि के लिए एक भी पंडित घाटी से बाहर नहीं गया। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य अनंतनाग के तत्कालीन कमिश्नर वजाहत हबीबुल्लाह कश्मीरी पंडित संघर्ष समिति श्रीनगर की 7 अप्रैल, 2010 प्रेस रिलीज़ के हवाले से बताते हैं कि लगभग 3000 कश्मीरी पंडित परिवार स्थितियों के सामान्य होने के बाद 1998 के आसपास कश्मीर से पलायित हुए थे।[84] इसकी जड़ में शायद वंधामा में कश्मीरी पंडितों की हत्या रही होगी।

यहाँ एक और तथ्य का उल्लेख करना समीचीन हागा। पारिमू ने बताया है कि उसी समय लगभग पचास हज़ार मुसलमानों ने घाटी छोड़ी।[85] सीमा क़ाज़ी ह्यूमन

राइट वाच की एक रपट के हवाले से बताती हैं कि 1989 के बाद से पाकिस्तान में 38,000 शरणार्थी कश्मीर से पहुँचे थे। केप्ले महमूद ने अपनी मुज़फ़्फ़राबाद यात्रा में पाया कि सैकड़ों मुसलमानों को मारकर झेलम में बहा दिया गया था। इन तथ्यों को साथ लेकर वह भी उस दौर में सेना और सुरक्षा बलों के अत्याचार से 48,000 मुसलमानों के विस्थापन की बात कहती हैं। इन रिफ़्यूजियों ने सुरक्षा बलों द्वारा पिटाई, बलात्कार और लूट तक के आरोप लगाये हैं।[86] हांगलू भी बताते हैं कि उस दौर में बड़ी संख्या में ऐसे मुसलमानों ने पलायन की राह चुनी जिन पर मुख़बिर होने का ठप्पा लगाया गया था।[87] अफ़सोस कि 1947 के जम्मू-नरसंहार की तरह इस विस्थापन पर भी कोई बात नहीं होती।

लेकिन क्या इस डर को दूर करने की कोशिशें नहीं की जानी चाहिए थीं?

इस सवाल का जवाब हमें इस भयावह घटना की ज़िम्मेदारियाँ तय करने के क्रम में प्रशासन की ओर भी ले जाता है और कुछ ज़रूरी बिन्दुओं पर विस्तार से चर्चा की माँग करता है।

इस मामले में दो अतिरेकी दृष्टिकोण हैं। पहले के अनुसार, यह पूरी तरह से जगमोहन की योजना थी कि पंडितों को घाटी से बाहर निकाल लिया जाए जबकि दूसरे के अनुसार, जगमोहन इसके लिए कतई ज़िम्मेदार नहीं थे और यह पूरी तरह से आतंकवादी संगठनों या मुसलमानों की साज़िश थी। उदाहरण के लिए प्यारेलाल कौल के अनुसार, पंडितों का घाटी छोड़ने के कारण पूरी तरह से मुसलमानों की साम्प्रदायिक धमकियाँ थीं। मस्जिदों से लोगों को धमकियाँ दी गईं। कुछ मुसलमान और आतंकवादी चाहते थे कि पंडित घाटी छोड़ दें।[88] पूर्व सेना अधिकारी और रक्षा विशेषज्ञ मारूफ़ रज़ा भी इसे 'नस्ली सफाए की सोची-समझी नीति' बताते हैं।[89] यह आख्यान राहुल पंडित सहित अधिकतर विस्थापित कश्मीरी पंडितों की किताबों में ही नहीं बल्कि भारतीय मध्यवर्ग के बड़े हिस्से में भी प्रभावी है। जगमोहन ने अपनी किताब द *फ्रोज़ेन टर्बुलेंस* में इन आरोपों का जवाब देने की कोशिश ही की है, हालाँकि उन जवाबों में लम्बे-लम्बे आख्यान अधिक हैं और जवाब लगभग अनुपस्थित।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि कश्मीरी पंडितों को घाटी से बाहर निकालकर घाटी में दमन की योजना जगमोहन की थी। इस दृष्टिकोण का समर्थन करनेवालों में घाटी के मुस्लिम और बुद्धिजीवी ही नहीं, अनेक विस्थापित पंडित और बुद्धिजीवी भी शामिल हैं। इस पर हम थोड़ा विस्तार से बात करेंगे।

कश्मीर टाइम्स की सम्पादक अनुराधा भसीन पूछती हैं—क्यों केवल दो दिनों में सारा परिदृश्य बदल गया? क्यों 'इस्लामी आतंकवाद' अचानक डरावना बन गया क्योंकि हत्याएँ तो महीनों से चल रही थीं?[90] यह सवाल बड़ा है। आख़िर

19 जनवरी, 1990 और 20 जनवरी, 1990 को ही कश्मीरी पंडितों ने इतनी बड़ी संख्या में घाटी क्यों छोड़ी? इसका एक कारण बताया जाता है कि उन दोनों रातों को जुलूस निकले थे और मस्जिदों से घोषणा भी हुई। लेकिन जैसाकि जम्मू-कश्मीर के मुख्य सचिव रहे विजय बकाया कहते हैं कि जो हज़ारों लोग उन रातों को सड़कों पर आए थे, उन्होंने एक भी पंडित व्यक्ति या घर को कोई नुकसान नहीं पहुँचाया था।[91] खेमलता वखलू के पूर्वोद्धृत संस्मरण में भी न तो किसी धमकी वाले नारे का ज़िक्र है, न ही घर या किसी व्यक्ति पर किसी हमले का।

ग़ुस्सा

हालाँकि एक बात तो निश्चित रूप से समझी जानी चाहिए कि आतंकवादी गतिविधियाँ बढ़ने और उन्हें नियन्त्रण करने के क्रम में सुरक्षा बलों की ज़्यादतियों से कश्मीरी मुसलमानों के एक हिस्से में ग़ुस्सा बढ़ने से पंडितों के भीतर एक भय का मनोभाव (Fear Psychosis) भरा। यह एक तथ्य है कि जगमोहन के आने के साथ ही इस ग़ुस्से और असन्तोष में एकदम से उछाल आया और अधिक से अधिक लोग जुलूसों में शामिल होने लगे। एम.जे. अकबर इसे और स्पष्ट करते हैं—19 जनवरी के पहले तक आज़ादी के लिए जनता का समर्थन अप्रत्यक्ष था, 19 जनवरी के बाद प्रत्यक्ष हो गया।[92] उस दौर में *टाइम लाइफ न्यूज़ सर्विस*, टोक्यो के ब्यूरो चीफ़ एडवर्ड डेसमंड बताते हैं कि 'जनवरी, 1990 तक जे.के.एल.एफ़. बहुत प्रभावी ताक़त नहीं थी...और कश्मीर के बाहर इसे बहुत कम तवज्जो मिली थी। कश्मीर के भीतर भी शहरी मध्यवर्ग अगर इसका विरोधी नहीं था तो काफ़ी हद तक ऊहापोह में था क्योंकि उसे अपनी अर्जित धन-सम्पत्ति, फलते-फूलते पर्यटन उद्योग और शान्ति को खोने का डर था...हालाँकि युवा वर्ग में बेरोज़गारी को लेकर ग़ुस्सा था और आम मान्यता थी कि फ़ारूक़ भ्रष्ट हैं और दिल्ली के हाथों में खेल रहे हैं। लेकिन इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं था कि लोग एक जोख़िम-भरे विद्रोह के लिए तैयार थे...। रूबिया सईद की रिहाई के बाद जे.के.एल.एफ़. के लोगों ने जुलूस निकाला। सुरक्षा बलों ने उस पर गोली चलाई और कई लोग मारे गए। उसी समय पुलिस और सी.आर.पी.एफ़. ने श्रीनगर के इलाक़ों में बड़े पैमाने पर तलाशी शुरू कर दी। जनता का प्रतिरोध दूना हो गया—इस बार पुलिस और सी.आर.पी.एफ़. द्वारा तलाशी के दौरान बलात्कार, टॉर्चर और चोरी के कथित आरोपों के कारण। इसकी वजह से 21 और 22 जनवरी को जुलूस निकले, जिन पर गोलीबारी से 130 लोगों की जान चली गई। कुछ मामलों में प्रत्यक्षदर्शियों ने सी.आर.पी.एफ़. के लोगों को घायल लोगों को मारते देखा और सी.आर.पी.एफ़. की इस क्रूरता के कारण पुलिस वालों में ग़ुस्सा भर गया। कुछ हड़ताल पर चले

गए और कुछ उनसे भिड़ गए।' इसी लेख में वह जम्मू और कश्मीर के मुख्य सचिव रहे अशोक जेटली को उद्धृत करते हुए कहते हैं : 'जगमोहन ने पाँच महीने में वह कर दिया जो आतंकवादी पाँच सालों में नहीं कर पाते।'[93] मार्च और अप्रैल, 1990 में कश्मीर गए जस्टिस वी.एम. तार्कुंडे, जस्टिस राजिंदर सच्चर, बलराज पुरी और शिक्षाविद् अमरीक सिंह की टीम ने पाया :

> वास्तविकता यह है कि हाल के महीनों में, ख़ास तौर से जनवरी, 1990 में जगमोहन के आने के बाद, भयावह दमनात्मक कार्यवाहियों से घाटी की सारी मुस्लिम आबादी भारत से कट गई है, और उनका यह अलगाव अब कड़वाहट तथा ग़ुस्से में बदल गया है।[94]

असल में जगमोहन ने पहले ही दिन से आतंकवादियों की जगह जैसे कश्मीरी मुसलमानों से युद्ध छेड़ दिया था। अपने सार्वजनिक बयानों में भी उन्होंने शान्ति की किसी अपील की जगह धमकी की भाषा अपनाई। 20 जनवरी को दूरदर्शन से उन्होंने सन्देश दिया : 'सुधर जाओ वरना मैं ठीक कर दूँगा।'[95] 19 फ़रवरी को उन्होंने विधान सभा भंग की और उस समय विधान सभा के सदस्य गीलानी, अब्दुल ग़नी लोन, अब्दुल ग़नी बट, अब्बास अंसारी और क़ाज़ी निसार को गिरफ़्तार कर लिया। मई में उन्होंने कहा :

> आज कश्मीर में हर मुसलमान आतंकवादी है। सभी भारत से अलग होना चाहते हैं। मैं श्रीनगर दूरदर्शन के कार्यक्रमों में हेर-फेर इसलिए कर रहा हूँ कि हर कोई आतंकवादी है...। हालात इतने विस्फोटक हैं कि मैं इस राजभवन से बाहर नहीं जा सकता। लेकिन मेरे पास हर मिनट की ख़बर है। कश्मीर के लिए बुलेट ही एक हल है। जब तक सारे आतंकवादी नहीं मारे जाएँगे, कश्मीर में शान्ति नहीं लौटेगी।[96]

इस बयान को ज़रा ग़ौर से पढ़िए—अब, 'हर मुसलमान आतंकवादी है' और 'जब तक सारे आतंकवादी नहीं मारे जाएँगे, कश्मीर में शान्ति नहीं लौटेगी।' यानी घाटी में शान्ति के लिए वहाँ के हर मुसलमान को मार डालना था! इस दृष्टिकोण के साथ काम कर रहे प्रशासक के लिए यह सम्भव ही नहीं था कि वह आतंकवाद से असहमत या उसके शिकार कश्मीरियों को साथ लेकर एक तरफ़ प्रशासन को मज़बूत करता तो दूसरी तरफ़ ताक़त का समुचित प्रयोग करते हुए आतंकवादियों का मुक़ाबला करता। हमने देखा है कि न केवल नेशनल कॉन्फ्रेंस, कांग्रेस और जनता दल जैसी मुख्यधारा की पार्टियों के लोग आतंकवादियों के शिकार हो रहे थे बल्कि हिज़बुल मुजाहिदीन के आने के बाद आज़ादी-समर्थक और पाकिस्तान-समर्थक तहरीकों के बीच भी तनाव पैदा हुआ था। सारे मुसलमानों को दुश्मन और दमन को इकलौता हथियार मान लेने का परिणाम यह कि इन अन्तर्विरोधों का उपयोग कर उन्हें कमज़ोर करने की जगह जगमोहन की नीतियों ने इन पर पर्दा डालकर उन्हें

एक होने और अपनी ताक़त बढ़ाने का मौक़ा दिया। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है मीरवायज़ मौलवी फ़ारूक़ की हत्या के बाद उनका रवैया, जिसके बाद अन्ततः उन्हें कश्मीर से जाना पड़ा।

21 मई, 1990 को मीरवायज़ की हत्या कर दी गई। मीरवायज़ ने रूबिया सईद के अपहरण को इस्लाम-विरोधी बताया था। उस समय कश्मीर मामलों के केन्द्रीय मंत्री जॉर्ज फर्नांडीज़ से मुलाक़ात की थी और किसी भी तरह की सुरक्षा लेने से इनकार कर दिया था। पाकिस्तानी प्रेस का एक हिस्सा उन्हें भारत का दलाल कह रहा था। जनता का सन्देह हिज़बुल मुजाहिदीन पर था और उनके अनुयायियों में इसे लेकर भारी रोष था।[97] उस वक़्त तो किसी ने हिज़बुल का नाम नहीं लिया लेकिन बीस साल बाद हुर्रियत के एक बड़े नेता ने सार्वजनिक रूप से यह बात कही।* मीरवायज़ के जनाज़े के जुलूस में हज़ारों लोग शामिल हुए। मुख्य सचिव आर.के. ठक्कर ने जगमोहन को कश्मीर के इस सबसे बड़े धार्मिक नेता की मृत्यु पर ख़ुद जाने या किसी वरिष्ठ अधिकारी को भेजकर राज्य सरकार की ओर से क़ब्र पर फूल चढ़ाने की सलाह दी। लेकिन जगमोहन नहीं माने। यही नहीं, उन्होंने जुलूस के रास्ते और जुलूस पर प्रतिबन्ध को लेकर भी कुछ भ्रम पैदा करनेवाले निर्देश दिये। इन्हीं भ्रमों के चलते जम्मू-कश्मीर के वरिष्ठ पुलिस अधिकारी अल्ला बख़्श के नेतृत्व में पुलिस के एक दल और अर्द्धसैनिक बलों की एक टुकड़ी ने जुलूस पर तब गोलीबारी शुरू कर दी जब वह अपने गंतव्य मीरवायज़ मंज़िल पहुँचने ही वाला था। हताहतों का आधिकारिक आँकड़ा 27 था, भारतीय प्रेस ने मरने वालों की संख्या 47 बताई और बी.बी.सी. ने 100। रउफ़ अहमद नामक एक युवा पिता पर तनी बन्दूक़ देख सामने आ गया तो उसकी देह में 28 गोलियाँ मिलीं! आलम यह कि दो गोलियाँ मीरवायज़ के शव को भी लगीं। 1998 तक यह केस जाँच के दायरे में रहा और फिर यह कहकर बन्द कर दिया गया कि कोई भी आरोपी पहचाना नहीं जा सका।[98] कश्मीर में हुई इन आपराधिक कार्यवाहियों का एक त्रासद पहलू यह भी है कि चाहे पंडित मरे हों या मुसलमान, अपराधियों को आम तौर पर कोई सज़ा नहीं मिली।

इस तरह एक मौक़ा खो दिया गया। जहाँ एक रणनीति के तहत सरकार मीरवायज़ की क़ब्र पर फूल चढ़ाकर हिज़्ब के प्रति जनता के ग़ुस्से को भड़का सकती थी और अपने लिए थोड़ी सहानुभूति पैदा कर आतंकवादी आन्दोलन को कमज़ोर कर सकती थी, वहाँ सारा ग़ुस्सा अपनी तरफ़ मोड़ लिया गया।

स्कोफील्ड लिखती हैं—हत्या के ख़िलाफ़ ग़ुस्से को सरकार के ख़िलाफ़ हिस्टीरिया में बदल दिया गया।[99] जहाँ सारी दुनिया हिज़्ब पर सवाल उठाकर माहौल बदल सकती थी, वहीं अन्तरराष्ट्रीय प्रेस इस बर्बर घटना की तीखी आलोचना से भर गया और भारतीय प्रेस जगमोहन की आलोचना से। बुश सरकार ने अपना विशेष

---

* अगले अध्याय में देखें

दूत भेजकर भारत से सेनाओं के प्रयोग में संयम करने का सन्देश भिजवाया तो राज्य प्रशासन के 137 कर्मचारियों ने खुलेआम इस घटना की आलोचना की।[100] देशभक्ति के नाम ऐसी मूर्खतापूर्ण कार्यवाही अन्ततः देश के ख़िलाफ़ जाती ही है।

यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण बात जोड़ी जानी ज़रूरी है। दिल्ली में 2003 में हुई कश्मीरी पंडितों की कॉन्फ्रेंस में अशोक भान ने कहा : 'जब हमने कश्मीर छोड़ा तो सिर्फ़ दो लोग थे, जिन्होंने इसका विरोध किया—मीरवायज़ मौलवी फ़ारूक़ और फ़ारूक़ अब्दुल्ला। इसके अलावा राजनीतिक जगत से किसी ने कुछ नहीं कहा।'[101]

इस डर और ग़ुस्से की अन्तःक्रिया ने जो माहौल बनाया, उसकी एक बड़ी ज़िम्मेदारी जगमोहन की बनती ही है। 'डर' और 'गुस्से'—दोनों में से किसी एक को अलग करके देखने की कोशिश इकहरे निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए अभिशप्त है।

साथ ही, योजना हो न हो, लेकिन इस बात के तो पर्याप्त प्रमाण हैं कि उन्होंने इस विस्थापन को रोकने के लिए वह कोशिश नहीं की, जो की जानी चाहिए थी। बलराज पुरी बताते हैं कि उस दौर में संयुक्त समिति बनाई गई थी जिसका उद्‌देश्य कश्मीरी पंडितों का पलायन रोकना था। इसमें कश्मीर के पूर्व मुख्य न्यायाधीश मुफ़्ती बहाउद्‌दीन फ़ारूक़ी, एच.एन. जट्‌टू और ग़ुलाम नबी हाग्रू थे। कई मुस्लिम नेताओं, राजनीतिक नेताओं और आतंकवादी संगठनों तक ने कश्मीरी पंडितों से पलायन न करने की अपील की। लेकिन जट्‌टू ख़ुद ही जम्मू चले गए। उन्होंने बाद में बताया कि इस कमेटी के बनने के तुरन्त बाद ही राज्यपाल ने एक डी.एस.पी. को जम्मू के हवाई टिकट के साथ भेजा और जम्मू में एक घर दिलाने का आश्वासन देते हुए तुरन्त जम्मू चले जाने के लिए कहा...सरकार ने ऐसी कोशिशों को कोई महत्त्व नहीं दिया। उसी समय नये-नये आतंकवादी संगठन भी उभर रहे थे जो साम्प्रदायिक घृणा फैला रहे थे। पंडितों को डरानेवाले पोस्टर लगाये गए, धमकियाँ दी गईं और इस समुदाय के कुछ लोगों की बेवजह हत्या की गई। दोनों समुदाय के साम्प्रदायिक तत्त्वों ने इस माहौल का पूरा फ़ायदा उठाया और अन्ततः कश्मीरी पंडित घाटी से पलायित होने पर मजबूर हुए।[102] ऐसे ही निष्कर्ष अकबर ने भी दिये हैं।[103] 'कमेटी फ़ॉर इनिशिएटिव ऑन कश्मीर' की जुलाई, 1990 की रिपोर्ट *कश्मीर इम्प्रिजंड* में नातीपुरा, श्रीनगर में रह रहे एक कश्मीरी पंडित ने कहा कि 'इस इलाक़े के कुछ लोगों ने दबाव में कश्मीर छोड़ा। एक कश्मीरी पंडित नेता एच.एन. जट्‌टू लोगों से कह रहे थे कि अप्रैल तक सभी पंडितों को घाटी छोड़ देना है। मैंने कश्मीर नहीं छोड़ा। डरे तो यहाँ सभी हैं लेकिन हमारी महिलाओं के साथ कोई ऐसी घटना नहीं हुई।' 18 सितम्बर, 1990 को स्थानीय उर्दू अख़बार *अफ़साना* में छपे एक पत्र में के.एल. कौल ने

लिखा : 'पंडितों से कहा गया था कि सरकार कश्मीर में एक लाख मुसलमानों को मारना चाहती है जिससे आतंकवाद का ख़ात्मा हो सके। पंडितों को कहा गया कि उन्हें मुफ़्त राशन,घर, नौकरियाँ आदि सुविधाएँ दी जाएँगी। उन्हें यह कहा गया कि नरसंहार ख़त्म हो जाने के बाद उन्हें वापस लाया जाएगा।'[104] मेहबूब मख़्दूमी का 27 सितम्बर, 2016 को ग्रेटर कश्मीर में एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने 22 सितम्बर, 1990 को कुछ प्रतिष्ठित विस्थापित कश्मीरी पंडितों का उस समय कश्मीर के प्रमुख दैनिक अख़बार को लिखा एक पत्र अपनी टिप्पणी के साथ दिया है। मेरे आग्रह पर उन्होंने उस पत्र की पी.डी.एफ़. मुझे 17 अक्टूबर, 2018 को मेल पर उपलब्ध करवाई। अंग्रेज़ी में लिखे इस पत्र पर बृजनाथ भान, एम.एल. धर, के.एल. कॉ, चुन्नी लाल रैना, मोती लाल माम, अशोक कौल, एम.एल. मुंशी, बी.एन. गंजू, पुष्कर नाथ कौल, कमल रैना, जी.एन. दफ्तरी सहित 23 पंडितों के हस्ताक्षर हैं। इस पत्र में कहा गया है कि 'यह स्पष्ट है कि समुदाय के कुछ स्वघोषित नेताओं और अन्य निहित स्वार्थों वाले कुछ लोगों को जगमोहन द्वारा बलि का बकरा बनाया गया था जिसमें आडवाणी, वाजपेयी, मुफ़्ती और जगमोहन की मुख्य भूमिका थी। इसमें एच.एन. जट्टू को 'मेकैनिक से नेता बना दलाल' और 'फ़ारूक़ अब्दुल्ला का पिम्प' कहा गया है जिसने पंडितों से विनती की कि वे कश्मीर छोड़ दें और यह धर्म की रक्षा तथा अखंड भारत के स्वप्न के लिए बहुत ज़रूरी है।'[105] संजय टिक्कू बताते हैं कि उस दौर में कश्मीरी पंडितों के एक प्रतिनिधिमंडल ने जगमोहन से मिलकर अपनी सुरक्षा के लिए गुहार लगाई थी, लेकिन जगमोहन सुरक्षा उपलब्ध कराने की जगह जम्मू जाने पर ज़ोर दे रहे थे।

तवलीन सिंह कहती हैं : 'कई मुसलमान यह आरोप लगाते हैं कि जगमोहन ने कश्मीरी पंडितों को घाटी छोड़ने के लिए प्रेरित किया। यह सच हो या नहीं, लेकिन यह तो सच ही है कि जगमोहन के कश्मीर में आने के कुछ दिनों के भीतर वे समूह में घाटी छोड़ गए और इस बात के पर्याप्त सबूत हैं कि जाने के लिए संसाधन भी उपलब्ध कराये गए।' वह आगे कहती हैं : 'अजीब अफ़वाहें थीं और उन पर भरोसा करना मुश्किल था लेकिन उन पर लोग आम तौर पर भरोसा करते थे कि जगमोहन का मामला गड़बड़ है। सोपोर के मुख्य बाज़ार में मेरे गाइड के रूप में चल रहे युवाओं के एक समूह ने मुझे एक हिन्दू दुकानदार जय किशन से मिलवाया जिसने घबराते हुए मुझसे कहा कि ज़्यादातर हिन्दू जगमोहन के आदेश पर रात के अँधेरे में चले गए हैं लेकिन वह नहीं गया क्योंकि उसे नहीं लगता कि उसे अपने मुसलमान पड़ोसियों से कोई ख़तरा है।'[106] मुझसे बातचीत में रतनलाल तलाशी सहित कई पंडितों ने जगमोहन और जट्टू की भूमिका की पुष्टि की है। तलाशी बताते हैं कि उनके गाँव के लोगों को 2-2 हज़ार रुपये दिये गए थे और साथ में जम्मू में अच्छी रिहाइश और नौकरी का वादा। वज़ाहत हबीबुल्लाह बताते

गए और कुछ उनसे भिड़ गए।' इसी लेख में वह जम्मू और कश्मीर के मुख्य सचिव रहे अशोक जेटली को उद्धृत करते हुए कहते हैं : 'जगमोहन ने पाँच महीने में वह कर दिया जो आतंकवादी पाँच सालों में नहीं कर पाते।'[93] मार्च और अप्रैल, 1990 में कश्मीर गए जस्टिस वी.एम. तार्कुंडे, जस्टिस राजिंदर सच्चर, बलराज पुरी और शिक्षाविद् अमरीक सिंह की टीम ने पाया :

> वास्तविकता यह है कि हाल के महीनों में, ख़ास तौर से जनवरी, 1990 में जगमोहन के आने के बाद, भयावह दमनात्मक कार्यवाहियों से घाटी की सारी मुस्लिम आबादी भारत से कट गई है, और उनका यह अलगाव अब कड़वाहट तथा ग़ुस्से में बदल गया है।[94]

असल में जगमोहन ने पहले ही दिन से आतंकवादियों की जगह जैसे कश्मीरी मुसलमानों से युद्ध छेड़ दिया था। अपने सार्वजनिक बयानों में भी उन्होंने शान्ति की किसी अपील की जगह धमकी की भाषा अपनाई। 20 जनवरी को दूरदर्शन से उन्होंने सन्देश दिया : 'सुधर जाओ वरना मैं ठीक कर दूँगा।'[95] 19 फ़रवरी को उन्होंने विधान सभा भंग की और उस समय विधान सभा के सदस्य गीलानी, अब्दुल ग़नी लोन, अब्दुल ग़नी बट, अब्बास अंसारी और क़ाज़ी निसार को गिरफ़्तार कर लिया। मई में उन्होंने कहा :

> आज कश्मीर में हर मुसलमान आतंकवादी है। सभी भारत से अलग होना चाहते हैं। मैं श्रीनगर दूरदर्शन के कार्यक्रमों में हेर-फेर इसलिए कर रहा हूँ कि हर कोई आतंकवादी है...। हालात इतने विस्फोटक हैं कि मैं इस राजभवन से बाहर नहीं जा सकता। लेकिन मेरे पास हर मिनट की ख़बर है। कश्मीर के लिए बुलेट ही एक हल है। जब तक सारे आतंकवादी नहीं मारे जाएँगे, कश्मीर में शान्ति नहीं लौटेगी।[96]

इस बयान को ज़रा ग़ौर से पढ़िए—अब, 'हर मुसलमान आतंकवादी है' और 'जब तक सारे आतंकवादी नहीं मारे जाएँगे, कश्मीर में शान्ति नहीं लौटेगी।' यानी घाटी में शान्ति के लिए वहाँ के हर मुसलमान को मार डालना था! इस दृष्टिकोण के साथ काम कर रहे प्रशासक के लिए यह सम्भव ही नहीं था कि वह आतंकवाद से असहमत या उसके शिकार कश्मीरियों को साथ लेकर एक तरफ़ प्रशासन को मज़बूत करता तो दूसरी तरफ़ ताक़त का समुचित प्रयोग करते हुए आतंकवादियों का मुक़ाबला करता। हमने देखा है कि न केवल नेशनल कॉन्फ़्रेंस, कांग्रेस और जनता दल जैसी मुख्यधारा की पार्टियों के लोग आतंकवादियों के शिकार हो रहे थे बल्कि हिज़बुल मुजाहिदीन के आने के बाद आज़ादी-समर्थक और पाकिस्तान-समर्थक तहरीकों के बीच भी तनाव पैदा हुआ था। सारे मुसलमानों को दुश्मन और दमन को इकलौता हथियार मान लेने का परिणाम यह कि इन अन्तर्विरोधों का उपयोग कर उन्हें कमज़ोर करने की जगह जगमोहन की नीतियों ने इन पर पर्दा डालकर उन्हें

एक होने और अपनी ताक़त बढ़ाने का मौक़ा दिया। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है मीरवायज़ मौलवी फ़ारूक़ की हत्या के बाद उनका रवैया, जिसके बाद अन्तत: उन्हें कश्मीर से जाना पड़ा।

21 मई, 1990 को मीरवायज़ की हत्या कर दी गई। मीरवायज़ ने रूबिया सईद के अपहरण को इस्लाम-विरोधी बताया था। उस समय कश्मीर मामलों के केन्द्रीय मंत्री जॉर्ज फर्नांडीज़ से मुलाक़ात की थी और किसी भी तरह की सुरक्षा लेने से इनकार कर दिया था। पाकिस्तानी प्रेस का एक हिस्सा उन्हें भारत का दलाल कह रहा था। जनता का सन्देह हिज़बुल मुजाहिदीन पर था और उनके अनुयायियों में इसे लेकर भारी रोष था।[97] उस वक़्त तो किसी ने हिज़बुल का नाम नहीं लिया लेकिन बीस साल बाद हुर्रियत के एक बड़े नेता ने सार्वजनिक रूप से यह बात कही।* मीरवायज़ के जनाज़े के जुलूस में हज़ारों लोग शामिल हुए। मुख्य सचिव आर.के. ठक्कर ने जगमोहन को कश्मीर के इस सबसे बड़े धार्मिक नेता की मृत्यु पर ख़ुद जाने या किसी वरिष्ठ अधिकारी को भेजकर राज्य सरकार की ओर से क़ब्र पर फूल चढ़ाने की सलाह दी। लेकिन जगमोहन नहीं माने। यही नहीं, उन्होंने जुलूस के रास्ते और जुलूस पर प्रतिबन्ध को लेकर भी कुछ भ्रम पैदा करनेवाले निर्देश दिये। इन्हीं भ्रमों के चलते जम्मू-कश्मीर के वरिष्ठ पुलिस अधिकारी अल्ला बख़्श के नेतृत्व में पुलिस के एक दल और अर्द्धसैनिक बलों की एक टुकड़ी ने जुलूस पर तब गोलीबारी शुरू कर दी जब वह अपने गंतव्य मीरवायज़ मंज़िल पहुँचने ही वाला था। हताहतों का आधिकारिक आँकड़ा 27 था, भारतीय प्रेस ने मरने वालों की संख्या 47 बताई और बी.बी.सी. ने 100। रउफ़ अहमद नामक एक युवा पिता पर तनी बन्दूक़ देख सामने आ गया तो उसकी देह में 28 गोलियाँ मिलीं! आलम यह कि दो गोलियाँ मीरवायज़ के शव को भी लगीं। 1998 तक यह केस जाँच के दायरे में रहा और फिर यह कहकर बन्द कर दिया गया कि कोई भी आरोपी पहचाना नहीं जा सका।[98] कश्मीर में हुई इन आपराधिक कार्यवाहियों का एक त्रासद पहलू यह भी है कि चाहे पंडित मरे हों या मुसलमान, अपराधियों को आम तौर पर कोई सज़ा नहीं मिली।

इस तरह एक मौक़ा खो दिया गया। जहाँ एक रणनीति के तहत सरकार मीरवायज़ की क़ब्र पर फूल चढ़ाकर हिज़्ब के प्रति जनता के ग़ुस्से को भड़का सकती थी और अपने लिए थोड़ी सहानुभूति पैदा कर आतंकवादी आन्दोलन को कमज़ोर कर सकती थी, वहाँ सारा ग़ुस्सा अपनी तरफ़ मोड़ लिया गया।

स्कोफील्ड लिखती हैं—हत्या के ख़िलाफ़ ग़ुस्से को सरकार के ख़िलाफ़ हिस्टीरिया में बदल दिया गया।[99] जहाँ सारी दुनिया हिज़्ब पर सवाल उठाकर माहौल बदल सकती थी, वहीं अन्तरराष्ट्रीय प्रेस इस बर्बर घटना की तीखी आलोचना से भर गया और भारतीय प्रेस जगमोहन की आलोचना से। बुश सरकार ने अपना विशेष

* अगले अध्याय में देखें

दूत भेजकर भारत से सेनाओं के प्रयोग में संयम करने का सन्देश भिजवाया तो राज्य प्रशासन के 137 कर्मचारियों ने खुलेआम इस घटना की आलोचना की।[100] देशभक्ति के नाम ऐसी मूर्खतापूर्ण कार्यवाही अन्तत: देश के ख़िलाफ़ जाती ही है।

यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण बात जोड़ी जानी ज़रूरी है। दिल्ली में 2003 में हुई कश्मीरी पंडितों की कॉन्फ्रेंस में अशोक भान ने कहा : 'जब हमने कश्मीर छोड़ा तो सिर्फ़ दो लोग थे, जिन्होंने इसका विरोध किया—मीरवायज़ मौलवी फ़ारूक़ और फ़ारूक़ अब्दुल्ला। इसके अलावा राजनीतिक जगत से किसी ने कुछ नहीं कहा।'[101]

इस डर और ग़ुस्से की अन्त:क्रिया ने जो माहौल बनाया, उसकी एक बड़ी ज़िम्मेदारी जगमोहन की बनती ही है। 'डर' और 'ग़ुस्से'—दोनों में से किसी एक को अलग करके देखने की कोशिश इकहरे निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए अभिशप्त है।

साथ ही, योजना हो न हो, लेकिन इस बात के तो पर्याप्त प्रमाण हैं कि उन्होंने इस विस्थापन को रोकने के लिए वह कोशिश नहीं की, जो की जानी चाहिए थी। बलराज पुरी बताते हैं कि उस दौर में संयुक्त समिति बनाई गई थी जिसका उद्देश्य कश्मीरी पंडितों का पलायन रोकना था। इसमें कश्मीर के पूर्व मुख्य न्यायाधीश मुफ़्ती बहाउद्दीन फ़ारूक़ी, एच.एन. जट्टू और ग़ुलाम नबी हाग्रू थे। कई मुस्लिम नेताओं, राजनीतिक नेताओं और आतंकवादी संगठनों तक ने कश्मीरी पंडितों से पलायन न करने की अपील की। लेकिन जट्टू ख़ुद ही जम्मू चले गए। उन्होंने बाद में बताया कि इस कमेटी के बनने के तुरन्त बाद ही राज्यपाल ने एक डी.एस.पी. को जम्मू के हवाई टिकट के साथ भेजा और जम्मू में एक घर दिलाने का आश्वासन देते हुए तुरन्त जम्मू चले जाने के लिए कहा...सरकार ने ऐसी कोशिशों को कोई महत्त्व नहीं दिया। उसी समय नये-नये आतंकवादी संगठन भी उभर रहे थे जो साम्प्रदायिक घृणा फैला रहे थे। पंडितों को डरानेवाले पोस्टर लगाये गए, धमकियाँ दी गईं और इस समुदाय के कुछ लोगों की बेवजह हत्या की गई। दोनों समुदाय के साम्प्रदायिक तत्त्वों ने इस माहौल का पूरा फ़ायदा उठाया और अन्तत: कश्मीरी पंडित घाटी से पलायित होने पर मजबूर हुए।[102] ऐसे ही निष्कर्ष अकबर ने भी दिये हैं।[103] 'कमेटी फ़ॉर इनिशिएटिव ऑन कश्मीर' की जुलाई, 1990 की रिपोर्ट *कश्मीर इम्प्रिजंड* में नातीपुरा, श्रीनगर में रह रहे एक कश्मीरी पंडित ने कहा कि 'इस इलाक़े के कुछ लोगों ने दबाव में कश्मीर छोड़ा। एक कश्मीरी पंडित नेता एच.एन. जट्टू लोगों से कह रहे थे कि अप्रैल तक सभी पंडितों को घाटी छोड़ देना है। मैंने कश्मीर नहीं छोड़ा। डरे तो यहाँ सभी हैं लेकिन हमारी महिलाओं के साथ कोई ऐसी घटना नहीं हुई।' 18 सितम्बर, 1990 को स्थानीय उर्दू अख़बार *अफ़साना* में छपे एक पत्र में के.एल. कौल ने

लिखा : 'पंडितों से कहा गया था कि सरकार कश्मीर में एक लाख मुसलमानों को मारना चाहती है जिससे आतंकवाद का ख़ात्मा हो सके। पंडितों को कहा गया कि उन्हें मुफ़्त राशन,घर, नौकरियाँ आदि सुविधाएँ दी जाएँगी। उन्हें यह कहा गया कि नरसंहार ख़त्म हो जाने के बाद उन्हें वापस लाया जाएगा।'[104] मेहबूब मख़्दूमी का 27 सितम्बर, 2016 को ग्रेटर कश्मीर में एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने 22 सितम्बर, 1990 को कुछ प्रतिष्ठित विस्थापित कश्मीरी पंडितों का उस समय कश्मीर के प्रमुख दैनिक अख़बार को लिखा एक पत्र अपनी टिप्पणी के साथ दिया है। मेरे आग्रह पर उन्होंने उस पत्र की पी.डी.एफ़. मुझे 17 अक्टूबर, 2018 को मेल पर उपलब्ध करवाई। अंग्रेज़ी में लिखे इस पत्र पर बृजनाथ भान, एम.एल. धर, के.एल. कॉ, चुन्नी लाल रैना, मोती लाल माम, अशोक कौल, एम.एल. मुंशी, बी.एन. गंजू, पुष्कर नाथ कौल, कमल रैना, जी.एन. दफ्तरी सहित 23 पंडितों के हस्ताक्षर हैं। इस पत्र में कहा गया है कि 'यह स्पष्ट है कि समुदाय के कुछ स्वघोषित नेताओं और अन्य निहित स्वार्थों वाले कुछ लोगों को जगमोहन द्वारा बलि का बकरा बनाया गया था जिसमें आडवाणी, वाजपेयी, मुफ़्ती और जगमोहन की मुख्य भूमिका थी। इसमें एच.एन. जट्टू को 'मेकैनिक से नेता बना दलाल' और 'फ़ारूक़ अब्दुल्ला का पिम्प' कहा गया है जिसने पंडितों से विनती की कि वे कश्मीर छोड़ दें और यह धर्म की रक्षा तथा अखंड भारत के स्वप्न के लिए बहुत ज़रूरी है।'[105] संजय टिक्कू बताते हैं कि उस दौर में कश्मीरी पंडितों के एक प्रतिनिधिमंडल ने जगमोहन से मिलकर अपनी सुरक्षा के लिए गुहार लगाई थी, लेकिन जगमोहन सुरक्षा उपलब्ध कराने की जगह जम्मू जाने पर ज़ोर दे रहे थे।

तवलीन सिंह कहती हैं : 'कई मुसलमान यह आरोप लगाते हैं कि जगमोहन ने कश्मीरी पंडितों को घाटी छोड़ने के लिए प्रेरित किया। यह सच हो या नहीं, लेकिन यह तो सच ही है कि जगमोहन के कश्मीर में आने के कुछ दिनों के भीतर वे समूह में घाटी छोड़ गए और इस बात के पर्याप्त सबूत हैं कि जाने के लिए संसाधन भी उपलब्ध कराये गए।' वह आगे कहती हैं : 'अजीब अफ़वाहें थीं और उन पर भरोसा करना मुश्किल था लेकिन उन पर लोग आम तौर पर भरोसा करते थे कि जगमोहन का मामला गड़बड़ है। सोपोर के मुख्य बाज़ार में मेरे गाइड के रूप में चल रहे युवाओं के एक समूह ने मुझे एक हिन्दू दुकानदार जय किशन से मिलवाया जिसने घबराते हुए मुझसे कहा कि ज़्यादातर हिन्दू जगमोहन के आदेश पर रात के अँधेरे में चले गए हैं लेकिन वह नहीं गया क्योंकि उसे नहीं लगता कि उसे अपने मुसलमान पड़ोसियों से कोई ख़तरा है।'[106] मुझसे बातचीत में रतनलाल तलाशी सहित कई पंडितों ने जगमोहन और जट्टू की भूमिका की पुष्टि की है। तलाशी बताते हैं कि उनके गाँव के लोगों को 2-2 हज़ार रुपये दिये गए थे और साथ में जम्मू में अच्छी रिहाइश और नौकरी का वादा। वज़ाहत हबीबुल्लाह बताते

हैं कि उन्होंने जगमोहन से दूरदर्शन पर कश्मीरी पंडितों से एक अपील करने को कहा था कि वे यहाँ सुरक्षित महसूस करें और सरकार उनकी पूरी सुरक्षा उपलब्ध कराएगी, लेकिन जगमोहन ने मना कर दिया। इसकी जगह अपने प्रसारण में उन्होंने कहा कि 'पंडितों की सुरक्षा के लिए रिफ़्यूज़ी कैम्प बनाये जा रहे हैं। जो पंडित डरा हुआ महसूस करें, वे इन कैम्पों में जा सकते हैं। जो कर्मचारी घाटी छोड़कर जाएँगे, उन्हें तनख़्वाहें मिलती रहेंगी।' ज़ाहिर है, इन घोषणाओं ने पंडितों को पलायन के लिए प्रेरित किया।[107] प्रो. नीरजा मट्टू ने दिसम्बर, 2012 में गोवा आर्ट्स एंड लिटरेचर फेस्टिवल में बोलते हुए कहा—उस समय की सरकार ने कश्मीरी पंडितों में सुरक्षा का भाव भरने की जगह उन्हें कश्मीर छोड़ने देने की आसान राह चुनी, और न केवल उन्हें घर छोड़ने दिया बल्कि एक तरह से उन्हें इसकी सुविधा दी यानी एक तरह की रिश्वत।[108]

इन विवरणों में इतने उतार-चढ़ाव हैं और निजी अनुभवों से लेकर प्रतिबद्धताओं तक के इतने विविध और विरोधाभासी आयाम हैं कि किसी एक तरह की चीज़ों को लेकर इकहरा आख्यान रच देना उनके लिए तो लड़ाई का हिस्सा जैसा हो सकता है जिनके कश्मीर की इस कशमकश में स्टेक हैं लेकिन हमारे लिए यह तसवीर का एक पहलू देखने जैसा होगा। नब्बे के दशक में हुए पंडितों के पलायन-विस्थापन के लिए आतंकवादी उभार, साम्प्रदायिक तनाव, प्रशासनिक रवैया और वे ऐतिहासिक-सांस्कृतिक-सामाजिक संक्रियाएँ ज़िम्मेदार हैं जिन्होंने उन परिस्थितियों का निर्माण किया था जिसके मद्देनज़र वह धारणा बनी जिसकी अभिव्यक्ति शहनाज़ बशीर के इस बयान में होती है कि 'लोगों को लगता था कि कश्मीरी पंडित हमेशा ही बाहरी शासक वर्ग के साथ रहे।'[109] इसमें वे संक्रियाएँ भी शामिल हैं जिनसे भारत कश्मीरियों के एक हिस्से के लिए बाहरी रहा और वे भी, जिनसे कश्मीर का राजनीतिक संघर्ष धार्मिक बनकर सामने आया। यह एक भयावह स्थिति थी। इस परिघटना का सार-संक्षेप करते हुए मृदु राय कहती हैं :

> हालाँकि इस बात के कोई संकेत नहीं हैं कि कश्मीरी पंडितों को वहाँ से निकालने की सरकार की कोई सोची-समझी योजना थी लेकिन इस बात के पूरे संकेत हैं कि सरकार ने पंडितों का पलायन रोकने की पूरी कोशिश नहीं की।
>
> वास्तविकता शायद इन सब तत्त्वों (धमकियाँ, हत्याएँ, सरकार की ओर से सुरक्षा का आश्वासन न होना आदि) के संयोजन से बनती है। जो बातें यथासम्भव पक्के तौर पर कही जा सकती हैं, वह यह कि कश्मीरी पंडितों ने निश्चित रूप से अपनी सुरक्षा पर ख़तरा महसूस किया होगा—या तो तुरन्त के लिए या फिर भविष्य में अपने परिवार और सम्पत्ति के सुरक्षित न होने की।
>
> ये भाव हर परिवार और हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग होंगे। लेकिन अगर उन्हें ऐसा ख़तरा नहीं महसूस हुआ होता तो यह विवेचित कर पाना बेहद

मुश्किल है कि कैसे इतनी बड़ी संख्या में उन्होंने वह स्थान छोड़ दिया जो सदियों से उनका वतन था।[110]

जिस घटना से मैं इस हिस्से का अन्त करना चाहूँगा, वह इस पूरी परिघटना का एक उपसंहार कर सकती है—सुरक्षा बलों ने 1993 में 22 अक्टूबर को अनंतनाग के बिजबेहरा में एक शान्तिपूर्ण रैली पर गोलियाँ चलाईं। चालीस से अधिक नागरिक मारे गए और डेढ़ सौ से अधिक लोग घायल हुए। इनमें एक 13 साल का कमलजी कौल नामक कश्मीरी पंडित लड़का भी था। इसके बाद कमल के परिवार ने कश्मीर छोड़ दिया।[111]

पंडितों के पास कश्मीर छोड़कर जवाहर टनल से इस पार आने का एक विकल्प उपलब्ध करा दिया गया था; या शायद वह हमेशा से था। मुसलमानों को वहीं रहना था और आतंकवादियों तथा सुरक्षा बलों के दो पाटों के बीच पिसना था। वे अगर इस तरफ़ आए भी तो उनका स्वागत नहीं था। वे हमेशा सन्दिग्ध की तरह देखे गए। इसके सैकड़ों उदाहरण आपको यहाँ-वहाँ मिल जाएँगे। यह हक़ीक़त कश्मीर की भयावह त्रासदी का एक अनकहा क़िस्सा ज़रूर है लेकिन इसे दरकिनार करके कश्मीर की हक़ीक़त को नहीं समझा जा सकता। हांगलू कहते हैं—हालाँकि यह भी कहानी का एक हिस्सा है लेकिन अक्सर इस पर किसी का ध्यान नहीं जाता।

विस्थापन के बाद : डर से अपमान तक

जिस एक चीज़ पर कोई विवाद नहीं हो सकता, वह है विस्थापन के बाद पंडितों द्वारा झेली गई भयावह त्रासदी। उस दौर में सारे आश्वासनों के बावजूद जम्मू या दिल्ली में उनका भी स्वागत नहीं किया था। उन्हें जम्मू के बाहरी इलाक़ों में मुथी कैम्प, ट्रांसपोर्ट नगर, पुर्खू कैम्प, स्टेडियम कैम्प, झिरनी कैम्प, नागरोटा कैम्प, मिश्रीवाला कैम्प और भटाबालियाँ कैम्प में जगह दी गई। कश्मीर के खुले वातावरण से आए लोगों के लिए डेढ़ कमरों के बन्द मकानों में बिना किन्हीं सुविधाओं के रहना त्रासद था जिसका शारीरिक और मनोवैज्ञानिक के साथ-साथ सांस्कृतिक असर भी हुआ। रत्तन लाल हांगलू बताते हैं :

जब कश्मीरी पंडित जम्मू पहुँचे, इस तथ्य के बावजूद कि उनकी उपस्थिति ने उस क्षेत्र की भौतिक संस्कृति का उन्नयन किया, उनका बेहद प्रतिकूल स्वागत हुआ। मैं दो उदाहरण देता हूँ—तेज़ गर्मियों में भी छोटे-छोटे स्कूल जानेवाले बच्चों को उन कैनवास टेंटों में रहना पड़ता था जो अमरनाथ यात्रियों के लिए बनाये गए थे। यह कहना बेकार है कि जम्मू का क्षेत्र भी उसी राज्य सरकार (नोट—राज्यपाल शासन में जगमोहन के तहत) के अधीन था लेकिन विस्थापित कश्मीरी पंडितों के साथ जो व्यवहार किया गया, वह निन्दनीय था। आज तक

जम्मू में यह सुना जाता है कि पंडित इधर गन्दगी फैलाते हैं, इस तरह के अनेक उदाहरण हैं। यह बताता है कि जम्मू किस हद तक कश्मीर की बहुलतावादी या बहु-संस्कृतिवादी संस्कृति का स्वागत कर रहा था...। अगर आतंकवाद ने कश्मीरी पंडितों को निराश किया था तो विस्थापन के बाद का जम्मू का समय भी बहुत कटु रहा था। इसके चलते बहुत-से पंडितों को लगा कि विस्थापन का निर्णय बहुत बड़ी भूल थी।[112]

ख़ालिद बशीर लिखते हैं :

घाटी छोड़ने के कारण जो भी रहे हों, जब वे जम्मू पहुँचे तो एक व्यवस्थित अराजकता उनकी प्रतीक्षा में थी। जाने की कोई और जगह नहीं थी तो इस समुदाय ने भयावह शारीरिक और मनोवैज्ञानिक पीड़ाएँ झेलीं। वे एक ऐसे वातावरण में गए जो मौसम और संस्कृति, दोनों के लिहाज़ से उनके अनुरूप नहीं था। एक आरामदायक ज़िन्दगी से टेंटों और तंग मकानों में रहने की मजबूरी ने उनकी स्थिति को करुणास्पद बना दिया। बड़े परिवारों को एक कमरे में रहना पड़ा जहाँ औरतें ठीक से कपड़े भी नहीं बदल सकती थीं।[113]

पंडितों द्वारा कश्मीरी अख़बार को लिखे गए पूर्वोद्धृत पत्र का आख़िरी हिस्सा भी उन मुश्किल हालात का बयान करता है जिनका सामना जम्मू में कश्मीरी पंडितों को करना पड़ा। वह ख़त बताता है कि जिन लोगों ने पहले ही जम्मू में व्यवस्था कर ली थी, वे तो ठीक-ठाक थे और ऐसे लोग जिनके पास कश्मीर में ही कोई सम्पत्ति नहीं थी, वे जम्मू में छोटे मकान पाकर भी ख़ुश थे और सबसे अधिक साम्प्रदायिक बातें कर रहे थे लेकिन सबसे परेशान और दुखी वे लोग थे जो श्रीनगर और दूसरी जगहों से अच्छे-ख़ासे घर छोड़कर आए थे।[114] यह एक नज़रिया हो सकता है, लेकिन जो बड़ा सच बनता है, उसमें बहुत सारे कारक शामिल हैं। अपनी जड़ों से उखड़कर जाना किसी भी समुदाय के किसी भी सदस्य के लिए एक त्रासदी के अलावा क्या हो सकता है, ख़ास कर तब, जब यह निर्णय उनका ख़ुद का न होकर भय और मजबूरी में लिया गया हो?

हालाँकि यहाँ यह बता देना प्रासंगिक होगा कि कश्मीरी विस्थापित पंडितों को मिलनेवाला प्रति माह मुआवज़ा भारत में अब तक किसी विस्थापन के लिए दिये गए मुआवज़े से अधिक है।[115] समय-समय पर इसे बढ़ाया भी गया, आख़िरी बार उमर अब्दुल्ला के शासनकाल में। 2008 में आतंकवाद में मारे गए लोगों को 5 लाख रुपये की सहायता तथा क्षतिपूरक नौकरी देने का आदेश दिया गया।[116] 2015 में नक़द राहत प्रति व्यक्ति 1500 रुपये से बढ़ाकर 2500 रुपये कर दी गई। एक परिवार के लिए अधिकतम राशि 10,000 रुपये तय की गई।[117] 2015 में ही कश्मीरी विस्थापितों के लिए 3000 अतिरिक्त नौकरियों और 6000 आवास देने के लिए 2000 करोड़ का पैकेज अनुमोदित किया गया।[118] इसके अलावा दिल्ली में

दिल्ली प्रशासन, एम.सी.डी., एन.डी.एम.सी. के स्कूलों और केन्द्रीय विद्यालयों में प्रवेश के लिए सुविधाएँ और दिल्ली विश्वविद्यालय में दाख़िले के लिए आरक्षण जैसी सुविधाएँ दी गईं तथा सरकारी आई.टी.आई. संस्थानों में एक प्रतिशत सीटें आरक्षित की गईं। महाराष्ट्र में डिग्री और डिप्लोमा, दोनों स्तरों पर तकनीकी संस्थानों में आरक्षण दिया गया और कश्मीरी छात्रों के दाख़िले बिना डोमेसाइल सर्टिफिकेट लेने का प्रावधान किया गया। मध्य प्रदेश में हर तकनीकी संस्थान में हर स्तर पर एक सीट विस्थापित कश्मीरी पंडितों के लिए आरक्षित की गई। पंजाब में स्कूल स्तर पर उनके लिए मुफ़्त शिक्षा का प्रावधान किया गया तो गुजरात और राजस्थान में मेडिकल छात्रों को माइग्रेशन की सुविधा दी गई तथा कश्मीरी छात्रों के दाख़िले बिना डोमेसाइल सर्टिफिकेट लेने का प्रावधान किया गया।[119]

ख़ालिद बशीर कैम्पों में रह चुकीं शर्मिष्ठा के हवाले से पंडित महिलाओं की उन त्रासदियों की तरफ़ ध्यान दिलाते हैं जो अक्सर हमारे मर्दाना आख्यानों में जगह पाने से चूक जाती हैं। जम्मू की भयावह गर्मियों में नहाना और नित्यकर्म भी महिलाओं के लिए एक भयावह समस्या थी। दुनिया भर के मर्दों की निगाहें तो ख़ैर थीं ही। उनके लिए अपमानजनक सम्बोधन गढ़े गए और यौन-उत्पीड़न की भी छोटी-बड़ी घटनाएँ हुईं। डॉ. विमला धर की आँखें यह बताते-बताते भर गई थीं कि जब जम्मू में उन्होंने एक कुतिया को देहजूर* पहनाकर भगाते लोगों को 'पंडितानी जा रही है' का शोर मचाते देखा। नतीजा मनोवैज्ञानिक समस्याएँ। जम्मू और कश्मीर सरकार की *चिकित्सीय पुनर्वास विभाग की वर्ष 2000 की रिपोर्ट* बताती है कि इन महिलाओं में 76 प्रतिशत अलग-अलग तरह के एंक्जाइटी डिसऑर्डर, फोबिया और पैनिक अटैक से ग्रस्त थीं तो 20 प्रतिशत महिलाओं को अनिद्रा और व्यक्तित्व-सम्बन्धी समस्याएँ थीं। उनमें एक बड़ी संख्या डिप्रेशन और नशे की शिकार महिलाओं की भी थी। मानसिक-शारीरिक समस्याओं का असर इसी से समझा जा सकता है कि विस्थापन के बाद मनोपाज की उम्र कम हो गई थी और 36 प्रतिशत महिलाओं का मेनोपाज 40 की उम्र से पहले ही हो गया था। इसमें एक-चौथाई की उम्र तो 34 वर्ष से भी कम थी। इसका असर उनकी प्रजनन-क्षमता पर भी नकारात्मक रूप से पड़ा।[120] बच्चों को तो इसका शिकार होना ही था। इस पूरी प्रक्रिया में कश्मीर के कुल बच्चों के चार से पाँच फ़ीसदी यतीम हुए थे जिसमें कश्मीरी पंडित बच्चे भी शामिल थे ही। जीजी पॉल बताते हैं कि इन हालात में माँ-बाप खो चुके बच्चों के अपने रिश्तेदारों के हाथों उत्पीड़न के लिए कई मामले सामने आए। 1990-97 के बीच 800 से अधिक पंडित बच्चों को विस्थापन के चलते मनोवैज्ञानिक समस्याओं का सामना करना पड़ा और 8 से 10 साल के बच्चों में नकारात्मक भाव और तनाव की समस्या पाई गई।[121]

---

* विवाहित कश्मीरी पंडित महिलाओं के कानों में पहने जानेवाला आभूषण

यह वही पीढ़ी है जो आज प्रौढ़ हो चुकी है और जिसका बड़ा हिस्सा आज दक्षिणपंथ का सबसे मुखर प्रवक्ता है। यह वह पीढ़ी है जिसने अपनी आँखें खोलने के साथ कश्मीर में तेज़ आवाज़ में उठते नारे सुने हैं, घर से स्कूलों तक मशरूमों की तरह उगे आतंकवादी संगठन देखे हैं, हथगोले और बन्दूकें देखी हैं, साम्प्रदायिक तनाव देखे हैं और विस्थापन की पीड़ा झेली है; जिनका बचपन कश्मीर की ख़ुशनुमा वादियों में नहीं, विस्थापित लोगों के लिए बने कैम्पों में अड़ोस-पड़ोस के दर्द भरे आख्यान सुनते गुज़रा है। इसके बरअक्स कश्मीर में उसी दौर में बड़ी हुई पीढ़ी है जिसके शब्दकोश में कर्फ़्यू, हड़ताल, कासो, मुठभेड़, इन्काउंटर, ग्रेनेड शामिल होते गए हैं, जिन्होंने अपने पड़ोस और स्कूलों-कॉलेजों में पंडितों को नहीं—बस, अपने सहधर्मियों को देखा है, सुरक्षा बलों के अत्याचार के क़िस्से सुने हैं और कश्मीर से बाहर गए कश्मीरियों के साथ हुए दुर्व्यवहारों की ख़बरें सुनी हैं। एक तरफ़ जनवरी, 1990 की रातें हैं, बंधामा है, नन्दीग्राम है तो दूसरी तरफ़ आफ्सपा है, कुनान पोषपुरा है, माछिल है, गौ कदल है, पैलेट गनें हैं और सुरक्षा बलों तथा पुलिस के दमन के हज़ारों क़िस्से। पुरानी पीढ़ी की स्मृतियों में इन कटु घटनाओं के साथ सहअस्तित्व भी है लेकिन इस पीढ़ी के पास जो है, वह बस, यही कटुता। इसने कश्मीर के वर्तमान को और जटिल बनाया है। निताशा कौल लन्दन में रहनेवाली कश्मीरी पंडित हैं जिनके परिवार ने नब्बे के दशक में घाटी छोड़ी थी। वह कहती हैं :

> भारतीय सेना के दशकों के कश्मीर में दमन को (विरोध प्रदर्शन करनेवालों की हत्याएँ, ज़बरिया गुमशुदगी, आपातकालीन अधिकार, ग़ैरक़ानूनी प्रताड़ना और बलात्कार, युवाओं को पैलेट गनों से अंधा करना) वहाँ के बहुसंख्यक समाज ने झेला है जो मुस्लिम हैं और अक्सर उन्हें ऐसा मुस्लिम होने के चलते ही झेलना पड़ा है। उसने एक राजनीतिक विवाद का साम्प्रदायिकीकरण कर दिया है।
>
> हालाँकि कश्मीरी हिन्दुओं और मुसलमानों की पुरानी पीढ़ी को याद है कि सहअस्तित्व कैसा था—भले यह हिन्दुओं को जाति और धर्म के आधार पर मिले प्राधिकारों के चलते ग़ैर-बराबर शर्तों पर था, लेकिन आज का युवा अक्सर माज़ी से अपरिचित है।
>
> अगर आप बाबरी विध्वंस के बाद रिफ़्यूज़ी कैम्पों में पले-बढ़े एक कश्मीरी हिन्दू हैं या एक कश्मीरी मुस्लिम हैं और भारत के ख़िलाफ़ युद्ध में अपने दोस्त और परिवार खोये हैं तो बुरहान वानी के नाम पर आपकी प्रतिक्रिया आम तौर पर एक ऐसी समझ होगी जिससे न केवल आपकी राजनीति परिभाषित होती है बल्कि आपकी धार्मिक पहचान भी।
>
> वे युवा कश्मीरी जिन्होंने घाटी में सहअस्तित्व नहीं देखा है, वे कश्मीरी हिन्दुओं को हिन्दुत्ववादी ताक़तों के हिस्से के रूप में देखते हैं (ठीक वैसा, जैसा भारतीय मीडिया दिखाना चाहता है) या फिर वास्तविक संघर्ष से एक व्यर्थ का विकर्षण

(जैसाकि प्रतिरोध के लड़ाकों द्वारा बताया जाता है जो इस लड़ाई को इस्लामी विद्रोह के रूप में दिखा रहे भारतीय बयानों के प्रतिरूप हैं)।[122]

इस लगातार बढ़ते अपरिचय और संवादहीनता तथा घाटी पर दोनों समुदायों के अपने-अपने दावों के बीच देश और दुनिया में लगातार मज़बूत होते दक्षिणपंथी सामाजिक-राजनीतिक वातावरण में अपनी-अपनी अभिकल्पित सामुदायिक स्मृति या कहें, अपने-अपने परसेप्शन को यथार्थ की तरह प्रस्तुत किये जाने ने कश्मीर समस्या को नये तरीक़ों से उलझा दिया है। इस कथित पोस्ट ट्रुथ या परा-सत्य के समय में एक तरफ़ विस्थापित पंडितों के दक्षिणपंथी समूहों के प्रवक्ताओं के वीडियोज़ और व्हाट्सेप हैं जहाँ कश्मीर के इतिहास को मुसलमानों के हिन्दुओं पर अत्याचार के आख्यान में बदले जाने को 'सत्य' की तरह लगातार प्रचारित किया जाता है तो दूसरी तरफ़ घाटी से आनेवाले उतने ही ज़हरीले वीडियोज़ और व्हाट्सेप हैं जिसमें इसका प्रतिआख्यान प्रस्तुत किया जाता है। परसेप्शन की इस लड़ाई का एक रूप कठुआ में एक बच्ची के बलात्कार के बाद की बयानबाज़ियों और जुलूसों में दिखा तो दूसरा अभी 370 हटाने और राज्य को दो केन्द्र शासित प्रदेशों में बदल देने के फ़ैसले के बाद एक तरफ़ कर्फ़्यू और दूसरी तरफ़ जश्न के माहौल में। घाटी में बेहद सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता अमित वांचू कहते हैं : 'अगर उस समय मैं जम्मू चला गया होता तो शायद मैं भी उतना ही कम्यूनल हो गया होता।'

इन सबके बीच विस्थापन के बाद की पीढ़ी की सागरिका क़िस्सू जैसी मुखर और जीवट वाली पत्रकार और घर छोड़ने की दारुण स्मृतियों के बावजूद मुसीबत में पड़े कश्मीरी छात्रों के पक्ष में खड़े होनेवाले अभिनेता राहुल भट्ट जैसे पंडितों, गौहर गीलानी और शहनाज़ बशीर जैसे मुखर लेखकों और कश्मीर समाज के भीतर ख़ामोशी से काम करते हुए विस्थापित और वहाँ रह रहे पंडितों की कहानियाँ दर्ज करनेवाले जावेद शाह जैसे पत्रकारों और नागरिकों ही नहीं, ऐसे अनेक ग़ैर-कश्मीरी पत्रकारों, लेखकों और आम लोगों से ही थोड़ी उम्मीद जगती है जो कश्मीरी जनता की संवेदना के साथ जुड़ने की कोशिश ही नहीं कर रहे बल्कि उनकी मुसीबतों को लगातार मज़बूती से दर्ज भी कर रहे हैं। जब दिल्ली और श्रीनगर, दोनों ही जगह राजनीति लगभग असफल हो चुकी है तो शायद जनता से जनता का सम्पर्क ही जवाहर टनल के उस पार और इस पार के बीच कोई पुल बना सकता है।

संदर्भ

1. देखें, पेज 54, *कश्मीरियत : द वायस ऑफ़ द पास्ट मिसकन्स्ट्रयूड*, रत्तन लाल हांगलू, पार्चमेंट ऑफ़ कश्मीर, सम्पादक : नायला अली ख़ान, पल्ग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 2012

2. देखें, पेज 80, *माई कश्मीर द डाइंग ऑफ़ द लाइट,* वजाहत हबीबुल्लाह, पेंग्विन बुक्स, दिल्ली, 2014
3. देखें, वही, पेज 64
4. देखें, अध्याय 1 और 2, टेररिज़्म इन नॉर्थ इंडिया : जम्मू एंड कश्मीर एंड द पंजाब, वेद प्रकाश, कल्पाज़ पब्लिकेशन, दिल्ली, 2008
5. देखें, पेज 362, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
6. देखें, पेज 210-11, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज इन कश्मीर,* डी.एन. धर, कनिष्क पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001
7. देखें, पेज 250, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड,* पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
8. देखें, http://kashmirdispatch.com/2013/07/30/july-31-1988-the-day-armed-struggle-began-in-kashmir/117151/(आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
9. देखें, http://kashmirdispatch.com/2011/03/30/ishfaq-majid-the-raw-clay-of-resistance/102536/(आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
10. देखें, https://www.bbc.com/news/world-asia-18738906 (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
11. देखें, पेज 289-90, *द स्टोरी ऑफ़ कश्मीर,* डेविड देवदास, आथर्स उपफ्रंट, दिल्ली, 2019
12. देखें, यूरोपियन एकेडमिक रिसर्च के खंड ii, अंक 11 (फ़रवरी, 2015) में प्रकाशित बशारत नज़ीर पीर का लेख *चेंजिंग नेचर ऑफ़ इंसरजेंसी इन कश्मीर।*
13. देखें, पेज 51 और 79, खंड, 1, *टेररिज़्म इन नॉर्थ इंडिया : जम्मू एंड कश्मीर एंड द पंजाब,* वेद प्रकाश, कल्पाज़ पब्लिकेशन, दिल्ली, 2008
14. देखें, वही, पेज 90
15. देखें, 31 मई 1993 को *इंडिया टुडे* में छपा हरीन्द्र बावेजा का लेख *लूज़िंग कंट्रोल*
16. देखें, पेज 170, .*कश्मीर : ग्लिम्पसेज ऑफ़ हिस्ट्री एंड द स्टोरी ऑफ़ स्ट्रगल,* सैफ़ुद्दीन सोज, रूपा, दिल्ली, 2018
17. देखें, पेज 176, *कश्मीर : द लैंड ऑफ़ रिग्रेट,* मूसा रज़ा, सी नेक्स्ट, चेन्नई, 2019
18. देखें, वही, पेज 170
19. देखें, पेज 51-53, *कश्मीर द बाजपेयी इयर्स,* ए.एस. दुलत, हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स, नोएडा, 2015

20. देखें, पेज 80, *माई कश्मीर द डाइंग ऑफ़ द लाइट,* वजाहत हबीबुल्लाह, पेंग्विन बुक्स, दिल्ली, 2014
21. देखें, पेज 65, *कश्मीर : इंसरजेंसी एंड आफ़्टर,* बलराज पुरी, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, तीसरा संस्करण, दिल्ली, 2008
22. देखें, वही, पेज 81
23. देखें, https://kashmirlife.net/when-i-wanted-to-go-to-aligarh-my-brothers-said-girls-cant-study-they-cant-stay-in-a-hostel-10531/ (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
24. देखें, पेज 173, *कश्मीर : ग्लिम्पसेज ऑफ़ हिस्ट्री एंड द स्टोरी ऑफ़ स्ट्रगल,* सैफ़ुद्दीन सोज, रूपा, दिल्ली, 2018
25. देखें, पेज 393-96, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
26. देखें, *एट्टी-थ्री डेज़ : द स्टोरी ऑफ़ अ फ्रोज़ेन रिवर,* डॉ. एस.एन. धर, इन्फ्यूज़ इंक, नई दिल्ली, 200
27. देखें, पेज 144-150, *रेडियो कश्मीर,* राजेश भट्ट, स्टेलर पब्लिशर्स, दिल्ली, 2018
28. देखें, https://freespeechcollective.in/2019/03/22/list-of-journalists-killed-in-kashmir-from-1990/ (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
29. देखें, वही, पेज 144 पर राजेश भट्ट द्वारा उद्धृत प्रेस *काउंसिल ऑफ़ इंडिया की रिपोर्ट क्राइसिस एंड क्रेडिबिलिटी,* 1991
30. देखें, वही, पेज 142-43,
31. देखें, वही, पेज 141
32. देखें, पेज 241-42, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड,* पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
33. देखें, पेज 97-98, *ऑफ़ रूम्स एंड रेजिस्टेंस,* मोना भान, *अ डिजोलेशन कॉल्ड पीस,* सम्पादक : अतहर ज़िया और जावेद इक़बाल भट, हार्पर कॉलिन्स इंडिया, नोएडा, 2019
34. देखें, पेज 61, *कश्मीर : द बाजपेयी इयर्स,* हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स, नोएडा, 2015
35. देखें, *अ लॉन्ग ड्रीम ऑफ़ होम,* सम्पादक : सिद्धार्थ गिगू और वरद शर्मा में इन्दु भूषण जुत्शी का लेख *शी वाज़ किल्ड बिकॉज़ शी वास एन इन्फॉर्मेंट, नो हार्म विल कम टू यू,* ब्लूम्सबर्ग, नई दिल्ली, 2015
36. देखें, पेज 209-10, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज इन कश्मीर,* डी.एन. धर, कनिष्क पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001
37. देखें, वही, पेज 210

38. देखें, पेज 351, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
39. देखें, पेज 211-12, *डायनामिक्स ऑफ़ पॉलिटिकल चेंज इन कश्मीर,* डी.एन. धर, कनिष्क पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001
40. देखें, पेज 351, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
41. लव पुरी
42. देखें, पेज 114, *कश्मीर द बाजपेयी इयर्स,* ए.एस. दुलत, हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स, नोएडा, 2015
43. देखें, 2 अगस्त, 2011 को अल ज़ज़ीरा में छपा सुमात्रा बोस का लेख द इवोल्यूशन *ऑफ़ कश्मीरी रेसिस्टेंस*
44. देखें, यूरोपियन एकेडमिक रिसर्च के खंड ii, अंक 11 (फ़रवरी, 2015) में प्रकाशित बशारत नज़ीर पीर का लेख *चेंजिंग नेचर ऑफ़ इंसरजेंसी इन कश्मीर।*
45. देखें, पेज 172, *कश्मीर : ग्लिम्पसेज ऑफ़ हिस्ट्री एंड द स्टोरी ऑफ़ स्ट्रगल,* सैफ़ुद्दीन सोज, रूपा, दिल्ली, 2018
46. देखें, पेज 68-69, *बिटवीन डेमोक्रेसी & नेशन : जेंडर एंड मिलिटेराइजेशन इन कश्मीर,* सीमा काज़ी, वीमेन अनलिमिटेड, दिल्ली, 2009
47. देखें, 15 फ़रवरी, 2016 को द *नेशन* में छपा अरशद मलिक का लेख *व्हाई डिड आर्म्ड इंसरजेंसी 'फेल' इन कश्मीर?*
48. देखें, पेज 175, *कश्मीर : ग्लिम्पसेज ऑफ़ हिस्ट्री एंड द स्टोरी ऑफ़ स्ट्रगल,* सैफ़ुद्दीन सोज, रूपा, दिल्ली, 2018
49. देखें, 2 अगस्त, 2011 को अल ज़ज़ीरा में छपा सुमात्रा बोस का लेख द इवोल्यूशन *ऑफ़ कश्मीरी रेसिस्टेंस*
50. देखें, पेज 156, *फाल्ट लाइंस ऑफ़ हिस्ट्री : द इंडिया पेपर्स* (सम्पादक : उमा चक्रवर्ती) में शबा हुसैन का लेख *सेक्सुअल वायलेंस एंड इम्प्यूनिटी,* जुबान बुक्स, दिल्ली, 2016
51. देखें, वही, पेज 154
52. देखें, पेज 142-43, द *मेनी फेसेज़ ऑफ़ कश्मीरी नेशनलिज़्म,* नन्दिता हक्सर, स्पीकिंग टाइगर्स, दिल्ली, 2015
53. देखें, पेज 69, *बिटवीन डेमोक्रेसी एंड नेशन : जेंडर एंड मिलिटेराइजेशन इन कश्मीर,* सीमा काज़ी, वीमेन अनलिमिटेड, दिल्ली, 2009
54. देखें, पेज 196, *कश्मीर : द लैंड ऑफ़ रिग्रेट,* मूसा रज़ा, सी नेक्स्ट, चेन्नई, 2019
55. देखें, वही, पेज 162

56. देखें, पेज 14, *माई फ्रोज़ेन टर्बुलेंस इन कश्मीर,* जगमोहन, एलाइड पब्लिशर लिमिटेड, दिल्ली,1991
57. देखें, पेज 218, *कश्मीर : बिहाइंड द वेल,* एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, छठा संस्करण, दिल्ली, 2011
58. देखें, पेज 60, *कश्मीर द बाजपेयी इयर्स,* ए.एस. दुलत, हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स, नोएडा, 2015
59. देखें, पेज 243-44, *अ डिजोलेशन कॉल्ड पीस* (सम्पादक : अतहर जिया और जावेद इक़बाल भट) में ख़ालिद मीर का लेख द *वर्नल इंटरल्यूड,* 1989, हार्पर कॉलिन्स इंडिया, नोएडा, 2019
60. देखें, पेज 82, *माई कश्मीर द डाइंग ऑफ़ द लाइट,* वजाहत हबीबुल्लाह, पेंग्विन बुक्स, दिल्ली, 2014
61. देखें, पेज 131, *कश्मीर : एज आई सी इट,* अशोक धर, रूपा, दिल्ली, 2019
62. देखें, पेज 62, *कश्मीर द बाजपेयी इयर्स,* ए.एस. दुलत, हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स, नोएडा, 2015
63. देखें, पेज 1-3, *कश्मीर : बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन,* खेमलता वखलू और ओ.पी. वखलू, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, 1997
64. देखें, पेज 192, *कश्मीर : रेज़ एंड रीज़न,* गौहर गीलानी, रूपा, दिल्ली, 2019
65. देखें, पेज 34, *इवोल्यूशन ऑफ़ माई आइडेंटिटी विस अ विस इस्लाम इस्लाम एंड कश्मीर,* मोहम्मद इशाक ख़ान, *पार्चमेंट ऑफ़ कश्मीर,* (सम्पादक : नायला अली ख़ान), पल्ग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 2012
66. मानवाधिकार आयोग की रिपोर्ट से गौहर गीलानी द्वारा पेज 155 पर उद्धृत
67. ख़ालिद अहमद बशीर द्वारा ओ.एन. त्रिशल की किताब *कश्मीरी पंडित्स एट द क्रॉसरोड्स ऑफ़ हिस्ट्री* और से उद्धृत, पेज 32-33 पर उद्धृत
68. देखें, https://pdfslide.us/documents/mn-tickoo-on-migration.html (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
69. देखें, पेज 246-250, नीरजा मट्टू का साक्षात्कार *होल्डिंग द हेड हाई, इन अ स्टेट ऑफ़ वायलेंट पीस,* मीरा खन्ना, हार्पर कॉलिन्स इंडिया, नोएडा, 2015
70. देखें, पेज 187, *कश्मीर : रेज़ एंड रीज़न,* गौहर गीलानी, रूपा, दिल्ली, 2019
71. देखें, पेज 184 और 197, अशोक धर, *कश्मीर : एज आई सी इट,* रूपा, दिल्ली, 2019
72. देखें, पेज 54, *कश्मीर : रेज़ एंड रीज़न,* गौहर गीलानी, रूपा, दिल्ली, 2019
73. http://www.aljazeera.com/indepth/spotlight/kashmirtheforgottenconflict/2011/07/20117613481898496 1.html

74. देखें, पनुन कश्मीर की वेबसाइट http://panunkashmir|org/ (आख़िरी बार 14/09/2019 को देखा गया)
75. देखें, पेज 159, *द मेनी फेसेज़ ऑफ़ कश्मीरी नेशनलिज़्म,* नन्दिता हक्सर, स्पीकिंग टाइगर्स, दिल्ली, 2015
76. देखें, पेज 244, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड,* पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
77. देखें, पेज 318, चित्रलेखा ज़ुत्शी, *लैंग्वेंज ऑफ़ बिलांगिंग : इस्लाम, रीज़नल आइडेंटिटी एंड मेकिंग ऑफ़ कश्मीर,* परमानेंट ब्लैक, दूसरा संस्करण, 2015
78. देखें, पेज 120, *कश्मीर : रूट्स ऑफ़ कॉन्फ्लिक्ट पाथ टू पीस,* सुमांत्रा बोस, हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 2003
79. देखें, कंटेम्पररि साउथ एशिया के अंक 11 में प्रकाशित अलेक्ज़ेंडर इवांस का लेख *अ डिपार्चर फ्रॉम हिस्ट्री : कश्मीरी पंडित्स,* 1990-2001
80. देखें, पेज 245, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड,* पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
81. देखें, पेज 320, *सी. आई. ए. वर्ल्ड फैक्टबुक, 2010,* स्काईहॉर्स पब्लिशिंग, न्यूयॉर्क, 2009
82. देखें, पेज 151, *कश्मीर इन कॉन्फ्लिक्ट : इंडिया, पाकिस्तान एंड द अनएंडिंग वार,* विक्टोरिया स्कोफ़ील्ड, आई.बी. टारिस एंड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन, 2003
83. देखें, पेज 251, *कश्मीर : एक्सपोज़िंग द मिथ बिहाइंड द नैरेटिव,* ख़ालिद बशीर अहमद, सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017
84. देखें, पेज 79, *माई कश्मीर द डाइंग ऑफ़ द लाइट,* वजाहत हबीबुल्लाह, पेंग्विन बुक्स, दिल्ली, 2014
85. देखें, पेज 245, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड,* पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
86. देखें, पेज 118, *बिटवीन डेमोक्रेसी एंड नेशन : जेंडर एंड मिलिटेराइजेशन इन कश्मीर,* सीमा काज़ी, वीमेन अनलिमिटेड, दिल्ली, 2009
87. देखें, पेज 54, *कश्मीरियत : द वायस ऑफ़ द पास्ट मिसकन्स्ट्रयूड,* रत्तन लाल हांगलू, *पार्चमेंट ऑफ़ कश्मीर,* सम्पादक : नायला अली ख़ान, पल्ग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 2012
88. देखें, पेज 56-57, *कश्मीर : ट्रेल एंड ट्रेवेल,* प्यारेलाल कौल, सुमन पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1996
89. देखें, पेज 74, *वार्स एंड नो पीस इन कश्मीर,* मारूफ़ रज़ा, लैंसर पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1996

90. अनुराधा भसीन, *थ्री केस स्टडीज़, मीडिया कवरेज़ ऑन फोर्स्ड डिस्प्लेसमेंट इन कंटेम्परिर इंडिया,* यहाँ ख़ालिद अहमद बशीर की किताब से उद्धृत, पेज 232
91. 8 जनवरी, 2013 को द *हिन्दू* में छपा लेख, *फ़्रॉम द वैली, अ सेलेक्टिव रिमेम्ब्रेंस ऑफ़ थिंग्स पास्ट,* यहाँ ख़ालिद अहमद बशीर की किताब से उद्धृत, पेज 230
92. देखें, पेज 218, *कश्मीर : बिहाइंड द वेल,* एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, छठा संस्करण, दिल्ली, 2011
93. देखें, एडवर्ड डेसमंड का लेख द *इंसरजेंसी इन कश्मीर (1989-91), कंटेम्परिर साउथ एशिया,* (1995), 4(1), 5-16
94. देखें, पेज 152, *कश्मीर इन कॉन्फ्लिक्ट : इंडिया, पाकिस्तान एंड द अनएंडिंग वार,* विक्टोरिया स्कोफ़ील्ड, आई.बी. टारिस एंड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन, 2003
95. देखें, http://epaper.indianexpress.com/84143/Delhi/22-January-2013#page/7/2 (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
96. देखें, वही, पेज 154
97. देखें, पेज 143, *पैराडाइज़ एट वार,* राधा कुमार, अलेफ़ बुक कम्पनी, दिल्ली, 2018
98. देखें, http://epaper.indianexpress.com/84143/Delhi/22-January-2013#page/7/2 (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
99. देखें, वही, पेज, 153
100. देखें, एम.जे. अकबर, 219, हबीबुल्लाह, 88, पुरी, 68
101. देखें, पेज 77, *कश्मीरी पंडित्स : प्रॉब्लम एंड परसेप्शन* (सम्पादक : अवंति भाटी), के राउंडटेबल में अशोक भान का हस्तक्षेप, रूपा, दिल्ली, 2015
102. देखें, पेज 70-71, *कश्मीर : इंसरजेंसी एंड आफ़्टर,* बलराज पुरी, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, तीसरा संस्करण, दिल्ली, 2008
103. देखें, पेज 218-20, *कश्मीर : बिहाइंड द वेल,* एम.जे. अकबर, रोली बुक्स, छठा संस्करण, दिल्ली, 2011
104. देखें, http://www.greaterkashmir.com/news/op-ed/kashmiri-pandits-an-incendiary-venomous-narrative/225877.html (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
105. देखें, https://www.greaterkashmir.com/news/opinion/were-sorry-we-betrayed-you/ (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
106. http://www.greaterkashmir.com/news/op-ed/kashmiri-pandits-an-incendiary-venomous-narrative/225877.html में अब्दुल माजिद मट्टू द्वारा उद्धृत। (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)

107. देखें, पेज 86, *माई कश्मीर द डाइंग ऑफ़ द लाइट,* वजाहत हबीबुल्लाह, पेंग्विन बुक्स, दिल्ली, 2014
108. ख़ालिद अहमद बशीर द्वारा पेज 241 पर उद्धृत
109. देखें, पेज 199, *अ चाइल्डहुड टु इंसरजेंसी,* शहनाज़ बशीर, *अ डिज़ोलेशन कॉल्ड पीस,* सम्पादक : अतहर ज़िया और जावेद इक़बाल भट, हार्पर कॉलिन्स इंडिया, नोएडा, 2019
110. देखें, http://www.aljazeera.com/indepth/spotlight/kashmirtheforgottenconflict/2011/07/20117242045466645823.html (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
111. 23 अक्टूबर 2018 को *कश्मीर लाइफ़* में छपा लेख, गीलानी द्वारा पेज 192 पर उद्धृत
112. देखें, पेज 54, *कश्मीरियत : द वायस ऑफ़ द पास्ट मिसकन्स्ट्रयूड,* रत्तन लाल हांगलू, *पार्चमेंट ऑफ़ कश्मीर,* सम्पादक : नायला अली ख़ान, पल्ग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 2012
13. देखें, पेज 249, *कश्मीर : एक्स्पोज़िंग द मिथ बिहाइंड द नैरेटिव,* ख़ालिद बशीर अहमद, सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017
114. देखें, https://www.greaterkashmir.com/news/opinion/were-sorry-we-betrayed-you/ (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
115. देखें, https://factly.in/this-is-what-the-government-claims-it-has-done-for-the-kashmiri-pandits-kashmiri-pandits-rehabilitation/ (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
116. देखें, गृह मंत्रालय की आदेश संख्या 15030/14/07-KV
117. देखें, वही, 12013/3/2012-KV
118. देखें, वही 12013/6/2014-KV
119. देखें, पेज 99-100, *कश्मीरी पंडित्स : प्रॉब्लम एंड परसेप्शन,* सम्पादक : अवंति भाटी, रूपा, दिल्ली, 2015
120. देखें, पेज 62-63, *सोशियो-इकॉनोमिक प्रॉब्लम्स ऑफ़ कश्मीरी पंडित,* डॉ. जी.जी. पॉल एस., बुक पैलेस, श्रीनगर, 2015
121. देखें, पेज 65, वही
122. http://www.aljazeera.com/indepth/opinion/2017/07/kashmir-communalisation-political-dispute.170725082030871.html (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)

अध्याय-11

जिन्होंने घर नहीं छोड़ा

घाटी में रह रहे कश्मीरी पंडित

ना। मुझे डर नहीं लगा। पूरे दो साल मैंने सोचा कि पंडित भाग क्यों रहे हैं! मेरा बेटा बहुत परेशान था लेकिन मुझे कोई डर नहीं लगा क्योंकि मैं तमाम आतंकवादी लड़कों को जानती थी। उनमें से कई मेरे हाथों ही पैदा हुए थे...। मुझे दुःख हुआ उनके हथियार उठाने का...। जो वे कर रहे हैं, वह ग़लत है लेकिन राज्य की सरकारों और दिल्ली के रवैये और कश्मीर पर उनकी ग़लत नीतियों ने साबित किया है कि जब एक देश अपने युवाओं की फ़िक्र नहीं करता तो वे विद्रोह में उठ खड़े होंगे और हथियार उठा लेंगे। कश्मीर एक ऐसी जगह है जहाँ सदियों पीढ़ियों से हम ग़ुलाम हैं। जब मैं 'हम' कहती हूँ तो मैं इसमें शामिल हूँ। 1 के बाद से केन्द्र सरकारों की ग़लत नीतियों ने इसे बर्बाद कर दिया है। ज यहाँ आई तो मैंने अपने पति से पूछा कि कश्मीरी इतने कायर क्यों हैं? वे ये क्यों बर्दाश्त करते हैं? इसके ख़िलाफ़ खड़े क्यों नहीं होते? उन्हें यह महसू नहीं होता कि वे किस क़दर वंचना के शिकार हैं। वह मुझसे कहते थे, क में कहते हैं : 'अगर हम लड़ नहीं सकते तो क्या भाग भी नहीं सकते?' हम पीढ़ियों से ग़ुलाम रहे हैं।

—डॉ. जगत मोहिनी

कहानी वांचू परिवार से शुरू करना चाहता हूँ। कश्मीर का इतिहास पढ़ते हृदयनाथ वांचू के नाम से परिचित हुआ। 25 मई, 1925 को श्रीनगर के हब्बा कदल के मालियार में एक मध्यवर्गीय परिवार में जन्मे वांचू छात्र जीवन में ही डोगरा शासन के ख़िलाफ़ आज़ादी की लड़ाई में शामिल हो गए थे और दो बार जेल हो आए थे। 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन में उन्हें एक साल की जेल हुई थी। एस.पी. कॉलेज से स्नातक की परीक्षा पास कर उन्होंने समाजसेवा के लिए रेड क्रॉस सोसायटी चुनी और जम्मू-कश्मीर में वरिष्ठ चिकित्सकों के साथ मिलकर अनेक योजनाएँ लागू करवाने में प्रमुख भूमिका निभाई, फिर 1952 में श्रीनगर नगरपालिका में मुलाज़िम हुए। वहाँ ट्रेड यूनियन गतिविधियों के चलते सफ़ाई कर्मचारियों की यूनियन बनवाई

और उनके अधिकारों की लड़ाई लड़ी। जब उनकी बातों का सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा तो सफ़ाई कर्मचारियों के साथ सचिवालय पर उन्होंने बड़ा प्रदर्शन किया। वहाँ जब कर्मचारियों ने शहर की सारी गन्दगी डाल दी तो प्रशासन चेता और न केवल सिर पर मैला ढोने की परम्परा ख़त्म हुई बल्कि नियमित नौकरी से लेकर इंश्योरेंस तक की सुविधाएँ मिलीं। बटमालू में सफ़ाई कामगारों के बच्चों के लिए स्कूल खोला और इसके बाद उन्होंने 'श्रीनगर म्यूनिसिपल इम्प्लाइज़ यूनियन' गठित की जिसकी शाखाएँ पूरे प्रदेश में फैली थीं। यह एटक से जुड़ी यूनियन थी। वांचू कालान्तर में महासचिव बने और इंडो-यू.एस.एस.आर. फ्रेंडशिप सोसायटी सहित कई संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाईं। इसके साथ ही उन्होंने साठ के दशक में समाज के ग़रीब वर्गों के लिए एक कंज़्यूमर सोसायटी बनाई जो नो प्रॉफिट, नो लॉस के आधार पर उचित मूल्यों पर लोगों को ज़रूरियात के सामान उपलब्ध कराती थी। 1989 में जब कश्मीर में आतंकवाद शुरू हुआ तो कश्मीर छोड़ने की जगह उन्होंने वहाँ सुरक्षा बलों द्वारा कश्मीरियों के मानवाधिकारों के हनन के मुद्दे पर लड़ाई छेड़ दी। 65 साल के होते हुए भी वे उन मुश्किल हालात में घर से निकलकर दूर-दराज के गाँवों में जाते, पुलिस और सुरक्षा बलों द्वारा ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से गिरफ़्तार किये और मार दिये लोगों के आँकड़े जुटाते और हेबियस कार्पस मुक़दमे दायर कर उनका हिसाब माँगते। बलराज पुरी लिखते हैं कि कश्मीर में मानवाधिकार उल्लंघनों के दस्तावेज़ीकरण का काम जितनी निष्पक्षता और जितने व्यवस्थित तरीक़े से हृदयनाथ वांचू ने किया, उतना किसी और ने नहीं।

उस वक़्त के हालात पर वांचू कितने प्रखर थे, यह उनके इस बयान से समझा जा सकता है :

> यहाँ खुला दमन है। आज बीजेपी और आर.एस.एस. लॉबी खुलेआम कह रहे हैं कि जगमोहन को उन्होंने भेजा है। कश्मीर पर कोई स्पष्ट सरकारी नीति नहीं है। नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस के लोग भाग गए हैं। विपक्ष को ख़त्म कर दिया गया है। मध्यमार्गियों के ख़िलाफ़ वारंट जारी किये गए हैं। राजनीतिक कार्रवाइयाँ प्रतिबन्धित कर दी गई हैं तो सरकार बात किससे करेगी? आज मुफ़्ती, जॉर्ज फर्नांडीज़, वी. पी. सिंह और राज्यपाल अलग-अलग भाषा में बात कर रहे हैं। मुफ़्ती जम्मू में कहते हैं कि कश्मीरी पंडितों को वापस भेजा जाएगा लेकिन जगमोहन वहाँ उनके राशन कार्ड की मियाद बढ़ा देते हैं। प्रेस नोट राजभवन में तैयार किये जाते हैं और वे सीधे दूरदर्शन और आल इंडिया रेडियो पर जाते हैं। तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है। एक पूरी बारात की हत्या कर दी गई लेकिन आप इसे अख़बारों में नहीं पाएँगे क्योंकि इस ख़बर को फैलने नहीं दिया जाएगा।'[1]

वह विभिन्न देशों के दूतावासों, प्रधानमंत्रियों और राष्ट्रपति को मानवाधिकारों के हनन के बारे में पत्र लिख रहे थे और वहाँ आकर कश्मीर के ज़मीनी हालात को

देखने की अपील कर रहे थे। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कुनान पोषपुरा मामले में बलात्कार पीड़ितों के मामले दर्ज कराए थे। अल्पसंख्यकों की मदद के लिए उन्होंने 'हिन्दू वेलफेयर फोरम' भी बनाई थी जहाँ वह भयग्रस्त अल्पसंख्यक समुदाय की सहायता के लिए सदा तत्पर रहते थे। ज़ाहिर है, सरकारें उन्हें पसन्द नहीं करती थीं। आज के दौर में भी तो ऐसे लोगों को एंटी नेशनल कहे जाने का चलन है ही।

5 दिसम्बर, 1992 को जब अयोध्या में हिन्दूवादी ताक़तों ने बाबरी मस्जिद के चारों ओर घेरा डाला हुआ था, श्रीनगर के जवाहरनगर और करण नगर के बीच का क़िस्सा मुख़्तसर-सा है। तीन लोग आए—दो ऑटो में और एक स्कूटर पर। उस दिन हृदयनाथ जी जोड़ों के दर्द से परेशान थे लेकिन जब उन्हें बताया गया कि एक सफ़ाई कर्मचारी के बेटे को पुलिस उठा ले गई है तो वह निःशंक ऑटो में बैठकर चल दिये। आधे घंटे बाद जब सवा दस बजे घर का फ़ोन बजा तो उनके पुत्र कुमार वांचू के लिए ही नहीं, किसी के लिए भी भरोसा करना मुश्किल था कि वह अब दुनिया में नहीं रहे। देखते-देखते ख़बर आग की तरह फैल गई। अगले दिन जब अयोध्या में बाबरी मस्जिद तबाह की जा रही थी तो हृदयनाथ जी के घर के सामने लाखों लोगों का हुजूम उन्हें श्रद्धांजलि देने पहुँचा। परिवार को लगा कि शवयात्रा निकालने पर लोगों का ग़ुस्सा बाहर आ सकता है तो घर के पास डी.ए.वी. स्कूल के मैदान में उनकी अन्तिम क्रिया की गई। उस जगह पर ही उनकी समाधि बनी हुई है। *न्यूयॉर्क टाइम्स* में पी.एम. वरदराजन ने लिखा—5 दिसम्बर को जब अयोध्या में हिन्दू कट्टरपंथ और फ़र्ज़ी राष्ट्रवाद की ताक़तों के अयोध्या की मस्जिद पर हमले के एक दिन पहले कश्मीर के सबसे प्रमुख मानवतावादी हृदयनाथ वांचू की तीन अनजान बन्दूक़धारियों ने हत्या कर दी।[2] ह्यूमन राइट्स वाच की एक रिपोर्ट में

श्री एच.एन. वांचू की समाधि

आरोप लगाया गया है कि वांचू की हत्या तत्कालीन राज्यपाल गिरीश सक्सेना के कहने पर एक भारतीय अधिकारी द्वारा करवाई गई थी क्योंकि वे ग़ैरक़ानूनी हत्याओं के अनेक मामलों की पैरवी अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं में कर रहे थे[3] लेकिन नन्दिता हक्सर का मानना है कि उनकी हत्या आतंकवादियों ने की क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि कोई पंडित कश्मीर के प्रतिनिधि के रूप में सामने आए।[4] ऐसे लोग सबके अप्रिय होने के लिए अभिशप्त हैं शायद। उनकी हत्या के जुर्म में आशिक़ हुसैन फ़क़तू उर्फ़ डॉ. क़ासिम को 1993 में आजीवन कारावास की सज़ा हुई और उसके बाद से वह जेल में है। प्रसंगवश बताता चलूँ, फ़क़तू दुख्तरान-ए-मिल्लत की लीडर आशिया अन्दराबी का पति है।[5]

कहानी यहाँ ख़त्म नहीं हुई। असल में तो यह जानने के बाद मेरी उत्कंठा बढ़ी थी कि इस घटना के बाद वांचू परिवार वहाँ है या नहीं, और अगर है तो क्या सोचता है और आज के कश्मीर में उनकी क्या भूमिका है? 2017 के अक्टूबर में कश्मीर गया तो बस इतना पता था कि वह परिवार जवाहर नगर में रहता है तो वहाँ पहुँचकर यों ही किसी से पूछा...। आश्चर्य, वे सीधे उनके घर ले गए जहाँ दवा की एक फैक्टरी के संचालक उनके पुत्र कुमार वांचू से मुलाक़ात हुई।

कुमार वांचू
पीछे वह तसवीर जिसमें एच.एन. वांचू के साथ उनके पौत्र अमित वांचू की युवा तसवीर लगाई गई है।

कुमार साहब शुरुआत जवाहर नगर से ही करते हैं—'यहाँ 480 घर थे और उनमें से 400 घर पंडितों के थे। अब शायद उनमें साढ़े तीन सौ घर बिक गए। जब गए थे तो अपने हमसायों को चाभी दे गए थे। ज़्यादातर लोग चले गए। एक फियर साइकोसिस थी। दो तरह की बातें होती हैं। एक तो यह कि सारे मुसलमान ख़िलाफ़ हो गए थे। लेकिन यह सही नहीं है। असल में खेल पॉलिटिकल था। पॉलिटिक्स ने

मारा सबको। सौ साल पहले जो माहौल था, वह अब कहीं नहीं है। हर कश्मीरी ने दुःख उठाए। 1984 याद कीजिए, आप तो नहीं शामिल थे उसमें? आम हिन्दू तो शामिल नहीं था? जो लोग गए, वे भी उस क्षण के ग़ुस्से में गए लेकिन उसके लिए राजनीति ज़िम्मेदार है। आज मुसलमानों में आप एक गिल्ट पाएँगे। कश्मीर से हिन्दुस्तान और पाकिस्तान, दोनों का लाभ है। आप पर निर्भर करता है। आप एजेंडा लेकर बात करेंगे तो अपने हिसाब से जवाब निकाल लेंगे, जैसा चैनल वाले करते हैं। लेकिन सच्चाई जाननी है तो सबसे मिलिए, उनका दर्द सुनिए।' अचानक उन्होंने एक सवाल पूछा, 'आप बता सकते हैं कि वह बन्दा कौन था जिसने कश्मीर की समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में समझा है पिछले बीस-तीस सालों में?' मैंने कुछ नाम लिये। उन्होंने मुस्कुराकर कहा : 'जनरल मुशर्रफ़। उसने बिलकुल सही समझा था। अटल बिहारी बाजपेयी के समय में बात बढ़ी थी। समाधान वही है, लाइन ऑफ़ कंट्रोल को स्थायी बना दिया जाए। देखिए, सिर्फ़ बीजेपी इस समस्या को हल कर सकती है और ऐसे निर्णय पर मुहर लगा सकती है। कांग्रेस ने ऐसा निर्णय लिया तो बीजेपी के लोग इसे हिन्दू-विरोधी बताने लगेंगे और बवाल हो जाएगा। अब वे क्या करेंगे, यह देखना होगा।

मज़ेदार बात यह है कि लगभग उसी समय कश्मीर के प्रमुख अलगाववादी नेता शब्बीर शाह भी कह रहे थे कि इस समस्या को सिर्फ़ बीजेपी हल कर सकती है। अक्टूबर, 2019 में मैंने कुमार साहब से दुबारा यह सवाल पूछा तो उनका जवाब वही था। हालाँकि इस बार वह थोड़े भ्रमित लग रहे थे। उनका मानना था कि अनुच्छेद 370 हटाने और राज्य को केन्द्रशासित प्रदेश में बदलने के पीछे भारत-पाकिस्तान और अमेरिका का कोई मिला-जुला गेमप्लान है और सरकार यह निर्णय जल्दी ही वापस ले लेगी। जेल के भीतर शब्बीर क्या सोचते हैं, यह जानने का कोई तरीक़ा मेरे पास नहीं है।

कुमार साहब आगे कहते हैं—प्लेबिसाइट का जहाँ तक सवाल है, आप सोचिए, मान लीजिए, 65 प्रतिशत लोग पाकिस्तान चुनें और 35 प्रतिशत लोग हिन्दुस्तान को तो क्या होगा? अगर जम्मू-कश्मीर पाकिस्तान में चला गया तो वे 35 प्रतिशत लोग विद्रोह कर देंगे और समस्या फिर वहीं की वहीं चली जाएगी। हम आज़ाद कश्मीर या गिलगिट-बाल्टिस्तान के लिए लड़ेंगे और वहाँ के लोग यह बोल दें, हम पाकिस्तान के साथ ख़ुश हैं, फिर आप क्या करेंगे? क़ब्ज़ा हो भी गया तो नई समस्या शुरू हो जाएगी। दूसरी समस्या यह है कि जम्मू के लोगों को साथ लेने की कोशिश नहीं की गई। जब तक ऐसा रहेगा, कुछ हिस्से ख़ुद को उपेक्षित महसूस करेंगे, शान्ति नहीं होगी। सबसे अच्छा होता कि भारत और पाकिस्तान लाइन ऑफ़ कंट्रोल को स्थायी मान लेते और जम्मू तथा कश्मीर में 370 के तहत जो स्वायत्तता का वादा किया गया था, उसे लागू किया जाता। उसमें जम्मू के लिए भी बात होनी चाहिए। दिक़्क़त यह है कि लड़के मर रहे हैं और लोग लाशों पर राजनीति करते हैं। जो

अपने बच्चे खोते हैं, उन्हें पता है कि यह दर्द क्या होता है। नब्बे नहीं होता अगर इतनी राजनीति नहीं होती। पंडित भी हिस्सा बने उस राजनीति का। ग़लती उनकी भी है। आज 'पनुन कश्मीर'* दक्षिणपंथी राजनीति का एक खिलौना बन गया है। वे अलग राज्य मानते हैं। चलो, मान लो, उनको अलग राज्य मिल गया। फिर? हमारे लोग न बेकरी चला सकते हैं, न चावल उगा सकते हैं, न मेकैनिक बन सकते हैं। अलग ज़मीन मिलने पर घर बना सकते हो आप। समाज सबसे मिलकर बनता है।'

मैं कुमार साहब से कुछ निजी सवाल पूछता हूँ तो हँसकर कहते हैं, 'यहाँ से जाने का मतलब तो वांचू साहब के सिद्धान्तों के ख़िलाफ़ जाना होता। नुकसान तो सबका हुआ है। पूरे कश्मीर का। सबसे बड़ा नुकसान कल्चर का है। कश्मीर में भाषा एक जोड़नेवाली चीज़ है। जो लोग बाहर चले गए, उनके बच्चे भूल रहे हैं इसे। अब वे अपने त्योहार उस तरह नहीं मना सकते, जैसे यहाँ मनाते थे। कई लोग पछताते हैं। यहाँ भी बहुत थोड़े-से लोग बचे हैं। जो हैं, उनके 99 फ़ीसद रिश्तेदार बाहर हैं। शादी-ब्याह या कोई त्योहार पड़ता है तो लोगों की कमी खलती है। मुश्किल है कह पाना कि वे लौटेंगे या नहीं। मुझे लगता है, ज़रूर लौटेंगे। जड़ों से कटकर नहीं रहा जा सकता। लेकिन सब इस पर निर्भर करता है कि हालात कैसे होंगे।' फिर वह अपने बेटे अमित वांचू की सामाजिक-सांस्कृतिक सक्रियताओं के बारे में बताने लगे।

अमित से मुलाक़ात एक साल बाद श्रीनगर में और फिर 'समानान्तर साहित्य उत्सव, जयपुर' में हुई। जिस कमरे में हम बैठे हैं, वहाँ दीवार पर वांचू साहब के साथ अमित की तसवीर लगी है। कुमार साहब की पत्नी ने बताया कि अमित बेहद क़रीब थे अपने बाबा के। यह तसवीर जिसमें आज के अमित अपने बाबा के साथ हैं, तैयार करवाई गई और अमित के जन्मदिन पर उन्हें भेंट दी गई। अमित से बात करने और जानने के बाद लगा कि वाकई मूल्य पीढ़ियों तक कैसे सफ़र करते हैं।

संजय टिक्कू का 17 अगस्त, 2019 के टेलीग्राफ़ में एक बयान आया है। संजय नब्बे के दशक में पंडितों के सामूहिक पलायन-विस्थापन के बाद घाटी में रह रहे पंडितों के नेताओं में से हैं। उनके संगठन 'जम्मू-कश्मीर पंडित संघर्ष समिति' का दफ़्तर श्रीनगर के गणपत्यार मन्दिर में है जहाँ अक्सर रविवार को अलग-अलग इलाक़ों से पंडितों के प्रतिनिधि आते हैं और अपनी समस्याओं पर बात करते हैं। मेरी दिल्ली और श्रीनगर में संजय से कई बार मुलाक़ात और लम्बी-लम्बी बातें हो चुकी हैं तो जानता हूँ कि वह बिना लाग-लपेट के सीधी और निर्भय बात करनेवालों में से हैं। दिल्ली में जब पहली बार मिले तो थोड़ी देर बात करने के बाद बोले, 'श्रीनगर आइए, वहाँ के बारे में वहीं होगी बात। आप लोग दिल्ली में बैठकर

* पनुन कश्मीर का अर्थ है—'हमारा कश्मीर'। विस्थापित पंडितों का यह संगठन अपने लिए एक अलग होमलैंड की माँग करता है। विस्तार के लिए देखें—https://panunkashmir.org।

श्रीनगर को जान लेना चाहते हैं! दिल्ली से कश्मीरियों की शिकायतें सरकार तक महदूद नहीं हैं। ख़ैर, *टेलीग्राफ़* में छपे बयान में टिक्कू एकदम स्पष्ट कहते हैं :

संजय टिक्कू

'मैं बता रहा हूँ कि आगे बेहद मुश्किल दिन आनेवाले हैं। आतंकवाद के उन शुरुआती दिनों से भी भयावह जब पंडितों को घाटी छोड़नी पड़ी थी। 370 हटाने के कदम ने इस समस्या को और 100 साल के लिए बढ़ा दिया है। धार्मिक विभाजन को और तीखा कर दिया है और लोगों की सहन-शक्ति को कम कर दिया है। हम यहाँ पॉलिटिकल टार्गेट हो सकते हैं और मुमकिन है, अगले तीन या पाँच सालों में आप संजय टिक्कू को यहाँ न देखें। इस बार हम मानसिक रूप से पलायन के लिए तैयार हो चुके हैं।'

इस बयान के कुछ दिन बाद जब मैं बिना सूचना दिये उनके घर पहुँचा तो उनकी पहली प्रतिक्रिया थी, 'दिल्ली वालों को तो बस कश्मीर में मुश्किल आने का इंतज़ार रहता है कि यहाँ आएँ और हेडलाइंस ले जाएँ।' ठहाकों के साथ उड़ गई यह शिकायत है तो गम्भीर। बाक़ी देश के लोग हालात सामान्य होने की प्रतीक्षा करते हैं कि कश्मीर में पर्यटन कर सकें और मीडिया हालात बिगड़ने की कि हेडलाइन जुगाड़ सकें। बहरहाल, संजय अपने बयान पर क़ायम थे।

हृदयनाथ वांचू कश्मीरी पंडितों के उस समूह से थे जो प्रगतिशील था और साम्प्रदायिक विभाजनों के पार अपनी कश्मीरी पहचान को घाटी के हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों से जोड़कर देखता था। आप चाहें तो सुविधा के लिए इसे 'कश्मीरियत' कह सकते हैं। यह समूह छोटा ज़रूर था लेकिन इसका घाटी में और बाहर भी एक प्रभाव था। बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद और ग़ुलाम मोहम्मद सादिक़ के समय जिस तरह धर्मनिरपेक्ष शिक्षा और समाज पर ज़ोर दिया गया, वह ऐसे पंडितों के लिए मुफ़ीद था और

उसका उपयोग उन्होंने सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में किया भी। हालाँकि इसके भी पीछे जाएँ तो कश्मीरी पंडितों के बीच ऐसे लोग भी मिलते हैं जिन्हें आप अपनी सुविधा से अतिवादी या फिर लोकतांत्रिक कह सकते हैं। प्रेमनाथ बज़ाज़ का उदाहरण आपने देखा है। इस फेहरिश्त में दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम पंडित रघुनाथ वैष्णवी का है। बज़ाज़ की तरह वैष्णवी भी जनमत-संग्रह के समर्थक रहे। उनका ज़िक्र हम पहले भी पढ़ चुके हैं। उन्होंने 1938 में जम्मू और कश्मीर में कांग्रेस की स्थापना की थी, फिर 1939 में जब नेशनल कॉन्फ्रेंस बनी तो नेहरू की सलाह से उन्होंने इस संगठन को उसमें ही मिला दिया। इसके पहले एक छात्र के रूप में वह 1937 में इलाहाबाद से क़ानून की पढ़ाई करते हुए यूपी सिविल लिबर्टी यूनियन से जुड़ गए थे। 1941 से 1943 के बीच वह नेशनल कॉन्फ्रेंस की कार्यसमिति में रहे लेकिन फिर शेख़ से वैचारिक मतभेद होने के बाद अलग हो गए और 1947 के बाद कश्मीर के एक शान्तिपूर्ण, यथार्थपरक तथा न्यायसंगत हल की बात करते रहे। जब मोइउद्दीन कारा ने शेख़ से अलग होकर पॉलिटिकल कॉन्फ्रेंस बनाई तो वैष्णवी 1953 से 1964 तक इसके उपाध्यक्ष रहे। अपने राजनीतिक स्टैंड के लिए उन्होंने कोई सात साल जेल में गुज़ारे। 1977 में जब कारा जनसंघ के समर्थन वाली जनता पार्टी में शामिल हुए तो वैष्णवी ने निराश होकर पार्टी छोड़ दी। 1989 में जब आतंकवाद शुरू हुआ तो वह अपनी बेटी डॉ. पूर्णिमा भान वैष्णवी के पास उधमपुर में थे और 22 नवम्बर, 1996 को अपनी मृत्यु तक वहीं रहे। उनकी नातिन मोना भान नाना के संघर्षों और कश्मीरी समाज में उनकी उपेक्षा का विस्तार से वर्णन करती हैं। पंडित समाज में वैष्णवी को अछूत की तरह देखा जाता था, लेकिन वह अपने विचारों पर अडिग रहे। उन दिनों मोना श्रीनगर के स्कूल में थीं और आज़ादी के जुलूसों में शामिल हुई थीं।[8] यह सुनने में थोड़ा आश्चर्यजनक लग सकता है कि जिन जुलूसों को इस्लामिक कहा जाता रहा है, मोना भान उनमें शामिल हुई थीं। वह बताती हैं कि वे जुलूस आज़ादी के लिए थे और आज़ादी तो हर कश्मीरी के लिए थी। मनोहर लाल टिक्कू भी, जिनका सन्दर्भ हमने पिछले अध्याय में लिया है, पूछते हैं कि जब पूरा कश्मीर आज़ादी की माँग पर सड़कों पर था तो कश्मीरी पंडितों ने कश्मीर छोड़ने की जगह उस लड़ाई में हिस्सेदारी क्यों नहीं की? वह एक और महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं—कश्मीर का मुद्दा कश्मीरी बोलने वालों का है। इसमें जम्मू, लद्दाख और दूसरी जगहों को शामिल करने से सारी समस्याएँ पैदा हुई हैं।[9] उनका सवाल आपको कैसा लगता है, यह आपकी लोकेशन पर निर्भर है। एक भारतीय के रूप में यह मेरे रोंगटे खड़ा कर सकता है लेकिन एक कश्मीरी के लिए यह अलग हो सकता है। मैं इसे थोड़े अलग तरीक़े से देखने की कोशिश कर रहा हूँ—अगर 1947 के पहले से ही साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित विचारों की तरह एक दूसरे के सामने आने की जगह कश्मीर के सभी नागरिकों ने अपनी कश्मीरी पहचान को वरीयता देते हुए एक जैसी राह चुनी होती, तो? दूसरा

हिस्सा बेहद बहसतलब है। जहाँ घाटी के भीतर पंडितों और मुसलमानों की संस्कृति साझा थी, वहाँ उनका रिश्ता जम्मू, लद्दाख, मुज़फ़्फ़राबाद या गिलगिट-बाल्टिस्तान से कभी सहज नहीं था। अमृतसर सन्धि से अस्तित्व में आया जम्मू और कश्मीर कभी एक ऐसी इकाई नहीं बन पाया जिसे साझा संस्कृति वाली इकाई कहा जाए। यही नहीं, डोगरा शासन की नीतियों ने इन क्षेत्रों के भीतर एक तरह की प्रतिद्वंद्विता रखने की जो लगातार कोशिश की, उसका हश्र यह हुआ कि 1947 के बाद से ही लद्दाख, जम्मू और कश्मीर लगातार एक-दूसरे के विरोध में खड़े नजर आते हैं। 5 अगस्त, 2019 को राज्य को दो हिस्सों में बाँटने के बाद भी जम्मू और घाटी के बीच का वैचारिक अन्तर साफ़ दिख रहा है। विस्थापित पंडितों का बड़ा समूह जम्मू की साम्प्रदायिक ताक़तों से इस हद तक मिल-जुल चुका है कि कठुआ बलात्कार जैसे मुद्दों पर भी अपराधियों के पक्ष में स्टैंड लेनेवालों की कोई कमी नहीं। यह अलगाव कश्मीर के भविष्य को किस तरह प्रभावित करेगा, यह देखना होगा।
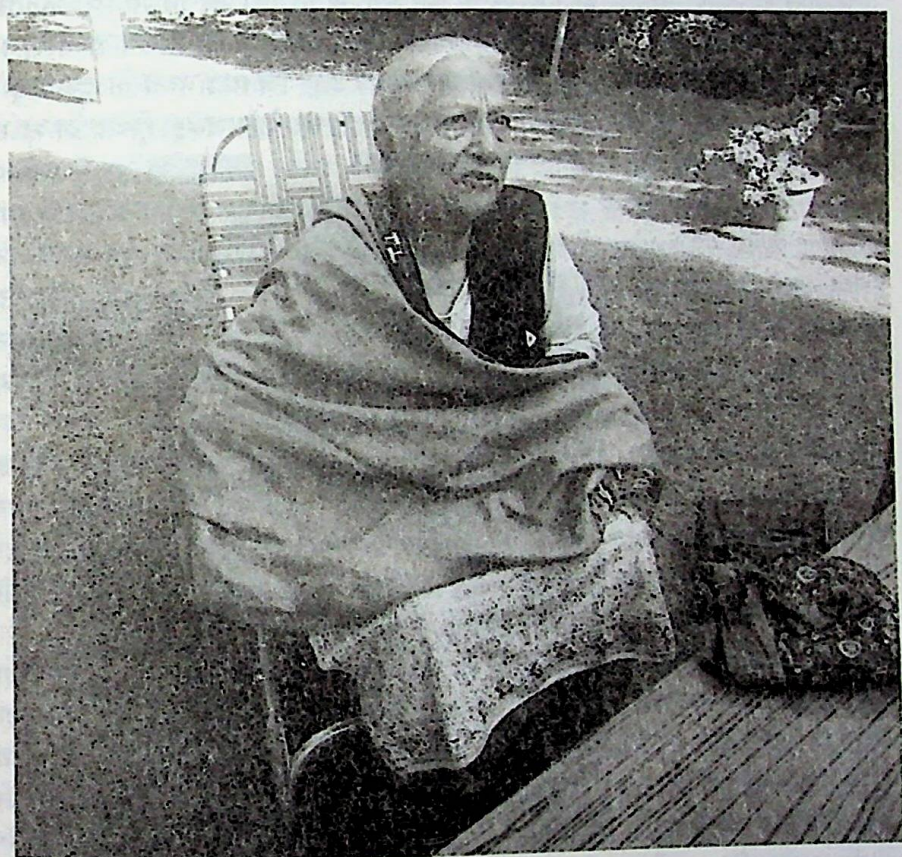
खेमलता वखलू

खेमलता वखलू का क़िस्सा हमने पढ़ा ही है। 1991 में अपहरण के बाद भी उन्होंने कश्मीर नहीं छोड़ा और सामाजिक-राजनीतिक कार्यों में आज भी सक्रिय हैं। उनसे अक्टूबर, 2019 में बछवारा स्थित उनके आवास पर मुलाक़ात हुई। लम्बे समय से कांग्रेस में सक्रिय रही वखलू बताती हैं कि अब वह सामाजिक क्षेत्र में काम करना चाहती हैं। नब्बे के दशक के आतंकवाद और पंडितों के विस्थापन पर उनसे जो लम्बी बात हुई उनमें कमोबेश वही बातें थीं जिन्हें उनकी किताब से पहले भी मैंने उद्धृत किया है। 370 को हटाने को लेकर वह सरकार के समर्थन में नज़र आईं। उनका मानना है कि 'वर्तमान तनाव नब्बे जैसे विस्फोट में नहीं बदलेगा। लेकिन राज्य को केन्द्रशासित प्रदेश बनाने के फ़ैसले को लेकर वह ख़ासी आलोचनात्मक हैं। उनका मानना था कि जब छत्तीसगढ़ और झारखंड जैसे छोटे क्षेत्रफल के राज्य हैं तो जम्मू और कश्मीर को केन्द्रशासित प्रदेश में बदलना एकदम ग़लत निर्णय है और उसे शीघ्र वापस लेना चाहिए।' यहीं हमारी मुलाक़ात उनकी भाभी और स्वर्गीय डॉ. एस.एन. धर की पत्नी तथा सामाजिक कार्यकर्ता डॉ. विमला धर से हुई। एस.एन. धर का ज़िक्र पहले आया है जो मेडिकल कॉलेज के प्रोफ़ेसर और घाटी के प्रतिष्ठित चिकित्सक थे और जिनका नब्बे के दशक में अल-उमर ने अपहरण कर लिया था। अगले दिन डॉ. धर के राजबाग़ स्थित आवास पर हमारी उनसे विस्तृत बातचीत हुई। विमला धर भी 370 हटाए जाने को लेकर आशान्वित हैं। वह फ़ारूक़ अब्दुल्ला जैसे नेताओं को लेकर काफ़ी कटु हैं और जनवरी, 1990 में निकले जुलूस के लिए नेशनल कॉन्फ्रेंस को ज़िम्मेदार ठहराती हैं। यहाँ इस तथ्य का ज़िक्र कर देना समीचीन होगा कि वखलू और विमला धर, दोनों ही श्रीनगर में अकेली रहती हैं। दोनों ही के पुत्र-पुत्रियाँ घाटी और देश के बाहर हैं। यह स्थिति कुछेक निम्नवर्गीय

डॉ. विमला धर

पंडित परिवारों को छोड़ दें तो घाटी में रह रहे सभी पंडितों की है जहाँ सिर्फ़ पति-पत्नी घाटी में हैं और अगली पीढ़ी घाटी से बाहर जा चुकी है। छानपोरा में भी हमें प्रो. रैना दम्पती मिले जिनके पुत्र विदेश में रहते हैं। इसी इलाक़े में एक नेहरू दम्पती का भी ज़िक्र मिला जिसके मुखिया की दो साल पहले मृत्यु हो चुकी है और अब वहाँ कोई नहीं है। संजय टिप्पणी करते हैं—उनका कश्मीर में अब कोई स्टेक नहीं है।

एक क़िस्सा डॉ. जगत मोहिनी का है। लाहौर के किंग एडवर्ड मेडिकल कॉलेज में पढ़ते हुए अपने सहपाठी डॉ. ओंकार नाथ थुस्सू से शादी करके 1947 में वह श्रीनगर आ गई थीं। डॉ. साहब की पहली पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी और उन्हीं की स्मृति में दोनों ने मिलकर बर्बरशाह इलाक़े में 'रत्तन रानी अस्पताल' खोला। संजय टिक्कू भी उसी इलाक़े में रहते हैं जहाँ अब केवल 4 पंडितों के परिवार बचे हैं। वह आधुनिक सुविधाओं से लैस कश्मीर का पहला अस्पताल था। जगत मोहिनी ने एक तरफ़ चिकित्सा के क्षेत्र में तो दूसरी तरफ़ समाज-सेवा के क्षेत्र में, विशेष तौर पर महिलाओं से जुड़े मुद्दों पर जम के काम किया। तीन कमरों से 'विश्व भारती' स्कूल शुरू किया जिसकी एक शाखा नोएडा में खोली गई जिसे सँभालने उनके बेटे अशोक थुस्सू दिल्ली आ गए थे। राजनीति में भी थोड़े समय सक्रिय रहीं। पहले कांग्रेस में रहीं और फिर 1977 में जनता पार्टी में शामिल हुईं। 1977 के चुनावों में वह हब्बा कदल से प्रत्याशी थीं और नेशनल कॉन्फ्रेंस के लोगों ने उन पर हमला भी किया था। इन्दिरा गांधी से निजी सम्बन्ध थे उनके। बताती हैं कि 'उनके दादा और मेरे नाना भाई थे। उनसे कहा एक बार कि आप लोग हमारी सुनते क्यों नहीं? हम आपके अपने लोग हैं और आप सारी ग़लत नीतियाँ लागू करती हैं और हमें श्रीनगर की सरकारों के रहमोकरम पर छोड़ देती हैं। इन्दिरा जी कहने लगीं—हमने यह किया, हमने वह किया। मैंने कहा—आप हवाई जहाज़ में उड़ती हैं न, आप ज़मीन में रेंगते साँपों और बिच्छुओं को नहीं देख पातीं। उन्हें बुरा लगा लेकिन मैं सच कह रही थी।'

श्रीनगर आने के बाद वह यहीं की होकर रह गईं। जब आई थीं तो लोग उन्हें कूरी (बिटिया) कहते थे, फिर 'बहन जी' और फिर 'मम्मी जी'।

1988 में ओंकारनाथ जी की मृत्यु हो गई। लेकिन जब आतंकवाद शुरू हुआ तो अपने परिवार की आशंकाओं के बावजूद कश्मीर में ही रहने का फ़ैसला किया। वह कहती हैं—'ना। मुझे डर नहीं लगा। पूरे दो साल मैंने सोचा कि पंडित भाग क्यों रहे हैं?' मेरा बेटा बहुत परेशान था लेकिन मुझे कोई डर नहीं लगा क्योंकि मैं तमाम आतंकवादी लड़कों को जानती थी। उनमें से कई मेरे हाथों ही पैदा हुए थे...। मुझे दुःख हुआ उनके हथियार उठाने का...। जो वे कर रहे हैं, वह ग़लत है लेकिन राज्य की सरकारों और दिल्ली के रवैये और कश्मीर पर उनकी ग़लत

नीतियों ने साबित किया है कि जब एक देश अपने युवाओं की फ़िक्र नहीं करता तो वे विद्रोह में उठ खड़े होंगे और हथियार उठा लेंगे। कश्मीर एक ऐसी जगह है जहाँ सदियों या पीढ़ियों से हम ग़ुलाम हैं। जब मैं 'हम' कहती हूँ तो मैं इसमें शामिल हूँ। 1947 के बाद से केन्द्र सरकारों की ग़लत नीतियों ने इसे बर्बाद कर दिया है। जब मैं यहाँ आई तो मैंने अपने पति से पूछा कि कश्मीरी इतने कायर क्यों हैं? वे ये सब क्यों बर्दाश्त करते हैं? इसके ख़िलाफ़ खड़े क्यों नहीं होते? उन्हें यह महसूस भी नहीं होता कि वे किस क़दर वंचना के शिकार हैं! वह मुझसे कहते थे, कश्मीरी में कहते हैं—'अगर हम लड़ नहीं सकते तो क्या भाग भी नहीं सकते?' हम पीढ़ियों से ग़ुलाम रहे हैं।'

लेकिन एक तरफ़ उन्हें कश्मीर न छोड़ने के अपने निर्णय पर कोई पछतावा नहीं है तो दूसरी तरफ़ वह अलगाववादियों की इस बात से भी सहमत नहीं हैं कि कश्मीर में आतंकवाद कोई आज़ादी की लड़ाई का आन्दोलन था। वह कहती हैं—अगर यह आज़ादी का आन्दोलन होता तो मैं ख़ुद उसमें ख़ुशी-ख़ुशी शामिल हो जाती। लेकिन उन्हें पाकिस्तान ने आतंकवाद के लिए उकसाया था, पैसे देकर फँसाया। जब इतनी ग़रीबी होगी और रोज़गार नहीं होगा तो और क्या होगा?

पंडितों के लौटने के मामले में उनकी राय अलग है—जो यहाँ से गए, वे बेंगलोर, दिल्ली, मुम्बई, जयपुर जैसी जगहों पर बस गए हैं। उन्हें अच्छी नौकरियाँ मिल गई हैं, बच्चे वहीं पढ़-लिख रहे हैं, वहाँ की भाषा सीख ली है। वे यहाँ क्यों लौटेंगे?[10] शायद यही सच यहाँ रह रहे कुछ वयोवृद्ध दम्पतियों की संतानों का है जिन्हें देश में या देश के बाहर शानदार रोज़गार अवसर प्राप्त हो गए हैं।

आख़िरी दोनों बातें बेहद गौरतलब हैं। आज़ादी की लड़ाई में कश्मीरी पंडित शामिल हो सकते थे, लेकिन पाकिस्तान प्रायोजित आतंकवाद का वे कैसे हिस्सा बन सकते थे? अगर 'कश्मीर बनेगा ख़ुदमुख़्तार' के साथ पंडितों की हत्याएँ करने की जगह विचारधारात्मक स्तर पर काम हुआ होता तो मुमकिन था कि प्रगतिशील कश्मीरी पंडितों का एक हिस्सा उसमें अपनी तरह से भागीदारी करता, लेकिन इस्लामी नारों और 'कश्मीर बनेगा पाकिस्तान' के साथ पंडितों के शामिल होने की उम्मीद तो ज़्यादती होगी ही, उनसे भी जो शुरू से कश्मीरी स्वायत्तता या आज़ादी के समर्थक रहे थे।

आख़िरी बात एक अजीब से उलझे सवाल के कई जवाबों में से एक है। कश्मीरी पंडितों की वापसी भारतीय राजनीति में एक बड़ा मुद्दा है। बहुत-सी बहसें वहीं से शुरू होती हैं और ख़त्म भी। विस्थापन की त्रासदी का न्याय विस्थापितों का सम्मानजनक पुनर्वास ही हो सकता है। लेकिन इस न्याय की राह में कई बाधाएँ हैं तो कई मोड़ भी। यह सवाल अक्सर पूछा जाता है कि क्या पंडित लौटेंगे? एक सवाल इसके साथ ही जुड़ा हुआ है—क्या वे वापस लौटना चाहते हैं? डॉ. जगत मोहिनी

का 2012 में दिया गया जवाब इसके तमाम जवाबों में से एक है। 30 साल पहले कश्मीर से निकलकर देश और दुनिया के तमाम शहरों में बस चुके पंडित न केवल वहाँ रच-बस चुके हैं बल्कि उनकी अगली पीढ़ियों ने वह भाषा लगभग खो दी है जो उनकी कश्मीरी पहचान का सबसे बड़ा हिस्सा थी। पुरानी पीढ़ी के लोग लौटना चाहते हैं—घाटी का जीवन उन्हें याद है। वहाँ के अनेक लोगों से संवाद है, उस संवाद की भाषा है और वे स्मृतियाँ हैं जिनमें साम्प्रदायिक सहस्तित्व है, आपसी सम्मान और स्नेह है। कुछ लोग लौटे भी।

एक कहानी पुष्करनाथ गंजू की है जिन्होंने विस्थापन के छह साल बाद लौटकर फिर से लकड़ी का अपना कारख़ाना शुरू किया, तो एक कहानी 26 साल बाद कश्मीर लौटकर स्कूल खोलने वाले खाचरू परिवार की भी।[11] रौशन लाल बावा 1990 में कश्मीर छोड़ने के 29 साल बाद 1 मई, 2019 को श्रीनगर लौटे और जैनाकदल में दुकानदारों ने दस्तारबन्दी करके उनका स्वागत किया। उन्हें लौटने के लिए कश्मीर में विभिन्न समुदायों के बीच मेल-मिलाप कराने की कोशिशें कर रहे उनके बेटे सन्दीप मावा ने प्रेरित किया था।[12] लौटने के 3 महीनों के भीतर ही एक बार फिर कश्मीर को कर्फ़्यू जैसी स्थिति में पाकर वह जाने क्या सोच रहे होंगे!

अपने आख़िरी समय में कश्मीर लौटने का फ़ैसला रौशन लाल जी के लिए आसान हो सकता था लेकिन देश-विदेश में नौकरियाँ कर रहे युवाओं के लिए यह वास्तव में कितना सम्भव होगा, वह भी तब, जब वहाँ लगातार तनाव बने हुए हैं, कहना मुश्किल है। पूर्व वाइस एडमिरल कपिल काक ख़ुद को बीस प्रतिशत उदारवादी पंडितों में से एक मानते हैं। इस सवाल के जवाब में उन्होंने कहा :

> वे कश्मीरी पंडित जो चिल्ला-चिल्ला कर लौटने की बात करते हैं, वे 1990-91 में बच्चे थे। आज हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्सों में स्थायी तौर पर काम करते हैं। वे अपनी नौकरियाँ छोड़कर क्यों आएँगे? उनके नारों में विश्वास करना ग़लत होगा। नारे हक़ीक़त से अलग होते हैं। ये लोग कहते हैं, वे घाटी लौटकर आना चाहते हैं। उनके दादा वहाँ नौकरियाँ करते थे। उनके दादा अब रहे नहीं। उनके पिता कश्मीर के बाहर नौकरियाँ करते हैं। भारतीय राज्य ने कश्मीरी पंडितों के लिए घाटी में पर्याप्त नौकरियों का इंतज़ाम किया नहीं। जीविका के साधन और रहने की जगह कश्मीरी पंडितों के लौटने से गहरे जुड़ी हुई चीज़ें हैं।[13]

370 हटने के बाद कश्मीर के बाहर रह रहे पंडितों ने जम्मू से लन्दन तक जश्न मनाया। लेकिन *टेलीग्राफ़* के उस साक्षात्कार में टिक्कू कहते हैं कि यह वहाँ रह रहे पंडितों के लिए मुश्किलें बढ़ाने वाला तो है ही, साथ में इस फ़ैसले के बाद पंडितों की वापसी की कोई भी सम्भावना और धूमिल हो गई है। वैसे लौटने की एक और कथा है—मनमोहन सिंह के समय जब प्रधानमंत्री राहत पैकेज के तहत कश्मीरी पंडितों के लिए नौकरियों की व्यवस्था की गई तो कोई पाँच से छह हज़ार

पंडित कश्मीर लौटे। उनके लिए श्रीनगर के पास बडगाम, अनंतनाग सहित कई जगहों पर ट्रांज़िट कॉलोनियाँ बनाई गई हैं। इनमें से कुछ कॉलोनियों में कई पंडितों से मुलाक़ात हुई जिन पर आगे बात होगी। ट्रांज़िट कॉलोनियों में रहनेवाले कुछ लोगों ने तो शहर में किराये के मकान ले लिये लेकिन ज़्यादातर दो बेडरूम वाले इन मकानों में ही रहते हैं और अक्सर छुट्टियों में जम्मू चले जाते हैं। इस बार भी जब 5 अगस्त, 2019 को हालात बिगड़े तो इनमें से बड़ी संख्या में लोग जम्मू चले गए। लेकिन नौकरियाँ कश्मीर में हमेशा से एक बड़ा मुद्दा रही हैं। निजी क्षेत्र है नहीं। जो था, वह बर्बाद हो रहा है। प्रशासन में गहरे पैठा भ्रष्टाचार एक अलग समस्या है और कुल मिलाकर नई नौकरियों का सृजन एक बड़ी समस्या बनी हुई है। ऐसे में कोई लौट भी आए तो, ग़ालिब से मुआफ़ी के साथ—रहेगा श्रीनगर में मगर खाएगा क्या?

370 हटने के बाद निजी निवेश बढ़ने की बातें हो रही हैं, लेकिन निजी निवेश के लिए लीज पर ज़मीन लेने की सुविधा तो शेख़ अब्दुल्ला के समय से रही है। 2018 के मार्च महीने में दिल्ली में पी. एच. डी. चैम्बर ऑफ़ कॉमर्स ने जम्मू और कश्मीर में निजी निवेश बढ़ाने के लिए एक बैठक कराई तो उसमें कश्मीर के तत्कालीन वित्त मंत्री और जाने-माने अर्थशास्त्री हसीब द्राबू आए थे। मैं उस कार्यक्रम में था। द्राबू ने कहा कि कश्मीर एक ऐसा इलाक़ा है जिसके बारे में बताने की कोई ज़रूरत नहीं। यह एक 'सोल्ड आउट' डेस्टिनेशन है। समस्या बस अशान्ति है। हालात ठीक रहें तो अपने-आप निवेश होगा। हालाँकि इसी कार्यक्रम में कश्मीर समस्या को 'राजनीतिक नहीं, सामाजिक' कहने के कारण उन्हें कुर्सी खोनी पड़ी, लेकिन कश्मीर में निवेश के बारे में उनका आकलन आज भी उतना ही सही है। 370 के साथ या बिना 370 के, कश्मीर में निवेश तभी सम्भव है जब शान्ति हो। लगभग यही कश्मीरी पंडितों की वापसी या वहाँ रह रहे कश्मीरी पंडितों के स्थायित्व की भी शर्त है।

बेवकूफ़ थे हम उर्फ़ कश्मीर में अब किसी का कोई भविष्य नहीं

2018 के नवम्बर में मेरी मुलाक़ात रूप कृष्ण कौल से हुई। उनसे जब मैंने पूछा कि आपने कश्मीर क्यों नहीं छोड़ा तो हल्की मुस्कुराहट के साथ बोले, 'बेवकूफ़ थे न हम,' और फिर हँस पड़े। श्रीनगर के सबसे व्यस्त बाज़ारों में से एक हरि सिंह स्ट्रीट पर उनकी मेडिकल उपकरणों की दुकान है। वैसे यहाँ रुककर एक और बात कर लेने में कोई हर्ज़ नहीं। एक आरोप अक्सर सुना जाता है कि पंडितों के पलायन के बाद कश्मीर में गलियों, सड़कों, शहरों आदि के नाम बदल दिये गए हैं। अपनी अनेक यात्राओं में घाटी के अलग-अलग क़स्बों में घूमते मुझे तो

ऐसा नहीं लगा। आख़िरी डोगरा महाराजा हरि सिंह के समय बनवाई गई हरि सिंह स्ट्रीट अब भी हरि सिंह स्ट्रीट है। उनके चाचा प्रताप सिंह के नाम पर बने कॉलेज का नाम अब भी उन्हीं के नाम पर है—श्री प्रताप सिंह कॉलेज। अमर सिंह कॉलेज भी है। श्री प्रताप हायर सेकंडरी स्कूल भी और श्री महाराजा हरि सिंह अस्पताल भी। जवाहरनगर, करण नगर, महाराजगंज, मुंशी बाग़, देवी आँगन, रैनावारी, विचर नाग, गणपत्यार, शीतलनाथ, जोगी लंकर जैसे नाम तो वही के वही हैं श्रीनगर में। अवन्तिपुरा, संग्रामपुरा, मट्टन, नारायण बाग़, भद्रकाली गणेश बल, जोगी घाट जैसे कितने ही नाम मुझे कश्मीर के अलग-अलग इलाक़ों में घूमते मिले और चाहे दो पंडित रह गए हों, उनके मुहल्लों को आज भी भट पुरा ही कहा जाता है। डॉ. विमला धर ने भी यह आरोप दुहराया लेकिन हमारे पूछने पर वह अनंतनाग के अलावा कोई नाम नहीं ले सकीं। हालाँकि बशीर ने बहुत विस्तार से बताया है कि अनंतनाग का ज़िक्र किसी प्राचीन ग्रंथ में नहीं मिलता। यहाँ तक कि इस नाम का ज़िक्र लॉरेंस या आनन्द कौल के यहाँ भी नहीं आता और दोनों इस इलाक़े को इस्लामाबाद ही कहते हैं। 1915 में सर बेडेन पावेल द्वारा लिखी गई *मेमरीज़ ऑफ़ इंडिया* में भी इसे इस्लामाबाद ही कहा गया है। इस्लामाबाद नामकरण के पीछे आम मान्यता है कि यह नाम मुग़लकाल में 1663 में सूबेदार रहे इस्लाम ख़ान ने
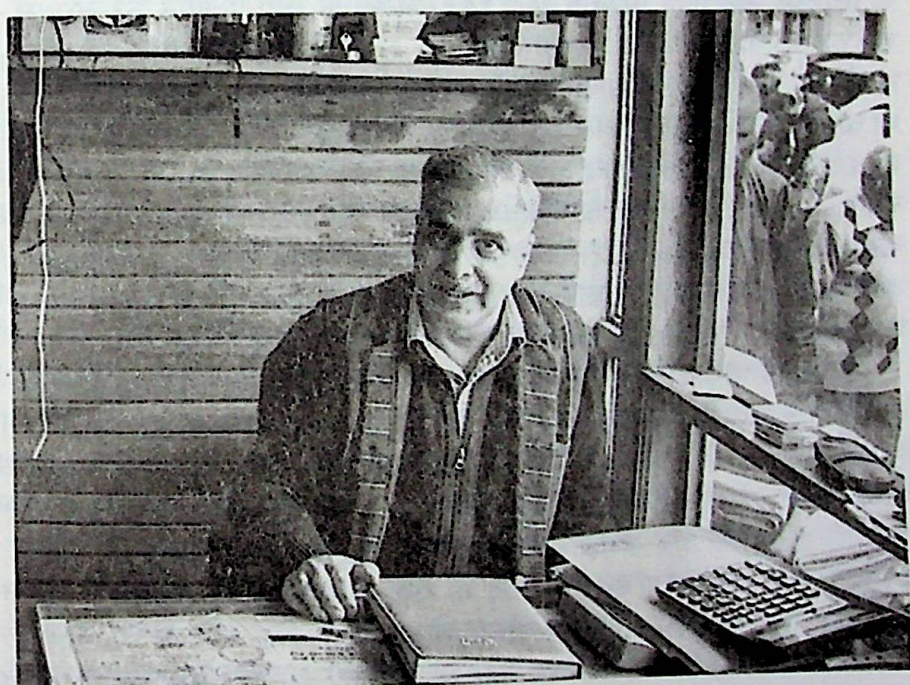
रूप कृष्ण कौल (फ़ोटो : जावेद शाह)

दिया था और डोगरा काल में इसे बदलकर अनंतनाग कर दिया गया था।[14] हालाँकि कश्मीर वाच पर छपे एक लेख में एम.जे. इस्लाम का मानना है कि यह नाम बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद के समय बदला गया।[15] वैसे, आज भी अनंतनाग ही इस ज़िले का आधिकारिक नाम है लेकिन स्थानीय लोगों में इस्लामाबाद नाम प्रचलित है।

ख़ैर, रूप कृष्ण कौल पर लौटते हैं। मेरा सवाल उनको स्मृतियों में ले गया था। बताने लगे कि संयुक्त परिवार था उनका। पिता के बड़े भाई घर के मुखिया। स्नेह ऐसा कि मैट्रिक के फॉर्म में पिता की जगह उनका नाम लिखवा आए। शिक्षक परिचित थे तो सही किया। 1989 में जब बलवा शुरू हुआ तो मागरमल बाग़ के उनके तीन मंज़िले मकान से ज़रा दूर ही बसें लगती थीं जिनमें लड़के पाकिस्तान जाते थे। जे.के.एल.एफ़. के कितने ही कमांडरों को बचपन से देखा था उन्होंने। हामिद शेख़, अशफ़ाक़ वानी, यासीन मलिक—सब आसपास रहते थे। रोज़ 'एक्शन' होते थे। कौल कहते हैं—कुल 8-10 लड़के ही थे उस समय मिलिटेंट। लेकिन जब छोड़ा गया रूबिया सईद को तो उन्हें इतना महिमामंडित किया गया कि झुंड के झुंड लड़के पाकिस्तान जाने लगे।

लेकिन न जाने की असल वजह यह थी कि ताया-ताई बुज़ुर्ग थे और कहीं न जाने की ज़िद पर अड़े थे। माँ-पिता-बहनें—सब लोग गए। लेकिन उनकी देखभाल के लिए वह रुक गए। 1994 में शादी हुई। ससुराल के लोग पलायन कर जम्मू में बसे हुए थे। पत्नी से सगाई के समय कहा कि अगर परेशानी हो कश्मीर लौटने में तो मैं मना कर दूँगा। वह सोपोर से गई थीं डेढ़ साल पहले ही। उन्होंने देखा नहीं था वह दौर इसलिए शायद वह डर नहीं था उनमें। लेकिन शादी के बाद उन्होंने भी बहुत झेला। उसी साल उनका अपहरण हो गया था। हालाँकि जब घर के हालात बताए तो छोड़ दिया गया। वह हँसते हुए कहते हैं—उस वक़्त ग़ज़ब हाल था। कहीं चार लड़के इकट्ठा हुए। 'अल' के आगे कुछ भी लिख के पर्ची छपवा ली और बन गया संगठन। पैसे कमाने का ज़रिया बन गया था। अपहरणकर्ता उनसे एक लाख रुपया महीने की प्रोटेक्शन फीस माँग रहे थे।

2016 में भी जब बुरहान वानी की मौत के बाद माहौल ख़राब हुआ तो कुछ उपद्रवियों ने घर में आग लगाने की कोशिश की लेकिन सफल नहीं हुए। दो बच्चे हैं। बारहवीं तक यहीं पढ़े, अब एक दिल्ली में पढ़ता है, दूसरा पूना में। कश्मीर में यह चलन आम है। मैं जितने पंडित परिवारों से मिला, अधिकतर के बच्चे बाहर पढ़ते हैं, हुर्रियत से जुड़े फ़ज़ल-हक़ अंसारी के लड़के दिल्ली में पढ़ते हैं। वहाँ रहनेवाले कई मध्यवर्गीय मुस्लिम मित्रों के यहाँ भी मैंने यही पाया। कारण वही जो कौल कहते हैं—कश्मीर में किसी का भविष्य नहीं।

कौल बताते हैं कि 'सुरक्षा अब कोई समस्या नहीं है और असुरक्षित तो यहाँ सब हैं। नब्बे के शुरुआती सालों में लगता था डर लेकिन अब डर नहीं लगता।

लेकिन कश्मीर में किसी का कोई भविष्य नहीं है। मानसिक शान्ति किसी को नहीं है।' मुझे जावेद शाह की बात याद आई—'कश्मीर में इन दो दशकों से अधिक के तनाव ने किसी को नॉर्मल नहीं रहने दिया है।' जब मैंने और किसी तरह की परेशानी के बारे में पूछा तो उन्होंने एक घटना बताई—उनका स्टेट रेज़िडेंट का काग़ज़ खो गया था। जब बनवाने गए तो पूछा गया कि वह जम्मू क्यों नहीं गए! काफ़ी दौड़ाया फिर दस हज़ार रुपये माँगे। भेदभाव होता है हिन्दुओं के साथ।' हालाँकि भ्रष्टाचार के मामले में कश्मीर में शायद ही किसी से बिना पैसा माँगे काम होता लेकिन वह सवाल चोट पहुँचाने वाला है ही। और यह सवाल कश्मीर में रह गए पंडितों से बार-बार पूछा जाता है—कश्मीर में भी, जम्मू में भी और कई बार परिवारों में भी। साथ ही अकेले पड़ जाने का एक दुःख है जो कश्मीर में रह रहे लगभग सभी पंडितों में साझा है। तीज-त्योहारों, शादी-ब्याह में रिश्तेदारों की कमी खलती है। विस्थापन ने समुदाय के रूप में कश्मीरी पंडितों के अस्तित्व को ही जैसे ख़तरे में डाल दिया है। जो बाहर हैं, वे उन रीति-रिवाजों को नहीं निभा सकते जो परम्परा से चले आ रहे थे और जो नहीं गए, वे अपने रिश्तेदारों, स्वजातीय बांधवों के अभाव में उन रीति-रिवाजों को निभाना मुश्किल पाते हैं। वह बाहर गए पंडितों की नई पीढ़ी के अन्तर्जातीय विवाहों पर भी चिन्ता जताते हैं और कहते हैं—यह चलता रहा तो कश्मीरी पंडित समुदाय का अस्तित्व जल्द ही ख़त्म हो जाएगा।

कुमार साहब की तरह कौल भी 'पनुन कश्मीर' के अलग राज्य बनाने की बात को बेवकूफ़ी बताते हैं और कारण वही देते हैं—'पंडित समाज मिडल क्लास का समाज है। नाई से लेकर धोबी तक के लिए हम मुसलमानों पर आश्रित थे। आज जिनसे भाग रहे हैं, कल अलग राज्य बना तो उन्हें बुलाना पड़ेगा।' भविष्य को लेकर कश्मीर में कोई आश्वस्त नहीं लेकिन कौल कहते हैं कि पहले भी पंडित लौटे हैं, अब भी लौटेंगे। एक-दो के आने से कुछ नहीं होगा। पचीस-पचास हज़ार लौटेंगे तभी कोई फ़र्क़ पड़ेगा। लेकिन कब और कैसे, यह कहना मुश्किल है। फिर लौटकर रहेंगे कहाँ? घर तो रहे नहीं अब। जब गए तो अपने पड़ोसी मुसलमानों को चाभी दे गए थे। सबको उम्मीद थी कि दो-एक साल में हालात सामान्य हो जाएँगे। 1994-95 तक घर सही-सलामत थे। पड़ोसियों ने ख़याल रखा। हालात बिगड़े तो पुलिस हमें यहाँ से डल गेट के पास होटल में ले गई। तब 5-6 परिवार थे इलाक़े में। एक-एक परिवार को एक-एक कमरा मिला और किचन कॉमन। दुकान-धंधा सब बन्द। उस समय लगा कि ऐसे यहाँ रहने से बेहतर है, जम्मू चले जाएँ। काफ़ी लोग चले भी गए। लेकिन फिर किसी तरह से टल गया और यहीं रह गए। इस दौर के बाद सबको समझ आ गया कि पंडितों का लौटना अब मुमकिन नहीं। काफ़ी लोगों ने मकान बेच दिये। पंडितों के मकान ख़रीदना एक

धंधे जैसे बन गया। जितनी बाज़ार क़ीमत थी उसके तिहाई पर लोगों ने मकान बेचे। चोरी वग़ैरह की भी घटनाएँ हुईं। मिलिटेंट भी हाइड आउट की तरह उपयोग करते थे इनका। तो अब श्रीनगर में ज़्यादातर मकान बिक चुके हैं। इसलिए जो बाहर 4-5 लाख महीने कमा रहे हैं, वे क्यों लौटेंगे यहाँ?

उत्तरी कश्मीर के रहनेवाले और श्रीनगर में सिंचाई विभाग में काम करनेवाले रवि धर* भी कहते हैं, न जाकर बेवक़ूफ़ी की। उनके पिता ने जाने से मना कर दिया था। पड़ोसियों ने भी कहा था रुकने को। अन्ततः रुकना पड़ा। सुरक्षा का मामला वह भी गौण बताते हैं लेकिन भेदभाव की बात करते हैं। पंडितों के लिए नौकरी नहीं यहाँ। बच्चे छोटे हैं तो यहीं पढ़ रहे हैं लेकिन बड़े होने पर बाहर भेजना पड़ेगा। पनुन कश्मीर की माँग पर हँसते हुए कहते हैं—यह सब पॉलिटिक्स है।

वैसे पलायन का एक असर तो यह भी पड़ा कि जम्मू और कश्मीर की राजनीति से पंडित बाहर हो गए। नब्बे से पहले हब्बा कदल और रैनावारी, दो जगहें थीं जहाँ विधान सभा चुनावों में पंडित मत काफ़ी थे। इसके अलावा माखनलाल फोतेदार जैसे लोग दक्षिणी इलाक़ों से भी जीते थे, जहाँ पंडितों की अच्छी-ख़ासी आबादी थी। यहाँ यह जान लेना भी रोचक होगा कि हब्बा कदल से भाजपा के टीकालाल टपलू कभी चुनाव नहीं जीत सके। यहाँ तक कि उनकी हत्या के बाद जब 1996 में उनकी पत्नी सरला टपलू चुनाव लड़ीं तो वह भी नेशनल कॉन्फ्रेंस के प्यारे लाल हांडू से हार गई थीं। इसके अलावा विधान परिषद में भी खेमलता वखलू जैसे कई लोग समय-समय पर मनोनीत होते ही थे। लेकिन पलायन के बाद श्रीनगर या घाटी से किसी पार्टी ने किसी पंडित को टिकट नहीं दिया तो जम्मू में उनके नाम पर राजनीति करनेवाले दलों ने भी किसी पंडित को विधान सभा तक भेजने में कोई रुचि नहीं दिखाई। 2002 में आख़िरी बार हब्बा कदल से एक कश्मीरी पंडित रमन मट्टू ने चुनाव जीता।[16] आज नेशनल कॉन्फ्रेंस में सक्रिय और फ़ारूक़ अब्दुल्ला के राजनीतिक सलाहकार पूर्व ब्यूरोक्रेट विजय बकाया के अलावा कोई कश्मीरी पंडित राज्य की राजनीति में प्रमुख भूमिका में नहीं दिखता। कम-से-कम नेशनल कॉन्फ्रेंस, पीडीपी या कांग्रेस यह तो कर ही सकती थी कि प्रतीक के तौर पर ही सही, इन इलाक़ों से किसी पंडित को टिकट दिया जाता। इसके अलावा पंडितों के लिए विधान सभा में मनोनयन भी किये जा सकते थे, ताकि इस समुदाय के मुद्दे विधान सभा में उठाए जा सकें। लेकिन इन्हें छोड़िए, दिन-रात कश्मीरी पंडितों की बात करनेवाली बीजेपी ने भी राज्य और केन्द्र की सत्ता में रहते इस बारे में कोई पहल नहीं की।

ऐसे में तन्मर्ग के कुंजर वुसन गाँव में मुस्लिम-बहुल वार्ड से पंच का चुनाव जीतने वाली आशा देवी का मामला विशेष है ही। 2018 के नवम्बर की सुबह हम

* नाम उनके अनुरोध पर बदल दिया गया है।

जब उनके घर पहुँचे तो कहवा के साथ उन्होंने रोटी और मूली का साग खिलाया। मूली का उतना स्वादिष्ट साग मैंने कभी नहीं खाया था। उनके घर पहुँचकर सच कहें तो आश्चर्य हुआ। पंच सुनकर लगा था—आलीशान न सही, एक शानदार घर तो होगा ही। लेकिन वह दो-तीन कमरों का अध-पक्का मकान था। सामने छोटा-सा खेत और कुछ पेड़। जब हम पहुँचे तो उनके पति अपने बाग़ीचे में जा रहे थे और आशा जी घरेलू कामों में लगी थीं। जन्म भदरवाह में हुआ था उनका एक बेहद ग़रीब घर में। शादी लगभग उसी समय जब बवाल शुरू हुआ कश्मीर में। पहला सवाल वही पूछा मैंने कि आप लोग क्यों नहीं गए। जो कहानी सुनाई उन्होंने वह सच का एक नया रंग दिखाने वाली है।

आशा देवी (सबसे दाएँ अपने गाँव की दो अन्य पंडित महिलाओं के साथ)

जब हर जगह से पंडितों के पलायन की ख़बरें आईं तो उनके गाँव के पंडितों ने भी बैठक की। तय हुआ कि अभी जाने की ज़रूरत नहीं। जब जाएँगे, सब इकट्ठे जाएँगे। अगले दिन सोकर उठीं तो मालूम चला कि गाँव के जो सम्पन्न परिवार थे, वे रात में चुपचाप निकल लिए। आशा जी हँसते हुए कहती हैं—'उन्होंने अपना इंतज़ाम कर लिया था। सोचा होगा, हमको साथ लेकर गए तो बोझ पड़ेगा।' तीन परिवार रह गए। गाँव वालों को जब बाक़ी लोगों के जाने की ख़बर मिली तो आए और कहा कि आप लोग कहीं मत जाइए, यहाँ हम हैं और आप लोगों को कुछ नहीं होगा। आशा जी बताती हैं कि उसके पहले भी कोई घटना नहीं हुई थी और बाद में भी अब तक कोई घटना नहीं हुई है।

उनके घर के पास ही दो तीन-मंज़िला मकान हैं जिनमें पंडित परिवार रहा करते थे। एक पुलिस में थे और दूसरे सरकारी स्कूल में शिक्षक। अब घर ख़ाली पड़े हैं। एक में पुलिस के लोग रहते हैं। हमने बात की तो उनमें से एक पुलिसवाला पुंछ

का था और दूसरा जम्मू का। कई गाँवों के ख़ाली घरों में हमने पुलिसवाले देखे थे। कुछ में बिहार और यूपी से आए मज़दूर रहते हैं। आशा देवी के दो लड़के हैं, एक जम्मू-कश्मीर पुलिस में और दूसरा अमेरिका में रह रहे जया और महाराज कृष्ण राज़दान के फाउंडेशन से जुड़ा है। यह फाउंडेशन घाटी में पुराने मन्दिरों के संरक्षण और क्षतिग्रस्त मन्दिरों के निर्माण के काम में लगा है। इसके सहयोग से आशा देवी ने गाँव में एक मन्दिर भी बनवाया है। उनके अलावा दो और परिवार हैं जिनसे उन्होंने हमें मिलवाया। दोनों लोग नौकरी करते हैं और बच्चे स्कूल में पढ़ रहे हैं। यहीं एक और सूचना मिली हमें, जो चौंका देनेवाली थी। आशा जी गाँव के प्राइमरी स्कूल में तदर्थ चपरासी का काम करती हैं और तनख़्वाह मिलती है केवल 75 रुपये प्रतिमाह! उन्होंने बताया कि घाटी में कोई 5,000 लोग इसी तनख़्वाह पर नौकरी पक्की हो जाने की उम्मीद से वर्षों से लगे हुए हैं।

कुंजर वुसन का ख़ाली घर

नब्बे के दशक में आतंकवाद से सबसे अधिक प्रभावित हुआ था कश्मीर का उत्तरी इलाक़ा। पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर से आतंकवादियों का आना-जाना होता था तो यह स्वाभाविक ही था। बुरहान वानी की मौत के बाद कश्मीर में

आतंकवाद का जो दौर शुरू हुआ, उससे सबसे अधिक प्रभावित दक्षिणी कश्मीर हुआ है। गौहर गीलानी की हाल में आई किताब *रेज़ एंड रीजन* पढ़ते हुए आप इसके कारणों और व्यापकता के बारे में और विस्तार से जान सकते हैं। नब्बे के दशक के पहले दक्षिण कश्मीर पंडितों का गढ़ रहा है। श्रीनगर से पुराने रास्ते से अनंतनाग जाते हुए पहले अवन्तिपुरा पड़ता है, फिर मट्टन। अवन्तिपुरा शहर

अवन्तिपुरा के मन्दिरों के भग्नावशेष

महाराजा अवन्तिवर्मन (855-883) ने बसाया था। झेलम के किनारे शिव का मन्दिर बनवाया गया था—अवन्तिस्वामी मन्दिर। ललितादित्य ने भी यहाँ एक मन्दिर बनवाया था। दोनों मन्दिरों के भग्नावशेषों की देखभाल अब आर्कियोलॉजिकल
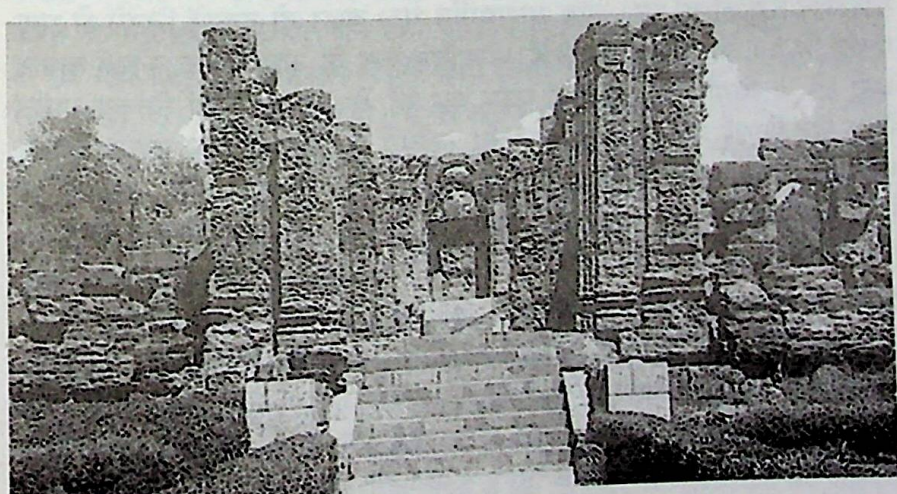
मट्टन का सूर्य मन्दिर

विभाग द्वारा की जाती है। अब बहुत थोड़े से लोग बचे हैं। मुख्य मार्ग पर मुझे रैना जनरल स्टोर दिखा। लेकिन रैना साहब ज़्यादा बात करने के लिए तैयार नहीं थे। सूर्य मन्दिर के पहले ही एक कैम्पस में गुरुद्वारा और मन्दिर हैं। मट्टन से कोई पाँच-छह किलोमीटर आगे चढ़ाई पर है मार्तंड का सूर्य मन्दिर। पूरे कश्मीर में आपको शिव के मन्दिर मिलेंगे। लेकिन शैव धर्म के केन्द्र में सूर्य का यह इकलौता मन्दिर है। कार्कोटे वंश के महान शासक ललितादित्य मुक्तपीड का महान शाहकार। अपने समय में यह विश्व के सबसे बड़े स्ट्रक्चर्स में से एक था। चूने के पत्थरों की चौकोर ईंटों से बना। नियमित अन्तरालों पर 84 स्तम्भ और उनके बीचोबीच भव्य मन्दिर। शिखर पर सूर्य की किरणों के प्रवेश के लिए झरोखा। बताते हैं कि मन्दिर ऐसा बना था कि किरणें सूर्य की प्रतिमा से परावर्तित हो पूरे इलाके को रौशन कर देती थीं। मन्दिर की बाहरी दीवारों पर साल के 364 दिनों के लिए 364 देवी-देवताओं की मूर्तियाँ। सामने गंगा, यमुना, सरस्वती और विष्णु की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। मन्दिर के सामने एक कुंड जिसमें जल एकत्र होता था और साथ में हवनकुंड। हमारे गाइड साहिल श्रीनगर में इतिहास के छात्र हैं। वह बताते हैं कि अब भी कश्मीरी पंडित वहाँ साल में एक बार हवन करते हैं। मन्दिर आर्कियोलॉजी विभाग के पास है और रिनोवेशन का काम चल रहा है। वहीं पास में एक खम्भे पर कश्मीरी भाषा की शारदा लिपि में कुछ लिखा है। साहिल बताते हैं कि यह मन्दिर का इतिहास है। आठवीं सदी का यह मन्दिर भूकम्प का शिकार होकर खँडहर में तब्दील हो चुका है लेकिन इसकी भव्यता अब भी दूर से ही महसूस की जा सकती है।

पहलगाम जाते हुए रास्ते में लिद्दर नदी पड़ती है और थोड़ा अन्दर जाकर वलरहामा गाँव में तीन पंडित परिवार रहते हैं। नवम्बर, 2018 में हम पहुँचे रतनलाल तलाशी के घर। आम मध्यवर्गीय घर। बाहर दो दुकानें जिनमें से एक में वह किराने की दुकान चलाते हैं। उस दिन बन्द के आह्वान के कारण दुकान बन्द थी तो मियाँ-बीवी खेतों में काम कर रहे थे। घर से लगा किचन गार्डन जैसा खेत जिसमें सेब के कुछ पेड़ और स्ट्रॉबेरी के अलावा साग-सब्जियाँ लगी थीं। ख़बर मिलते ही उत्साह से भागे हुए आए। हाथ मिलाया और बैठक में ले गए। पारम्परिक कश्मीरी घरों की बैठकों में फर्नीचर की कोई जगह नहीं होती। एक साधारण-सी दरी और दीवारों से टिकने के लिए कुशन। रतनलाल सीधे मुद्दे पर आते हैं—'समस्या 1986 से शुरू हुई। राममन्दिर का दरवाज़ा खोला गया तो यहाँ पहले कम्यूनल दंगे हुए। उसी समय मन्दिर जलाए गए, कुछ घर भी। कुछ कश्मीरी पंडितों की भी हत्या हुई।' मैंने रोककर पूछा कि उन दंगों का आरोप तो मुफ़्ती मोहम्मद सईद पर लगा था। एक फीकी हँसी के साथ शशि कहती हैं, 'अब हमें क्या पता, किसने कराया था लेकिन हुए तो थे।' रतनलाल

रतनलाल तलाशी और शशि तलाशी

बताते हैं—1989 में माहौल ख़राब हो गया था। फिर भी लोग जाने के बारे में नहीं सोच रहे थे। लेकिन पास के गाँव में ग़ुलाम नबी कोलर की हत्या के बाद डर का माहौल बन गया। ग़ुलाम नबी कांग्रेस के बड़े नेता थे। इन्दिरा गांधी के क़रीबी रहे थे। उनके रहते हम सुरक्षित महसूस करते थे। उनकी हत्या के बाद लगा, किसी को भी मारा जा सकता है। जगमोहन ने दो-दो हज़ार रुपये दिये और जम्मू में बसाने की बात की तो लोग निकलने को तैयार हो गए। इस गाँव में 32 पंडित परिवार थे। अब केवल 4 रह गए हैं। ज़्यादातर टीचर थे। कुछ बिजनेस करते थे और खेती भी थी। मैंने फिर टोका—सिर्फ़ दो हज़ार के लिए ऐसे लोग तो घर नहीं छोड़ेंगे। रतनलाल फीकी हँसी हँसते हैं—1989 में दो हज़ार मामूली रक़म नहीं थी। फिर डर था ही। मैं तो बच्चा था। मेरे अंकल ने कहा—जिएँगे तो यहीं, मरना होगा तो यहीं मर जाएँगे। गाँव में किसी पंडित को नहीं मारा गया था, न कोई और घटना हुई थी। वह नहीं गए। इतने सालों में हम भी सुरक्षित हैं। एक बेटा है, वह बारहवीं करके अहमदाबाद चला गया इंजीनियरिंग करने। बेटी जम्मू से कॉलेज कर रही है।

मैं फिर से पूछता हूँ—जम्मू और दीगर जगहों पर जो पंडित रह रहे हैं, वे तो बहुत तरह की बातें करते हैं। देश भर में फैलाया जाता है कि कश्मीर में एक भी मन्दिर नहीं बचा है। सब जला दिये गए। वह थोड़ा उत्तेजित से हो उठते हैं—जम्मू वालों का तो काम है यह। वे तो कहेंगें ही। आपको बताऊँ कि बाहर से जो मिलिटेंट आते हैं, उन्हें भी यही कहकर भेजा जाता है कि कश्मीर में मुसलमान को अजान

नहीं करने दी जाती। जब वह यहाँ आता है तो देखता है, सब झूठ है। 1986 के बाद यहाँ तो कोई मन्दिर नहीं जलाया गया। आप हमारे गाँव में जाकर देख लो। पुराना मन्दिर है। अब भी पूजा-पाठ होती है। मैं शशि से मुख़ातिब होता हूँ, 'आपको लगता है, ये लोग लौटकर आएँगे?' वह मुस्कुराती हैं। वही फीकी मुस्कुराहट, 'जो गए, वे बूढ़े हो गए हैं। बच्चे सब जम्मू, दिल्ली, अहमदाबाद में सेटल हो गए। यहाँ के लड़के ही रोज़गार के लिए बाहर जा रहे हैं। वहाँ से कौन लौटेगा अब? बहुत से लोगों ने खेत-मक़ान—सब बेच दिये। जिनके हैं, वे आते हैं कभी-कभार। क़ब्ज़े नहीं हुए यहाँ। सब सुरक्षित हैं। लेकिन यहाँ आकर करेंगे क्या?'
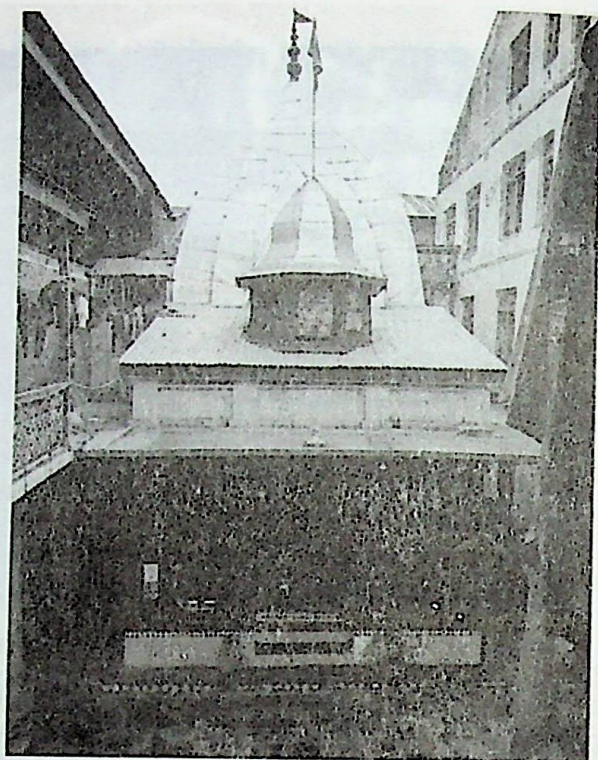
गणपत्यार मन्दिर, श्रीनगर
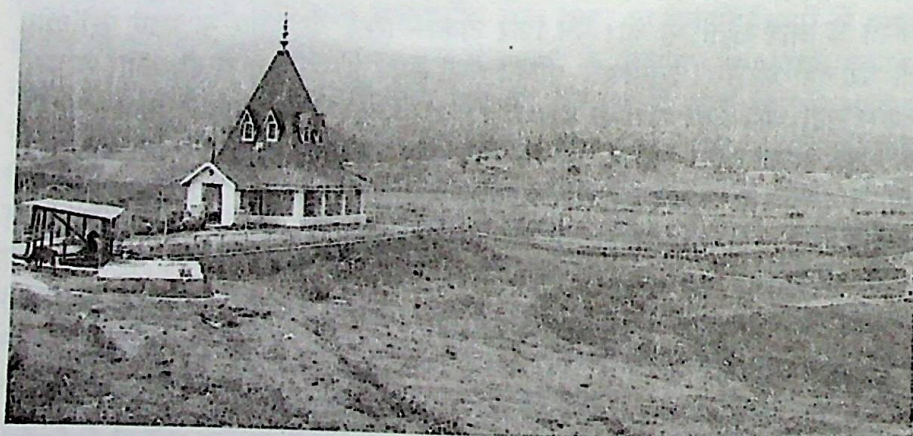
गुलमर्ग का सूर्य मन्दिर
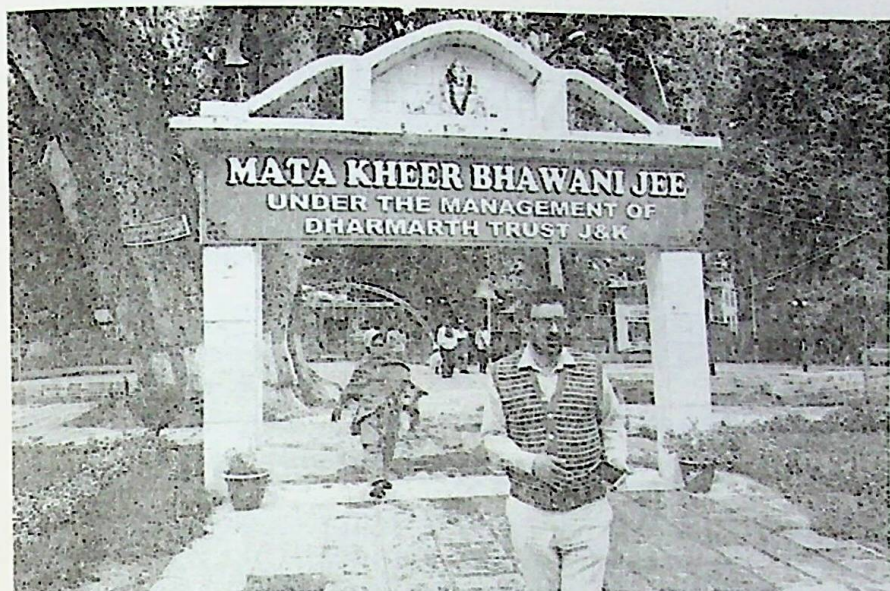
खीर भवानी मन्दिर
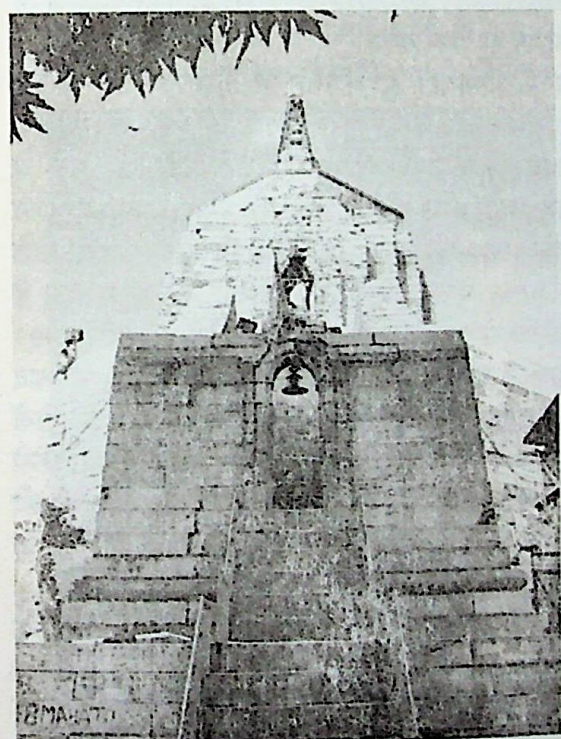
शंकराचार्य मन्दिर, श्रीनगर

मन्दिरों का क़िस्सा कश्मीर में पुराना है। 1986 से ही हिन्दुत्ववादी दक्षिणपंथ कश्मीर में मन्दिरों के तोड़े और जलाए जाने की बात करता रहा है और इसका उपयोग एक तरफ़ सेक्यूलर पक्षों की मलामत करने में, तो दूसरी तरफ़ बाबरी जैसी घटनाओं को न्यायसंगत ठहराने में किया जाता रहा है। 1993 की शुरुआत में हरिंदर बावेजा ने कश्मीर में मन्दिरों की स्थिति को लेकर एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट की थी जो 28 फ़रवरी, 1993 को *इंडिया टुडे* में 'डैमेजिंग लाइज' के नाम से छपी थी। बावेजा बताती हैं कि फ़रवरी, 1991 में लालकृष्ण आडवाणी ने कहा—वे सभी पार्टियाँ जो
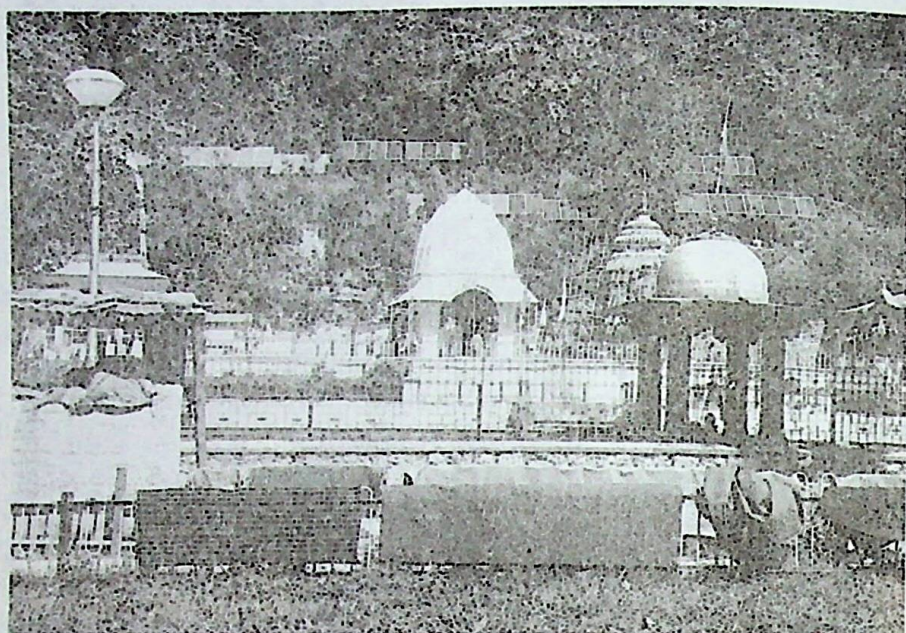
मट्टन का शिव मन्दिर

बाबरी मस्जिद बचाने को अपना फ़र्ज़ मानती हैं, कश्मीर में तोड़े गए 55 मन्दिरों के बारे में कुछ नहीं कहतीं। कुछ समय बाद उन्होंने यह संख्या 40 कर दी। भाजपा महासचिव केदारनाथ साहनी ने एक सूची उपलब्ध कराई और कहा कि इसमें वे मन्दिर हैं जो 1986 के बाद तोड़े गए, जबकि उपाध्यक्ष के.आर. मलकानी का कहना है कि इसमें वे मन्दिर हैं जो 1989 के बाद मुस्लिम कट्टरपंथियों द्वारा तोड़े गए। बीजेपी का केन्द्रीय नेतृत्व 1986 में तोड़े गए 46 मन्दिरों की सूची देता है जबकि भाजपा के ही जम्मू कार्यालय से 82 मन्दिरों की सूची जारी हुई और 1991 में एक वरिष्ठ आर.एस.एस. नेता ने पत्रकार बी.जी. वर्गीस को 1989 के बाद तोड़े गए 62 मन्दिरों की सूची दी। मज़ेदार यह है कि कई मन्दिरों के नाम इन दोनों सूचियों में हैं। अब जो मन्दिर 1986 में तोड़े गए थे, वे 1989 के बाद दुबारा कैसे टूट सकते थे? इसके बाद मदनलाल खुराना ने 52 मन्दिरों की एक सूची जारी की जिसके बारे में दावा किया गया कि वे 6 दिसम्बर, 1992 को बाबरी मस्जिद के तोड़े जाने की प्रतिक्रिया में तोड़े गए हैं।

इंडिया टुडे ने भाजपा की सूची के 23 मन्दिरों का दौरा किया तो पाया कि इनमें केवल बारामूला में दो मन्दिर तोड़े गए हैं—शैलपुत्री और भैरव मन्दिर। बाक़ी सभी मन्दिर सुरक्षित पाए गए जहाँ पूजा-पाठ चल रहा था। उस सूची में बताया गया था कि तुलमुला का खीर भवानी मन्दिर रॉकेट से उड़ा दिया गया है। अब 2018 तक तो कई बार मैं ख़ुद खीर भवानी मन्दिर जा चुका हूँ जहाँ

ज्येष्ठ अष्टमी को अब भी मेला लगता है जिसमें हज़ारों की संख्या में कश्मीरी पंडित आते हैं। ऐसे ही श्रीनगर के बडशाह चौक पर स्थित दशनामी अखाड़ा के आग में जलकर ख़ाक हो जाने की बात की गई थी जबकि अब भी यहीं से अमरनाथ की वार्षिक यात्रा शुरू होती है। हब्बा कदल का गणपत्यार मन्दिर भी पूरी तरह सुरक्षित है। बावेजा बताती हैं कि जिन गाँवों में एक-दो पंडित परिवार रह गए थे, वहाँ भी मन्दिर सुरक्षित थे। मैंने अपनी यात्रा में ऐसे कई मन्दिर देखे और उनका यथास्थान ज़िक्र आया ही है। अगर मन्दिरों के नष्ट करने की कोई व्यापक योजना होती तो सोचिए सुदूर गाँवों के ये अरक्षित मन्दिर नष्ट करना कौन सा मुश्किल काम था?

असल में इस प्रचार के लिए तत्कालीन गृह राज्यमंत्री एम.एम. जैकब के 3 मार्च, 1992 के संसद में एक प्रश्न के उत्तर में दिये बयान को आधार बनाया गया जिसमें उन्होंने 1989-91 के बीच 38 पूजा स्थलों के क्षतिग्रस्त होने का ज़िक्र किया था। लेकिन पूरा सच यह था कि इसमें से ज़्यादातर स्थान आतंकवादियों और सुरक्षा बलों के बीच क्रॉस फायरिंग में नष्ट हुए थे और इस 38 में से 16 मस्जिदें या मस्जिदों से जुड़ी सम्पत्तियाँ थीं। जहाँ तक 1986 में मन्दिरों के तोड़े जाने का सवाल है तो इसमें कोई दो राय नहीं कि उस समय घर और मन्दिर जलाए गए थे लेकिन जैसाकि पहले भी ज़िक्र किया गया है, न सिर्फ़ इस घटना
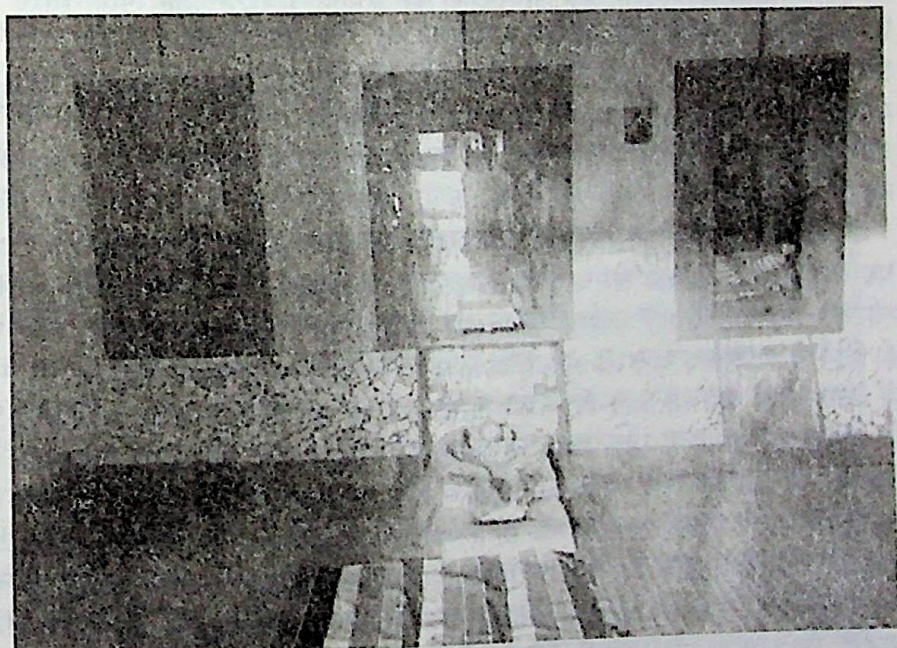
वलरहामा गाँव का मन्दिर

के बाद गुल शाह की सरकार गई बल्कि स्थानीय लोगों और बलराज पुरी जैसे लोगों के सहयोग से इन मन्दिरों का पुनर्निर्माण भी करवा दिया गया था। बावेजा भी इसकी तस्दीक करती हैं। इस रिपोर्ट के बाद जब आडवाणी जी से उन्होंने पूछा तो उन्होंने कहा—मुझे सही संख्या नहीं पता। लेकिन संख्या महत्त्वपूर्ण नहीं। 40 नहीं तो 39 होगा या 38। दुर्भाग्य से इसमें से कोई संख्या सही नहीं।[17]

अभी हाल में सरकार ने जम्मू और कश्मीर में पचास हज़ार मन्दिरों के पुनरुद्धार की घोषणा की है। इस बारे में सवाल पूछने पर कुमार वांचू हँसते हैं—घाटी में किसी भी समय मन्दिरों की संख्या हद से हद डेढ़ सौ रही है। इतने मन्दिरों की ज़रूरत क्या है? इनमें पूजा कौन करेगा? लेकिन संजय इसे महज प्रोपेगेंडा नहीं मानते। वह बताते हैं, आर.एस.एस. बहुत पहले से इसकी योजना बना रहा था। यह योजना घाटी में लगभग बीस हज़ार मन्दिरों में बाहरी पुजारियों के सहारे यहाँ एक लाख बाहरी ब्राह्मणों को बसाना है। लेकिन यह काग़ज़ पर जितना आसान लगता है उतना है नहीं। मन्दिर दूर-दराज के इलाक़ों में होंगे या गाँवों में और ऐसे में माहौल ख़राब होता है तो वे सबसे आसान निशाना बनेंगे। नतीजा केवल कश्मीर को नहीं, पूरे देश को भुगतना पड़ेगा। कश्मीरी पंडित संघर्ष मन्दिर समिति ने घाटी में मन्दिरों का सर्वे किया था और पाया कि वहाँ कुल 184 मन्दिर हैं। यहाँ संजय श्रीनगर के कुछ मन्दिरों में दूसरे प्रदेशों से आए पुजारियों द्वारा राजस्व विभाग के साथ साठ-गाँठ कर मन्दिर की सम्पत्तियाँ बेचने का भी ज़िक्र करते हैं। इसे लेकर उन्होंने लंबा अभियान चलाया था और मन्दिरों की देख-रेख तथा प्रबन्धन की ज़िम्मेदारी स्थानीय पंडितों को देने की माँग की थी। लेकिन यहाँ एक और पेंच है—जम्मू और कश्मीर के अधिकतर मन्दिर धर्मार्थ ट्रस्ट के अधीन हैं और इस पर नियन्त्रण है डोगरा वंश के राजकुमार करण सिंह का! करण सिंह यह क़ब्ज़ा छोड़ने को तैयार नहीं।

उनके घर के ठीक बग़ल में एक तिमंज़िला घर है। शशि जी बताती हैं कि यह त्रैलोक्य नाथ जी का घर था। वह टीचर थे। 1989 में चले गए वह। मैंने पूछा, लौटकर कभी नहीं आए? जवाब उनके एक मुस्लिम पड़ोसी ने दिया जो हमारे साथ हो लिये थे, 'त्रैलोक्य नाथ जी आते हैं कभी-कभी। पिछले साल खीर भवानी के मेले में आए थे तो यहाँ भी आए थे। हमने किसी घर को नहीं छुआ। देखिए, अखरोट के दरख़्त भी साबुत हैं सब। ताला भी उन्हीं का लगाया हुआ है।' थोड़ा-सा आगे जाकर गाँव का मन्दिर है। गाँव के बीच में एक छोटा-सा मन्दिर है। सामने एक मज़बूत दरख़्त। भीतर शिवलिंग के अगल-बग़ल हनुमान और दुर्गा सहित अनेक तसवीरें। शशि बताती हैं कि वही यहाँ साफ़-सफ़ाई वग़ैरह कर जाती हैं। थोड़ी दूर पर एक घर है। पक्का और बड़ा। सामने गाय बँधी है और चावल के बोरे रखे हैं। बाउंड्री पर लकड़ी की बाड़ है और उसी का दरवाज़ा जिसे खोलकर हम भीतर

चले गए। यह चाँद रैना का घर है। उनसे भी थोड़ी-सी बात होती है। बताते हैं कि 1989 में नहीं जाने का निर्णय लिया था और उसका कोई पछतावा नहीं। ठीक-ठाक खेतिहर हैं और बेटा राज्य सरकार में नौकर। रास्ते में कुछ और ख़ाली घर थे। एक जला हुआ घर भी था। शशि इशारे से दिखाती हैं उसे। रतनलाल मन्दिर दिखाते हैं उत्साह से और कहते हैं कि मुझे माल अनंतनाग से लाना होता है और आसपास सभी मुसलमान ही हैं लेकिन कोई परेशानी नहीं हुई। लौटते हुए शशि सुजाता के साथ थोड़ा अलग चल रही थीं। बाद में सुजाता ने बताया कि बेहद धीमी आवाज़ में उनसे शशि बोलीं—'मुसलमानों का कोई भरोसा नहीं है।'

एक क़िस्सा रूप कुमार रैना का है। 1990 में उनका पूरा परिवार जम्मू चला गया। जाने क्यों उन्हें छोड़ दिया गया! पुराने-से घर के साथ वह अकेले रह गए। जावेद शाह उन्हें अपने घर ले आए तो बड़ा विरोध हुआ। लेकिन जावेद अड़े रहे। अब तीस साल से रूप उस परिवार के सदस्य हैं। बीच में पड़ोसियों ने उन पर धर्म परिवर्तन के लिए भी दबाव डाला, लेकिन जावेद ने इसका तीखा विरोध किया। परिवार वालों ने मकान बेच दिया लेकिन रूप को उसमें से कोई हिस्सा नहीं मिला। जीवन बीमा निगम के एजेंट के रूप में काम करनेवाले रूप से जब अक्टूबर, 2019 में मुलाक़ात हुई तो अगस्त के बाद से काम-काज ठप्प था और वह परिवार में भतीजियों के साथ व्यस्त।

कश्मीर में कोई नैरेशन आख़िरी नहीं और कोई नैरेशन स्थिर नहीं है।

पंडित कॉलोनी : रहवासी या मेहमान?

वर्ष 2000 के आसपास कश्मीर में पंडितों की वापसी के लिए कोशिशें शुरू हुईं और सुरक्षित आवास के लिए कुछ ट्रांज़िट होम बनवाए गए जिन्हें आम तौर पर 'पंडित कॉलोनी' कहा जाता है। श्रीनगर से बडगाम जाते समय शेखपुरा में पहला ट्रांज़िट कैम्प बना। देखने में यह देश के किसी भी इलाक़े में बनी सरकारी कॉलनी जैसा लगता है। वैसे ही पीले रंग से पुती तीन मंज़िला इमारतें। यहाँ हमारी मुलाक़ात पत्रकार मनोहर ललगामी से होती है। ललगामी आकाशवाणी से जुड़े हैं और एक उर्दू अख़बार से भी। वह बताते हैं कि यह सरकारी मिल्कियत की चरागाह की ज़मीन थी जहाँ पंडित कॉलोनी बनाई गई। बात निजी अनुभवों से ही शुरू होती है। ललगामी का गाँव लालगाम, बडगाम के पास ही है। वहाँ 15-16 परिवार थे पंडितों के और 1998 में वंधामा में 23 पंडितों की हत्या के पहले तक उन्होंने गाँव छोड़ने के बारे में सोचा भी नहीं था। गान्देरबल के पास वंधामा गाँव में 25 जनवरी, 1998 को 23 कश्मीरी पंडितों की निर्मम हत्या कर दी गई थी। इस घटना की कोई जाँच नहीं हुई और हत्यारों का कुछ पता नहीं

चला। इसके पहले 21 मार्च, 1997 को बडगाम के संग्रामपोरा में 7 पंडितों की हत्या हुई थी। इसके आरोपी अबू हारिस उर्फ़ अबू ख़ालिद को दो दिन बाद एक इनकाउंटर में मार दिया गया लेकिन घटना की कोई जाँच नहीं हुई। पंडितों की आख़िरी हत्या 23 मार्च, 2003 को पुलवामा ज़िले के नन्दीमार्ग में हुई थी जहाँ औरतों और बच्चों सहित 24 लोगों को मार दिया गया था। संजय टिक्कू इस घटना की ख़बर सुनकर वहाँ पहुँचे थे। वह बताते हैं कि जब उन्होंने मृतकों को परम्परा अनुसार टीका लगाया तो देखा कि सभी को गोलियाँ माथे से ठोड़ी के बीच लगी हैं। टिक्कू कहते हैं, 'यह केवल एक्सपर्ट्स का काम हो सकता है।' उनका मानना है कि इस घटना की जाँच होनी चाहिए थी और जिन लोगों पर हत्या का आरोप लगाया गया, वे शायद असल हत्यारे नहीं थे। न्याय न मिल पाना और ऐसी तमाम हत्याओं की सही जाँच न होना कश्मीर में हर तबके के असन्तोष का बड़ा कारण है। रेखा चौधरी बताती हैं कि हत्याएँ ऐसे समय हुईं जब पंडितों को वापस लाने की कोशिशें हो रही थीं।[18] लेकिन वापस लौटना तो दूर, वंधामा की घटना के बाद घाटी से कोई तीन हज़ार और परिवार पलायन कर गए। वह बताते हैं कि उस दौर में उन पर तो कोई हमला नहीं हुआ था लेकिन माहौल बदलने लगा था—जैसे पंडितों के खेतों के लिए मज़दूर नहीं मिलते थे। कुछेक लोग मिलने-जुलने से कतराने लगे थे।

शेखपुरा ट्रांज़िट कॉलोनी

वंधामा के ख़ाली घर (फ़ोटो : जावेद शाह)

ललगामी बताते हैं कि प्रसिद्ध लेखक बशारत पीर के पिता ग़ुलाम मोहम्मद पीर उन दिनों बडगाम में राज्य सरकार के बड़े अधिकारी थे और उन्होंने अपने इलाक़े में पंडितों की सुरक्षा के लिए बहुत काम किया। वह गाँव से निकलकर बडगाम में एक पंडित द्वारा ख़ाली घर में रहने आ गए और फिर जब यह कॉलोनी बनी तो यहाँ जगह मिली। जब 2011 में मनमोहन सिंह सरकार ने स्पेशल पैकेज दिया पंडितों को और उन्हें नौकरी मिली तो यहाँ काफ़ी लोग आए। पहले एक–एक क्वार्टर में दो-दो, तीन-तीन लोग रखे गए लेकिन अब सबको एक-एक क्वार्टर मिल गया है। भ्रष्टाचार की शिकायत वह भी करते हैं और पंडितों के साथ भेदभाव की भी। वह बताते हैं कि जम्मू के कैम्पों में भी और श्रीनगर तथा अनंतनाग में बनी पंडित कॉलोनियों में भी जम के भ्रष्टाचार हुआ है। ललगामी ग़ुलाम नबी आज़ाद के मुख्यमंत्रित्व काल को नब्बे के बाद का सबसे बेहतर दौर बताते हैं। इस मामले में ज़्यादातर पंडितों की राय समान है।

इसी कॉलोनी में हमें राजीव मिले जिन्हें प्रधानमंत्री पैकेज के तहत शिक्षा विभाग में नौकरी मिली है। अन्य चीज़ों के अलावा राजीव शिक्षा के इस्लामीकरण की ओर इशारा करते हैं। यह चीज़ श्रीनगर और दूसरे इलाक़ों में साफ़ दिखती भी है। कई मुस्लिम मित्रों ने बताया कि ज़्यादातर स्कूलों में जमा'त का प्रभाव बहुत बढ़ा है और शिक्षा को लगातार इस्लामिक बनाया गया है। सतीश विमल भी बहुत विस्तार से इसे बताते हैं और सोशल मीडिया पर इसे महिमामंडित किये जाने का ज़िक्र करते हैं, लेकिन वह शेष भारत में बढ़ते हिन्दूवादी दक्षिणपंथ से इसका कोई रिश्ता होने की बात ख़ारिज करते हैं। राजीव यहाँ अकेले रहते हैं जबकि परिवार जम्मू में रहता है। वह कहते हैं कि अगर मुझे ऑफिस में ही यह

कह दिया जाए कि आप जम्मू चले जाइए तो मैं यहाँ से सामान उठाए बिना चला जाऊँगा। उनका दावा है कि यहाँ रह रहे तीन सौ लोगों में से ज़्यादातर लोग यहाँ बिना परिवारों के आए हैं, लेकिन लगातार बच्चों की आवाज़ों और महिलाओं को देखकर हमें ऐसा लगा नहीं। हालाँकि, संजय टिक्कू का मानना है कि प्रधानमंत्री पैकेज विस्थापित पंडितों के पुनर्वास के अपने उद्देश्य में तो नाक़ामयाब रहा है। जो लौटकर आए हैं, वे मेहमान जैसे हैं। अक्सर परिवार नहीं लाते। श्रीनगर में तो ज़्यादातर मकान बिक गए लेकिन गाँव में तो हैं। वे नहीं जाना चाहते। कश्मीरी समाज में उनकी कोई रुचि नहीं, न लौटने में। 2016 में दो कैम्पों पर कुछ पत्थर चले तो ये लोग चले गए। लेकिन यहाँ एक तथ्य का ज़िक्र करना बेहद आवश्यक होगा। 2010 में दिलीप पडगांवकर के नेतृत्व में कश्मीर गए वार्ताकार समूह की सदस्य रही राधा कुमार बताती हैं कि जब शुरुआत में पंडितों को वापस बुलाने के लिए योजना बनाई गई तो शिक्षकों की भर्ती की गई। राज्य सरकार ने 3000 शिक्षकों की भर्ती की योजना बनाई लेकिन भर्ती हुई 1,179 पंडितों की। इनमें से अधिकतर युवा महिलाएँ थीं। बडगाम और अनंतनाग के ट्रांज़िट कैम्पों के अपने दौरे में उन्होंने पाया कि इनसे बॉण्ड भरवाए गए थे कि ये अपने परिवार को साथ नहीं लाएँगी। कारण यह बताया गया कि ट्रांज़िट कैम्प केवल छह महीने के लिए थे और इसके बाद इनमें नये लोगों को जगह मिलेगी तथा पहले आए लोगों को अपने लिए निवास की व्यवस्था करनी पड़ेगी जहाँ वे परिवार ला सकते हैं। वह कहती हैं कि इस प्रशासनिक मजबूरी को समझा जा सकता है लेकिन अपनी ही ज़मीन पर पहले से विस्थापित लोगों पर एक और क्रूर अलगाव लाद दिया।[19]

कोई सत्तर बरस के धनाजी भाई के परिवार के सब लोग पलायित हो गए लेकिन वह नहीं जा पाए। वह भी इसी ट्रांज़िट कैम्प में रहते हैं। बात शुरू करते ही कहते हैं कि नब्बे के पहले पॉवर बहुत था हमारा। 35 प्रतिशत आबादी थी हमारी श्रीनगर में। मैं जानता हूँ कि आबादी के बारे में उनके आँकड़े सही नहीं हैं। लेकिन यह आँकड़ा कई बार सुना है मैंने।

रेडियो कश्मीर से जुड़े और साहित्यकार डॉ. सतीश विमल राजबाग़ की सी.आर.पी.एफ़. द्वारा सुरक्षित कॉलोनी में रहते हैं। वह 1998 तक त्राल के अपने गाँव ओछू में रहे लेकिन जब हालात बिगड़े तो श्रीनगर आ गए। वह बताते हैं कि 'उस दौर में ऐसे तत्त्व थे जो नहीं चाहते थे कि पंडित यहाँ रहें। पाकिस्तान के रेडियो से घोषणा होती थी कि अगले शुक्रवार को पाकिस्तान में कश्मीर का विलय हो जाएगा। तो जो भी रोड़ा था इस राह का, उसे हटाया गया। पंडितों की वैचारिक प्रतिबद्धता भारत के साथ थी तो वे शिकार बने। वह ऐसे आलोचकों को लेकर बेहद कटु हैं जो कहते हैं कि उस दौर में मुसलमान भी मारे गए और कहते हैं कि पहले चार महीनों में केवल पंडितों को मारा गया।'

पिछले अध्याय में मैंने विस्तार से बताया है कि यह सही नहीं है। लेकिन यह आपको कश्मीर के भीतर-बाहर पंडितों के आख्यान में लगातार सुनाई देगा। विमल कहते हैं कि पिछले 20 सालों में वह अपने गाँव नहीं जा पाए। ज़मीन है, बाग़ीचे हैं, पर अब पता नहीं, किस हाल में हैं।

सेंडर जिस अधिकल्पित सामूहिक स्मृति की बात करती हैं, वह नब्बे के सन्दर्भ में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आतंकवाद के शिकार पंडितों की संख्या हो, आबादी में पंडितों की भागीदारी हो या उस दौर में घटी घटनाएँ, यहाँ आँकड़े बेमानी हो जाते हैं और परसेप्शन महत्त्वपूर्ण। धीरे-धीरे यह प्रोपेगेंडा की तरह प्रचारित होता जाता है और सच की तरह स्थापित।

जब भारत जलेगा तो कश्मीर भी जलेगा और कश्मीर जलेगा तो भारत भी जलेगा

क़िस्से बहुत सारे हैं। मैंने ज़िक्र उनका किया है जो एक तरह की आबादी का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन अलग-अलग समूहों की दिक़्क़तें, प्राथमिकताएँ, उम्मीदें और कश्मीर के हालात को लेकर परसेप्शन अलग-अलग हैं तो कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें लेकर लगभग सहमति है। जगमोहन की भूमिका को लें तो जहाँ अनंतनाग के ग्रामीण इलाक़े में रहनेवाले रतनलाल तलाशी उनकी भूमिका की ओर इशारा करते हैं तो श्रीनगर की उच्च-मध्यवर्गीय रिहाइश के डॉ. सतीश विमल इसे कश्मीरी मुसलमान नेताओं की 'फेस सेविंग' बताते हुए पूरी तरह से ख़ारिज करते हैं। श्रीनगर के मध्यवर्गीय व्यापारी रूप कृष्ण कौल कहते हैं कि जगमोहन न होते तो कश्मीर चला गया होता। उस समय सुरक्षा उपलब्ध कराना सम्भव था ही नहीं। विस्थापितों के लिए बने कैम्प में रहनेवाले ललगामी कहते हैं कि जगमोहन ने सेफ़ ज़ोन का प्रस्ताव दिया था लेकिन पंडित इतना डरे हुए थे कि चले गए। वह यह भी जोड़ते हैं कि जगमोहन ने कम-से-कम जम्मू में कैम्प उपलब्ध कराए तो उत्तरी कश्मीर के एक गाँव की पंच रही आशा देवी इस सवाल को टाल जाती हैं। पंडितों के प्रतिनिधि संजय टिक्कू सीधे-सीधे कुछ कहने की जगह नेशनल कॉन्फ्रेंस की ओर भी उँगली उठाते हैं। उनका सवाल है, दो दिन पहले तक फ़ारूक़ सत्ता में थे, उनके सत्ता से जाते ही जुलूस क्यों निकलने लगे? डॉ. विमला धर भी जगमोहन के आगमन के तुरन्त बाद निकले जुलूसों के पीछे फ़ारूक़ के होने की बात करती हैं, हालाँकि वह इस सवाल को टाल जाती हैं कि फिर नेशनल कॉन्फ्रेंस के इतने नेताओं की हत्या क्यों हुई?

'जम्मू-कश्मीर पंडित संघर्ष समिति' के माध्यम से संजय टिक्कू कश्मीर में रह रहे पंडितों के लिए लगातार सक्रिय हैं और इस रूप से उन्हें घाटी में रह रहे पंडितों का प्रतिनिधि माना जा सकता है। टिक्कू कहते हैं कि 2008 तक हमें लगता था कि

न जाने का निर्णय ठीक था हमारा। जब जम्मू में हम अपने रिश्तेदारों को यहाँ-वहाँ भटकते और डेढ़-दो कमरों के मकानों में मुसीबतें झेलते देखते तो लगता कि वहाँ ऐसे हालात में जीने से तो श्रीनगर में मरना ही बेहतर है। लेकिन जब अमरनाथ ज़मीन विवाद हुआ तो मामला बिगड़ने लगा। बता दूँ कि अमरनाथ यात्रा को लेकर विवाद तब शुरू हुआ जब ग़ुलाम नबी आज़ाद ने श्री अमरनाथ श्राइन बोर्ड को लगभग 800 कैनाल (88 एकड़) ज़मीन देने का निर्णय लिया और यात्रा के बीच में ही 17 जुलाई, 2008 को राज्यपाल के मुख्य सचिव तथा श्राइन बोर्ड के तत्कालीन सी. ई. ओ. अरुण कुमार ने एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में यह घोषणा कर दी कि ज़मीन का यह अन्तरण स्थायी है। अगले ही दिन यह मामला राजनीतिक बन गया। हुर्रियत के दोनों धड़ों ने इसका विरोध किया तो उस समय कांग्रेस के साथ सत्ता की भागीदार पीडीपी भी स्थायी भू-अन्तरण के ख़िलाफ़ मैदान में आ गई। नेशनल कॉन्फ्रेंस भी पीछे नहीं रही और शेख़ परिवार की तीसरी पीढ़ी के उमर अब्दुल्ला ने घोषणा की, अगर हमारी एक इंच ज़मीन भी किसी बाहरी को दी गई तो हम अपनी ज़िन्दगी क़ुर्बान कर देंगे। दूसरी तरफ़ जम्मू में भाजपा ने मोर्चा खोल दिया और यह विवाद एक धार्मिक विवाद में तब्दील हो गया जिसमें हिंसक झड़पों में कई लोग मारे गए। उधर शिवसेना, भाजपा, विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल तथा नवगठित 'श्री अमरनाथ यात्रा संघर्ष समिति' ने जम्मू से आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति रोक दी तो घाटी के दुकानदारों ने 'चलो मुज़फ्फराबाद' का नारा दिया और अन्तत: 28 जून, 2008 को पीडीपी ने सरकार से समर्थन वापस ले लिया। लालकृष्ण आडवाणी ने इसे चुनाव में मुद्दा बनाने की घोषणा की तो कश्मीर में पीडीपी ने इसका उपयोग अपनी अलगाववादी और कट्टर छवि बनाने में किया। अलगाववादी नेता शेख़ शौक़त अज़ीज़ सहित 21 से अधिक लोगों की जान और ग़ुलाम नबी सरकार की बलि लेने के बाद यह मामला 61 दिनों बाद राज्यपाल द्वारा बनाये गए एक पैनल द्वारा अन्तरण को अस्थायी बताने तथा बोर्ड को इस ज़मीन के उपयोग की अनुमति के बाद बन्द तो हुआ लेकिन कश्मीर के विषाक्त माहौल में सांप्रदायिकता का थोड़ा और ज़हर भर गया।[20] टिक्कू कहते हैं कि इसके बाद जम्मू और कश्मीर के बीच दूरियाँ बढ़ीं और एक बार फिर घाटी में वही नारे गूँजने लगे। लेकिन यह माहौल लंबा नहीं चला और इस बार 4 दिन में ही शान्त हो गया। हालाँकि किसी पंडित के घर हमला नहीं हुआ लेकिन लोग डरे हुए तो थे ही क्योंकि अनुभव यही रहा कि केन्द्र और राज्य, दोनों ही पंडितों को मुसीबत के वक़्त में सुरक्षा उपलब्ध करा पाने में असफल रहे थे।

संजय कश्मीर की सामाजिक समस्या को व्यापक रूप से देखने की कोशिश करते हैं। वह कहते हैं कि कोई मुसलमान किसी पंडित के साथ वैयक्तिक रूप से कोई भेदभाव नहीं करता। ऐसा नहीं कि दूधवाला आपको दूध नहीं देगा या ऑटो वाला बिठाने से मना करेगा। लेकिन जब सामुदायिक भावनाएँ भड़कती जाती हैं

तो वे भीड़ में बदल जाती हैं। आप देखिए अयोध्या में। (नोट : नवम्बर, 2018 के आख़िरी हफ़्ते में जब मैं उनसे बात कर रहा था तो अयोध्या में संत सभा की तैयारी चल रही थी।) अब जब बहुसंख्यक समुदाय की भीड़ जुट रही है तो अल्पसंख्यक समुदाय के मन में तो डर पैदा होता ही है। हम इसे समझ सकते हैं क्योंकि यहाँ जब बहुसंख्य समुदाय उत्तेजित होकर सड़क पर उतरता है तो भले वह हम पर हमला न करे लेकिन एक डर तो पैदा होता है। 2003-2008 के बीच जब शान्तिपूर्ण समय था तो पता ही नहीं चलता था कुछ। ग़लतियाँ सबने कीं। सेना ने भी ग़लतियाँ कीं और उनसे कुछ सीखा भी नहीं। इसलिए बार-बार उभरता है यह।

नब्बे का ज़िक्र करते हुए वह कहते हैं कि ऐसा नहीं था कि 19 जनवरी की रात सारे पंडित चले गए थे। उस साल हेराथ* 21 फ़रवरी को मनाई गई थी। इसके लिए मिट्टी के कई तरह के बर्तनों की ज़रूरत होती है। वे सब आसानी से हब्बा कदल में मिल रहे थे। उस समय दरबार श्रीनगर से जम्मू चला गया था तो बहुत सारे पंडित नौकरी के सिलसिले में पहले ही बाहर थे। उसके बाद भी लोग धीरे-धीरे गए। 1992 में यहाँ साढ़े चार हज़ार परिवार थे। 1998 में साढ़े तीन हज़ार परिवार बचे और अब घाटी में 292 जगहों पर कुल 808 हिन्दू परिवार हैं जिनमें दक्षिण की कुछ जगहों पर डोगरा परिवार हैं और कुछेक खत्री परिवार भी। इसके अलावा 35,000 के क़रीब सिख और 625 ईसाई भी हैं।

प्रसंगवश बता दूँ कि इसके अलावा कोई दो से ढाई लाख प्रवासी मज़दूर कश्मीर में नियमित रहते हैं। खेती, भवन निर्माण से लेकर शहरों-क़स्बों में ठेला लगाये ये आसानी से मिल जाते हैं। श्रीनगर के करण नगर में भूजे की दुकान लगाने वाले गुड्डू से जब मैंने पूछा कि यहाँ कैसे आए तो उसने बताया कि दिल्ली में लोग बहुत परेशान करते थे। यहाँ कोई परेशान नहीं करता। जब हड़ताल होती है तब तो कोई नहीं निकलता लेकिन बाकी वक़्त आराम से धंधा होता है। उन्होंने यह भी बताया कि यहाँ मज़दूरी कहीं से भी ज़्यादा है—एक आम कंस्ट्रक्शन मज़दूर को 500 रुपये रोज़ मिलते हैं तो मिस्त्री की मज़दूरी 800 से 1000 रुपए तक है। छुआछूत है नहीं और 2004 में 7 मज़दूरों की एक दुर्भाग्यपूर्ण हत्या के बाद कोई ऐसी ख़बर सुनी नहीं गई। ये लोग आम तौर पर अप्रैल में आ जाते हैं और फिर दिसम्बर में लौट जाते हैं। 370 हटने के बाद इन मज़दूरों के वापस लौटने पर कई ख़बरें आई थीं। पाम्पोर से अवन्तिपोरा जाते हुए रास्ते में अचानक झुग्गियों के समूह दिखाई दिये। यहाँ झाड़ू बन रहे थे। औरतें, मर्द और बच्चे। कोई बीसेक परिवार। बात की तो पता चला कि राजस्थान के भीलवाड़ा, उदयपुर और दीगर इलाक़ों से आए बाघरी समाज के आदिवासी परिवार हैं। बस, रोज़गार की तलाश में भटकते जम्मू होते हुए यहाँ आ गए हैं। पूछा, 'कोई

---

* कश्मीर में शिवरात्रि के दो दिन या एक दिन पहले फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को हेराथ यानी हर रात्रि मनाई जाती है।

परेशान तो नहीं करता?' मर्दों से पहले एक अधेड़ महिला ने हँसकर कहा, 'हमें क्या परेशान करेगा कोई साहब? मेहनत करते हैं, कमाते-खाते हैं।' जाने क्या सूझी कि मैंने पूछ लिया, 'पूजापाठ कहाँ करते हो? मन्दिर है कोई आसपास?' इस बार हँसी और गहरी थी, 'हमारे देवता हमारे साथ रहते हैं। जहाँ हम जाते हैं, देवता भी। इसी झुग्गी में हम भी रहते हैं और हमारे देवता भी।' 5 अगस्त के बाद इनमें से ज़्यादातर मज़दूर भी लौट आए और अक्टूबर में बंगाली मज़दूरों की हत्या के बाद तो उनके वापस जाने की उम्मीद भी धूमिल हो गई है।

टिक्कू बताते हैं कि उस दौर में हमला सिखों पर भी हुआ था लेकिन 1989 में खालिस्तान लिबरेशन फ्रंट और कश्मीर लिबरेशन फ्रंट के बीच समझौता हो गया था। यह तय हुआ था कि किसी सिख को नहीं छुआ जाएगा। उसी साल सिखों ने एक जुलूस निकाला था डाउन टाउन से और हब्बा कदल और रैनावारी जैसे उन इलाक़ों से गुज़रा था जहाँ कश्मीरी पंडित रहते थे। नारा लग रहा था : 'झटका-हलाल भाई-भाई, मसूर की दाल किधर से आई!' डॉ. सतीश विमल ने बताया था कि त्राल में सिखों पर हमले की कुछ घटनाएँ हुईं लेकिन उसके बाद अकाली दल के लोग आ गए और हफ़्तों त्राल बन्द रहा। उसके बाद सिखों को किसी ने नहीं छुआ।

टिक्कू का मानना है कि सारा विस्थापन डर की वजह से ही नहीं हुआ। कई कारण थे। आप देखिए 1947 के बाद से ही लोग जा रहे थे। उसके पहले भी गए लोग नौकरी के लिए। तो बाद के दौर में बहुत से लोग अच्छे रोज़गार के लिए घाटी छोड़कर गए थे। एक समस्या यह पैदा हुई कि शादी के वर-वधू नहीं मिलते। यहाँ इतने कम पंडित रह गए कि रिश्ते मिलने मुश्किल हो गए।

सुरक्षा के सवाल पर वह कहते हैं कि हमने भी बहुत कुछ सीखा और मुसलमानों ने भी सीखा। दोनों ही परिपक्व हुए हैं। हमने सीखा गांधी जी के तीन बन्दर। जिस समय बहुसंख्यक समाज ग़ुस्से में हो, उसे भड़काने की जगह चुप रहो। नन्दीमार्ग हुआ तो हम बहुत ग़ुस्से में थे। उन्हें धमकियाँ भी दीं हमने। फिर अब 90 वाली बात नहीं। उस समय किसी को पता ही नहीं चला कुछ। आज एक कश्मीरी पंडित को कुछ हुआ तो देश भर में तमाशा मच जाएगा। पाँच लाख से ज़्यादा कश्मीरी मुसलमान अलग-अलग जगहों पर रहते हैं, उन्हें भी मुश्किल पेश आएगी। जो समस्या है, वह पूरे देश की है और कश्मीर की भी। आज के हालात के लिए हिन्दुत्व ग्रुप और मीडिया ज़िम्मेदार हैं। देश का माहौल बिगड़ेगा तो उसका असर कश्मीर में भी होगा। मामला माइनॉरिटी-मेजॉरिटी का है तो जब भी तनाव होगा तो माइनॉरिटी को झेलना पड़ेगा। भीड़ के पास दिमाग़ नहीं होता।

टिक्कू बताते हैं कि 'पलायन न करनेवाले पंडितों को अक्सर नज़रअन्दाज़ करने की कोशिश की गई। संग्रामपोरा घटना के पहले लोग कहते थे कि अब कश्मीर में पंडित हैं ही नहीं। अब भी कुछ लोग कहते हैं।' मुझे अचानक विस्थापित युवा

कश्मीरी पंडितों की वेबसाइट 'रूट्स इन कश्मीर' पर हाल में छपा एक लेख याद आया जिसमें यह दावा किया गया है कि अब श्रीनगर या पूरे कश्मीर में एक भी कश्मीरी पंडित नहीं है। 30 अप्रैल, 2018 को छपे एक लेख *व्हेन कश्मीरी पंडित फ्लेड इस्लामिक टेरर* में कंचन गुप्ता लिखती हैं—श्रीनगर या घाटी के किसी हिस्से में कोई कश्मीरी पंडित नहीं है; अब वे यहाँ नहीं रहते।* प्रेसिडेंसी यूनिवर्सिटी, कोलकाता से हिन्दी में कश्मीरी साहित्य पर शोध कर रही नेहा चतुर्वेदी ने मुझे बताया था कि जम्मू में रह रहीं एक पंडित उपन्यासकार से जब उन्होंने पूछा तब भी यही जवाब मिला कि घाटी में अब कोई पंडित परिवार नहीं है। शायद उनका यहाँ होना विस्थापित पंडितों के आख्यानों में काफ़ी व्यवधान पैदा करता है। वह आगे कहते हैं कि यहाँ के भी नये लड़के नहीं जानते कि कश्मीरी पंडित क्या होते हैं। टिक्कू कई स्कूलों में जाकर बच्चों से बात करते हैं और बताते हैं कि पंडित और मुसलमान कैसे यहाँ मिलकर रहते थे। वह कहते हैं कि कश्मीर की संस्कृति इन दोनों के बिना पूरी ही नहीं होती। हेराथ में परम्परा है कि पड़ोसियों को अखरोट दिया जाता है। हमें देर हो तो वे ख़ुद चले आते हैं। ऐसे ही बकरीद में क़ुर्बानी के बाद मुसलमान पंडितों के घर कच्चा मांस पहुँचाते हैं। जो बाहर चले गए, उनका एक हिस्सा अब इन परम्पराओं को भूलकर दक्षिणपंथ के साथ हो गया है। जब पंडित यहाँ से गए तो कोई स्वागत नहीं हुआ उनका। औरतों-बेटियों के साथ क्या नहीं हुआ! लेकिन चूँकि हिन्दू ने किया तो कोई बात नहीं। यहाँ भी कोई मुसलमान बलात्कार कर दे, मार दे तो सब चुप रह जाते हैं। माहौल और ख़राब होता जा रहा है। जिस तरह की नीतियाँ लागू की जा रही हैं, वे अलगाव बढ़ा रही हैं।

टिक्कू बताते हैं कि कुछ साल पहले इंटेलिजेंस ने एक रिपोर्ट में बताया कि घाटी में रह रहे पंडित हिज़बुल मुजाहिदीन के लोग हैं। टिक्कू हँस के कहते हैं कि जब हमने कश्मीर में दशहरा मनाया तो एक इंटेलिजेंस ऑफिसर वहाँ मिल गए। मैंने कहा कि रिपोर्ट भेज दीजिए कि यह पुतला सलाहुद्दीन ने भिजवाया है।

दशहरे के आयोजन को लेकर उनके मज़ेदार अनुभव हैं। असल में कश्मीर में दशहरे की कोई परम्परा नहीं थी। पंडित यह त्योहार नहीं मनाते थे। जब डोगरा शासन आया तो दशहरा मनना शुरू हुआ और फिर उनके जाने के बाद बन्द हो गया। जब उन्होंने 2007 में दुबारा दशहरे का आयोजन किया तो मैदान खचाखच भरा था। ज़ाहिर है कि 99 फ़ीसद भीड़ मुसलमानों की थी। वह बताते हैं कि जब 'जय श्रीराम' का जयकारा लगा तो मुस्लिमों ने भी साथ में नारा लगाया। फिर पुतले के दहन के बाद कई लड़कों ने उसकी राख उठाई तो उन्होंने पूछा कि इसका क्या करोगे? लड़कों ने बताया कि उनके दादा ने मँगवाई है। उनकी स्मृतियों में डोगरा

---

* देखें, http://kashmiris-in-exile.blogspot.com/2018/04/190/90-kashmiri-pandit-fled.html?m=1 (आखिरी बार 5/11/2019 को देखा गया)

काल का दशहरा होगा जिसमें राख को पवित्र माना जाता था। टिक्कू कहते हैं कि 'मैंने मजाक में पूछा कि यह तो इस्लाम के मुताबिक है नहीं', तो बोले, 'अरे छोड़िए इस्लाम, दादा ने कहा है तो हम ले जाएँगे।' मेरी तरफ़ देखकर मुस्कुराकर कहा उन्होंने, 'यह है कश्मीरियत, जो अब बर्बाद हो रही है। इसके बाद से हर साल दशहरा मन रहा है।' यह बातचीत नवम्बर, 2018 की थी। अक्टूबर, 2019 की मुलाक़ात में बेहद कटु स्वर में उन्होंने बताया कि 2007 से जारी दशहरा इस बार नहीं मन पाएगा। एक तो हालात ठीक नहीं; दूसरा, इंटरनेट और फ़ोन न होने से उन लोगों से सम्पर्क मुश्किल है जो आर्थिक सहयोग करते थे और तीसरा राज्यपाल ने इस बाबत भेजे गए पत्र का जवाब भी नहीं दिया।

प्रधानमंत्री पैकेज पर मेरे सवाल के जवाब में टिक्कू बताते हैं कि 'पैकेज केवल विस्थापित पंडितों के लिए था। 2013 के दिसम्बर में उन्होंने केस किया कि इसमें वहाँ रह रहे पंडितों के लिए भी प्रावधान हो. इस बीच दो संसदीय समितियाँ कश्मीर आईं तो उन्हें पूरा आँकड़ा सौंपा कि यहाँ रह रहे पंडितों के सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक हालात कितने ख़राब हैं। संसद में भी इस पर सवाल उठा। 2016 में केस का फ़ैसला उनके हक़ में आया। केन्द्र ने राज्य से कहा कि कश्मीर में रह रहे पंडित भी इस पैकेज के लिए हक़दार हैं। लेकिन इसी बीच बीजेपी के लोगों ने सिखों को भड़काया और उन्होंने पैकेज को ही रद्द करने का केस करके स्टे ले लिया।' वैसे इस सन्दर्भ में 2003 में कश्मीरी पंडितों के सम्मेलन में मनमोहन सिंह कश्मीर में 'अल्पसंख्यक आयोग'[21] बनाने का जो प्रस्ताव दिया था, वह सिखों और पंडितों, दोनों के लिए एक आगे बढ़ा हुआ क़दम हो सकता था।

भविष्य के सवाल पर टिक्कू कहते हैं कि फ़िलहाल तो लगता है, हालात और ख़राब होंगे। ऐसा ही चलता रहा तो जो 808 परिवार बचे हैं, उनमें से भी काफ़ी चले जाएँगे। जब वह नहीं जानते थे कि कुछ महीनों में 370 हटाने का फ़ैसला होगा तब भी वह राज्यपाल से बेहद निराश लग रहे थे। उनका कहना था कि ऑपरेशन ब्लैक आउट जैसी चीज़ों से कुछ हल नहीं निकलेगा और समस्या ज़्यादा बढ़ती जाएगी। हालात ऐसे हैं कि आज घाटी में नब्बे से भी ज़्यादा भारत-विरोधी भावनाएँ हैं। अन्त में वह एक बेहद मानीखेज़ टिप्पणी करते हैं—नब्बे में जो कुछ हुआ, वह केवल कश्मीर में हुआ। लेकिन अब अगर यहाँ कुछ हुआ तो उसका असर पूरे देश पर होगा।

उदास वक़्तों में 'कलियाँ' खिलाने की कोशिश

शुरुआत वांचू परिवार से की थी और अन्त भी उसी परिवार से करना चाहूँगा। अमित वांचू से मेरी मुलाक़ात नवम्बर, 2018 में श्रीनगर में और फिर जनवरी, 2019 में

जयपुर में हुई। अमित ने मिलिटेंसी स्कूल में देखी। 1989 में वह शहर के प्रतिष्ठित टिंडल बिस्को में पढ़ते थे। जे.के.एल.एफ़. का पहला कमांडर अशफ़ाक़ माजिद वानी भी वहीं का छात्र रहा था। स्कूलों में खुलेआम ग्रेनेड और बन्दूक़ दिखाई देते थे। वह कहते हैं—एक दिन अचानक ढेर सारे छात्र अनुपस्थित थे। मैं अपनी क्लास में अकेला पंडित बचा था। आठवीं के बच्चे बन्दूक़ रखते थे। आतंकवादियों के लिए कैरियर का काम करते थे। स्कूल में पोस्टर लगाते थे। मिलिटेंट हीरो जैसे होते थे।

जब दादा जी की हत्या हुई तो उस समय गुस्सा बहुत था। दो साल तक घर से नहीं निकले। चार मुस्लिम दोस्त उनके घर के पास रहते थे। वे भी स्कूल नहीं गए। हमेशा लगता था कि अब ये मारे जाएँगे, अब वे मारे जाएँगे। फिर मौत का डर निकल गया। एम.बी.बी.एस. किया, कल्चरल सेक्रेटरी बना, कश्मीर यूनिवर्सिटी के इतिहास में पहला पंडित प्रेसिडेंट बना।

वह कहते हैं—हम विस्थापित नहीं हुए, यह अच्छा निर्णय था। दादा जी की हत्या हुई तो कई लोग आए कि अगर आप यहाँ नहीं रहेंगे तो हम भी नहीं रहेंगे। शिया भी डरे थे। माइनॉरिटी का होता है न कि पहले एक को, फिर दूसरे को टारगेट किया जाएगा। तो हमारे नहीं जाने से कई लोग रुके। आप भाग के कहाँ जाओगे। मेरी चिन्ता में अब विस्थापन नहीं है। विस्थापन तो हो चुका है। मैंने देखा है कि जो लोग चले गए, उन्होंने कितना झेला है। लोग कहते थे कि इससे अच्छा होता कि कश्मीर में गोली खा लेते। यहाँ सिविलियन किलिंग्स हुईं। आज यह हालत है कि युवा कश्मीर छोड़ रहे हैं। कारण क्या है? यहाँ इन्स्टीट्यूशन बिल्डिंग हुई ही नहीं। बाक़ी छोड़िए, राजनीति में भी कोई नया चेहरा देखा आपने? चाहे हुर्रियत हो या मुख्यधारा की पार्टियाँ—तीस साल से वही लोग हैं। चुनाव होते हैं, लोग जान का ख़तरा उठाकर वोट देने जाते हैं लेकिन बदले में मिलता क्या है? किसी सरकार ने उनके लिए कुछ किया? उसके वोट की कोई इज़्ज़त की पार्टियों ने? ऐसे लोकतंत्र का क्या फ़ायदा जहाँ गवर्नेंस ही नहीं हो? अगर आप गवर्नेंस नहीं दे सकते तो लोकतंत्र का फ़ायदा क्या है? हालत यह है कि शिक्षा ठेके पर पढ़ा रहे 'रहबर-ए-तालीम' पर निर्भर है जिन्हें डेढ़ हज़ार रुपये मिलते हैं। जब दुनिया में भूमंडलीकरण हुआ तो यहाँ आतंकवाद शुरू हुआ। 1989 के पहले का आप देखेंगे तो जम्मू-कश्मीर किसी दूसरे राज्य से बेहतर था। जितना इन्फ्रास्ट्रक्चर है, सब उसके पहले का बना हुआ है। उसके बाद कुछ नहीं बना। फिर भी मैं निराशावादी नहीं हूँ। किसी भी जगह को बदलने में दस साल लगते हैं। यहाँ भारी इंडस्ट्री नहीं लगा सकते आप। तीन चीज़ें मुमकिन हैं : एक तो यहाँ एजुकेशन हब बना सकते हैं। दूसरा, मेडिकल हब बन सकता है। हार्टीकल्चर हो सकता है। फिर टूरिज्म है। इतना बहुत है सत्तर लाख लोगों के लिए। मुझे लगता है कि दस साल अच्छा गवर्नेंस मिल जाए तो चीज़ें बदल जाएँगी।

उनका मानना है कि दो तरह के लोगों को पलायन में मुश्किल आती है—या तो जिनके पास बहुत ज़मीन-जायदाद हो या जिनके पास बहुत कम हो। मध्यवर्ग तो निकल जाता है जहाँ अच्छा अवसर देखता है। नब्बे में भी सरकारी नौकरी वालों के लिए समस्या नहीं थी। वे गए तो भी उनको तनख़्वाह मिलती रही। आठ सौ कश्मीरी पंडित परिवार घाटी की जनसंख्या का 0.1 प्रतिशत भी नहीं हैं, तो वे जाएँ या न जाएँ, किसी को कोई फ़र्क़ नहीं पड़ना है। बड़ी बात यह है कि यहाँ रहकर वह कितने लोगों को लौटने के लिए प्रेरित करते हैं। मान लीजिए, मेरे सम्पर्क में 1000 मुस्लिम परिवार हैं तो उन पर कश्मीरी पंडित का अच्छा प्रभाव होगा। कोई लौटेगा तो वे उनका स्वागत करेंगे। इन 800 परिवारों ने वाहियात से वाहियात समय देखा है, तो इनके जाने का कोई निर्णय इस बात से तय नहीं होगा कि हालात कैसे हैं। उसे अगर कश्मीर के अन्दर अच्छा रोज़गार मिलेगा तो यहाँ रहेगा और कहीं बाहर रोज़गार मिलेगा तो बाहर चला जाएगा। असल बात यह है कि यहाँ रहकर उसने समाज में क्या योगदान किया है सबको जोड़ने के लिए?

और अमित ने यह कोशिश लगातार की है। उन्होंने कॉलेज के समय में एक बैंड बनाया 'इमर्सन' जिसमें सिख, मुस्लिम और पंडित समुदाय के लड़के-लड़कियाँ शामिल थे। उनका एक गीत था : बदल देंगे दुनिया की तसवीर/वी द यंगस्टर्स ऑफ़ कश्मीर। एम.बी.बी.एस. के दौरान एक इंटरटेनमेंट कम्पनी बनाई 'स्पेस', जो दूरदर्शन के लिए कार्यक्रम भी बनाती थी। इसने बच्चों के लिए धारावाहिक 'कलियाँ' बनाया जिसमें मीरवायज़ की भतीजी और मुफ़्ती सईद की नातिन एंकर थीं। यह धारावाहिक दस वर्षों तक चलता रहा। फिर सरकारी नौकरी छोड़कर पिता की दवा फैक्टरी से जुड़े और सस्ती दवाएँ बनाने पर ज़ोर दिया जिसके लिए राष्ट्रीय पुरस्कार मिला। रोटरी क्लब स्थापित किया श्रीनगर में और उसके अध्यक्ष भी बने। 2007 में येल यूनिवर्सिटी की फ़ेलोशिप मिली। वहाँ से लौटकर एक इवेंट मैनेजमेंट कम्पनी बनाई जिसमें आज दस से बारह हज़ार लोग लगे हुए हैं। फिर लाइन प्रोडक्शन शुरू की। पहली फ़िल्म 'रॉक स्टार' की तो इम्तियाज़ अली से वादा लिया कि इसमें बंकर नहीं दिखाया जाएगा। इसके बाद 'हैदर', 'बजरंगी भाईजान', 'जब तक है जान' जैसी कश्मीर में शूट होनेवाली फ़िल्में कीं। अमित के मज़ेदार क़िस्सा सुनाते हैं—मार्तंड के आसपास का पूरा इलाक़ा क़ब्ज़ा हो गया था। लैंड माफ़िया से सीधा पंगा लिया नहीं जा सकता। स्थानीय मुसलमान भी कुछ नहीं कर पा रहे थे। मैंने बिस्मिल-बिस्मिल गाने के लिए विशाल भारद्वाज को वहाँ शूट करने की सलाह दी। शूटिंग की इजाज़त के लिए प्रशासन को पत्र पहुँचा तो सब परेशान हुए और अन्ततः क़ब्ज़े ख़ाली कराने पड़े। अमित अभी हाल में ही वर्ल्ड इकोनॉमिक फ़ोरम के वर्ल्ड लीडर भी चुने गए और सिंगापुर से एक फ़ेलोशिप भी मिली। लेकिन जो सबसे बड़ा काम किया उन्होंने, वह हृदयनाथ वांचू ट्रस्ट के

तहत एम्बुलेंस सर्विस शुरू करके। यह ट्रस्ट बाढ़ के समय शुरू किया गया था। दो एम्बुलेंसों से शुरू किया यह काफ़िला अब 8 का हो चुका है। वह बड़े गर्व से बताते हैं कि 2016 में जब बवाल हुआ तो हमने 16000 लोगों को सेवाएँ दीं और हमारी इकलौती एम्बुलेंस सेवा थी जिस पर एक पत्थर नहीं चला।

बात ख़त्म करते हुए जब अमित कहते हैं कि 'मरने से पहले कुछ तो करके जाऊँगा, इस जगह को थोड़ा तो बेहतर बनाकर जाऊँगा'—तो मेरी नज़र दीवार पर लगी हृदयनाथ वांचू जी की तसवीर पर चली गई। साम्प्रदायिक विभाजन के गहरे होते माहौल में उनकी हत्या के आरोप में जेल में बन्द फ़क़तू की रिहाई के लिए आपको सैकड़ों लेख मिल जाएँगे लेकिन नब्बे के इतिहास में हृदयनाथ वांचू का नाम कश्मीरी नेताओं और लेखकों के यहाँ बस कुछेक श्रद्धांजलियों में मिलेगा तो विस्थापित कश्मीरी पंडितों के यहाँ उनका ज़िक्र भी बमुश्किल मिलेगा।

उनके घर से लौटते हुए जवाहर नगर के ऑटो बस स्टैंड का नाम 'हृदय नाथ वांचू बस स्टैंड' पढ़ते हुए आँख भरी भी और उदास भी हुई।

संहारों की राजनीति के बीच मुश्किल है उपसंहार

कश्मीर पर हिन्दी के बेहद प्रतिष्ठित कवि शमशेर बहादुर सिंह की एक अधूरी कविता है। कश्मीर पर लिखी तमाम किताबें पढ़ते हुए मुझे लगता है कि वे पूरी दिखती हुई भी अधूरी हैं और हज़ारेक पन्ने रंग देने के बाद भी मुझे लगता है कि कश्मीर पर मेरा लिखा भी अधूरा ही रह गया है। 70 लाख नागरिकों का घर, दो-ढाई लाख विस्थापित लोग और दो मुल्कों की इसके सहारे राजनीति संचालित करने की आकांक्षा ने एक तरफ़ कश्मीर को बेहद उलझा दिया है तो दूसरी तरफ़ वहाँ के लोगों को राजनीतिक रूप से इतना विभाजित कर दिया है कि अक्सर बातचीत के दौरान वे अपना पक्ष चुनते हुए केवल सत्य तक सीमित नहीं रह पाते। बन्दूक़ का डर है ही, साथ ही अपने लोगों के बीच अकेले पड़ जाने का डर भी छोटा नहीं है। दक्षिण कश्मीर के एक गाँव में मुझसे बात करते हुए ख़ूब उत्साहित रहे पंडित व्यक्ति ने शाम होने के बाद लगातार फ़ोन करके नाम न लेने को कहा तो कई जगहों पर पहले मेरा नाम पूछकर मेरी पहचान साफ़ कर लेने के बाद बात हुई। कई बार लगा कि अगर मेरी पहचान किसी मुस्लिम नाम से होती तो उत्तर अलग होते। तब शायद यह पढ़ते हुए आपकी प्रतिक्रिया भी अलग होती। शायद कश्मीर में पूरा सच कोई नहीं बोलता या कि कश्मीर में कोई पूरा सच है ही नहीं। आप मुस्लिम बस्तियों में जाइए, थोड़े बुज़ुर्ग लोगों से बात कीजिए, ज़रा भरोसा जमने के बाद वे एक तरफ़ आपको ये बताएँगे कि पंडितों के साथ उनका रिश्ता कितना सौहार्दपूर्ण था, दूसरी तरफ़ राजनीतिक तौर पर पंडितों के लिए शिकायतें भी होंगी।

आप पंडितों से मिलिए, वे अपने उन मुस्लिम पड़ोसियों के क़िस्से सुनाएँगे जिनके साथ शानदार वक़्त गुज़ारा है और अगले ही पल शिकायतें भी करेंगे कि 1947 के बाद मुसलमानों ने कैसे नौकरियों पर क़ब्ज़े कर लिये या कैसे 1989-90 में उन्हें बाहर निकाल दिया गया। इन स्मृतियों और शिक़ायतों में असत्य कुछ भी नहीं है लेकिन जैसाकि कश्मीरी राजनीति को क़रीब से जाननेवाले और ऑब्जर्वर ग्रुप के प्रमुख आर.के. मिश्रा कहते हैं, 'न तो पंडितों का, न ही अन्य समूहों का भविष्य दूसरों को दोष देते रहने से सँवर सकता है।'[22]

मसलन आज़ादी को ले लें। 1947 के बाद से ही 'आज़ादी' शब्द कश्मीर की राजनीति में बेहद महत्त्वपूर्ण रहा है। लेकिन शेख़ अब्दुल्ला जब 1953 में सत्ता में आते हैं तो आज़ादी की बात करनेवाले पंडित अमरनाथ वैष्णवी जैसे लोगों को देश-विरोधी बताकर जेल में डाल दिया जाता है। तब शायद उनके लिए 'आज़ादी' का मतलब भारत के साथ होना हो गया था। लेकिन जब भारत सरकार से असन्तुष्ट होते हैं तो एक बार फिर आज़ादी की बातें करने लगते हैं और उनके सिपहसालार मिर्ज़ा अफ़ज़ल बेग़ की सरपरस्ती में प्लेबिसाइट फ्रंट बनता है जो केवल आज़ादी की बात नहीं करता बल्कि पाकिस्तान के प्रति स्पष्ट झुकाव रखता है। मोइउद्दीन कारा जब मंत्रिपद नहीं पाते तो अचानक पाकिस्तान समर्थक हो जाते हैं और पॉलिटिकल कॉन्फ्रेंस बना लेते हैं, लेकिन 1977 में अचानक उसे छोड़कर जनता पार्टी के साथ हो जाते हैं! शेख़ इन्दिरा गांधी से समझौता कर लेने के बाद प्लेबिसाइट की माँग भूल जाते हैं, फ्रंट भंग करते हैं और मिर्ज़ा साहब डस्टबिन में डाल दिये जाते हैं। क़िस्सा है कि मिर्ज़ा साहब के बीमार पड़ने पर शेख़ जब उनसे मिलने गए तो वह नीम-बेहोशी की हालत में थे। शेख़ ने पूछा—मुझे पहचाना? मिर्ज़ा बोले—आपको जब 45 बरसों में न पहचान पाया तो अब क्या पहचानूँगा! 1989 की लड़ाई शुरू हुई हिन्दुस्तान और पाकिस्तान से आज़ादी की माँग के साथ। कुछ दिनों में आज़ादी माँगनेवाले या तो मार दिये गए या फिर जेलों में चले गए और नारा हो गया—कश्मीर बनेगा पाकिस्तान! गीलानी साहब एक से अधिक बार कह चुके हैं कि आज़ादी का मतलब उनके लिए पकिस्तान में विलय है। 'आउटलुक' का एक सर्वे कहता है कि ज़्यादातर कश्मीरी हिन्दुस्तान और पाकिस्तान, दोनों से आज़ादी चाहते हैं लेकिन गीलानी कश्मीर में सबसे मक़बूल नेता हैं और बुरहान वानी से निक्कू तक जो नई पौध आई है आतंक की, वह उसी हिज़बुल मुजाहिदीन के बैनर तले, जिसने नारा दिया था—कश्मीर बनेगा पाकिस्तान! बताइए, आप किस पर भरोसा करेंगे?

सच्चाई यह कि सब सच अधूरे हैं। कश्मीरी जानते हैं कि न हिन्दुस्तान उन्हें आज़ाद रहने देगा, न पाकिस्तान। यह भी कि पाकिस्तान के साथ जाकर भी कुछ नहीं मिलनेवाला। गिलानी के लिए यह फ़ायदेमन्द हो सकता है, जमा'त के उन

नेताओं के लिए भी जिन्हें सऊदी और पाकिस्तान से लगातार पैसे मिलते रहे हैं लेकिन आम कश्मीर के लिए आज़ादी एक यूटोपिया है, पाकिस्तान एक डिस्टोपिया और सेना के दमन तथा राज्य और केन्द्र सरकारों की लगातार ग़लत नीतियों से उपजा ग़ुस्सा, असन्तोष एक ऐसा यथार्थ—जिसने इसे जन्म दिया है। अल फ़तह से हुर्रियत तक का सफ़र करनेवाले फज़ल हक़ क़ुरैशी की कहानी अपने-आपमें इस विडम्बना का जीता-जागता उदाहरण है। वह उन पहले लोगों में से थे जिन्होंने साठ के दशक में बन्दूक़ की राह अपनाई और अल फ़तह में शामिल हुए। स्टेट बैंक की विश्वविद्यालय शाखा लूटने के प्रयास में 23 लोगों के साथ गिरफ़्तार हुए और फिर जब पुनर्वास हुआ तो शिक्षा विभाग में नौकरी मिली। नब्बे के दशक में फिर आग लगी तो हुर्रियत के नरमपंथी धड़े में शामिल हो गए। अटल बिहारी बाजपेयी के समय शान्ति प्रयास शुरू हुए तो उसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। अब भी उनकी बैठक में अटल बिहारी बाजपेयी और हुर्रियत के दूसरे नेताओं के साथ एक फ़ोटो लगी है। फिर चिदम्बरम के समय भी हिज़बुल और सरकार के बीच शान्ति प्रयासों में सक्रिय रहे। एक मैच हुआ क्रिकेट का—हिज़बुल के लोगों और सेना के लोगों के बीच। नतीजा यह कि उन ताक़तों के कोप का भाजन बने जो यह नहीं चाहती थीं। गोली मारी गई, जान बच गई, लेकिन शरीर का एक हिस्सा लकवाग्रस्त हो गया। इस विडम्बना के कई चेहरे हैं और सब बदसूरत। कभी हुर्रियत के साथ ख़ुशी-ख़ुशी फ़ोटो खिंचाने वाले बाजपेयी जब सत्ता से बाहर हुए तो मनमोहन सिंह के शान्ति प्रयासों पर हमला करते हुए उन्होंने मनमोहन सिंह को लिखे पत्र में आश्चर्यजनक रूप से तीन आरोप लगाये : पहला, शान्ति-प्रक्रिया बहुत ज़्यादा कश्मीर-केन्द्रित हो गई है; दूसरा, यह आतंकवाद पर ख़ामोश है और तीसरा हुर्रियत को महत्त्व दिया जा रहा है![23] ऐसे ही शान्ति प्रयासों के एक और सक्रिय समर्थक अब्दुल ग़नी लोन की जब हत्या कर दी गई, तो अमेरिकी सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट कॉलिन पॉवेल ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'हालाँकि किसी ने उनकी हत्या का ज़िम्मा नहीं लिया है लेकिन यह स्पष्ट है कि उनके हत्यारे उनमें से ही हैं जो नहीं चाहते कि कश्मीर समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान न हो। 2 जनवरी, 2011 को विभाजित हुर्रियत के नरमपंथी धड़े के मुख्य प्रवक्ता अब्दुल ग़नी बट्ट ने एक कार्यक्रम में स्वीकार किया कि मीरवायज़ मौलवी फ़ारूक़, अब्दुल ग़नी लोन और जे.के.एल.एफ़. के विचारक प्रो. अब्दुल ग़नी वानी की हत्या भारतीय सेना ने नहीं बल्कि किसी अन्दर के व्यक्ति ने की थी। कश्मीर आन्दोलन में बुद्धिजीवियों की भूमिका पर आयोजित इस सेमीनार में उन्होंने कहा, 'हमने अपने बुद्धिजीवियों को मार डाला। जहाँ भी हमें कोई बुद्धिजीवी मिला, हमने उसे मार डाला।'[24]

फज़ल-हक़ अब बिस्तर तक महदूद हैं और चुपचाप सोनी टीवी पर सी.आई.डी. देखते रहते हैं। जब मैं मिला तो कुछ दिन पहले उनकी सुरक्षा में लगे

पुलिसकर्मी की बन्दूक़ छीन ली गई थी। अभी जब कश्मीर के कुछ नेताओं की सुरक्षा हटाई गई थी तो उसमें उनका भी नाम था। मैंने पूछा उनसे आज़ादी का मतलब तो हँसकर बोले—कोई ऐसा समाधान जिसमें कश्मीरी, हिन्दुस्तानी और पाकिस्तानी, तीनों ख़ुश रहें और तीनों को लगे, इंसाफ़ हुआ है।

इंसाफ़ एक ऐसी चीज़ है जिसके मुतल्लिक़ कश्मीर के हर पक्ष को लगता है कि उसके साथ धोखा हुआ है। पाकिस्तान को लगता है कि एकदम सीमा से लगे मुस्लिम बहुल इलाक़े को न देकर माउंटबेटन से लेकर हरि सिंह और यू.एन.ओ. तक ने उसके साथ नाइंसाफ़ी की है। हिन्दुस्तान को लगता है कि इतने सालों तक इतना ख़र्च करने के बावजूद कश्मीरी उसके साथ एक स्वर में नहीं खड़े होते तो यह नाइंसाफ़ी है। महाराजा के विलय-पत्र पर हस्ताक्षर के बाद भी कश्मीर के भारत का हिस्सा होने पर सवाल उठना नाइंसाफ़ी है। कश्मीरी मुसलमानों को लगता है कि जनमत-संग्रह और स्वायत्तता का वादा न निभाकर, लोकतंत्र को नियंत्रित रखकर उसके साथ नाइंसाफ़ी की गई है और सवाल उठाने पर सेना से बन्दूक़ चलवाकर भी। शेख़ को उम्र भर लगता रहा कि नाइंसाफ़ी हुई है उनके साथ। फ़ारूक़ को लगता ही है कि बिना किसी संशय के तिरंगा फहराने के बावजूद उनके साथ नाइंसाफ़ी हुई। बाहर चले गए पंडितों को लगता है कि हमेशा हिन्दुस्तान के साथ खड़े रहने के बावजूद नब्बे में उन्हें सुरक्षा न दिलवा पाना नाइंसाफ़ी है। कश्मीर में रह रहे पंडितों को लगता है कि उन मुश्किल हालात में भी कश्मीर न छोड़ने के बावजूद सरकार का उन पर ध्यान न दिया जाना एक नाइंसाफ़ी है।

तो नाइंसाफ़ी कश्मीर के राजनीतिक-सामाजिक डिस्कोर्स का एक अनिवार्य शब्द बनता गया है और देखें तो सब अपनी-अपनी जगह सही हैं और देखें तो सारा मामला अपने-अपने परसेप्शन का है। इन सबके बीच एक तरफ़ दोनों समुदायों के बीच अविश्वास लगातार बढ़ता चला गया है तो दूसरी तरफ़ कश्मीर से बड़े पैमाने पर विस्थापन के बाद अलग-अलग शहरों में बसते जाने और व्यापक भारतीय हिन्दू समाज में घुलते-मिलते जाने से एक सांस्कृतिक समुदाय के रूप में कश्मीरी पंडित समाज का अस्तित्व ही समाप्त होते जाने का संकट उत्पन्न हो गया है।

इन सबके बीच लम्बे समय से 370 हटाने को समस्या का समाधान बताने वाले दक्षिणपंथ ने संसद में अपने प्रचंड बहुमत का इस्तेमाल करते हुए श्यामा प्रसाद मुखर्जी का सपना पूरा तो कर दिया है लेकिन इन पंक्तियों के लिखे जाने तक कश्मीर में कर्फ़्यू जैसे हालात हैं, इंटरनेट सेवाएँ बन्द हैं और छिटपुट विरोध-प्रदर्शनों तथा सैन्य कार्यवाहियों के बीच पकिस्तान से आतंकवादियों के कश्मीर में ताज़ा घुसपैठ की ख़बरों[25] के साथ अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रम्प की मध्यस्थता का

प्रस्ताव इस विडम्बना को एक ब्लैक कॉमेडी में बदल रहा है या कि एक अभूतपूर्व ट्रेजेडी में, यह तो समय ही बताएगा। हाँ, इतना तय है कि चाहे विस्थापित पंडितों की वापसी हो या फिर वहाँ रह रहे पंडितों, दरअसल हर कश्मीरी का एक बेहतर भविष्य सिर्फ एक शान्तिपूर्ण और लोकतांत्रिक कश्मीर में ही हो सकता है, जिसकी उम्मीदें फ़िलहाल बहुत धुँधली हैं।

[यहाँ उद्धृत सभी साक्षात्कार अप्रैल-2018, नवम्बर-2018 और अक्टूबर-2019 की कश्मीर-यात्राओं के दौरान रिकॉर्ड किये गए हैं। डॉ. जगत मोहिनी का वक्तव्य अलग-अलग जगहों पर छपे उनके साक्षात्कारों से लिया गया है।]

संदर्भ

1. देखें, पेज 60, *कश्मीर : द अनटोल्ड स्टोरी*, हुमरा क़ुरैशी, पेंग्विन बुक्स, 2004
2. देखें, https://www.nytimes.com/1992/12/31/opinion/l-in-india-misery-and-corruption-fuel-violence-kashmiri-activist-dead-160092.html (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
3. देखें, पेज 132-34, *द ह्यूमन राइट्स क्राइसिस इन कश्मीर : अ पैटर्न ऑफ़ इम्प्यूनिटी, एशिया वाच, अ डिविजन ऑफ़ ह्यूमन राइट्स वाच*, जून, 1993
4. देखें, पेज 160, *द मेनी फ़ेसेज़ ऑफ़ कश्मीरी नेशनलिज़्म*, नन्दिता हक्सर, स्पीकिंग टाइगर्स, दिल्ली, 2015
5. देखें, https://www.thehindu.com/news/national/other-states/jk-separatist-leader-completes-23-years-in-jail/article8199339|ece
6. देखें, पेज, *कश्मीर : द लैंड ऑफ़ रिग्रेट*, मूसा रज़ा, सी नेक्स्ट, चेन्नई, 2019
7. देखें, https://epaper|telegraphindia.com/imageview_286959_154110207_4_71_17-08-2019_1_i_1_sf.html (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
8. देखें, *ए देजोलेशन काल्ड पीस* (सम्पादक : अतहर जिया और जावेद इक़बाल बट) में मोना भान का लेख *ऑफ़ रूम्स एंड रेसिस्टेंस*, हार्पर कॉलिन्स, नोएडा, 2019
9. देखें, https://pdfslide|us/documents/mn-tickoo-on-migration.html (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
10. देखें, https://www.thehindubusinessline.com/todays-paper/tp-opinion/article28925079|ece# (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
11. देखें, 7 अगस्त, 2014 के कश्मीर रीडर में छपी रिपोर्ट *के.पी. फेमिली रिटर्न्स होम आफ़्टर 26 इयर्स*, ओपेंस प्रेप स्कूल इन श्रीनगर

पुलिसकर्मी की बन्दूक़ छीन ली गई थी। अभी जब कश्मीर के कुछ नेताओं की सुरक्षा हटाई गई थी तो उसमें उनका भी नाम था। मैंने पूछा उनसे आज़ादी का मतलब तो हँसकर बोले---कोई ऐसा समाधान जिसमें कश्मीरी, हिन्दुस्तानी और पाकिस्तानी, तीनों ख़ुश रहें और तीनों को लगे, इंसाफ़ हुआ है।

इंसाफ़ एक ऐसी चीज़ है जिसके मुतल्लिक़ कश्मीर के हर पक्ष को लगता है कि उसके साथ धोखा हुआ है। पाकिस्तान को लगता है कि एकदम सीमा से लगे मुस्लिम बहुल इलाक़े को न देकर माउंटबेटन से लेकर हरि सिंह और यू.एन.ओ. तक ने उसके साथ नाइंसाफ़ी की है। हिन्दुस्तान को लगता है कि इतने सालों तक इतना ख़र्च करने के बावजूद कश्मीरी उसके साथ एक स्वर में नहीं खड़े होते तो यह नाइंसाफ़ी है। महाराजा के विलय-पत्र पर हस्ताक्षर के बाद भी कश्मीर के भारत का हिस्सा होने पर सवाल उठना नाइंसाफ़ी है। कश्मीरी मुसलमानों को लगता है कि जनमत-संग्रह और स्वायत्तता का वादा न निभाकर, लोकतंत्र को नियंत्रित रखकर उसके साथ नाइंसाफ़ी की गई है और सवाल उठाने पर सेना से बन्दूक़ चलवाकर भी। शेख़ को उम्र भर लगता रहा कि नाइंसाफ़ी हुई है उनके साथ। फ़ारूक़ को लगता ही है कि बिना किसी संशय के तिरंगा फहराने के बावजूद उनके साथ नाइंसाफ़ी हुई। बाहर चले गए पंडितों को लगता है कि हमेशा हिन्दुस्तान के साथ खड़े रहने के बावजूद नब्बे में उन्हें सुरक्षा न दिलवा पाना नाइंसाफ़ी है। कश्मीर में रह रहे पंडितों को लगता है कि उन मुश्किल हालात में भी कश्मीर न छोड़ने के बावजूद सरकार का उन पर ध्यान न दिया जाना एक नाइंसाफ़ी है।

तो नाइंसाफ़ी कश्मीर के राजनीतिक-सामाजिक डिस्कोर्स का एक अनिवार्य शब्द बनता गया है और देखें तो सब अपनी-अपनी जगह सही हैं और देखें तो सारा मामला अपने-अपने परसेप्शन का है। इन सबके बीच एक तरफ़ दोनों समुदायों के बीच अविश्वास लगातार बढ़ता चला गया है तो दूसरी तरफ़ कश्मीर से बड़े पैमाने पर विस्थापन के बाद अलग-अलग शहरों में बसते जाने और व्यापक भारतीय हिन्दू समाज में घुलते-मिलते जाने से एक सांस्कृतिक समुदाय के रूप में कश्मीरी पंडित समाज का अस्तित्व ही समाप्त होते जाने का संकट उत्पन्न हो गया है।

इन सबके बीच लम्बे समय से 370 हटाने को समस्या का समाधान बताने वाले दक्षिणपंथ ने संसद में अपने प्रचंड बहुमत का इस्तेमाल करते हुए श्यामा प्रसाद मुखर्जी का सपना पूरा तो कर दिया है लेकिन इन पंक्तियों के लिखे जाने तक कश्मीर में कर्फ़्यू जैसे हालात हैं, इंटरनेट सेवाएँ बन्द हैं और छिटपुट विरोध-प्रदर्शनों तथा सैन्य कार्यवाहियों के बीच पकिस्तान से आतंकवादियों के कश्मीर में ताज़ा घुसपैठ की ख़बरों[25] के साथ अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रम्प की मध्यस्थता का

प्रस्ताव इस विडम्बना को एक ब्लैक कॉमेडी में बदल रहा है या कि एक अभूतपूर्व ट्रेजेडी में, यह तो समय ही बताएगा। हाँ, इतना तय है कि चाहे विस्थापित पंडितों की वापसी हो या फिर वहाँ रह रहे पंडितों, दरअसल हर कश्मीरी का एक बेहतर भविष्य सिर्फ एक शान्तिपूर्ण और लोकतांत्रिक कश्मीर में ही हो सकता है, जिसकी उम्मीदें फ़िलहाल बहुत धुँधली हैं।

[यहाँ उद्धृत सभी साक्षात्कार अप्रैल-2018, नवम्बर-2018 और अक्टूबर-2019 की कश्मीर-यात्राओं के दौरान रिकॉर्ड किये गए हैं। डॉ. जगत मोहिनी का वक्तव्य अलग-अलग जगहों पर छपे उनके साक्षात्कारों से लिया गया है।]

संदर्भ

1. देखें, पेज 60, *कश्मीर : द अनटोल्ड स्टोरी,* हुमरा क़ुरैशी, पेंग्विन बुक्स, 2004
2. देखें, https://www.nytimes.com/1992/12/31/opinion/l-in-india-misery-and-corruption-fuel-violence-kashmiri-activist-dead-160092.html (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
3. देखें, पेज 132-34, द *ह्यूमन राइट्स क्राइसिस इन कश्मीर : अ पैटर्न ऑफ़ इम्प्यूनिटी, एशिया वाच, अ डिविजन ऑफ़ ह्यूमन राइट्स वाच,* जून, 1993
4. देखें, पेज 160, द *मेनी फ़ेसेज़ ऑफ़ कश्मीरी नेशनलिज़्म,* नन्दिता हक्सर, स्पीकिंग टाइगर्स, दिल्ली, 2015
5. देखें, https://www.thehindu.com/news/national/other-states/jk-separatist-leader-completes-23-years-in-jail/article8199339|ece
6. देखें, पेज, *कश्मीर : द लैंड ऑफ़ रिग्रेट,* मूसा रज़ा, सी नेक्स्ट, चेन्नई, 2019
7. देखें, https://epaper|telegraphindia.com/imageview_286959_154110207_4_71_17-08-2019_1_i_1_sf.html (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
8. देखें, *ए देजोलेशन काल्ड पीस* (सम्पादक : अतहर जिया और जावेद इक़बाल बट) में मोना भान का लेख *ऑफ़ रूम्स एंड रेसिस्टेंस,* हार्पर कॉलिन्स, नोएडा, 2019
9. देखें, https://pdfslide|us/documents/mn-tickoo-on-migration.html (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
10. देखें, https://www.thehindubusinessline.com/todays-paper/tp-opinion/article28925079|ece# (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
11. देखें, 7 अगस्त, 2014 के कश्मीर रीडर में छपी रिपोर्ट *के.पी. फेमिली रिटर्न्स होम आफ़्टर 26 इयर्स,* ओपेंस प्रेप स्कूल इन श्रीनगर

12. देखें, https://www.business-standard.com/article/pti-stories/kashmiri-pandit-trader-returns-to-valley-after-29-years-says-no-place-like-kashmir-119050100871_1.html (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
13. देखें, द वायर में 18 सितम्बर, 2019 को छपा कपिल काक का साक्षात्कार (आख़िरी बार 14 अक्टूबर को देखा गया)
14. https://anantnag|nic.in/history/ (आख़िरी बार 14 अक्टूबर को देखा गया)
15. https://kashmirwatch.com/anantnag-islamabad-actual-name-south-kashmir-district/ (आख़िरी बार 14 अक्टूबर को देखा गया)
16. देखें, https://www.mapsofindia.com/assemblypolls/jammu-kashmir/habbakadal.html (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
17. देखें https://www.indiatoday.in/magazine/investigation/story/19930228-damaging-lies-755842-1993-02-28 (20 सितम्बर, 2019 को आख़िरी बार देखा गया)
18. देखें, पेज 245-247, *कश्मीर : एक्स्पोज़िग द मिथ बिहाइंड द नैरेटिव*, ख़ालिद बशीर अहमद, सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2017
19. देखें, पेज 297, *पैराडाइज़ एट वार*, राधा कुमार, अलेफ़ बुक कम्पनी, दिल्ली, 2018
20. देखें, *एपिलाग* के 1 दिसम्बर, 2009 के अंक में प्रकाशित लेख *अंडरस्टैंडिंग द अमरनाथ श्राइन लैंड कंट्रोवर्सी*, सन्दीप सिंह
21. देखे, पेज 2, *कश्मीरी पंडित्स : प्रॉब्लम एंड परसेप्शन*, सम्पादक : अवंति भाटी, दिल्ली, 2015
22. देखे, पेज 5, *कश्मीरी पंडित्स : प्रॉब्लम एंड जगमोहन परसेप्शन* (सम्पादक : अवंति भाटी) में आर.के. मिश्रा का लेख *क्लियरिंग द माइनफ़ील्ड ऑफ़ डिस्ट्रस्ट*, रूपा, दिल्ली, 2015
23. देखें, फ्रंटलाइन के 16-29 जुलाई के अंक में ए.जी. नूरानी का लेख द *ट्रुथ अबाउट आगरा*
24. देखें, पेज 244, *कश्मीर एंड शेर-ए-कश्मीर : अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड*, पी.एल.डी. पारिमू, चिनार पब्लिशिंग, अहमदाबाद, 2012
25. देखें, https://www.indiatoday.in/india/story/infiltrators-jammu-kashmir-1597941-2019-09-11 (आख़िरी बार 14 अक्टूबर को देखा गया)।

सन्दर्भ ग्रन्थ

प्राथमिक

1. Ahmed, Khwaza Nizamuddin, *Tabaqat I Akbari,* Vol II, Translation : Brajendrnath De, J.K. Book House, Jammu
2. *CIA World Factbook,* 2010, Skyhorse Publishing, New York, 2009
3. *Dughlat Muhammad Haidar,* Translated by Elias N. *History Of The Moghuls Of Central Asia; Tarikh-i-rashidi Of Mirza,* Curzon Press, London, 1895
4. Dutt, Jogesh Chandra, *Kings Of Kashmir,* ELM Press, Kolkata, 1898
5. Ghai, Dr. Ved Kumar (Tr.), *Nilmat Puran,* J&K Academy of Art, Culture and Languages, Srinagar, 1968
6. Kalhan, Translated by Pandit, K.S., *Rajtarangini,* Sahitya Academy, Delhi
7. *Kalhan,* Translated by Stein, M.A., Westminister, Archibald Constable & Co., London, 1900
8. Pandita, K.N. (Translation), *Baharistan I Shahi, Farma* K.L. M. Pvt. Ltd, Kolkata, 1991
9. Thankston, Wheeler M.,(Translated) *The Jahangirnama : Memories Of Jahangir, Emperor Of India,* Oxford University Press, New York, 1999
10. Wignet, A., *Preliminary Report Of Settlement Operations in Kashmir and Jammoo,* W. wall and Co, Lahore, 1988
11. कल्हण, *राजतरंगिणी,* अनुवाद : श्रुतिदेव शास्त्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 2016

द्वितीयक

1. Ahmed, Ishtiaq, *State, Nation and Ethnicity in Contemporary South Asia,* Pinter, London, 1998

2. Akbar, M.J., *Kashmir Behind The Vale,* Roli Books Pvt. Ltd., Delhi, 2011
3. Alam, Javed(Ed.), *Select Correspondence between Jawahar Lal Nehru and Karan Singh,* Penguin India, Delhi, 2006
4. Ali, Rao Farman, *History Of Armed Struggles in Kashmir,* J.J. Books, New Delhi, 2017
5. Asimov, M.S. and Bosworth, C.E., *History of Civilization of Central Asia* (Ed.), Motilal Banarasidas Publishers Pvt. Ltd., Delhi, 1999
6. Bamzai, P.N.K., *A history Of Kashmir,* Metropolitan Book Co. Pvt. Ltd., Delhi, 1962
7. Bamzai, P.N.K., *Cultural and Political History Of Kashmir,* M.D. Publication Pvt. Ltd., Delhi, 1994
8. Bamzai, P.N.K., *Kashmir and Power Politics : From Lake Success to Tashkent,* Gulshan Books, 2012
9. Bashir, Khalid Ahmed, *Exposing the Myth behind Narrative,* Sage, Delhi, 2017
10. Bazaz, Premnath, *Daughters of Vitasta,* Pamposh Publication, Delhi, 1959
11. Bazaz, Premnath, *History of Struggle for Freedom in Kashmir: Cultural and Political,* Kashmir Publishing Company, 1954
12. Bazaz, Premnath, *Inside Kashmir,* The Kashmir Publishing Co., 1941
13. Bazaz, Premnath, *Kashmir in Crucible,* Pamposh Publication, Delhi, 1967
14. Bhan, K.L., *Seven Exodus Of Kashmiri Pandits,* (Online Edition, Kausa.org)
15. Bhatt, Rajesh, *Radio Kashmir,* Steller Publishers, Delhi, 2016
16. Bhatt, Shaligram and Others (Ed.), *Kashmiri Scholar's Contribution to Knowledge and World Peace,* APH Publishing Corp., New Delhi, 2008
17. Birdwood, Lord Cristopher, *Two Nations and Kashmir,* Robert Hale Limited, London, 1956
18. Bose, Sumantra, *Kashmir : Roots of Conflicts Path to Peace,* Harvard University Press, London, 2003
19. Bourke-White, Margaret, *Halfway to Freedom,* Asia Publishing House, Bombay, 1949

20. Brecher, Michael, *The Struggle For Kashmir,* Oxford University Press. London, 1953
21. Butalia, Urvashi (Ed), *Speaking Peace : Women's Voices From Kashmir, Kali for Women,* Delhi, 2002
22. Butt, Syed Sanaullah, *Flames in Kashmir,* Ali Mohammad & Sons, Srinagar, 1981
23. Chadha, Behra Navnita, *Demystifying Kashmir,* Pearson Longman, Washington, 2007
24. Chakravarty, Uma (Ed.), *Fault Lines Of History : The India Papers,* Zuban Books, 2016
25. Chowdhery, Dr. Shabbir, *Kashmir Dispute : A Kashmiri Perspective,* Auther's House, New York, 2013
26. Chowdhary, Rekha, Jammu and Kashmir, Politics of Identify and Separatism, Routledge (India)
27. Dasgupta, C., *War and Diplomacy in Kashmir : 1947-48,* Sage Classics, Delhi, 2014
28. Dasgupta, Jyoti Bhushan, *Jammu and Kashmir,* Martinus Nijhoff, Hague,1968
29. Dayasagar, *Jammu and Kashmir : A Victim,* Ocean Books Pvt. Ltd., Delhi, 2015
30. Devdas, David, *The Story of Kashmir,* Authors upfront, Delhi, 2019
31. Dhar, D.N., *Dynamics Of Political Change in Kashmir,* Kanishk Publishers, Delhi, 2001
32. Dulat, A.S., *Kashmir : The Bajpayee Years,* Harper Collins Publishers, Noida, 2015
33. Engineer, Asghar Ali (Ed.), *Communal Riots in Post Independent India,* Second Edition, University Press, Delhi, 1997
34. Gauhar, G.N., *Elections in Kashmir,* Manas Publication, Delhi, 2002
35. Gayasuddin, Pir, *Communist Movement in Kashmir,* J.J. Book House, Jammu, 1990
36. Geelani, Gauhar, *Kashmir : Rage and Reason,* Roopa, Delhi, 2019
37. Gigoo, Siddharth and Sharma, Varad (Ed.), *A Long Dream of Home,* Blumsburry, Delhi, 2015
38. Gundevia, B.S., *The Testament of Sheikh Abdullah,* Palit & Palit Publishers, Delhi, 1974

39. Habibullah, Wajahat, *My Kashmir : Dying of The Light,* Penguin Books, Delhi, 2014
40. Haksar, Nandita, *The Many Faces Of Kashmiri Nationalism,* Speaking Tiger, Delhi, 2015
41. Hangloo, Ratan Lal, *The State in Medieval Kashmir,* Manohar Lal Publication, Delhi, 2000
42. Hasan, Mohibul, *Kashmir under Sultans, Iran Society,* Kolkata, 1974
43. Hasnain, F. M., *Freedom Struggle in Kashmir,* Rima Publishing House, Delhi, 1988
44. Hasnain, F.M., *Kashmir : The History Of Himalayan Valley,* Gulshan Books, Srinagar, 2002
45. Hudson, H.V., *The Great divide : Britain-India-Pakistan,* Oxford University Press, Krachi, 1969
46. Jagmohan, *My Frozen Turbulence In Kashmir,* Second Edition, 1991, Allied Publishers, Delhi, 1999
47. Jia, Athar & Bhatt, Javed Iqbal, (Ed.) *The Desolation called Peace,* Harper Collins, Noida, 2019
48. Johnson, Allan Campbell, *Mission with Mountbatten,* Jaico Publishing House, Delhi, 1951
49 Kak, Sanjay (Ed.), *Until My Freedom has Come,* Penguin, Delhi, 2011
50. Kalla, K.L., *Eminent Personalities Of Kashmir,* Discovery Publishing Group, Delhi, 1997
51. Kapoor, M.L., *Kashmir Sold and Snatched,* Jammu, 1968
52. Kaul, Anand, *The Kashmiri Pandit,* Thacker-Spink and Co., Kolkata, 1924
53. Kaul, Gwasha Lal, *Kashmir through Ages,* Chronicle Publishing House, Delhi, 1963
54. Kaul, Pyare Lal, *Kashmir : Trail and Travail,* Sangam Publications, Delhi, 1996
55. Kaur, Ravinderjeet, *Political Awakening in Kashmir,* A.P.H. Publishing House, Delhi, 1996
56. Kaw, K.N., *Kashmir and Its People,* APH Publishing Corp., New Delhi, 2004
57. Kazi, Seema, *Between Democracy and Nation : Gender and Militarization in Kashmir,* Women Unlimited, Delhi, 2009

58. Keer, Dhanajay, *Dr. Ambedkar : Life and Mission,* Popular Publisher, Mumbai, 1990
59. Khachru, Braj B., *Kashmiri Literature, A history Of Indian Literature,* (Ed.), Jan Gonda, Vol XIII, Otto Harrassowitz, Wiesbaden, 1981
60. Khan, G.H., *Freedom History Of Kashmir,* Light and Life Publishers, Delhi, 1992
61. Khan, Mohammad Ishaq, *Kashmir's Transition to Islam : The Role Of Muslim Rishis,* Manohar Publishers, Delhi, 1994
62. Khan, Mohammad Ishaq, *Perspective on Kashmir,* Gulshan Publishers, Srinagar, 1983
63. Khan, Naila Ali, (Ed.), *The Parchment Of Kashmir : History, Society and Polity,* Palgrave Macmillan, New York, 2012
64. Khanna, Meera, *In a State of Violent Peace,* Harper Collins, Noida, 2015
65. Kilam, Jialal, *A History Of Kashmiri Pandits,* Utpal Publications, Delhi, 2003
66. Korbel, Josef, *Danger In Kashmir,* Princeton University Press, London,1954
67. Kumar, Dharma and Roychowdhary, Tapan, (Ed.), *The Cambridge History Of India,* Vol II (1757-1970), Orient Longman, Delhi, 1984
68. Kumar, Radha, *Paradise at War,* Aleph Book Co., New Delhi, 2019
69. Lamb, Alastair, *Kashmir : A Disputed Legacy (1846-1990),* Roxford Books, Hertfordshire, 1991
70. Lawrence, Sir Walter R, *The Valley Of Kashmir,* Oxford University Press, London,1895
71. Madan, T.N., *Family and Kinship : A study of the Pandits of Rural Kashmir,* Oxford India, Delhi, 2016
72. Madhok, Balraj, *Bungling in Kashmir,* Hind Pocket Books, Delhi, 1974
73. Mahajan, Mehar Chand, *Looking Back,* Asia Publishing House, Delhi,1963
74. Maheshwari, Anil, *Crescent Over Kashmir,* Rupa, Delhi, 1993
75. Mattoo, Abdul Mazid, *Kashmir Under Mughals (1586-1752),* Shalimar Art Press, Srinagar, 1988

76. Menon, V P, *The Story Of Integration Of Indian States,* Orient Longman, Kolkata, 1955
77. Mishra, Pankaj, (Ed.), *Kashmir : The Case For Freedom,* Versoe, London, 2011
78. Naqvi, Saeed, *Being the Other : The Muslims in India,* Aliph Book Co., Delhi, 2016
79. Nayar, Kuldeep, *Beyond Hedlines,* Roli Books, Delhi, 2012
80. Pampori, Mohammad Sultan, *Kashmir in Chains,* Ali Mohammad and Sons, Srinagar, 2011
81. Panicker, K.M, *The Founding Of the Kashmir State : A Biography of Maharaja Gulab Singh,* George Allan and Unwin Ltd., London,1953
82. Parashar, Parmanand, *Kashmir and the Freedom Movement,* Saroop and Sons, New Delhi, 2004
83. Parimu, P.L.D. *Kashmir and Sher-i-Kashmir : A Revolution Derailed,* Chinar Publishing, Ahmedabad, 2012
84. Parimu, R.K., *A History Of Muslim Rule in Kashmir,* Peoples Publishing House, Delhi, 1969
85. Prakash, Col. Ved, *Terrorism in North India : Jammu and Kashmir and the Punjab,* Kalpaz Publication, Delhi
86. Puri, Luv, *Across the Line of Control : Inside Pakistan Administered Kashmir,* Columbia University Press, New York
87. Rai, Mridu, *Hindu Rulers and Muslim Subjects,* Permanent Black, Delhi, 2007
88. Raina, N.N., *Kashmiri Politics and Imperialist Manoeuvre,* Patriot Publishers, New Delhi, 1988
89. Raina, T.N., *A History of Kashmiri Literature,* Sahitya Academy, Delhi, 2002
90. Rajan, Radha, *Kashmir : Dilemma of Accession, Voice Of India,* New Delhi, 2017
91. Rao, Aparna, (Ed.), *The Valley of Kashmir : Making and Unmaking of Composite Culture,* Manohar Publishers, Delhi, 2008
92. Ray, Sunil Chandra, *Early History and Culture Of Kashmir,* Indian Museum, Kolkata, 1957
93. Raza, Moosa, *Kashmir : Land of Regrest,* Cnext, Chennai, 2019
94. Saxena, H.L., *Tragedy Of Kashmir,* Nationalist Publishers, Delhi, 1975

95. Schofield, Victoria, *Kashmir in Conflict : India, Pakistan and the Unending War,* I B Tauris and Co., 2003
96. Shobharajani, Manisha, *The Land I Dream Of, The Story of Kashmir's Women,* Hatchet India, 2014
97. Singh, Karan, *I Believe: A Philosophy For the Global Society,* Rajpal and Sons, Delhi, 2008
98. Singh, Khushwant, *A History Of Sikhs,* Vol II, Oxford University Press, Second Edition, 1999
99. Singh, Nirmal K., *Inter Communal Relations in Jammu and Kahsmir,* J.J.Publications, Jammu, 1991
100. Singh, Tavleen, *Tragedy of Errors,* Penguin, Delhi, 1995
101. Smith, Vincent, *The Early History Of India,* Oxford at the Claredon Press, 1914
102. Snowdon, Christopher, *Kashmir : The Untold Story,* Harper Collins, Delhi, 2013
103. Snowdon, Christopher, *Understanding Kashmir and Kashmiris,* C Hurst and Company (Publishers) Ltd., London, 2015
104. Soz, Saifuddin, *Kashmir : Glimpses Of History and the Story of Struggle,* Rupa, Delhi, 2018
105. Stein, M.A., *Rajtarangini Of Kalhan,* Westminister, Archibald Constable and Co. Ltd, London, 1900
106. Sufi, G.M.D., *A History Of Kashmir,* Light and Life Publication, Delhi
107. Swamy, Pravin, *India, Pakistan and Secret Jihad,* Routledge, London, 2007
108. Thorpe, Robert, *Kashmir Misgovernment*
109. Tickoo, Prithviraj, *The Story Of Kashmir,* Light and Life Publishers, Delhi, 1980
110. Toshkhani S.S. and Warikoo, K., (Ed.), *Cultural Heritage of Kashmiri Pandits,* Pentagon Press, New Delhi, 1962
111. Vincent Arthur Smith and Watters, Thomas, (Ed.), *On Yuwan Chwang's Travel in India,* Royal Asiatic Society, London, 1904
112. Vogel, J.P.H., *Indian Serpent Lore or the Nagas in Hindu Legend and Art,* Arthur Probesthen, London, 1926
113. Wani, G.H., *Elections in Kashmir,* Manas Publications, Delhi, 2012
114. Wani, Aijaz Asharaf, *What Happens to the governance in Kashmir,* Oxford University Press, Delhi, 2019

115. Warikoo K., and Toshkhami, S.S., (Ed.), *Cultural Heritage of Kashmiri Pandits,* Pentagon Press, New Delhi, 2009
116. Whitehead, Andrew, *A Mission in Kashmir,* Wiking, Delhi, 2007
117. Wignet, A., *Preliminary Report of Settlement operations in Kashmir and Jammu,* W wall & Co., Lahore, 1988
118. Wilson, H.H., *Hindu History Of Kashmir,* Sushil Gupta Private Ltd., 1960
119. Younghusband, Francis Edword, *Kashmir, Arms and Charles Black,* London, 1911
120. Zutshi, Chitralekha, *Language Of Belonging : Islam, Regional Identity and the making of Kashmir,* Second edition, Permanent Black, 2015
121. अम्बेडकर, डॉ. बी. आर., *पाकिस्तान अथवा भारत का विभाजन,* (अनु : धम्ममित्र सत्यप्रकाश), सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
122. पांडेय, अशोक कुमार, *कश्मीरनामा : इतिहास और समकाल,* राजपाल एंड संज, दिल्ली, 2018
123. सहाय, शिवस्वरूप, प्राचीन भारतीय धर्म और दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2001

वैकल्पिक

1. Abdullah, Sheikh (Translation, Khushwant Singh), *Flames Of Chinar,* Penguin, delhi, 1993
2. Ahmad, Ghulam, *My years with Sheikh Abdullah,* Gulshan Books, Kashmir, 2008
3. Bakshshi, S.R., *Sheikh Abdullah,* Anmol Publications, New Delhi, 1998
4. Biscoe, Tyndale, *Tyndale Biscoe Of Kashmir : An Autobiography,* Seeley, Service and Co. Ltd., London, 1954
5. Biscoe, Tyndel, *Tyndel Biscoe of Kashmir,* Cyly Service and Company Ltd, London, 1954
6. Dhar, Ashok, *Kashmir as I see it,* Rupa, Delhi, 2019
7. Dhar, Dr. S.N., *Eighty Three Days : The Story of a frozen river,* Infuse Ink., New Delhi, 2000
8. Forster, George, *Letters on a Journey from Bengal to England through Northern Part of Kashmir,* R Faulder and Son, New Bond

Street, London,1808
9. Fotedar, M.L., *The Chinar Leaves : A Political Memoir,* Harper Collins Publishers India, Noida, 2015
10. Knight, E.F., *Where Three Empires Meet,* Rupa, Delhi, 2017
11. Koul, Sudha, *The Tiger Ladies : A Memoir of Kashmir,* Review, London, 2002
12. Mullick, B.N., *My Years With Nehru : Kashmir,* Allied Publishers, Delhi
13. Nehru, B.K., *Nice Guys Finish Second,* Penguin India, 1997
14. Pandita, Rahul, *Our Moon Has Blood Clots,* Random House India, Delhi, 2013
15. Pir, Basharat, *Curfewed Nights,* Random House, Delhi
16. Qasim, Syed Mir, *My Life and My Times,* Allied Publishers, Delhi,1992
17. Quraishi, Humra, *Kashmir : The Untold Story,* Penguin, Delhi, 2004
18. Singh, Karan, *Hair Apparent,* Oxford University Press, Delhi, 1984
19. Thakur, D.D., *My Life : Years at bar, Bench and in Kashmir Politics,* Lexis Nexis, Gurgaon, 2017
20. Whitehead, Andrew, *Life of Frieda,* Speaking Tiger, Delhi, 2019

अनुक्रमणिका

काल-क्रम

मिथकों की बात करें तो कल्हण 1184 ईसापूर्व से शुरुआत करते हैं। लेकिन आम तौर पर इतिहासकारों की मान्यता है कि कश्मीर का ज्ञात और विश्वसनीय इतिहास बाद के दौर का है जहाँ से वह स्पष्ट तिथियाँ देना शुरू करते हैं। सुविधा के लिए हम जियालाल किलाम की मान्यता स्वीकार करते हुए कार्कोट वंश (627-753 ईसवी) से ज्ञात और निश्चित इतिहास मान लें तो अब तक की अवधि लगभग डेढ़ हजार वर्षों की हुई। कमोबेश हर जगह कश्मीर में वैदिक धर्म की स्थापना और इस तरह ब्राह्मणों के प्रवेश का समय छठी से आठवीं शताब्दी का माना गया है। यह किताब इसी अवधि में कश्मीर में ब्राह्मणों के बसने और बिखरने की कहानी है। हालाँकि इसके पहले की कथा भी उपलब्ध स्रोतों के सहारे कही गई है जिसमें बौद्धों से लेकर शैव धर्म की स्थापना तक की कथा शामिल है।

छठी से आठवीं शताब्दी : बौद्ध धर्म का पतन, वैदिक धर्म का वर्चस्व स्थापित, ब्राह्मणों का प्रवेश, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित, *नीलमत पुराण* का लेखन

510 ईसवी : हूण सम्राट मिहिरकुल का शासन, गांधार से ब्राह्मणों का आगमन

627-753 ईसवी : कार्कोट वंश, ललितादित्य के काल (725 से 761 ईसवी) में अत्रिगुप्त गुप्त सहित अनेक विद्वानों का देश के अलग-अलग हिस्सों से कश्मीर में आगमन

635 ईसवी : बौद्ध यात्री ह्वेनसांग का आगमन

950-960 ईसवी : अभिनव गुप्त का जन्म। यह दौर कश्मीर में शैव धर्म के बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रभाव के उरूज़ का था

1148-1150 : कल्हण द्वारा *राजतरंगिणी* का लेखन

1128-1155 : जयसिम्हा का शासनकाल, हिन्दू राजाओं के पतन के बीच आख़िरी शक्तिशाली हिन्दू राजा

1212-1235 : राजदेव के काल में ब्राह्मणों पर भयावह अत्याचार, 'ना भट्टोहम' (मैं ब्राह्मण नहीं हूँ) के नारे गूँजे

1320 : आक्रमणकारी जुल्चू का अत्याचार और राजा सहदेव का पलायन

6 अक्टूबर, 1320 : बौद्ध रिंचन का कश्मीर की सत्ता पर क़ब्ज़ा। कोटा रानी महारानी बनीं और शाहमीर मंत्री। रिंचन धर्म-परिवर्तन कर सुलतान सदरूद्द्दीन बना

1323 : रिंचन की मृत्यु, उदयनदेव का राज्यारोहण, कोटा रानी से विवाह

1338 : उदायनदेव की मृत्यु, कोटा रानी और शाहमीर में सत्ता-संघर्ष, शाहमीर का गद्दी पर क़ब्ज़ा और शाहमीरी की स्थापना

1373-1389 : सुलतान क़ुतुबुद्दीन के शासनकाल में शाह हमदानी का आगमन, पहली खानकाह की स्थापना, चमत्कारों की प्रतियोगिताओं से धर्म-परिवर्तन के प्रयास और राजसत्ता का साथ, ब्राह्मणों में असन्तोष और शाह हमदानी की वापसी

1317-1320 : शैव योगिनी लल द्यद का जन्म, अपने वाखों से हिन्दू धर्म में व्याप्त कुरीतियों पर कड़ा प्रहार

1377 : शेख़ नूरूद्दीन उर्फ़ नुंद ऋषि का जन्म, ऋषि सूफ़ी परम्परा का आरम्भ, इस्लामीकरण का शान्तिपूर्ण दौर

1389-1420 : सुलतान सिकन्दर का राज्यारोहण, मीर हमदानी का आगमन, सुहा भट्ट का धर्म-परिवर्तन, मन्दिरों के ध्वंस और ज़बरन धर्म-परिवर्तनों का दौर, ब्राह्मणों के प्रभाव का ह्रास और सैयदों का दरबार में दबदबा

1420–1470 : सुलतान ज़ैनुल आबदीन का शासनकाल, कश्मीर का अन्तिम स्वर्णयुग, ब्राह्मणों का दरबार में पुन:प्रवेश, कारकून वर्ग का उदय, जोनाराज द्वारा *राजतरंगिणी* के क्रम में राजावलीपतक का लेखन। हस्तशिल्प के उद्योगों का विकास

1477 : शमसुद्दीन इराक़ी के आगमन के साथ कश्मीर में शिया सम्प्रदाय की स्थापना

1470-1561 : शाहमीरी का पतन। शिया-सुन्नी संवर्ष। ज़ैनुल आबदीन के समय का साम्प्रदायिक सद्भाव लगभग नष्ट

1561-1586 : चक साम्राज्य, ब्राह्मण मुख्य धारा से लगभग बाहर

1586-1753 : कश्मीर में मुग़ल शासन का आधिपत्य, पंडितों की दरबार में वापसी और सत्ता-संघर्ष, जज़िया समाप्त, राजस्व विभाग में धीरे-धीरे दबदबा, मैदानी इलाक़ों में नौकरी की तलाश में विस्थापन। मुग़ल दरबारों के साथ-साथ अलग-अलग रजवाड़ों में प्रवेश

1719-1748 : मुहम्मद शाह के दौर में कश्मीर से आए राजा जयराम भान के आवेदन पर कश्मीरी ब्राह्मणों के लिए 'कश्मीरी पंडित' सम्बोधन का आदेश

1624-1718 : रूपा भवानी का जन्म, लल द्यद की परम्परा की शैव योगिनी

1753-1820 : अफ़ग़ानों का क़ब्ज़ा, भारी लूट और अत्याचार, राजस्व विभाग में पंडितों का क़ब्ज़ा बरक़रार लेकिन आम हिन्दू और मुसलमान उत्पीड़न और लूट के शिकार, धर परिवार महत्त्वपूर्ण होकर उभरा, कैलाश धर वज़ीर बने, बीरबल धर के बुलावे पर सिख महाराजा रणजीत सिंह का हमला

1788-92 : पंडित कवयित्री अर्निमाल का जन्म, हब्बा ख़ातून की परम्परा में लोल लिखने वालीं आख़िरी कवि

1824-1846 : सिख साम्राज्य स्थापित, भारी लूट और अत्याचार, राजस्व विभाग में पंडितों का क़ब्ज़ा बरक़रार लेकिन आम हिन्दू और मुसलमान उत्पीड़न और लूट के शिकार, शाल-उद्योग का पतन, बीरबल धर की गिरफ़्तारी और गणेश जू धर का दबदबा, लाहौर दरबार में पंडितों का प्रवेश और दबदबा, ब्रिटिश भारत के अनेक रजवाड़ों में पंडित ऊँचे पदों तक पहुँचे; लखनऊ, इलहाबाद, कानपुर सहित कई जगहों पर कश्मीरी पंडित बसे और दिल्ली के बाज़ार सीताराम में कश्मीरी पंडितों की बसाहट

1828 : दिल्ली के 'दिल्ली कॉलेज' में अंग्रेज़ी की पढ़ाई शुरू, कश्मीरी पंडितों का प्रवेश

1831 : दिल्ली कॉलेज के पहले बीच के छात्र मोहनलाल ज़ुत्शी, कच्छ के राजा के मुलाजिम हुए, विदेश-यात्रा करनेवाले पहले कश्मीरी पंडित

1839 : महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु और पंजाब में सत्ता संघर्ष

1846 : सोबरांव के युद्ध में अंग्रेज़ों के हाथों सिख सेना पराजित, 16 मार्च को अमृतसर समझौते के तहत पचहत्तर लाख रुपयों के बदले जम्मू, कश्मीर, गिलगिट, बाल्टिस्तान, पुंछ, लद्दाख का क्षेत्र डोगरा शासक गुलाब सिंह के आधिपत्य में; आधुनिक जम्मू और कश्मीर राज्य की स्थापना। दरबार के उच्च पदों पर पंडितों की जगह पंजाबियों और डोगराओं का क़ब्ज़ा लेकिन राजस्व विभाग के निचले पदों पर दबदबा जारी

1857 : जनविद्रोह के दमन में डोगरा शासन का अंग्रेज़ों को समर्थन

1865 : शॉल-उद्योग का पतन जारी, प्रशिक्षु बुनकरों का दाग़शाली विभाग के प्रमुख पंडित राजाकाक धर के ख़िलाफ़ विद्रोह, भारी दमन

1877-79 : भयावह अकाल, एक भी पंडित शिकार नहीं जबकि मुस्लिम आबादी का भारी क्षय

1880 : कश्मीर में पहला कॉन्वेंट स्कूल टिंडल बिस्को स्कूल (पूर्व नाम क्रिश्चियन मिशन स्कूल) स्थापित

1890 : दाग़शाली विभाग बन्द, शॉल-उद्योग का पूरी तरह पतन

1891 : तीसरे डोगरा शासक प्रताप सिंह के राज्यारोहण के साथ ही राज्य में ब्रिटिश रेजिडेंसी की स्थापना

1894 : हरगोपाल कौल द्वारा सनातन धर्म सभा की स्थापना

1910 : घाटी में आर्यसमाज का प्रवेश। आर्यकुमार सभा स्थापित

1912 : कश्मीरी पंडितों द्वारा नौकरियों में पंजाबियों और अन्य बाहरी लोगों के प्रभुत्व के ख़िलाफ़ *कश्मीर कश्मीरियों के लिए* आन्दोलन के फलस्वरूप पहली बार राज्य नागरिक

की परिभाषा तय की गई लेकिन ढुलमुल परिभाषा से पंडित सन्तुष्ट नहीं और आन्दोलन जारी

1919-24 : ख़िलाफ़त आन्दोलन में पंडितों की भागीदारी, मांस की बढ़ी क़ीमतों के ख़िलाफ़ आन्दोलन

31 जनवरी, 1927 : महाराजा हरि सिंह के शासनकाल में मज़बूत राज्य नागरिकता क़ानून बना जिसमें बाहरी लोगों के कश्मीर में नौकरी और ज़मीन ख़रीदने के अधिकार ख़त्म कर दिये गए, बाद में यह 35 ए का आधार बना

1929 : मुसलमानों द्वारा नौकरियों में भागीदारी की माँग

1930 : कश्मीरी पंडितों के बीच जारी समाज-सुधार आन्दोलन के तहत महाराजा से विधवा विवाह की अनुमति की माँग, कश्यप बन्धु इस आन्दोलन के मुख्य नेता के रूप में उभरे, इसी वर्ष फ़तेह कदल में युवा मुस्लिम छात्रों द्वारा *रीडिंग रूम पार्टी* का गठन

1931 : खुतबा पढ़ने से रोकने और क़ुरआन के अपमान के सवाल पर हिंसक आन्दोलन, दमन और दंगे

12 नवम्बर, 1931 : मुसलमानों की माँगों पर विचार करने के लिए ग्लांसी आयोग का गठन

12 जनवरी, 1932 : हिन्दुओं द्वारा ग्लांसी आयोग का बहिष्कार

अक्टूबर, 1932 : मुस्लिम कांफ्रेंस का गठन, इसी साल पंडित कांफ्रेंस का भी गठन हुआ

22 मार्च, 1932 : ग्लांसी आयोग की रिपोर्ट जारी। नौकरियों में मुसलमानों की भागीदारी को लेकर संस्तुतियाँ, पंडितों द्वारा 'रोटी आन्दोलन'

1935 : शेख़ अब्दुल्ला और प्रेमनाथ बज़ाज़ ने *हमदर्द* नामक अखबार निकाला

1936 : जिम्मेदार सरकार का आन्दोलन शुरू। हिन्दू, मुस्लिम तथा सिखों की भागीदारी

1936-38 : जम्मू एंड कश्मीर यूथ लीग, किसान और मज़दूर सभा, कांग्रेस पार्टी और हिन्दू प्रोग्रेसिव पार्टी की स्थापना। साझा संघर्षों की शुरुआत

1939 : मुस्लिम कांफ्रेंस के अधिवेशन में इसका नाम बदलकर 'नेशनल कांफ्रेंस' किया गया. सभी धर्मों के लिए प्रवेश खुला, सरदार बुध सिंह, कश्यप बन्धु, जियालाल किलाम और प्रेमनाथ बज़ाज़ जैसे लोग जुड़े, इसी साल भाषा-विवाद से साम्प्रदायिक तनातनी भी

30 मई, 1940 : जवाहरलाल नेहरू की कश्मीर-यात्रा

1944 : जिन्ना की कश्मीर-यात्रा, शेख़ अब्दुल्ला से विवाद

जून, 1945 : रामचंद्र काक डोगरा राज के पहले कश्मीरी-भाषी पंडित प्रधानमंत्री बने

1946 : 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन की शुरुआत, शेख़ अब्दुल्ला के

	साथ कश्यप बन्धु और सरदार बुध सिंह सहित अनेक लोग गिरफ़्तार
18 जून, 1947 :	माउंटबेटन की श्रीनगर यात्रा, हरि सिंह मिलने से टालमटोल करते रहे
1 अगस्त, 1947 :	गाँधी की कश्मीर-यात्रा और थोड़े समय बाद रामचंद्र काक की बर्ख़ास्तगी
15 अगस्त, 1947 :	बँटवारा और आज़ादी। महाराजा हरि सिंह का किसी भी देश से मिलने से इनकार
अक्टूबर, 1947-1948 :	पाकिस्तान द्वारा क़बायली हमले की आड़ में कश्मीर पर क़ब्ज़े का प्रयास, हिन्दुओं और मुसलमानों का क़बायली हमले का साझा मुक़ाबला। महाराजा का श्रीनगर से पलायन और भारत से संधि-पत्र पर हस्ताक्षर, शेख़ की रिहाई, भारतीय सेना का कश्मीर में प्रवेश और भारत-पाकिस्तान का पहला युद्ध और सीजफ़ायर, कश्मीर के एक हिस्से पर पाकिस्तान का क़ब्ज़ा
20 जून, 1949 :	शेख़ अब्दुल्ला कश्मीर के प्रशासक बने, इसी वर्ष संविधान सभा ने कश्मीर के लिए एक विशेष अनुच्छेद 370 बनाया
1950 :	शेख़ द्वारा 'बिग लैंडेड एस्टेट्स अबोलिशन एक्ट' (ख़ात्मा-ए-चकदारी) के तहत भूमि सुधार लागू और क़र्ज़माफ़ी, जम्मू में इसके बाद 370 का विरोध शुरू
19 जून, 1953 :	श्यामा प्रसाद मुखर्जी की श्रीनगर में हृदयाघात से मृत्यु
9 अगस्त, 1953 :	शेख़ की गिरफ़्तारी, कश्यप बन्धु और कश्मीरी पंडितों के भी कई प्रमुख नेता गिरफ़्तार। बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद कश्मीर के प्रधानमंत्री बने
1956 :	राज्य की संविधान सभा द्वारा राज्य का संविधान पास, उच्च शिक्षण संस्थानों में प्रवेश के लिए घाटी में 70 फ़ीसद सीटें मुसलमानों और 30 फ़ीसद सीटें ग़ैर-मुसलमानों के लिए तो जम्मू में 70 फ़ीसद सीटें ग़ैर-मुसलमानों तथा 30 फ़ीसद सीटें मुसलमानों के लिए आरक्षित, पंडितों द्वारा इसका विरोध
1958 :	शेख़ की रिहाई और फिर गिरफ़्तारी
18 फरवरी, 1962 :	बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद का इस्तीफ़ा, शमसुद्दीन नए प्रधानमन्त्री बने
27 दिसम्बर, 1963 :	मो-ए-मुक़द्दस की चोरी के बाद भारी बवाल। शमसुद्दीन की जगह सादिक़ ग़ुलाम मोहम्मद 29 फरवरी, 1964 को प्रधानमंत्री बने
1 जून, 1964 :	घाटी में जनसंघ की स्थापना
5 अप्रैल, 1964 :	शेख़ अब्दुल्ला की रिहाई, नेहरू ने किसी समझौते की संभावना तलाशने पाकिस्तान भेजा
27 मई, 1964 :	जवाहरलाल की मृत्यु, लाल बहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री बने, 370 में लागातार बदलाव जारी, सादिक़ के समय प्रधानमंत्री और सदर-ए-रियासत सम्बोधन समाप्त, नेशनल कांफ्रेंस का

कांग्रेस में विलय

8 मई, 1965 : शेख़ फिर गिरफ़्तार

1965 : पाकिस्तान का आक्रमण, कश्मीरियों का साथ नहीं मिला, ताशकंद-समझौता और लाल बहादुर शास्त्री की दिल का दौरा पड़ने से मृत्यु

28 जुलाई, 1967 : परमेश्वरी हांडू नामक एक महिला द्वारा धर्म-परिवर्तन कर विवाह करने पर घाटी में साम्प्रदायिक तनाव

1968 : कश्मीर में अल फ़तेह नाम से पहला आतंकवादी संगठन बना

1 मई, 1970 : वज़ीर कमिटी की अनुशंसा के आधार पर नई आरक्षण नीति घोषित जिसके तहत दलितों को 8 प्रतिशत और पिछड़ों को 42 प्रतिशत (जिसमें 2 प्रतिशत लद्दाख के लिए था) आरक्षण, लेकिन पंडित असन्तुष्ट

11 दिसम्बर, 1971 : सादिक़ की मृत्यु, सैयद मीर क़ासिम नये मुख्यमंत्री बने

5 जून, 1972 : शेख़ की रिहाई

13 नवम्बर, 1974 : दिल्ली समझौता; 25 फ़रवरी, 1975 को शेख़ फिर कश्मीर में मुख्यमंत्री बने, बाद में कांग्रेस का समर्थन वापस होने पर चुनाव

12 जून, 1975 : कश्मीरी राजनीति के चाणक्य डी.पी. धर की मृत्यु

9 जुलाई, 1977 : विधान सभा चुनावों में भारी जीत के बाद शेख़ मुख्यमंत्री बने, जमात-ए-इस्लामी पर प्रतिबंध और उसके कार्यकर्ताओं का सख़्त दमन

9 मार्च, 1981 : अनंतनाग में जमात के कार्यकर्ताओं द्वारा शराब की दुकानों की लूट, दुकानें अधिकतर पंडितों की थीं।

8 सितम्बर, 1982 : शेख़ अब्दुल्ला की मृत्यु, फ़ारूक़ अब्दुल्ला मुख्यमंत्री बने

10 फ़रवरी, 1984 : जस्टिस नीलकांत गंजू द्वारा मक़बूल भट्ट को विमान अपहरण और हत्या के आरोप में फांसी की सज़ा

2 जुलाई, 1984 : राज्यपाल जगमोहन द्वारा फ़ारूक़ की सरकार बर्ख़ास्त, कांग्रेस के समर्थन से गुल मोहम्मद शाह मुख्यमंत्री बने, अफ़रातफ़री का माहौल

31 अक्टूबर, 1984 : इंदिरा गांधी की हत्या, राजीव गाँधी नये प्रधानमंत्री बने

फरवरी, 1986 : अयोध्या में राम मन्दिर का ताला खुलने की घटना के बाद अनन्तनाग ज़िले में साम्प्रदायिक हिंसा

7 नवम्बर, 1986 : कांग्रेस के साथ चुनाव लड़कर फ़ारूक़ दुबारा मुख्यमंत्री बने, लेकिन चुनावों में भारी धांधली का आरोप और असन्तोष

1988-89 : घाटी में असन्तोष, कई आन्दोलन, छिटपुट हिंसक घटनाएँ, पाकिस्तान द्वारा कश्मीरी लड़कों का प्रशिक्षण

21 अगस्त, 1989 : कश्मीर में पहली राजनैतिक हत्या, नेशनल कांफ्रेंस के मोहम्मद यूसुफ हलवाई को गोली मारी गई

14 सितम्बर, 1989 : भाजपा नेता टीकालाल टपलू की हत्या, 4 नवम्बर को नीलकांत गंजू की हत्या, पंडितों में भय व्याप्त

2 दिसंबर, 1989	:	विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में केंद्र में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार, मुफ़्ती मोहम्मद सईद गृहमंत्री बने
7 दिसम्बर, 1989	:	मुफ़्ती मोहम्मद सईद की पुत्री रूबिया सईद का अपहरण, घाटी में बवाल, आतंकवादियों की रिहाई, हत्याओं का दौर जारी
18 जनवरी, 1990	:	फ़ारूक़ का इस्तीफ़ा और जगमोहन कश्मीर के राज्यपाल बने, भारी जुलूस, गोलीबारी, हत्याएँ; पंडितों ने बड़ी संख्या में घाटी छोड़ी
1990-1997	:	घाटी में भयानक अफ़रातफ़री, दोनों धर्मों के हज़ारों लोग मारे गए, पंडितों का पलायन, मुस्लिम भी बाहर गए
21 मार्च, 1997	:	बडगाम के संग्रामपोरा में 7 पंडितों की हत्या
1998	:	वंधामा में 23 पंडितों की हत्या
23 मार्च, 2003	:	पुलवामा जिले के नन्दीमार्ग में 24 पंडितों की हत्या
2000	:	पंडितों के लिए फ्लैट्स बने और नौकरियों का आवंटन
2007	:	घाटी में रह रहे पंडितों द्वारा दशहरा उत्सव की शुरुआत
2008	:	अमरनाथ विवाद से फिर साम्प्रदायिक तनाव
2011	:	मनमोहन सिंह सरकार द्वारा विस्थापित पंडितों के लिए स्पेशल पैकेज, घाटी में रह रहे पंडितों द्वारा पैकेज में हिस्से की माँग, 2016 में कोर्ट का फ़ैसला हक़ में, लेकिन सिखों द्वारा स्टे
5 अगस्त, 2019 से अब तक	:	370 हटाने और जम्मू और कश्मीर को दो केंद्र शासित प्रदेशों में बाँटने का फ़ैसला, सूचना पर बंदिशें, भारी मात्रा में सुरक्षा बल तैनात, चार महीनों बाद भी प्रतिबन्ध जारी, सरकार का दावा कि सब नार्मल है, लोगों का कहना कि यह न्यू नॉर्मल है, मामला उच्चतम न्यायालय में।

❂❂❂

यह किताब कश्मीर के उथल-पुथल भरे इतिहास में कश्मीरी पंडितों के लोकेशन की तलाश करते हुए उन सामाजिक-राजनैतिक प्रक्रियाओं की विवेचना करती है जो कश्मीर में इस्लाम के उदय, धर्मांतरण और कश्मीरी पंडितों की मानसिक-सामाजिक निर्मिति तथा वहाँ के मुसलमानों और पंडितों के बीच के जटिल रिश्तों में परिणत हुईं। साथ ही, यह किताब आज़ादी की लड़ाई के दौरान विकसित हुए उन अंतर्विरोधों की भी पहचान करती है जिनसे आज़ाद भारत में कश्मीर, जम्मू और शेष भारत के बीच बने तनावपूर्ण सम्बन्धों और इस रूप से कश्मीर घाटी के भीतर पंडित-मुस्लिम सम्बन्धों ने आकार लिया।

अशोक कुमार पांडेय

अनुच्छेद 370 हटाए जाने से पहले और बाद दोनों स्थितियों में घाटी में रह रहे पंडितों के आख्यान को शामिल करने वाली यह पहली किताब है जिसके लिए लेखक ने कश्मीर के विभिन्न इलाक़ों में यात्राएँ की हैं और पंडित परिवारों से विस्तार से बातचीत की है।
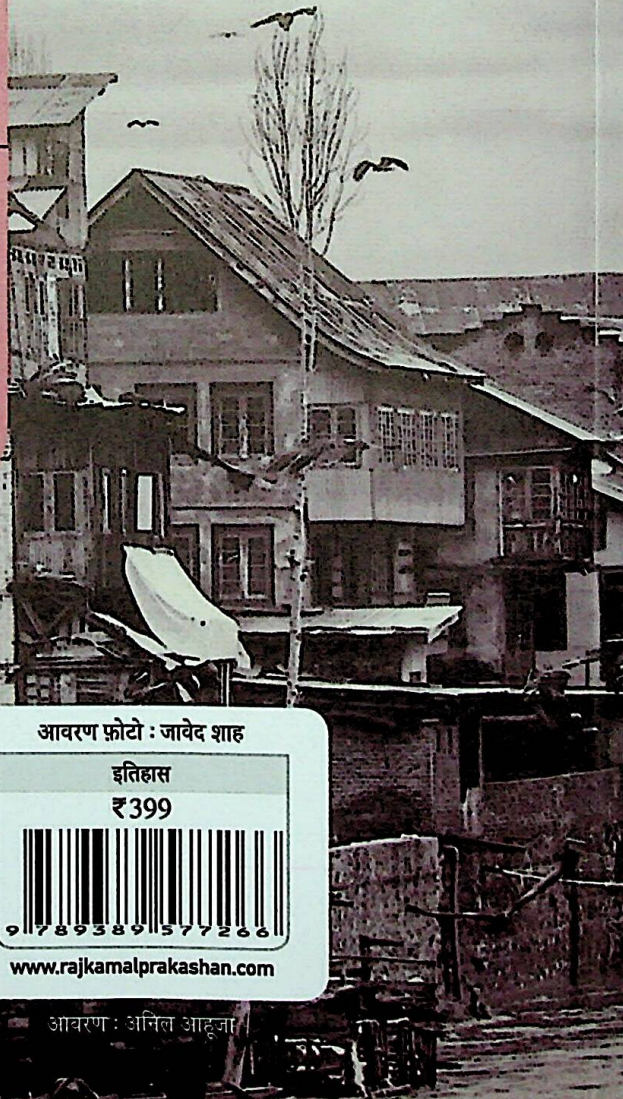
आवरण फ़ोटो : जावेद शाह

इतिहास

₹399

E-BOOK उपलब्ध

www.rajkamalprakashan.com

आवरण : अनिल आहूजा